आचार्य दण्डी की साहित्य साधना

डॉ काशी नाथ तिवारी



नाग प्रकाशक

आचार्य दण्डी की साहित्य साधना

डॉ काशी नाथ तिवारी



नाग प्रकाशक

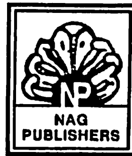
आचार्य दण्डी की साहित्य-साधना

डॉ० काशीनाथ तिवारी

उप निदेशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

नयी दिल्ली



नाग-प्रकाशक

११ ए०/यू० ए० जवाहरनगरम्, दिल्ली-११०००७

राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थानस्य, नवदेहलीस्थितस्य वित्तीयसाहाय्येन प्रकाशितः ।

(१) ११ए/यू. ए. जवाहरनगरम्, दिल्ली-११०००७

(२) संस्कृतभवनम्, १२,१५ आवासः, संस्कृतनगरम्, प्लाट सं० ३, प्रखण्डः-१४ रोहिणी, नव-देहली-११००८५

(३) जलालपुरम् माफी (चुनार-मिर्जापुरम्) उ० प्र०

ISBN 81-7081-411-1

प्रथमं संस्करणम् १९९८

मूल्यम् 107-00

श्रीसुरेन्द्रप्रतापः, द्वारा नागप्रकाशकः, ११ए, यू. ए., जवाहरनगरम्, दिल्ली ११०००७, द्वारा प्रकाशित; अक्षरयोजकः तथा मुद्रकः अमरप्रिंटिंगमुद्रणालयः ८/२५, विजयनगरम्, दिल्ली-११०००९ तथा जी. प्रिंट प्रासेस, ३०८/२, शहजादाबाग, दयाबस्ती, दिल्ली ११००३५ द्वारा मुद्रितोऽयं ग्रन्थः ।

समर्पणम्

पूज्यप्रवराणां पञ्चत्वमाप्तानां पितृचरणानां

श्रीमतां **देवनारायणतिवारि** महाभागानां

पुण्यस्मृतौ

तेषामेव श्रीचरणयोः

वाङ्मयीसपर्यायाः एतानि पत्रपुष्पाणि

सादरं सप्रश्रयञ्च समर्प्यन्ते

देवं नारायणं वन्दे भानुप्रतापसंयुतम्।
यस्याश्रयेण रम्योऽयं ग्रन्थः पूर्णत्वमागतः ॥

समर्पकः

काशीनाथतिवारी



आशीर्वचनम्

काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनेक आचार्य और कवि हुये हैं जिनमें दण्डी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्युत्पत्ति और प्रतिभा का मणि-काञ्चन संयोग होने के कारण दण्डी के व्यक्तित्व (सत्त्व) में आचार्यत्व एवं कवित्व का मनोरम सामञ्जस्य सहृदय पाठकों के लिए परम आह्लाद का विषय है।

दण्डी की रचनाओं पर समाधृत एकाधिक शोधपरक निबन्ध एवं ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। डॉ. काशीनाथ तिवारी द्वारा प्रणीत **'आचार्य दण्डी की साहित्य-साधना'** नामक ग्रन्थ दण्डी के आचार्यत्व तथा कवित्व से समन्वित उभयपक्षीय सत्त्व का समीक्षात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। दण्डी से सम्बद्ध 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाः', उक्ति में परिगणित तीन प्रबन्धों का निश्चय, 'भामह और दण्डी के पौर्वापर्य' का प्रश्न, दशकुमारचरित और काव्यादर्श की पृथक् रचना-सरणि और प्रतिपाद्य विषय की भिन्नता को देखते हुये दोनों के प्रणेता के एकत्व की समस्या आदि विन्दुओं पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। डॉ. तिवारी ने इन श्रमसाध्य एवं विवादग्रस्त विषयों का तथ्यात्मक विवेचन् और उनका समाधान नवीन तर्कों का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया है।

मुझे हर्ष है कि डॉ. तिवारी ने, विषयों की विविधता होने पर भी, तर्कशुद्धविवेचन की प्रस्तुति की दिशा में असाधारण शोध-कौशल्त का परिचय दिया है।

आचार्य दण्डी की साहित्यिक साधना के अनुशीलनक्रम में अपेक्षित अंगों का विन्यास षष्ठ से लेकर नवम अध्याय तक विस्तार के साथ किया गया है। ग्रन्थ-लेखन की परिधि में जितने विषयों का चयन किया गया है, उन सब के सम्यक् प्रतिपादन में डॉ. तिवारी के विचार तथा निष्कर्ष, गम्भीर काव्यशास्त्रीयचिन्तन और मौलिक लेखनशैली के नूतन निदर्शन हैं। 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाः', 'दण्डी पर पूर्ववर्ती

कवियों का प्रभाव' तथा 'दशकुमारचरित में चित्रित लोकजीवन' इत्यादि विषयों के विशद विवेचन में डॉ. तिवारी ने उन विषयों से सम्बद्ध और संस्कृत-वाङ्मय में उपलब्ध तदनुरूप साहित्य का पर्याप्त परिशीलन किया है ।

फलस्वरूप निष्कर्ष-प्रस्तुति में अपेक्षित विषयप्रतिपादनशैली सर्वथा समीचीन और प्रशंसनीय है । ग्रन्थ की भाषा तथा शैली आदि से अन्त तक नितान्त प्राञ्जल, सरस तथा भव्य है । वस्तुतः यह ग्रन्थ डॉ. काशीनाथ तिवारी की अनवरत सारस्वतसाधना का सुमधुर परिपाक है ।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ में, दण्डी से सम्बद्ध ऐसे अनेक दुर्लभ विषयों का प्रतिपादन है जिनका अध्ययन सहृदय विद्वज्जनों के परितोष का विषय बनेगा ।

मैं अपने शिष्यप्रवर डॉ. काशीनाथ तिवारी को ऐसे उत्कृष्ट ग्रन्थ के प्रणयन के लिए हार्दिक आशीर्वचन से अभिषिक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ से संस्कृत-काव्य-जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन तथा सहृदय सुधीजनों का मनोरञ्जन होगा ।

'सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्'

तिथि—श्रावणीपूर्णिमा

१८-८-१९९७

—लक्ष्मीकान्त दीक्षित

अवकाशप्राप्त प्रोफेसर

तथा

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद (उ०प्र०)

प्राक्कथन

'आचार्य दण्डी की साहित्य-साधना' ग्रन्थ को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा है । ग्रन्थ बड़े परिश्रम और मनोयोग से लिखा गया है। लेखक का साहित्यिक एवं काव्यशास्त्रीय ज्ञान गम्भीर एवं व्यापक है । आचार्य दण्डी अथवा कवि दण्डी का जीवनकाल तथा उनका आचार्य भामह से पौर्वापर्य का निर्धारण विवाद का विषय रहा है । लेखक ने समस्या की गम्भीरता को ठीक से समझा है, उसका तर्कशुद्ध विवेचन प्रस्तुत कर **'अवन्तिसुन्दरीकथा'** के आधार पर दण्डी का काल-निर्धारण किया है । इसी प्रकार दण्डी की भामह से परवर्तिता भी प्रमाणित की है । दण्डी के सम्बन्ध में राजशेखर की उक्ति **'त्रयो दण्डिप्रबन्धाः'** विद्वानों में बहुचर्चित रही है । इस सन्दर्भ में लेखक के विचार नितान्त मौलिक एवं बुद्धिग्राह्य हैं। लेखक ने "प्रबन्ध" शब्द का अर्थ-निर्धारण कर **'काव्यादर्श'** को प्रबन्ध-कोटि से बहिष्कृत कर **'दशकुमारचरित' 'अवन्तिसुन्दरीकथा'** और **'द्विसन्धानकाव्य'** को ही प्रबन्ध-त्रय के अन्तर्गत स्थापित किया है और इस प्रकार **'त्रयो दण्डिप्रबन्धाः'** का विद्वत्तापूर्ण एवं मौलिक विचारपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है । **दशकुमारचरितम्** के इतिवृत्तात्मक याथार्थ्य के मूल्याङ्कन में कथा के लिए अपेक्षित तत्त्वों-**कथावस्तु, पात्र, देशकाल, शैली, उद्देश्य** आदि के आधार पर की गई समालोचना सर्वथा प्रशंसार्ह है । लोकजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए **'दशकुमारचरितम्'** का महत्त्व सर्वविदित है । इस लोकजीवन के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में लेखक की यह मान्यता सर्वथा समीचीन प्रतीत होती है कि **'दशकुमारचरितम्'** में चित्रित लोकजीवन प्राचीन भारतीय संस्कृति के उस पक्ष के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है जहाँ त्रिवर्ग में **'काम'** की प्रधानता है किन्तु **'अर्थ'** और **'धर्म'** की पूर्ण उपेक्षा नहीं है । इसी प्रकार **रस, अलंकार, भाषा, शैली** आदि की दृष्टि से कवि दण्डी के मूल्याङ्कन करने में भी लेखक की प्रतिभा जागरूक है ।

यद्यपि आचार्य दण्डी पर अनेक ग्रन्थ तथा शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी विलक्षणता के कारण सर्वथा मौलिक स्वरूप बनाए हुए है। लेखक में निष्कर्ष तक पहुँचने की त्वरा नहीं है क्योंकि वह प्रत्येक विषय के प्रतिपादन में ऊहापोहपूर्वक विचार करता है, कहीं भी बचकर निकल जाने की प्रवृत्ति नहीं है। भाषा की विषयानुकूलता, प्रौढि और प्रवाहमयता सर्वथा बुद्धिरञ्जन करने वाली है।

मुझे विश्वास है कि संस्कृत साहित्य में रुचि रखने वाले सुधीजन इस ग्रन्थ का आदर करेंगे जिससे ग्रन्थकार का श्रम आनन्द बन जाएगा।

—सुरेशचन्द्र पाण्डेय

भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

१२-८-१९९७

प्रस्तावना

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार गद्य-रचना ही कवित्व की कसौटी है। संस्कृत के प्राचीन गद्यरचनाकारों में दण्डी उत्कृष्ट एवं सरल गद्य-रचना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कवि और आचार्य दोनों ही रूप में दण्डी के व्यक्तित्व (सत्त्व) की आलोचनात्मक समीक्षा और उनकी साहित्य-साधना का सम्यक् अनुशीलन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।

संस्कृत गद्य साहित्य में सुबन्धु और बाणभट्ट की कमनीय कृतियों पर समाधृत अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दण्डी के आचार्यत्व के प्रतीक 'काव्यादर्श' पर भी शोधप्रबन्ध एवं मौलिक ग्रन्थों की रचनाएं प्रकाश में आ चुकी हैं किन्तु आचार्यों की काव्यगत मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में दण्डी की शेष रचनाओं की विशद और तुलनात्मक साहित्यिक समालोचना का अभाव सा प्रतीत हो रहा था। इसी अभावपूर्ति की दिशा में '**आचार्य दण्डी की साहित्यसाधना**' ग्रन्थ के प्रणयन का मैने सङ्कल्प लिया और इस सङ्कल्प-सिद्धि में यह (मेरा) प्रयास कहाँ तक सफल है इसका निर्णय तो सहृदय सुधीजनों के परितोष से ही होगा।

दण्डी की साहित्यिक साधना के अनुशीलन में साहित्य की सम्मान्य-विशेषताओं - रस और अलंकार भाषा और भाव, तथा काव्य के लिये अपेक्षित अन्य रोचक विषयों के सन्निवेश के साथ ही दण्डी के वर्णन-कौशल की समीक्षा प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है।

वस्तुत: दण्डी की गद्य-रचना की रुचिरता ही उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध 'दण्डिन: पदलालित्यम्' इस उक्ति का हेतु है। दण्डीप्रणीत 'काव्यादर्श' अपने आप में इतना प्रौढ एवं विशाल लक्षणग्रन्थ है कि उस पर पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन की आवश्यकता है। इसलिए प्रमुख रूप से उनकी काव्यकृति, 'दशकुमारचरित' को

लक्ष्य में रख कर उनकी काव्यगत विशिष्टताओं के परिशीलन तक ही विषय को सीमित रखा गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'आचार्य' एवं 'महाकवि' दण्डी की समग्र साहित्यिक साधना को प्रस्तुत करने की दिशा में प्रथम प्रयास है । ग्रन्थ में कुल द्वादश अध्याय हैं । सर्वप्रथम कवि के जीवनकाल और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विमर्श किया गया है । संस्कृत के कतिपय इतर कवियों के सदृश ही दण्डी के सुनिश्चित समय का निर्धारण अद्यावधि नहीं हो पाया है । विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । प्राय: उपलब्ध सभी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए, इस ग्रन्थ में दण्डी के जीवनकाल विषयक विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण किया गया है । रामकृष्ण कवि द्वारा प्रतिपादित भारवि और दामोदर के तादात्म्य विषयक मत का तर्कपूर्ण युक्तियों से खण्डन करते हुए मौलिक चिन्तन-सरणि का आश्रय लिया गया है । अन्त में सम्मान्य विद्वज्जनों के उपलब्ध दण्डी के जीवनकाल विषयक मतों की एकैकश: आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए "अवन्तिसुन्दरीकथा" के आधार पर दण्डी का समय ७वीं शताब्दी का अन्त और ८ वीं का पूर्वार्ध निश्चित किया गया है । कवि के व्यक्तित्व की अनेकविध विशेषताओं का भी यथासंभव विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

इसके पश्चात् भामह और दण्डी के पौर्वापर्य की तात्त्विक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है । भामह और दण्डी के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु अद्यावधि मतैक्य का अभाव ही परिलक्षित होता है । दोनों ही आचार्यों के ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यत्र-तत्र एक ने किसी दूसरे की कहीं तो पूरी पंक्ति, कहीं उसके अर्धांश का उल्लेख करते हुए समालोचनाएँ की हैं । इस दृष्टि से पहले तो दोनों ही आचार्यों की कृतियों— 'काव्यालंकार' और 'काव्यादर्श' में उपलब्ध लक्षणों और उनकी उक्तियों की सैद्धान्तिक मीमांसा की गयी है, तदनन्तर प्रख्यात विद्वज्जनों की मान्यताओं का क्रमश: उल्लेख करते हुए भामह को दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध किया गया है ।

दण्डी के लोकविश्रुत तीन प्रबन्ध कौन-कौन हैं इस विषय पर मौलिक ढंग से विचारों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । दण्डी के समय की भाँति यह विषय भी अद्यावधि सन्दिग्ध प्रतीत होता है । "त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता:" राजशेखर की यह उक्ति प्राय: सहृदय समालोचकों की दृष्टि का अविषय नहीं है ।

दण्डी के वे लोकविश्रुत तीन प्रबन्ध कौन-कौन हैं—इस विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु इसका यथार्थ और पूर्ण विवरण अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। फलतः इस विषय की समालोचनात्मक विशद विवेचना इसी अभाव-पूर्ति की दिशा में एक अभिनव प्रयास है। एतद्विषयक सुलभ सभी मतों में विषमता ही दृष्टिगत हुई है। वस्तुतः साहित्य का मार्ग इतिहास की भाँति सुस्पष्ट कभी नहीं रहा है। इतिहास का तो अर्थ ही है इति-ह-आस अर्थात् इदमित्थ-मासीत्। साहित्य के सम्बन्ध में उक्त संदेह साहित्य का भूषण ही है, दूषण नहीं।

इस प्रकार पहले तो 'प्रबन्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कालिदास, सुबन्धु, भट्टि, माघ और दण्डी प्रभृति महाकवियों की कृतियों में प्रयुक्त "प्रबन्ध" शब्द की व्याख्या की गयी है। तदनन्तर आचार्यों की मान्यताओं और मौलिक उद्भावनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए तत्तत्स्थलों में अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने की चेष्टा की गयी है। विद्वानों की, "त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च"...इस उक्ति-विषयक सम्भावित समालोचनाओं की समीक्षा करते हुए अन्त में विशेष रूप से आचार्य आनन्दवर्धन और राजशेखर की मान्यताओं के परिवेश में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। विषयप्रतिपादन की इस दिशा में, राजशेखर की कृति "काव्यमी-मांसा" में "प्रबन्ध" शब्द का जिन-जिन स्थलों में और जिन-जिन अर्थों में प्रयोग हुआ है उन सबका यथार्थ विवरण प्रस्तुत करने का मेरा यह प्रथम प्रयास है। वस्तुतः दण्डी का व्यक्तित्व उभयकवि का व्यक्तित्व था। उसमें कवि और आचार्य दोनों की विशेषताओं का समावेश था। कवि के काव्यग्रन्थ उसके "कवित्व" और "काव्यशास्त्र" विशिष्ट रूप से उसके आचार्यत्व को ही प्रमाणित करते हैं। काव्यादर्श दण्डी के उभयपक्षीय असाधारण व्यक्तित्व (सत्त्व) का ज्वलन्त निदर्शन है। इसके लक्षणों के प्रतिपादन में शास्त्रीय तत्त्वदृष्टि और उदाहरणरचना में कवि की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। किन्तु समग्ररूप से विचार करने पर "काव्यादर्श" एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही सिद्ध होता है और इसी रूप में अद्यावधि उसकी मान्यता भी रही है। अतएव दण्डी की सुप्रसिद्ध रचना होते हुए भी उसे 'प्रबन्ध' की संज्ञा प्रदान करना समुचित नहीं है तथा इसके अतिरिक्त इतर तीन कृतियों[१] को ही प्रबन्ध के रूप में मानना समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. क—दशकुमारचरित
ख—अवन्तिसुन्दरीकथा और
ग—द्विसंधानकाव्य।

प्रबन्ध शब्द के इस विवेचनक्रम में 'दशकुमारचरित' के कथानक और उसकी यथार्थता के सम्बन्ध में सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पहले तो दशकुमारचरित की कथा का सारांश प्रस्तुत करने के अनन्तर काव्यगत मान्यताओं के आधार पर मूल कथानक के औचित्य का सम्यक् पर्यालोचन किया गया है तदनन्तर कविवर दण्डी के विविध विषयों की ज्ञानगरिमा के दिव्यालोक से ओत-प्रोत दशकुमारचरित में उनकी आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी दृष्टि की प्रधानता प्रदर्शित की गयी है। संस्कृत के इतर कवियों की कमनीय कृतियों की भाँति दशकुमारचरित में भी पुरुषार्थचतुष्टय की चारु-चर्चा के लिए अवसर मिला है। वस्तुत: इन पुरुषार्थों में 'अर्थ' और 'काम' ही जीवन की यथार्थवादी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से इन चारों के समवाय का ही महत्त्व है।

'दशकुमारचरित' में वर्णित दण्डी की दण्डनीति 'अर्थ' पुरुषार्थ का प्रतीक है तो शृंगारपिच्छिल वर्णन 'काम' पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। मूल कथानक के औचित्य-निर्वाह में कवि की प्रतिभा स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुई है। इतिवृत्तात्मक याथार्थ्य के मूल्यांकन में कथा के लिए अपेक्षित तत्त्वों—कथावस्तु, पात्र एवं उनके संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य आदि की एकैकश: सैद्धान्तिक मीमांसा की गयी है, तदनन्तर उक्त तत्त्वों की दृष्टि से दशकुमारचरित की समालोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। ग्रन्थगत घटनाचक्र की गत्यात्मकता, मूलकथानक की नवीनता और उसकी पूर्णता एवं रुचिरता की दृष्टि से अवान्तर कथाप्रसंगों का यथार्थ गुम्फन, समाज के विभिन्न स्तरों से पात्रों की अवतारणा, विदग्ध प्रणयिजनों के दग्ध हृदय के संताप-निवारण के लिए अनिवार्य उपचारों की सद्य: परिकल्पना एवं लोकचित्रण आदि का इसमें सोपपत्ति विमर्श किया गया है।

दण्डी की प्रेरणा के मूलभूत पूर्ववर्ती काव्यग्रन्थों में उपलब्ध एवं संभावित स्रोतों की अवतारणा की गयी है। काव्य में उपजीव्य उपजीवकभाव सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के अनन्तर वात्स्यायन, कौटिल्य, कालिदास, शूद्रक और भट्टि प्रभृति पूर्ववर्ती महाकवियों तथा उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का दशकुमारचरित पर प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। दण्डी ने दशकुमारचरित में शृंगाररसपेशल वर्णन का जो चारुतम रूप प्रतिष्ठित किया है, विजिगीषु के लिए अनिवार्य चारों विद्याओं में दण्डनीति की जो प्रधानता प्रदर्शित की है, राजनीतिक अवस्थाओं का जो सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत किया है, समाज के दोषों और मानवजीवन की निर्बलताओं को

अनावृत कर उसकी विविध अवस्थाओं का जो यथार्थ चित्र पुरस्कृत किया है, वेश-संस्कृति का भी यत्किंचित् परिचय देते हुए लोक-जीवन की जो झाँकी प्रस्तुत की है उन सबमें क्रमश: कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र, तथा मृच्छकटिक आदि कृतियों और भाणसाहित्य का स्पष्ट प्रभाव दर्शनीय है ।

महाकवि कालिदास की कृतियों में विशेषरूप से रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तल और मेघदूत तथा कविवर भट्टिविरचित 'रामचरितम्' (भट्टिकाव्यम्) का दशकुमारचरित पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है । पूर्ववर्ती इन महाकवियों की उक्त कृतियों से दशकुमारचरित में भावसाम्य अथवा उक्तिसाम्य की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है ।

इसी क्रम में काव्यगत विशेषताओं के आलोक में दशकुमारचरित की रस-व्यवस्था, अलंकार-योजना, वस्तुवर्णन, लोकजीवन की अभिव्यक्ति आदि पर प्रकाश डाला गया है । दशकुमारचरित का अंगीरस शृंगार है । शृंगार के दोनों पक्षों संभोग तथा विप्रलम्भ का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इसके अतिरिक्त रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, भयानक, वीर, हास्य, करुण और वात्सल्य आदि रसों की दृष्टि से दशकुमारचरित का पर्यालोचन किया गया है । अन्त में ग्रन्थगत शृंगार, रसाभास, भाव, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता आदि की प्रतिष्ठा व तर्कशुद्ध विवेचना प्रस्तुत की गयी है ।

साथ ही दशकुमारचरित में वस्तुवर्णन पर भी विचार किया गया है । आरम्भ में वस्तुवर्णन की प्रकृति के सन्दर्भ में एक सामान्य परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, तदनन्तर दशकुमारचरित में पर्वत, अन्त:पुर, भूमिगृह, सरोवर, उत्सव, अंगना, मृगया, काल-संध्या, प्रभात, वसन्त, दुर्भिक्ष, द्यूतक्रीडा, मद्यपान, कुक्कुटयुद्ध आदि विषयों और प्राकृतिक उपकरणों की क्रमश: विवेचना की गयी है । इस सन्दर्भ में संस्कृत के इतर महाकवियों की कृतियों में उपलब्ध उक्त विभिन्न विषयों के सुरुचिपूर्ण वर्णन की एक ऐतिहासिक पीठिका भी प्रदर्शित की गयी है ।

इस ग्रन्थ में अलंकारों की दृष्टि से भी दशकुमारचरित का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । अध्याय के आदि में अलंकार की परिभाषा तथा उसकी काव्यगत उपादेयता के सम्बन्ध में विचार किया गया है । प्राचीनतम और अर्वाचीन विचारकों के अनुसार अलंकार-शास्त्र की उत्पत्ति और उसकी अतिशय प्राचीनता पर चिन्तन करते हुए प्रमुख रूप से आचार्य दण्डी और मम्मट

की मान्यताओं के आधार पर दशकुमारचरित में अलंकारों की व्यवस्था पर विचार प्रस्तुत किए गए हैं। मुख्य रूप से यहाँ ग्रन्थगत अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, भ्रान्तिमान्, सन्देह, व्यतिरेक, परिवृत्ति और काव्यलिंग आदि अलंकारों की सोदाहरण योजना प्रदर्शित की गई है।

ग्रन्थगत भाषा और शैली अर्थात् वर्णनानुकूल पदों का विन्यास पाठकों के मन को आह्लादित करता है। इसलिए आरम्भ में भाषा का सामान्य परिचय देते हुए संस्कृत भाषा की उपादेयता की चर्चा की गई है। दशकुमारचरित की भाषा और शैली की समालोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत करते हुए उसके मूलभूत तत्त्वों की सर्वांगीण व्याख्या की गयी है। दशकुमारचरित में दण्डी की भाषा और शैली की विशेषताओं के प्रतिपादन की दिशा में यत्र-तत्र मौलिक उद्भावनाएँ की गयी हैं। मौलिक उद्भावनाओं की इस अभिनव दिशा में संस्कृत गद्य के इतर उन्नायकों की कृतियों की तुलना में दशकुमारचरित को 'पदलालित्य' का सच्चा निकष सिद्ध किया गया है। ग्रन्थगत पात्रों के लिए प्रयुक्त विशेषण-पदों की छटा, सुप्रयुक्त, सौंदर्य की सृष्टि में समर्थ और सारगर्भित पदावली, वर्णनात्मक प्रसंगों में प्रयुक्त ललित, समासाढ्य और अलंकृत पदावली, व्यंजक एवं साकूत शब्दों के सुष्ठु प्रयोग, पवर्ग के अक्षरों से रहित कोमल पदविन्यास, कारकों एवं समासों के समीचीन प्रयोग, समासनिष्पन्न विशेषणपदों की योजना, क्रियाओं के लाक्षणिक प्रयोग, अमंगलवाचक शब्दों के परिहार, अनुरणनात्मक नादसौन्दर्य, श्रुतिमधुर ध्वनियों को निष्पन्न करने वाले यथार्थ सम्बोधनों के प्रयोग, संवादात्मक स्थलों में लघुकाय किन्तु मार्मिक पदसमूहों की अद्भुत योजना, काव्य में प्रतिष्ठित कान्ता-सम्मित शैली के निर्वाह में सरस एवं सारगर्भित शब्दों की भरमार, वात्सल्य, के स्थलों में अनुरूप एवं प्रभावोत्पादक शब्दों की रम्य योजना आदि के यथासम्भव अनुकूल उदाहरण इस वर्णनक्रम में प्रस्तुत किये गये हैं। व्याकरणसम्मत प्रयोगों में भी दण्डी की शब्द-योजना अद्वितीय है। अध्याय के अन्त में दण्डी की सूक्ष्मदर्शिता, काव्यकलाकौशल और उनकी अलौकिक प्रतिभा की द्योतक सरस, स्निग्ध, धारावाहिनी और सुप्रयुक्त एक सरल अभिनव गद्य शैली की दृष्टि से दशकुमारचरित का यथार्थ मूल्यांकन किया गया है।

इस ग्रन्थ में काव्यगत लोकचित्रण के महत्त्व-प्रतिपादन को स्थान मिला है। 'वस्तुतः काव्य में चित्रित लोकजीवन ही उस काव्य की उत्कृष्टता की प्रधान कसौटी

है," काव्य की वास्तविक प्रेरणा-भूमि लोकजीवन है तथा वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त है, लोकरञ्जन में ही काव्य और नाट्य की सफलता निहित होती है, इत्यादि उक्तियों की दृष्टि से काव्य में लोक-चित्रण की उपादेयता का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लोकचित्रणप्रधान संस्कृत गद्य-कथाओं, भाणों आदि में चोट करने, हँसी उड़ाने तथा तत्कालीन समाज की कामुक और ढोंगी वृत्तियों के प्रदर्शन का अच्छा सुयोग उपलब्ध होता है। दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी समाज का सर्वांगपूर्ण चित्रण करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कृति से हमें समाज की दूषित अवस्था का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। देवता, लालची, मुर्गे लड़ाने वाले ब्राह्मण, ढोंगी साधु, बने हुए दिगम्बर बौद्ध भिक्षु, चोर, वेश्याएँ और जुआरी इत्यादि कोई भी दण्डी की पैनी दृष्टि के अविषय नहीं हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए दशकुमारचरित में लोकजीवन के संभावित तत्त्वों की विवेचना की गयी है। काव्य में लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले कतिपय महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का निर्देश और उनका एक ऐतिहासिक संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। विभिन्न उत्सवों, उद्यान यात्रा, अन्तःपुर, पर्यटन, द्यूतक्रीडा, चौर्य- कर्म, वेश्यागामित्व, प्रवञ्चना, परातिसंधान, दूतकर्म, वस्त्राभूषण, लोकगार्हस्थ्यजीवन, देवपूजा, व्यापार, नृत्य एवं संगीत, असत्यभाषण, पिशुनता, निर्धनता आदि ग्रन्थगत इन विभिन्न तत्त्वों का यथासंभव चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ एक और बात की भी चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है कि दशकुमारचरित में चित्रित लोकजीवन प्राचीन भारतीय संस्कृति के उस पक्ष के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ त्रिवर्ग में 'काम' की प्रधानता है किन्तु अर्थ और धर्म की पूर्ण उपेक्षा नहीं है, जहाँ मानव स्वभाव की निर्बलता है किन्तु कोमलता, मृदुता एवं पुरुषार्थ का अभाव नहीं, परिहास और फबतियाँ हैं किन्तु सर्वत्र अमर्यादित नहीं, वैशिक जीवन की झाँकी, छल, चौर्यकर्म एवं अनाचार हैं किन्तु पराक्रम, त्याग और परोपकार आदि का लोप नहीं, परातिसंधान और हृदयहीनता है किन्तु अतिथि-प्रेम और उदारता सदृश उदात्तवृत्तियों का अनवकाश नहीं, कामुकता और लोलुपता हैं किन्तु प्रायः सर्वत्र अगूढ नहीं।

ग्रन्थ के अन्तिम चरण में पहले तो कवि और काव्य का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है, तदनन्तर महाकवि की परिभाषा एवं उसकी मान्यता को प्रमाणित करने वाले विचारों का यथासंभव प्रतिपादन किया गया है। भामह और राजशेखर आदि आचार्यों की कवि और काव्यविषयक मान्यताओं का सूक्ष्म निर्देश

करते हुए कवित्व के आधारभूत तत्त्वों—प्रतिभा और व्युत्पत्ति प्रभृति बौद्धिक शक्तियों के स्वरूप और उनके महत्त्व की चर्चा की गयी है। अन्त में आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर दण्डी को 'महाकवि' के रूप में सिद्ध करते हुए उनकी अलोकसामान्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति का सोपपत्ति महत्त्व प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है। दण्डी की व्युत्पत्ति-निरूपण के संदर्भ में उनकी वेद वेदांगों एवं कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, तथा काव्यशास्त्रादि विविध विषय की विशेषताओं का परिशीलन हुआ है।

अन्त में 'संस्कृत साहित्य में दशकुमार चरित का स्थान' इस विषय पर संक्षेप में विचार किया गया है। विचार-प्रदर्शन की इस अभिनव दिशा में दशकुमारचरित के परवर्ती प्रभाव का विस्तार भय से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है। केवल कतिपय ग्रन्थों का उल्लेख और उनका सामान्य परिचय प्रस्तुत करके ही विषय को समाप्त किया गया है।

भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के प्रशस्त प्रतीक के रूप में एवं संस्कृत-गद्य-साहित्य की नैसर्गिक और अलंकृत कृत्रिम शैली के मञ्जु सामञ्जस्य के प्रतिष्ठापक के रूप में दण्डी यहाँ की युग-युग पुरातन महाकवियों की पंक्ति में सदा आसीन रहेंगे। उनकी अनवरत सारस्वत साधना के परिणामस्वरूप, सुरभारती की स्वाभाविक एवं सरस पदावली से ओत-प्रोत दशकुमारचरित के माधुर्य से सहृदय विद्वज्जनों का कण्ठ आप्यायित होता रहेगा।

विद्याध्ययन के प्रथमोन्मेष में ही मान्य अग्रज श्री भानुप्रताप तिवारी के श्रीमुख से वेदमन्त्रों के उच्चारण और संस्कृत के सस्वर पद्यों के सुनने से सुरभारती की गरिमा और मधुरिमा के प्रति अपने अन्तःकरण में अपूर्व अनुराग बद्धमूल हो चुका था। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' और 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्', सदृश उक्तियाँ कर्णगोचर होने लगी थीं, किन्तु 'दण्डिनः पदलालित्यम्' जैसी सदुक्ति भी श्रोत्रवृत्ति का अविषय नहीं थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के साथ ही संस्कृत विषय के अध्ययन क्रम में बी० ए० और एम० ए० की कक्षाओं में ही विद्वद्वर्य सहृदयशिरोमणि पं. लक्ष्मीकान्त दीक्षित जी की सस्वर अमृतवाणी और उनके प्रतिभा-विलास का पूर्ण परिचय प्राप्त हो चुका था। अतएव एम० ए० द्वितीय वर्ष में साहित्य विषय लेकर अध्ययन क्रम में सुलभ अवसर का मैंने पूर्ण लाभ उठाया। सन् १९६४ में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात्, विख्यात

विद्वन्मनीषी, प्राच्यविद्याविशारद आचार्यप्रवर पं. सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी जी (संस्कृत विभागाध्यक्ष) के कार्यकाल में शोधच्छात्र के रूप में प्रवेश मिल गया। शोधकार्य की अवधि में निरन्तर दो वर्ष बी० ए० (सेमिनार) की कक्षाओं के अध्यापन कार्य तथा विभागीय छात्रवृत्ति प्राप्त करने का अवसर मिला।

इस ग्रन्थ की पूर्णता में अद्यावधि अपने विषय से सम्बद्ध तथा उपलब्ध समस्त सामग्री (ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाओं) का यथासम्भव पूर्ण उपयोग किया गया है।

आचार्यप्रवर प्रो. लक्ष्मीकान्त दीक्षित जी के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी चिरन्तन सारस्वतसाधना के पुञ्जीभूत दिव्यालोक से मेरे मानसतिमिर का निवारण करते हुये अनुकूल दिशानिर्देश के साथ अपने आशीर्वचन सें सदैव अभिषिक्त किया है। सदैव निरलस भाव से तत्पर रहकर समय समय पर उनकी चतुरस्त्र काव्यप्रतिभा का जो लाभ मुझे मिलतां रहा है, उन सब के लिए मैं विनीत भाव से उनके प्रति अपनी सात्त्विकी श्रद्धा के भाव-सुमन समर्पित करता हूँ।

संस्कृत विभाग के अन्य सभी पूज्य प्राध्यापकों एवं सुहृज्जनों के प्रति मैं परम कृतज्ञ हूँ जिनके स्नेह पूर्ण-व्यवहार तथा विशद वैदुष्य से मुझे सदैव प्रोत्साहन मिलता रहा है।

डॉ. जगदीश गुप्त (प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके समृद्ध निजी पुस्तकालय तथा काव्यशास्त्रीय ज्ञान का इस ग्रन्थ की पूर्णता में यथेष्ट लाभ मिलता रहा है।

अन्त में परम श्रद्धेय डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र एवं विद्वद्धौरेय डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल जी के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनकी मङ्गलमयी वाणी अपने मधुमय स्नेह से हमें सदा अभिषिक्त करती रही है। उनका सच्चा मार्गदर्शन, और पावन आशीर्वचन ही मेरा सम्बल है, उनकी सत्प्रेरणा ही मेरी सम्पत्ति है। उनकी प्रखर मेधा, असाधारण प्रतिभा, सुशीलता तथा सहृदयता का उदार लाभ मुझे पद-पद पर मिलता रहा है।

प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेय जी ने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखकर मुझे जो गौरव प्रदान किया है उनके इस उदारतापूर्ण व्यवहार से मैं अनृणी नहीं हो सकता।

ग्रन्थ के लेखन कार्य में यथासंभव सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से उन परिजनों एवं कुटुम्बीजनों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने किसी न किसी रूप में

इसकी पूर्णता में अपनां सक्रिय सहयोग प्रदान किया है । डॉ० शेष नारायण शुक्ल और आचार्यवर पं० अवधेश नारायण पाण्डेय को मैं अपने स्नेहाशीर्वाद से अभिषिक्त करता हूँ जिन्होंने प्रूफ संशोधन-कार्य में अनुद्विग्न मन से सहयोग प्रदान किया है ।

सुरभारती के सहृदय विद्वज्जनों के करकमलों में अपनी वाङ्मयी सपर्या के पत्र-पुष्प अर्पित करता हूँ । उनका परितोष ही इस ग्रन्थ के प्रणयन में मेरे प्रयास की सफलता का सच्चा निकष है । इन्हीं शब्दों के साथ मैं इस रचना को माँ भारती के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ ।

तिथि—श्रावणी पूर्णिमा
१८.८.१९९७

विनयावनत
काशीनाथ तिवारी

विषयानुक्रमणिका

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

महाकवि दण्डी का जीवन-काल एवं व्यक्तित्व

यह एक निर्विवाद सत्य है कि किसी नूतन ग्रन्थ का अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व ग्रन्थ-प्रणेता का जीवनकाल, उसका व्यक्तित्व, ग्रन्थ के निर्माण का कारण तथा उसका उद्देश्य आदि विषयों के जानने की उत्कण्ठा सभी सहृदय पाठकों के मन में स्वत: आविर्भूत होती है, किन्तु हमारे यहाँ कवियों, राजाओं तथा अपर प्रसिद्ध पुरुषों के जीवन चरित्र लिखने की विशेष परिपाटी प्रचीन काल में न होने से पाठकों की मनस्तृप्ति इस विषय में प्राय: नहीं हो पाती ।

कवियों के जीवन-वृत्त के विषय में ज्ञान प्राप्ति के केवल दो मार्ग उपलब्ध होते हैं । प्रथम तो यह कि जीवनकाल में अपनी दिनचर्या स्वयं लिखना, दूसरा यह कि अपने ग्रन्थ में पूर्वजों का परिचय देते हुए अपने विषय में भी यदि सविस्तर नहीं तो संक्षेप में कुछ लिखना ।

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में प्रथम मार्ग का अवलम्बन तो किसी भी कवि द्वारा प्राय: अनुपलब्ध-सा ही है क्योंकि कविकुलशिरोमणि महाकवि कालिदास प्रभृति कवियों ने अपने ग्रन्थों में अपना नाम तक भी नहीं दिया है । दूसरी परिपाटी का अनुसरण कतिपय कवियों ने किया है । उदाहरण के लिए श्री हर्ष व भवभूति ने संक्षेप में अपने कुल का परिचय प्रस्तुत किया है । मंरवक, बाणभट्ट और विल्हण ने भी श्रीकण्ठचरित, हर्षचरित, विक्रमांकदेवचरित में स्वविषयक वर्णन किया है ।

महाकवि दण्डी का जीवनकाल और उसका निर्णय निश्चित रूप से विवाद का विषय है । आचार्य दण्डी का सर्वप्रथम उल्लेख प्रतिहारेन्दुराज (पृ० १२६) ने किया है ।[१] काव्यादर्श के टीकाकार आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र ने भी इस मत का

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, प्रथम भाग, १९२३-डा० एस० के० डे ।

उल्लेख किया है - ईसवीय दशमशतक पूर्वार्ध में उत्पन्न प्रतिहारेन्दुराज ने उद्‌भट-रचित काव्यालंकारसारसंग्रह की लघुवृत्ति में लिखा है:—

अतएव दण्डिना - 'लिम्पतीव' इत्यादि ।[१]

आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक में भामह का उल्लेख मिलता है, किन्तु दण्डी का उल्लेख उक्त ग्रन्थ में इतनी स्पष्टता के साथ नहीं मिलता किन्तु आचार्य अभिनव ने लोचन में लिखा है:—

'यथा दण्डी - गद्यपद्यमयी चम्पू: ।'[२]

वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में 'रीतिरात्माकाव्यस्य' लिख कर रीति को ही काव्यात्मा स्वीकार किया है जो दण्डी के ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में मार्ग शब्द से अभिहित हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी के समय तक 'रीति' नाम का कोई भी काव्य तत्त्व नहीं था । हो सकता है कि दण्डी द्वारा प्रतिपादित दो मार्गों के आधार पर ही वामन ने तीन रीतियों का स्वरूप-निर्धारण तथा उनका विवेचन किया हो । यदि यह तथ्य समीचीन है तो दण्डी का वामन से पूर्ववर्ती होना स्वत: सिद्ध हो जाता है । दण्डी को वामन से पूर्व सिद्ध करने के लिए और भी प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किन्तु इस विषय को अप्रासंगिक समझकर विस्तार भय से यहाँ यह चर्चा विषयानुकूल नहीं होगी । वामन का समय जंयापीड़ का राज्यकाल ७७९ से ८१३ माना जाता है । इन बातों से दण्डी के समय की उत्तरी सीमा अष्टमशतक निश्चित है ।[३]

दण्डी के समय की उत्तरी सीमा के निर्धारण में अत्यन्त प्रामाणिक व तर्कशुद्ध विवेचन का आधार दण्डी के काव्यादर्श पर आधारित सिंघली भाषा का अलंकारग्रन्थ 'सियसलकर' स्वभाषालंकार माना जाता है । इस सम्बन्ध में डा० एस० के० डे, डा० पी० वी० काणे, डा० वार्नेट तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय प्रभृति विद्वानों का मतैक्य पाया जाता है । डा० वार्नेट का मत है कि उक्त ग्रन्थ स्वभाषालंकार नवीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकती ।[४] इसके लेखक 'राजासेन प्रथम'

---

१. काव्यादर्श - व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र, प्रस्तावना- पृ० १३ ।

२. ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धन, तृतीय उद्योत ७वीं कारिका की वृत्ति, १९५८ ।

३. काव्यादर्श की प्रस्तावना में - रामचन्द्र मिश्र, पृ० १३ ।

४. डा० वारनेट - जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी १९०५ । डा० डे के हि० आ० संस्कृत पोयटिक्स भाग-१ से उद्धृत ।

महावंश के अनुसार ८४६-६६ ई० तक राज्य किए थे । इसके भी पूर्व 'कन्नड़भाषा' के अलंकार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' की सूचना मिलती है जिसके लेखक राष्ट्रकूट राजकुमार अमोघवर्षनृपतुंग ने जो कि ९ वीं शताब्दी के आदि में थे ६ श्लोक प्रस्तुत किए हैं जो ठीक-ठीक काव्यादर्श के श्लोक से मिलते-जुलते तथा उसके रूपान्तर प्रतीत होते हैं । पाठक महोदय भी इसी वृत्ति की भूमिका में (पृ० १९) कहते हैं कि तृतीय अध्याय के अधिकांश श्लोक या तो काव्यादर्श में वर्तमान श्लोकों के अनुवाद हैं या वहीं से उसी रूप में ग्रहण किये गये हैं और आगे चलकर कृति के अधिकांश भाग में दण्डी के प्रभाव के विश्वसनीय संकेत मिलते हैं । इस तरह दण्डी की कृति काव्यादर्श की अन्तिम सीमा ९ वीं शताब्दी सिद्ध होती है, जिससे दण्डी का समय वामन के भी पूर्व निश्चित किया जा सकता है जिनका समय उसी शताब्दी का आदि माना जा सकता है ।[१] डा० पी० वी० काणे ने वार्नेट जी का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि, 'किसी भी स्थिति में सिंघली भाषा का ग्रन्थ ८४० ई० के बाद नहीं रखा जा सकता है । इन ऐतिहासिक सिद्धान्त की पंक्तियों से निष्कर्ष निकलता है कि भामह और दण्डी दोनों ही ६५० ई० के बाद नहीं हो सकते । दोनों के समय में थोड़ा ही अन्तर हो सकता है न कि शताब्दियों का अन्तर जैसा कि बटुकनाथ शर्मा ने भी (काव्यालंकार की भूमिका, पृ० ४० पर) निर्दिष्ट किया है ।'[२]

दण्डी के काल की अवर सीमा के सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का भी मत उपर्युक्त मतों के अनुकूल ही प्रतीत होता है । उनका मत इस प्रकार है—'नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का नामोल्लेख पाए जाने के कारण निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता । कन्नड़ भाषा के अलंकार ग्रन्थ कविराज मार्ग में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है । उसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णत: लिये गये हैं या कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गए हैं । हेतु,अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दण्डी से अक्षरश: मिलते हैं । ग्रन्थ के लेखक अमोघवर्ष का समय ८५० ई० के आसपास माना जाता है, अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि नहीं स्वीकृत की जा सकती । यह तो दण्डी के काल की अन्तिम सीमा है ।'[३]

---

१. हिन्दी अनुवाद - हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, डा० एस० के० डे, भाग-१,

२. हिन्दी अनुवाद - हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स -पी० वी० काणे, पृ०

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास-आचार्य बलदेव उपाध्याय,

उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि काव्यादर्श दण्डी की निःसंदिग्ध रचना है । अतएव उसमें यत्र-तत्र विद्यमान ऐतिहासिक विवेचन प्रामाणिक तथा सत्य कहे जा सकते हैं जिनसे दण्डी के जीवन-काल की कुछ झलक मिलती है । कवि ने अपने पूर्ववर्ती, गुणाढ्य की भूतभाषानिबद्ध कृति 'वृहत्कथा' का नाम लिया है—

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां वृहत्कथाम् ।।

—काव्यादर्श-१-३५ ।

प्रस्तुत श्लोक के आधार पर दण्डी का समय गुणाढ्य के बाद का निश्चित हो जाता है । किन्तु दण्डी के सुनिश्चित समय की द्योतक पंक्तियों का प्रायः पूर्ण अभाव सा है । क्योंकि उपर्युक्त श्लोक के अतिरिक्त द्वितीय परिच्छेद में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे केवल स्वल्प संकेत ही उपलब्ध होता है । निम्नलिखित—

'इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः ।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेम इत्यवगम्यताम् ।।'

—काव्यादर्श-२-२७९

श्लोक में रातवर्मा का उल्लेख है । कहीं-कहीं पाठभेदसे राजवर्मा भी नाम मिलता है । कतिपय विद्वानों की धारणा है कि, 'यह रातवर्मा या राजवर्मा पल्लव नरेश द्वितीय नृसिंह वर्मा का नामान्तर था और कांची के दरबार में दण्डी भी थे ।'[१]

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में 'कांची' तथा पल्लवनृपति का नामोल्लेख होने से दण्डी पल्लवनरेश की छत्र-छाया में थे ऐसी कल्पना की जाती है—

नासिकमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वयानृपाः ।।

—काव्यादर्श-३-११४ ।

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरीपञ्चपल्लवा ।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममञ्जरी ।।

—काव्यादर्श-३-११२ ।

---

१. 'काव्यादर्श' की प्रस्तावना में द्रष्टव्य-आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, पृ० १४ ।

न केवल 'काव्यादर्श' में अपि तु 'अवन्तिसुन्दरीकथा'[१] जो कि दण्डी की ही कृति मानी जाती है उसमें भी 'कांची' नगरी तथा पल्लव नृपति का नामोल्लेख हुआ है । यदि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' दण्डी की कृति है तो निश्चित रूप से दण्डी के समय निर्धारण तथा जीवन-परिचय के सम्बन्ध में यह ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय सिद्ध हुआ है ।

यों तो संस्कृत साहित्य में, प्राय: अधिकांश कवियों तथा लेखकों के व्यक्तिगत जीवन-वृत्त व समय विषयक मत विवादग्रस्त ही उपलब्ध होते हैं जिनका निर्णय अनिवार्य रूप से अनुसंधानसापेक्ष हो जाता है । कवियों के समय आदि के विषय में हम लोगों का ज्ञान प्राय: बहुत कम है । संभवत: इस विषय के निर्णय में परम्पराओं तथा अनुश्रुतियों का ही आश्रय लिया जाता है । कालिदास आदि जैसे कवि उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनके निश्चित समय का ज्ञान आज तक नहीं हो पाया है । विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं । ऐसी स्थिति में कवि के ग्रन्थपरीक्षण तथा वाह्य-साक्ष्य को भी दृष्टि में रखते हुए उन मतों का उपस्थापन यथासाध्य प्रामाणिक विवेचना के आधार पर किया गया है और आगे भी इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखना समीचीन प्रतीत होता है ।

जैसा कि डा० एस० के० डे[२] तथा शूरनाड कुंजन पिल्लै[३] के अनुसार स्पष्ट है कि सर्वप्रथम १९२४ में श्री रामकृष्ण कवि ने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' का एक खण्ड प्रकाशित किया किन्तु यह प्रकाशन अत्यन्त सदोष तथा अक्रमबद्ध हस्तलिपि पर आधारित होने के कारण अग्राह्य बताया गया । पुन: यह ग्रन्थ कोत्तकल·मलबार से खोजने पर मिला जिसमें कि ग्रन्थ का केवल प्रारम्भिक अंशमात्र २५ पृष्ठों में ही सीमित था । वर्तमान संस्करण अपेक्षाकृत पूर्ण एवं २४६ पृष्ठों तक का है जिसका पर्यवसान मन्दाकिनी द्वारा कथित कादम्बरी की कथा से होता है ।

१. अनन्तशयन विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़, ग्रन्थांक १७२, पौरस्त्य ग्रन्थ प्रकाशनकार्यालयाध्यक्ष श्री शूरनाड् कुंजन पिल्लै, एम०ए० (सन् १९५४) द्वारा प्रकाशित ।

२. ऐस्थेटिक्स आफ संस्कृत लिटरेचर-डा० एस० के० डे, पृ० २६५ ।

३. अवन्तिसुन्दरीकथा के प्रीफेस में-पृ० १ ।

हर्षचरित और कादम्बरी में बाणभट्ट के सदृश ही 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के प्रारम्भ में ही दण्डी और उनके कुल का परिचय प्राप्त होता है, जिससे उनके अन्धकारमय जीवनपथ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।[१]

दक्षिण भारत में कांचीपुर नाम की राजधानी थी जिसमें पल्लववंशीय सिंह-विष्णु नाम के राजा हुए । यह राजा सर्वदेवाराधनतत्पर और सुबुद्धि वाला होने पर भी दिव्यानन्द उत्पन्न करने वाले कवि गुणों का प्रेमी हुआ । एक दिन उसके दरबार में एक गन्धर्व ने आकर उसकी प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक सुनायाः—

दनुजपतिहृदयभूधरविभेदविज्ञातशक्तिनखकुलिशम् ।

जगदुदयहेतु विष्णोरवतु वपुर्नारसिंहं वः ॥

जिससे स्पष्ट रूप से राजा तथा ईश्वर की प्रशंसा अभिव्यक्त होती है । पद्य के माधुर्य और लालित्य से प्रभावित होकर गुणकुतूहली राजा ने पूछा—

भद्र ! कस्यैतान्यक्षराणिविकटबद्धान्योजस्वीनि च लक्ष्यन्ते, कस्य चेयं वर्ण-रचना माधुर्यवती प्रसन्ना चेन्दुकरकलिकेव श्रवणानन्दमुत्पादयति इति ।

स तु सम्प्रणिपत्य व्यज्ञापयत्-देव ! परमानुगृहीतोऽस्मि, क्षणमवधानदाना-दनुगृहीततमः क्रियतामयं जनः ।[२]

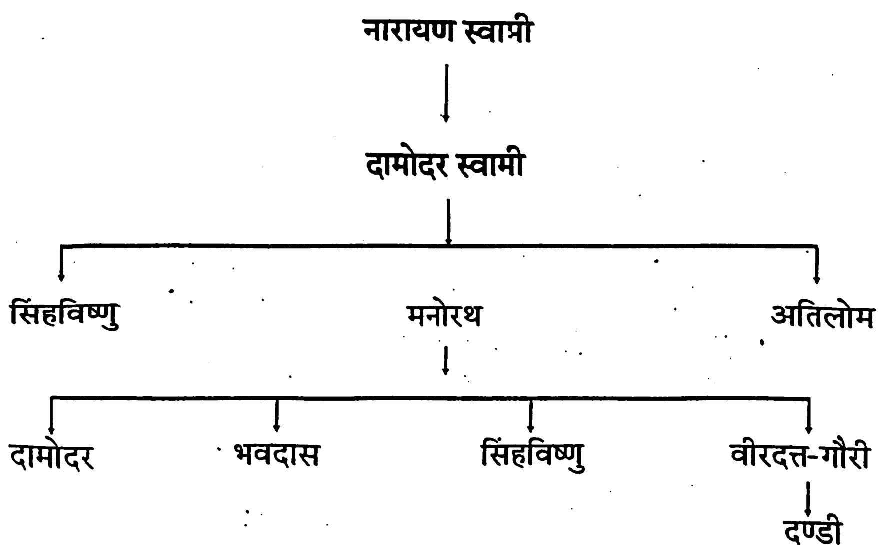
इसके अनन्तर गन्धर्व ने राजा के प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ किया और, अस्ति दिशि पश्चिमोत्तरस्यामार्यदेशशिखामणिरानन्दपुरं नाम ब्राह्मणानां महानावासः इन शब्दों के साथ उसने बताया कि व्याकरण तथा मन्त्रशास्त्र आदि में निष्णात कौशिकगोत्र के ब्राह्मण आनन्दपुर से नासिक के समीप मूलदेव द्वारा स्थापित अचलपुर नगर में आए। इस ब्राह्मण परिवार में अत्यन्त उदार, त्यागी एवं ख्यातिप्राप्त 'नारायण स्वामी' नामक व्यक्ति हुए । उनसे दामोदर स्वामी नाम के कुमार उत्पन्न हुए । यही दामोदर महाकवि भारवि की सहायता से विष्णुवर्धन के मित्र हुए । इस मैत्री भाव के फलस्वरुप दामोदरस्वामी एक बार विष्णुवर्धन के साथ मृगया के लिए चल पड़े । इसी बीच में गांगेयस कुल में उत्पन्न राजकुमार दुर्विनीत के गुणों से प्रभावित होकर वे उन्हीं के साथ रहने लगे । उस समय उनकी अवस्था

---

१. —राजहंसीविलम्बविक्रमललितनितम्बिनीकदम्बकनितम्बबिम्बप्रलम्बितमञ्जुशिनन्जानकाञ्चीदामा काञ्चीपुरं नाम राजधानी । -अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ६ ।

२. द्रष्टव्य-अवन्तिसुन्दरीकथा-आचार्य दण्डी, पृ० ९ ।

२७ वर्ष की थी और उन्हीं की बनाई यह कारिका है । आगे चल कर इन्हीं दामोदर स्वामी के सिंहविष्णु, मनोरथ और अतिलोम नाम से तीन पुत्र उत्पन्न हुए । पुनः मनोरथ से दामोदर, भवदास, सिंहविष्णु और वीरदत्त नाम से चार सुत उत्पन्न हुए । वीरदत्त ने मांठरगोत्रोत्पन्न 'गौरी' नाम की ब्राह्मणी से विवाह किया । फलतः कई कन्याओं के जन्म लेने के बाद 'दण्डी' उत्पन्न हुए ।[१] प्रबन्ध के विस्तारभय के कारण कथा की सारी पंक्तियाँ सर्वत्र उद्धृत करना दुष्कर समझ कर उसी के आधार पर उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है । उक्त वंशपरम्परा का निर्देश, निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—



सात वर्ष की अवस्था में दण्डी का उपनयन संस्कार हुआ । बचपन में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो जाने से माता-पिता के स्नेह से दण्डी वंचित रहे । आगे चलकर श्रुत और सरस्वती ने इनका पालन-पोषण किया । काञ्ची पर शत्रुओं का आक्रमण होने से दण्डी को वह स्थान छोड़ देना पड़ा और भिन्न-भिन्न अनेक स्थानों पर वे भ्रमण करते रहे । इस स्थल पर बाणभट्ट के विषय में हर्षचरित की पंक्तियों का अवतरण स्मृति-पथ पर होने लगता है । अपने भ्रमणकाल में चिरकाल तक अभीष्ट गुरुकुलों में रह कर दण्डी ने शाश्वत अनवद्य ज्ञानार्जन किया । तदनन्तर शान्तिपूर्ण वातावरण स्थापित हो जाने पर वे पुनः काञ्ची लौट

१. अवन्तिसुन्दरीकथा—आचार्य दण्डी, पृ० ९ से १२ तक ।

आए। राजदरबार में दण्डी का अपूर्व सम्मान हुआ और वे उन्हीं पल्लवनरेश के यहाँ रहने लगे।

उपर्युक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' द्वारा प्राप्त सामग्री तथा 'अवन्तिसुन्दरीकथा सार' में उपलब्ध श्लोक जो आगे दिया जाएगा, दोनों के आधार पर राम-कृष्ण कवि के मत का मूल्यांकन करना अप्रासंगिक न होगा। प्राय: अधिकांश विचारों का निर्णय इन्हीं मतों पर आधारित प्रतीत होता है।

के० एस० महादेवशास्त्री ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की भूमिका में अपना तर्क देते हुए दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का अन्त अथवा ८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है। उनका मत इस प्रकार है—

दण्डी के समय के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों के अनुसार वे ६ ठवीं शताब्दी में रहे, और कुछ अन्य विचारकों के अनुसार ८ वीं शताब्दी में थे। किन्तु 'अवन्तिसुन्दरी' में प्राप्त अन्त: साक्ष्य के द्वारा दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का अन्त अथवा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है। पल्लव नरेश सिंहविष्णु के सामने गन्धर्व कहता है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर ने भारवि की सहायता से राजकुमार विष्णुवर्धन से मैत्री की और उस समय जब वे गांगेय कुलध्वज दुर्विनीत के साथ रहते थे २० वर्ष के थे। इस वृत्तान्त के अनुसार सिंहविष्णु, दुर्विनीत, विष्णुवर्धन, भारवि और दामोदर समकालीन सिद्ध होते हैं। चूँकि साहित्य के इतिहास में 'भारवि' यह नाम केवल 'किरातार्जुनीय' के रचयिता के रूप में ही मिलता है और चूँकि महाशैव, महाप्रभव और गवांप्रभव विशेषण भलीभाँति उनके अनुकूल हैं तो इस ग्रन्थ में उल्लिखित 'भारवि' की एकता उनके साथ होनी चाहिए। ६३४ ई० के आइहोल शिलालोख से हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय भारवि उतने ही प्रसिद्ध थे जितने कालिदास। अत: यहाँ उल्लिखित विष्णुवर्धन की एकता कुब्जविष्णुवर्धन से होनी चाहिए जिन्होने ६१५ से ६३३ तक शासन किया और जो कि पुलकेशिन द्वितीय के भाई तथा पूर्वी चालुक्यवंश के संस्थापक थे। 'विष्णुवर्धनाख्ये'...... इत्यादि वाक्य में 'राजसूनौ' शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि दामोदर ने जिस समय विष्णुवर्धन से मैत्री की उस समय पश्चात् वाला बिलकुल नई अवस्था का था और इसलिए ऐसा ६१५ ई० के पूर्व ही हुआ होगा। मैसूर आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट १९२१ से हमें यह भी पता चलता है किह गंगनरेश दुर्विनीत ने ६०५ और ६५० के बीच ही

शासन किया। दुर्विनीत के विशेषण 'भ्रमणशीलकीर्तेः' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दामोदर दुर्विनीत के शासक होने से पूर्व ही उसके साथ रहे क्योंकि उस सयम यदि वह सच्चे रूप में शासक हो गया होता तो उसके लिए बार-बार राजधानी से सुद्रर भ्रमण करना संभव न होता। अत: यह घटना लगभग ६०० ई० की हो सकती है कि दामोदर दुर्विनीत के सम्पर्क में आए और चूँकि दामोदर उस समय २० वर्ष के थे इसलिए उनका जन्म ६ठवीं शताब्दी के अन्त में हुआ होगा। पल्लव नरेश सिंह- विष्णु का शासन ५७५ और ६०० के बीच ज्ञात होता है इसलिए दामोदर का समय ६ठवीं शताब्दी का अन्त और सातवीं का पूर्वार्ध स्वीकार किया जाना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि उनके प्रपौत्र दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का अन्त अथवा ८ वीं का पूर्वार्ध होना चाहिए।[१]

शास्त्री जी का मत बहुत कुछ कवि की कृति 'अवन्तिसुन्दरी कथा' पर आधारित है। तर्क भी जो उपस्थित किए गए हैं प्रामाणिक तथा समीचीन प्रतीत होते हैं, तथा दण्डी का समय भिन्न-भिन्न विचारकों की दृष्टि में जो अधिक मान्य सिद्ध हुआ है उसी की मान्य मौलिकता में अपका भी मत सन्निहित है।

अब जिस श्लोक के आधार पर रामकृष्ण कवि ने 'भारवि' के साथ 'दण्डी' के प्रपितामह दामोदर का तादात्म्य और दण्डी को 'भारवि' का प्रपौत्र सिद्ध करने का प्रयास किया है उस पर विचार किया जाता है।

श्लोक इस प्रकार है:—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवोगिराम्।

अनुरूद्ध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

अ० सु० कथासार-१-२२।

श्लोक का अर्थ इस रूप में किया जा सकता है कि-'वाणी को उत्पन्न करने वाले मेधावी, विद्वान् कवि भारवि ने अनुरोध करके नरेन्द्र विष्णुवर्धन से मैत्री की।' इस श्लोक के अनुसार दण्डी को भारवि की सीधी वंश परम्परा में होने के विषय में डा० डे ने यहाँ तक लिखा है—'यदि यह मत सत्य (असंदिग्ध) रूप में स्वीकार

१. अवन्तिसुन्दरीकथा—इन्ट्रोडक्शन में 'द डेट आफ दण्डिन्' पृ० २३-२४ का हिन्दी अनुवाद।

किया जा सकता है तो संस्कृत साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में सिद्ध होगा'।[१]

एतद्विषयक प्रायः जितने भी मत सुलभ हैं वे रामकृष्ण कवि की सम्मति के विरोध में ही प्रतीत होते हैं।

के० एस० महादेव शास्त्री ने भारवि और दामोदर के तादात्म्य विषयक मत का खण्डन करते हुए लिखा है—यह विचार 'अवन्तिसुन्दरीकथा सार' के पद्य 'स मेधावी कविर्विद्वान् आदिविष्णुवर्धने' पर निर्भर है यहाँ पर सम्पादक ने 'प्रभवो' यह पाठ समुचित स्वीकार किया है जो कि पद्य के पूर्व चरण के प्रथमा विभक्ति वाले अन्य शब्दों के अनुकूल है और न कि 'प्रभवं' जैसा कि हस्तलिपि में मिलता है। ट्रावन्कोर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में प्राप्त हस्तलिपि नं० सी० ओ० १९८८ में भारविं प्रभवं गिराम् पाठ मिलता है। यही पाठ समीचीन समझना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर 'अनुरुद्ध्य' शब्द का सम्बन्ध और किसी शब्द से नहीं हो सकता। अवन्तिसुन्दरी कथा (पृ० १०) के इस वाक्य-यतः कौशिककुमारो महाशैवं, महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुद्ध्य 'दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्ववध्नात्' से भी इसी मत की पुष्टि होती है। अतः भारवि और दामोदर का तादात्म्य ठीक नहीं है। इसलिए हमारा विचार यह है कि 'भारवि' की सहायता से दामोदर विष्णुवर्धन के दरबार में आये। वे इस प्रकार समकालिक थे[२] डा० एस० के० डे० का मत इस सम्बन्ध में एक नयी दिशा का उन्मीलन करता है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है कि दुर्भाग्यवश कवि जी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ सर्वविध संशय को सफलता के साथ दूर करके इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को निश्चित करने में समर्थ नहीं हो सका है। पुनः कवि जी का यह विचार कि दामोदर, भारवि का दूसरा नाम था ऐसा उल्लेख या सुझाव केवल उपर्युक्त पद्य 'स मेधावी कविर्विद्वान्—आदि को छोड़ कर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। इस पद्य के सम्बन्ध में डा० डे का विवेचन इस प्रकार है। 'किन्तु पद्य रचना कुछ हद तक बड़ी ही असाधारण है—क्या यह संभव है कि 'मेधावी' आदि जैसे विशेषण इसी भारवि शब्द के ही लिए हैं अथवा 'भा' और 'रवि' या रवि-प्रभव आदि अर्थ में श्लेष या उपमा के अभिप्राय से शब्द प्रयुक्त

१. हिन्दी अनुवाद-ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६७।

२. हिन्दी अनुवाद-फुटनोट, 'अवन्तिसुन्दरीकथा' पृ० ३-४।

हुआ है जो कि प्रसंग में आए हुए 'अनुरुद्धय' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर सके ? (इसमें) सुधार करना कठिन है, किन्तु श्लोक में प्रयुक्त 'भारवि' शब्द विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता है। यह संभव है कि दामोदर में भारवि का विरुद रहा हो किन्तु यदि कोई विश्वास करता है कि 'किरातार्जुनीय' के रचयिता महाकवि का नाम विरुद था और उसका वास्तविक नाम दामोदर था तो उसकी पुष्टि न तो संस्कृत साहित्य से न इस विचार को प्रामाणिक सिद्ध करने वाली किसी परम्परा से ही हो सकती है'।[१]

पुनः यह भी कहा जा सकता है कि मूल ग्रन्थ अवन्तिसुन्दरीकथा में भी भारवि और दामोदर के तादात्म्य की कोई सूचना नहीं मिलती। उक्त ग्रन्थ[२] में इस श्लोक के साथ मेल खाने वाली अधोलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

नारायणस्वामिनो नाभिपद्म इव ब्रह्मैकधाम दामोदरस्वामिनामा तेजोमयः कुमारः।...सर्वाङ्गमनोहरया सर्वकलाविदग्धया सर्वभाषाप्रवीणया प्रमाणयुक्त्या ललितपदविन्यासया...सस्नेहमस्वज्यत।

यतः कौशिक इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

इसके अतिरिक्त अवन्तिसुन्दरीकथा पृ० ७ पर दामोदर का उल्लेख है किन्तु यदि इनका दूसरा और अत्यन्त प्रसिद्ध 'भारवि' ऐसा कोई नाम था तो कहीं न कहीं इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था। इस तरह न इसका और कहीं उल्लेख है और न उसके वास्तविक नाम के साथ उसका सम्बन्ध ही दिखाया गया है। ग्रन्थ के आदि में[३] लेखक ने साक्षात् अपने को 'दामोदरवंशज' लिखकर संकेतित किया है और न कि 'भारविवंशज' जो कि निःसन्दिग्ध रूप से उसके व्यक्तिगत परिचय के रूप में सिद्ध होता। यदि वह निश्चित रूप से महाकवि भारवि की परम्परा में थे तो जैसा कि बाणभट्ट आदि कवियों ने किया है, यदि ठीक उसी प्रकार नहीं तो किसी न किसी रूप में, अनिवार्य रूप से, अपनी साहित्यिक संतति का उदाहरण प्रस्तुत करने का स्वाभिमानी होना चाहिए था और अपने पाठकों को इस तथ्य की सूचना देने की चिन्ता करते। इस प्रकार का भी सुझाव नहीं मिलता

१. हिन्दी अनुवाद-ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर-डा० एस० के० डे, पृ० २९७।
२. अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ६।
३. अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ३ श्लोक संख्या २२...न्दामोदरवंशजः। आवर्जनेतिरश्चामप्येतिहृद्यइवध्वनिः॥

कि इस स्थल पर वर्णित अवन्तिसुन्दरी के लेखक दण्डी की वंशावली अविश्वसनीय है। पूर्वोक्त श्लोक की प्रामाणिकता के आधार पर दण्डी और भारवि के एतादृक् सम्बन्ध को शीघ्र स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार के सविस्तर विवेचन के अनन्तर डा० डे ने निष्कर्ष दिया है कि, वर्तमान परिस्थिति में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है– यह सिद्धान्त तब तक सुदृढ़ और अप्रत्याख्येय नहीं स्वीकार किया जा सकता जब तक इस प्रसिद्ध श्लोक को जिसकी प्रामाणिकता स्वत: सन्दिग्ध है, सुनिश्चित करने वाले किसी और अन्य प्रामाणिक सामग्री का उपस्थापन नहीं हो जाता।[१]

उपर्युक्त दोनों ही मत यथार्थ प्रतीत होते हैं। श्री महादेव शास्त्री तथा डा० डे दोनों ही दामोदर और भारवि के तादात्म्य को स्वीकार नहीं करते हैं। पाठ भेद अथवा पाठ परिवर्तन के आधार पर दिया गया शास्त्री जी का मत भी ग्राह्य प्रतीत होता है। श्लोक के अर्थ में एक नई दृष्टि के साथ, भारवि का अन्यत्र और कहीं उल्लेख न मिलने वाले तथा 'अवन्तिसुन्दरीकथा'[२] में 'दामोदरवंशज' पाठ की प्राप्ति आदि तर्कशुद्ध और प्रामाणिक मत सर्वथा ग्राह्य एवं स्वीकृत समझे जा सकते हैं। क्योंकि यदि दण्डी भारवि के ही प्रपौत्र होते तो कालिदास के अनन्तर आने वाले जितने महाकाव्य प्रणेता हैं उन सब में प्रथम और अग्रगण्य इस भारवि का परिचय अवश्य प्रस्तुत करते। इस प्रकार का सन्देह सामान्य पाठक के मन में भी हो सकता है कि यदि दण्डी भारवि की वंशपरम्परा में थे तो उन्होंने अपने को 'भारविवंशज' न लिख कर 'दामोदरवंशज' क्यों लिखा। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त श्लोक की प्रामाणिकता को संदिग्ध बताने वाली बात भी समुचित प्रतीत होती है। जब तक और किसी प्रामाणिक मत का स्पष्टीकरण नहीं किया जाता तब तक उक्त 'स मेधावीकविर्विद्वान...' श्लोक की वास्तविकता स्वीकार नहीं की जा सकती, इस प्रकार का भी निष्कर्ष मत की पुष्टि में भूषण ही है दूषण नहीं।

जी० हरिहर शास्त्री, डा० डे महोदय तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय प्रभृति समीक्षकों के अनुसार श्लोक की रचना ही अशुद्ध है और उसमें कुछ सुधार करके ही समुचित अर्थ निकाला जा सकता है। डा० डे के अनुसार यह स्पष्ट है कि

---

१. हिन्दी अनुवाद-ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २९९।

२. श्लोक संख्या २२, पृ० ३।

'अवन्तिसुन्दरीकथा सार' के लेखक ने पूर्वोक्त गद्य भाग की पंक्तियों[१] का सार उपस्थित करने की दृष्टि से इस श्लोक[२] की रचना की हो । इस गद्य वाक्य से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रस्तुत श्लोक में कुछ सुधार या परिवर्तन होना चाहिए जिससे इसका अर्थ और भी स्पष्ट तथा सुस्थिर हो सके। श्लोक में प्रयुक्त 'अनुरुद्धय' क्रिया का कोई कर्म नहीं है, किन्तु गद्य भाग से ऐसा सूझता है कि प्रथम पंक्ति में हमें 'भारविं' और 'प्रभवंगिराम्' के रूप में पढ़ना चाहिए। उन्हें इस 'अनुरुद्धय' क्रिया का अनुपान्त कर्म समझना चाहिए ।[३]

जी० हरिहर शास्त्री जी के भी मत का उल्लेख डा० डे० ने इस प्रकार किया है— अत: यह स्पष्ट है कि विसर्ग में अन्त होने वाले भारवि: और प्रभव: शब्द जो कि श्लोक में स: दामोदर की ओर संकेत करते हैं, कवि जी को यह अनुमान करने में सहायक हुए हों कि भारवि और दामोदर एक थे, उन्हें भारवि और प्रभवं के रूप में पढ़ना चाहिए । गद्य भाग और प्रस्तुत श्लोक से हमें जो ज्ञात होता है वह यही है कि विष्णुवर्धन से संबंधित भारवि महाशैव और महाकवि (गिरां प्रभव:) थे और दामोदर जो कि उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा से सुसम्पन्न थे उन्होंने भारवि की सहायता से अथवा (भारवि के मांध्यम से) राजकुमार से मैत्री की[४] ।

चूँकि भारवि का समय ६३४ ई० के आइहोल शिलालेख के पूर्व माना जाता है और इस तरह यदि वे ६ठवीं शताब्दी के अन्त और सातवीं शताब्दी के आदि में रहे हैं तो अवन्तिसुन्दरी कथा के लेखक दण्डी का समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है ।

यदि भारवि का पूर्वनिर्दिष्ट समय मान्य है तो अवन्तिसुन्दरी कथा के लेखक दण्डी, जिनको कि भारवि के समकालिक दामोदर की वंशावली में समझा गया है, का समय समुचित रीति से सातवीं शताब्दी का अन्त और आठवीं शताब्दी का

१. यत:कौशिककुमारो महाशैवं महाप्रवं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारवि रविमिवेन्दुरनुरुद्धय दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात् ।-अवन्तिसुन्दरी कथा, पृ० १० ।

२. स मेधावी कविर्विद्वान् भारवि: प्रभवो गिराम् ।
अनुरुद्धयकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रेविष्णुवर्धने ॥—अ० सु० कथासार, १-२२ ।

३. हिन्दी अनुवाद-ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर-एस० के० डे, पृ० ३०० ।

४. वही, पृ० ३०१ ।

आदि निश्चित होता है किन्तु कवि जी (श्री रामकृष्ण) की यह साहसपूर्ण कल्पना कि भारवि दण्डी के प्रपितामह थे निःसार प्रतीत होती है ।[१]

इस प्रकार अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर कवि जी द्वारा प्रतिपादित भारवि और दामोदर में तादात्म्य स्थापित करने वाले मत की समालोचनात्मक विवेचना समाप्त होती है । समालोचनात्मक तर्क भी, जो उपस्थित किए गए हैं, उपलब्ध ग्रन्थ के परीक्षण के आधार पर ही दिए गए हैं । स्पष्ट है कि दण्डी के जीवन-काल की पूर्व सीमा का भी निर्धारण निर्विवाद नहीं है । शाङ्‌र्गधरपद्धति में महारानी विज्जिका के नाम से उपलब्ध एक श्लोक[२] के अधार पर कतिपय विचारकों ने दण्डी का समय छठीं शताब्दी निश्चय करने का प्रयास किया है ।

विज्जिका चन्द्रादित्य की रानी थी । चन्द्रादित्य पुलकेशी का पुत्र था जिसका समय ६६० ई० निश्चित है । इधर यथाक्रम १० वीं तथा ११ वीं शताब्दियों के आलंकारिकों जैसे मुकुल भट्ट तथा मम्मट भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों (जिनके नाम अभिधावृत्तिमातृका तथा शब्दव्यापार विचार हैं) में विज्जिका के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है । इस आधार पर विज्जिका का समय ८५० ई० से पहले माना जाता है । जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर कृत श्लोक मिलता है जिससे विदित होता है कि कर्नाटक प्रान्त में विजयांका नाम की कोई एक कवयित्री सरस्वती के समान तदानीन्तना थी जो शारङ्गधरपद्धति के एक दूसरे श्लोक[३] से स्पष्ट है । विज्जिका ही विजयांका थी तथा यही विजयांका यदि द्वितीय पुलकेशी के कुमार चन्द्रादित्य की महारानी विजयभट्टारिका रही हो तो उसका काल ६६० ई० के आस-पास माना जाता है[४] अतः इससे तो यही प्रतीत होता है कि काणे महोदय दण्डी का समय ६०० ई० के समीप ही मानते हैं ।

---

१. वही, पृ० ३०१ ।

२. नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता ।
वृथैवदण्डिनाप्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥
—शारङ्गधरपद्धति-श्लोक सं० १८०-विज्जिकायाः ।

३. सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥ —श्लोक सं० १८४, पृ० ३० ।

४. द्रष्टव्य-महाशय पी० वी० काणे की साहित्यदर्पण की भूमिका, पृ० ४०-४१ ।

याकोवी, पिटर्शन, महेशचन्द्रन्यायरत्न तथा प्रो० पाठक प्रभृति कतिपय विद्वानों का एक पक्ष महाकवि बाणभट्ट, माघ और भर्तृहरि आदि कवियों की कृतियों में आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' के कुछ श्लोकों के शब्द-साम्य के आधार पर दण्डी को उक्त कवियों का परवर्ती सिद्ध किया है।

बाणभट्ट की कादम्बरी के शुकनासोपदेश में वर्तमान पंक्ति निम्नप्रकार से मिलती है—

आभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं हि तमो यौवन-प्रभवम्।

दण्डी का श्लोक इस प्रकार है—

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥

—काव्यादर्श-द्वि० परि०-१९७।

माघविरचित शिशुपालवध में—

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्त प्रतिमास्ते चकाशिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव॥

—माघ-२-४।

तथा काव्यादर्श का श्लोक इस प्रकार है—

रत्नभित्तिषु सङ्क्रान्तैः प्रतिविम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः॥

—काव्यादर्श-द्वि० परि०-३०२।

डा० डे के अनुसार बाणभट्ट, माघ तथ भर्तृहरि ये सभी संभवतः एक ही युग सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध अथवा मध्य में रहे।[१]

महामहोपाध्याय डा० वी० वी० मिराशी जी ने दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास विश्रुतचरित में वर्णित राजनीतिक अवस्था के आधार पर अपना

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, डा० एस० के० डे, पृ०।

निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि दण्डी का समय ५५० ई० के बाद नहीं हो सकता ।[१]

डा० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे जी भामह और दण्डी दोनों को सन् ६०० ई० से ७५० के मध्य में ही मानते हैं । यद्यपि उन्होने अपने सुप्रसिद्ध तथा अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में उपर्युक्त दोनों ही आचार्यों के समय के सम्बन्ध में कोई अलग से अध्याय न लिख कर दोनों के समय की ओर स्वल्प संकेत किया है । उनका मत इस प्रकार है—भामह और दण्डी (सन् ६०० से ७५० ई०) दोनों ग्रन्थकार काव्यचर्चा के स्वतंत्र युग के उपलब्ध ग्रन्थकारों में से आरम्भकालीन ग्रन्थकार हैं दोनों ही खिस्ताब्द ६०० से ७५० तक के काल में हुए । दोनों में से पहले कौन हुआ इस विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है । प्रकृत विवेचना की दृष्टि से हम ६०० से ७५० तक के डेढ़ सौ वर्ष के काल के एक कालखण्ड की कल्पना करेंगें... ।[२]

डा० नगेन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में ध्वनि के पूर्ववर्ती काल में रसविरोधी आचार्यों का जो क्रम रखा है उसमें भी भामह का नाम सर्वप्रथम लिया है । उनका क्रम इस प्रकार है—भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, और रुद्रट । इतना ही नहीं डा० साहब ने यह भी सुस्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि, रससिद्धान्त का पहला विरोधी आचार्य था भामह जिसने छठीं शताब्दी के आसपास शब्दार्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण मानते हुए अलंकार को उसका प्राणतत्त्व घोषित किया ।[३] इससे स्पष्ट है कि जब भामह का समय ६ ठीं शताब्दी के समीप निश्चित है तो दण्डी का समय उनके बाद का है । यत्र-तत्र दण्डी की दृष्टि सर्वाङ्गरूपेण काव्य-चर्चा के सम्बन्ध में भामह की अपेक्षा अधिक व्यापक सिद्ध हुई है । इस सम्मान्य तथ्य का उल्लेख डा० साहब के अतिरिक्त अन्य विचारकों ने भी किया है ।

हमारे यहाँ संस्कृत साहित्य में कवियों के समय निरूपण का विषय साहित्य की कठिन समस्याओं में से अन्यतम है । जब तक लेखक अथवा काव्य-प्रणेता के

१. एनल्स आफ दी भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाल्यूम २६,१९४५ के 'दी हिस्टारिकल डेटा इन दशकुमारचरित' लेख में-डा० मिराशी,पृ० २०-३१ ।

२. भारतीय साहित्यशास्त्र-डा० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे-प्रथम संस्करण सन् १९६०,पृ० ८३ ।

३. रस सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र-प्रथम संस्कारण,सन् १९६४,पृ० १८ ।

मूल ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं होती और उनसे यदि न अधिक तो स्वल्प भी तद्विषयक संकेत नहीं मिलता तो ऐसी स्थिति में सर्वस्वीकृत मत का उपस्थापन और निर्णय निश्चित रूप से कठिन हो जाता है । इस दृष्टि से उन ग्रन्थों के आधार पर, जो दण्डी द्वारा प्रणीत समझे जाते हैं, की गई तात्विक परीक्षा के फलस्वरूप इस स्थल पर इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है:— इतस्तत: नि:सार कल्पनाओं में उलझने की अपेक्षा दण्डी के उपलब्ध ग्रन्थों की समीक्षा से प्राप्त सामग्री को प्रकृत विषय-विवेचन का आधार स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है और यही अत्यन्त उपादेय भी सिद्ध होता है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' यदि दण्डी की कृति है तो उसका समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है । उक्त ग्रन्थ के आदि में कवि ने रामायण, महाभारत, वृहत्कथा आदि कृतियों तथा सुबन्धु, वत्सराज, शूद्रक, कालिदास, नारायण, बाण,[१] मयूर प्रभृति कवियों का नाम लिया है । इससे स्पष्ट है कि दण्डी का समय बाण के बाद स्वीकार किया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त कवि ने अपने को 'दामोदरवंशज'[२] लिखकर समस्या को कुछ और भी सुलझा दिया है । चूँकि पल्लवनरेश सिंहविष्णु का शासन-समय ५७५ और ६०० ई० के बीच माना जाता है अत: दामोदर का समय छठीं शताब्दी का अन्त और सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है । इसलिए दामोदर के प्रपौत्र दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का अन्त और ८ वीं शती का पूर्वार्ध स्वीकार करना सम्यक् प्रतीत होता है ।

महाकवि दण्डी का व्यक्तित्व

यदि सनातन महर्षियों और कवियों की वाणी में सत्य पलता है, यदि पवित्र भाव आनन्द महाकाव्य का पुण्य मंगलाचरण है, यदि त्याग का सुदृढ़ संकल्प विजयदुन्दुभी का प्रथम निर्घोष है, यदि सेवा में स्वाभाविक सौन्दर्य सन्निहित होता है, यदि मनुष्य की वाह्याकृति मन की एक प्रतिकृति कही जा सकती है, यदि तत्त्वज्ञानी मनीषियों एवं विदग्धजनों का निरन्तर अभ्यास आदि के द्वारा विशदीभूत मनोमुकुर जीवन की सर्वविध समस्याओं और कवि के वर्णनीय विषय की तन्मयता में क्षम

---

१. भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः ।
व्याहारेषु जहां लीलां न मयूरः.....॥ १९ ॥—अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ३ ।

२. ...न्न दामोदरवंशजः । आवर्जने तिरश्चामप्येति हृद्य इव ध्वनिः ॥ २२ ॥—अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ३ ।

होकर उसे सर्वांगरूपेण प्रकाशित करने में स्वत: सिद्ध है, यदि साहित्य समाज का दर्पण और संस्कृति का मधुमय कोष है तो इसी प्रकार कवि की मन: स्थिति और उसका काव्य इन दोनों का परस्पर सामंजस्य सुतरां सिद्ध है। कवि की कृति तभी सच्ची और मौलिक कही जा सकती है जबकि वह कवि के व्यक्तित्व से ओत-प्रोत हो, काव्य-प्रणेता के जो कुछ भी मान्य मौलिक सिद्धान्त होते हैं, उसके हृदयगत सच्चेभाव, उसकी संवेदना तथा सुरुचि के जो बीज होते हैं जिनका समाश्रय लेकर वह अपने काव्य का प्रणयन करता है, उन्हीं से समन्वित होकर ही वह (काव्य) लोकप्रिय तथा सहृदय-हृदय-ग्राह्य हो सकता है।

सच तो यह है कि सत्काव्य की सफलता तथा उसका चरम उत्कर्ष कवि के व्यक्तित्व (सत्त्व) एवं उसकी कृति की अभिन्नता में ही निहित होते हैं।

आँग्ल भाषा का 'परसोनालिटी' शब्द व्यक्तित्व शब्द का अनूदित रूप है जिसका मान्यअर्थ होता है—मनुष्य के आचार-विचार एवं व्यवहारों का समग्र अथवा एकीभूत रूप।

डा० राम ललित मिश्र ने अपने 'भट्टि काव्य का एक साहित्यिक अनुशीलन' नामक ग्रन्थ में 'व्यक्तित्व' का लक्षण यथासाध्य सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है—जीवन यात्रा के प्रति पद में, काल-व्यूह के प्रतिप्रक्रम में, आत्मरूप के प्रतिदर्शन में, कृत्यराशि के प्रतिपरिचय में, प्रतिक्रिया की प्रतिवेला में, परस्वीकृति की प्रति तत्परता में, अभिवृद्धि की प्रतिसाधना मे, किं बहुना, व्यवहृति वृत्ति के प्रतिसोपान में मानव मात्र की प्रकृति, तत्त्व या स्वभाव प्रतिविम्बवत् तदनुसरण करता चलता है। 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस कथन की मान्य मौलिकता में मानव विज्ञान का शालीनतम सन्देश निहित है। कवि या कलाकार क्रान्तदर्शिता के मञ्जुल विरुद से भूषित होकर वर्तमान के अतिरिक्त अतीत एवं यथासाध्य अनागत का ललित समन्वय लेकर पदन्यास आगे बढ़ाता है।[१]

यदि विद्वज्जनों द्वारा यह उपर्युक्त कथन मान्य है तो आचार्य दण्डी केवल त्रैकालिकी प्रज्ञा से ही नहीं अपितु काव्य के आधारभूत तत्त्व जिसे आचार्यों ने प्रतिभा की संज्ञा दी है उसकी आभा से भी पूर्ण रूप से सम्पन्न थे।

---

१. भट्टिकाव्य का एक साहित्यिक अनुशीलन-डा० रामललित मिश्र, प्रथम अध्याय।

आर्य जाति के साहित्य में, विशेष रूप से गद्यसाहित्य के कवियों में महाकवि दण्डी का व्यक्तित्व अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । उनका व्यक्तित्व अत्यन्त निराला है जिसे अंग्रेज़ी में 'यूनीक' कहते हैं और ठीक वही स्वरूप उनकी कृतियों का है जो अपने से पूर्व एवं समकालिक कवियों की भी कृतियों की तुलना में अपनी मौलिकता एवं लोक-प्रियता के लिये अद्वितीय हैं ।

वर्णन-क्रम एवं विषय-निरूपण की सफलता में, चरित्र-चित्रण की उदात्तता में, मौलिक उद्भावनाओं एवं गूढ़चिन्तन की समुचित अभिव्यक्ति में, घटनाओं एवं कथा-वैविध्य के मधुर-सम्मिलन व सुष्ठु नियोजन में, रसों एवं अलंकारों के समीचीन सन्निवेश में,मार्मिक एवं हृदयहारी स्थलों के मधुर संकेत में, निर्मल दर्पण में दष्टिगत होने वाले वस्तु-विशेष के स्वरूप के तुल्य महाकवि दण्डी का व्यक्तित्व प्रतिपृष्ठ पर झलकता चलता है ।

किन्तु किसी भी काव्यात्मक साहित्यिक तथ्य की सृष्टि या उसकी सार्थकता तभी ग्राह्य होती है जब वह केवल किसी स्वार्थ या लोभ के वशीभूत न होकर तर्क-शुद्ध एवं प्रामाणिक विवेचना के आधार पर कवि के उपलब्ध ग्रन्थों की परीक्षा के फलस्वरूप निष्पक्ष तथा निःस्वार्थ भाव से प्रस्तुत की जाए ।

यदि किसी भी कवि अथवा साहित्यस्रष्टा की यही कसौटी है तो शंका अथवा विरोध का लेश मात्र भी अवकाश नहीं, अर्थात् संस्कृत साहित्य में महाकवि दण्डी का व्यक्तित्व किसी भी कसौटी पर याथार्थ्य की सीमा से परे नहीं है जिसका प्रमाण उनकी कृतियों में पदे-पदे परिलक्षित होता है । इन पंक्तियों का यह तात्पर्य नहीं कि प्रायः सभी विद्वान् एक भाव से इस तर्क को युक्तिसंगत व सर्वस्वीकृत समझेंगे, क्योंकि यदि किसी भी काव्य, साहित्य अथवा वस्तुविशेष का स्वरूप-प्रतिपादन किया जाता है तो उसकी आलोचना भी अनिवार्य रूप से की जाती है । विना आलोचना के काव्य-पुरुष के न तो गुणों का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषों का , क्योंकि उसके अभाव में औचित्य की अनुपलब्धि तथा जिज्ञासा की अतृप्ति ही मनः प्रीति एवं परम सन्तोष का विषय बनती है । फलतः जिज्ञासु की अध्यवसायात्मिका बुद्धि निरालम्ब होकर संशय का आश्रय लेती है ।

उपर्युक्त मत की सार्थकता आचार्य बलदेव उपाध्याय के भी मत से सिद्ध हो जाती है, जिनका कथन है— इसीलिए संस्कृत के एक विद्वान् का कहना है कि बड़े या छोटे कवि की विशेषता जानने के लिए उसके ग्रन्थों की परीक्षा आवश्यक

होती है। एक साधारण दीपक तथा मणिदीपक में क्या अन्तर होता है? इसका परिचय बिना आँधी चले नहीं हो सकता। यदि आँधी किसी दीपक को बुझा देती है तो उसे सामान्य कोटि का दीपक जानना चाहिए। जोरों की आँधी आने पर भी जो दीपक उसी मस्ती के साथ अपना प्रकाश बिखेरता हुआ जला करता है वह साधारण दीपक न होकर 'मणिदीप' हुआ करता है। इसलिए काव्य का वैशिष्ट्य समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है...कवि तो काव्य का निर्माण करता है किन्तु आलोचक ही उसके रस के जानने में, काव्य का मर्म समझने में सफल होता है और कभी-कभी तो ऐसे भावों को समझता है तथा समझाता है जो कवि की भी दृष्टि से ओझल रहते हैं। इस प्रकार आलोचना भारतीय साहित्य में एक अत्यन्त उपादेय विद्या है।[१]

यदि मानव-जीवन की चेतना साहित्य है तो साहित्य की चेतना आलोचना है। फलतः उपलब्ध ग्रन्थों की परीक्षा तथा आलोचना-सरणि की इस कसौटी पर महाकवि दण्डी का व्यक्तित्व मन्द-पवन के झोके से बुझ जाने वाला साधारण दीप न होकर उस 'मणिदीप' के तुल्य है जो प्रचण्ड झंझावात का भी सामना करता हुआ गद्य साहित्य-जगत् को शाश्वत प्रकाशित करते वाला है। इसीलिए अलौकिक-प्रतिभा-सम्पन्न इस महाकवि का व्यक्तित्व न केवल आचार्यत्व की दृष्टि से अपितु और भी सभी दृष्टियों से (जिनका विवेचन आगे किया जाएगा)—महाकवि की दृष्टि से, यथार्थवादी एवं प्रकाण्ड पण्डित की दृष्टि से, सभी विद्याओं एवं कलाओं का परिनिष्ठित एवं सुदृढ़ ज्ञान रखने से उच्चकोटि के विद्वान् और कलाकार की दृष्टि से संस्कृत-गद्य-साहित्य को एक नूतन मार्ग-प्रदर्शन तथा सहृदयों एवं काव्य-प्रेमियों को एक नई सूझ प्रस्तुत करने के कारण एक नवीन-मार्ग-प्रदर्शक की दृष्टि से, जीवन के मौलिक एवं कटु सत्यों का, दैनन्दिन समस्याओं का, सामाजिक कुरीतियों का, जीवन की विषमताओं का, लोक-व्यवहार की मौलिक उद्भावनाओं का सच्चा एवं सजीव चित्र उपस्थित करने के कारण, तत्कालीन समाज का स्वरूप उपन्यस्त करने के फलस्वरूप एक सफल महामानव तथा सुप्रतिष्ठित तत्त्ववेत्ता की दृष्टि से आज तक अबाधित गति से अमर रहा है और भविष्य मे भी संस्कृत-साहित्य वर्तमान की ही भाँति दण्डी की मौलिक तथा बहुमुखी प्रतिभा की गरिमा से गौरवान्वित रहेगा।

---

१. देखिए—संस्कृत-आलोचना,बलदेव उपाध्याय, पृ० ५।

महाकवि दण्डी की प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के विषय में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। यह सत्य भी है, क्योंकि किसी भी विवेक सम्पन्न मानव का यह परम पवित्र कर्तव्य होता है कि जिस देश अथवा राष्ट्र में उसका जन्म होता है, तथा जिस सभ्यता तथा संस्कृति में स्वांस लेते हुए वह पल कर बड़ा होता है, तथा अन्त में जिस साहित्य का आश्रय ग्रहण करके वह अपने जीवन की सार्थकता को सफल बनाता हुआ अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है उस देश तथा राष्ट्र, सभ्यता तथा संस्कृति तथा उस साहित्य की उसे रक्षा करनी ही चाहिए। यदि वह उसमें किसी प्रकार का वैशिष्ट्य न ला सके तो कम से कम अपनी आगामिनी परम्परा तक उसे ज्यों की त्यों सुरक्षित पहुँचा दे इसी सूक्ष्म कर्तव्य-सरणि का स्वल्पाभिधान 'धर्म' है।

महाकवि दण्डी का अवतार तो साहित्य-जगत् में उस समय हुआ जब कि लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकुलशिरोमणि महाकवि कालिदास की रसमयी कविता कामिनी के रूप लावण्य के अप्रतिम प्रभाव से संस्कृत साहित्य सुसम्पन्न होकर धन्य हो चुका था। अश्वघोष, मातृचेट तथा आर्यशूर प्रभृति बौद्ध कवियों की कृतियाँ व उनका जीवन-आदर्श भी उस प्रभाव से वंचित न रहा। भारवि एवं भट्टि द्वारा अलंकारों के बोझ से लदी हुई तथा व्याकरण की नीरस पदावली के कोरे उपदेशों में ही कविता कामिनी अपने स्वरूप का चरम उत्कर्ष पाकर केवल विद्वानों तथा वैयाकरणों द्वारा ही समादृत होकर जन-सामान्य की बुद्धि व सुरुचि से कोसों दूर थी। उधर सुबन्धु के कर कमलों द्वारा पल्लवित चाकचिक्य-चर्चित अलंकृत गद्य-शैली एकमात्र कलात्मक विभूति तथा बड़े लम्बे लम्बे समासवाली श्लेषयुक्त पदावली से भूषित होकर अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी थी। इस तरह व्याकरण की दुरूहता का प्राबल्य, कलात्मक प्रदर्शन, भावपक्ष की तरलता के अभाव में सहृदयों की रुचि का अविषय होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से गद्य साहित्य का स्वरूप अत्यन्त विरल होकर अपनी सुसम्पन्नता तथा परिपूर्णता, माधुर्य एवं सौकर्य, इतना ही नहीं विषयवैशद्य की निरवद्यता के अभाव में हृद्य रूप को प्राप्त करने के लिए मानों दण्डी की बाट जोह रहा था। ऐसी दशा में दण्डी ने वही किया जो उन्हें करना चाहिए था।

आचार्य दण्डी के सामने साहित्य की दो शैलियों—'गद्य की नैसर्गिक सरल शैली के अतिरिक्त कृत्रिम अलंकृत गद्य शैली—का स्वरूप उपस्थित था।

कालिदास के मधुर एवं रसमय काव्य का पूर्व परिचय इन्हें पहले ही प्राप्त हो चुका था। प्राकृत रचनाओं का भी प्रभाव कम न था। इस दशा में महाकवि दण्डी जिनका व्यक्तित्व आज तक पद-लालित्य के लिए सर्वोच्च है, उन्होंने अपनी लेखनी को एक ऐसी अद्‌भुत एवं वैशिष्ट्यपूर्ण दिशा का मोड़ प्रदान किया जो कि निश्चय ही उनकी उस लेखनी के लिए अपेक्षित था अर्थात् काव्य के अतीत एवं वर्तमान का मञ्जुल समन्वय लेकर, अलंकृत कृत्रिम गद्य शैली तथा पंचतन्त्रादि की सरल एवं स्वाभाविक गद्य शैली के बीच की एक अनूठी शैली के स्वरूप को प्रस्तुत किया और यही आगे चल कर सहृदय-हृदय संवेद्य हुई। इस तरह से उपर्युक्त कर्तव्यपालन और धर्म का यथाशक्ति निर्वाह भी दण्डी में उपलब्ध होता है।

सच कहा जाए तो महाकवि दण्डी ने एक ऐसी अद्‌भुत काव्यसरणि को जन्म दिया जिसमें उनके अन्तःकरण की वह अभिव्यक्ति थी जो कि भविष्य में नित्य नूतन काव्य-धारा को अबाध रीति से प्रवाहित करने में, सुबन्धु के दुरूह एवं क्लिष्ट शब्द-समूहों से छुटकारा पाने के लिये, सदैव कोष रख कर समझ में आने वाली तथा सुद्वरान्वयोपेताबाणभट्ट की कथन शैली से विश्राम पाने के लिये सहृदय मनःप्रीति को अक्षुण्ण रख सकने में समर्थ हुई। क्योंकि दण्डी के मन में यह बात अनिवार्य रूप से खटकी होगी कि एकमात्र छोटी सी कहानी को लेकर, वर्ण्यविषय से पुनः कोसों दूर हटकर सर्वत्र श्लेष युक्त अत्यन्त क्लिष्ट समस्त पदों के द्वारा साहित्य का ताना-बाना तैयार करना एक सफल एवं भावप्रेमी कवि के लिए अपेक्षित कम होता है। क्योंकि ऐसे दुरूह विषय सहृदयों के मानस पटल में केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त सौकर्य एवं सौष्ठव के साथ काव्यगत रसमाधुरी का निस्यन्दन नहीं कर पाते। क्योंकि जिस साहित्य से हमारी सुरुचि उद्बुद्ध न हो, वासना के तारों को झनझना देने वाले जिन शब्द समूहों द्वारा काव्यावगाहन की शीतलता से निर्मल होकर जड़ भी हृदय स्पन्दनशील न हो सके, जिस साहित्य से हम में शक्ति और गति न पैदा हो, चित्त की उदारता के सोते न फूट पड़ते हों, हमारा सौंदर्यप्रेम न जागृत हो, जो हम में संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की दृढ़ता न उत्पन्न करे वहं साहित्य हमारे लिये व्यर्थ है।

कदाचित् साहित्य के इसी सर्वमान्य स्वरूप को युक्तिसंगत तथा सहृदय-हृदय-ग्राह्य समझ कर ही दण्डी ने अपनी पदलालित्यपूर्ण रचनाओं को साहित्य जगत् में सरल रीति से प्रस्तुत कर के ही विश्राम लिया। अत्यन्त परिमार्जित, प्राञ्जल

व सुबोध भाषा-प्रवाह के माध्यम से सहृदयों तथा काव्य-प्रेमियों के हृदय में दण्डी ने जिस रस की मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसमें उत्तम काव्य की गरिमा का शालीनतम सन्देश निहित है।

कवि की भावुकता, उसके विचार, उसके सिद्धान्त तथा काव्य की मान्यता आदि में उसके संस्कारों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। युग की माँग, उसकी चेतना और जागृति, उसकी रुचि और अरुचि तथा यथासाध्य आगामिनी परम्परा के लिये भी युक्तियुक्त काव्य मार्ग की अनुकूल सामग्री की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण कृति विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित होती है। कवि की कृति 'दशकुमारचरित' उपर्युक्त सभी गुणों तथा रोचक काव्य सामग्री का अक्षय भाण्डार है। लोक-व्यवहार की वह विलक्षण विचक्षणता, काव्यावगाहन की वह निर्मल गम्भीरता, साहित्य की सरसता तथा नीति-निपुर्णता, भाषा एवं भावों की अनुकूलता, काव्यगत मान्यताओं की सार्थकता, हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण भावों की तरलता, विषय-निरूपण एवं इतिवृत्त का याथार्थ्य, भाषा-सौकर्य एवं पदलालित्य, प्राकृतिक सौंदर्य प्रभृति विषयों का दशकुमारचरित के अतिरिक्त यथार्थ चित्रण अन्यत्र असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कवि ने तत्तद्विषयों का स्वतः प्रत्यक्ष रूप से यथार्थ चित्र अपनी आँखों से देखा था। सभी विषय सर्वतोमुखी प्रतिभा, तीव्र निरीक्षण शक्ति तथा गूढ़ चिन्तन का परिचय प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक सहृदय पाठक का चित्त विषय-वैविध्य की तरंगों में आलोडित होता हुआ अन्त में कवि के हृदयगत भावों के वैशद्य से चकित ही नहीं अपितु उन सबका सुस्पष्ट रीति से परिचय प्राप्त करके पूर्ण निखार को प्राप्त होता है। चौर्यविद्या, रमणीहरण, रहस्य-प्रणय, दूती-प्रेषण तथा पूर्ण नैपुण्य के साथ सन्ध्या, वसन्त आदि वर्णन नित्यकर्माचरण सन्ध्यादेवोपूजन आदि धार्मिक कृत्य कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। इस कोटि का उदाहरण संस्कृत साहित्य जगत् में अत्यन्त विरल है। इस ग्रन्थ में शृंगार रस का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। इन सभी तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि का व्यक्तित्व निश्चय ही अद्भुत एवं कौतुकप्रिय था, सामाजिक तथा राजनीतिक, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विषय के पर्यवेक्षण शक्ति के बीज मानों कूटकूट कर कवि में भर दिए गए थे।

दण्डी का व्यक्तित्व—

१-महाकवि के रूप में

'व्युत्पन्न प्रतिभावान् कवि ही कवि नाम से अभिहित होता है और उसी की कविता उत्तमकाव्य की कोटि में मान्य होती है ।[१] प्रतिभा ही काव्य का हेतु है । अभ्यास से सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत का कामघेनु है[२] प्रतिभा का अर्थ है अभिनव अथवा अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा । उस प्रतिभा का विशेष अर्थात् रसावेश के कारण विशद और सुन्दर काव्य के निर्माण की क्षमता जैसा कि भरतमुनि ने भी कहा है—कवि के अन्तर्गत भाव को काव्य द्वारा सहृदयों को अनुभव कराने के कारण वह 'भाव' इस नाम से अभिहित होता है ।' काव्य में उल्लसित अपनी प्रतिभा विशेष के अभिव्यक्त होने के कारण ही वह कवि महाकवि रूप में गिना जाता है ।[३]

इसके अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ [व्यंग्यार्थ अथवा सहृदयश्लाघ्य एवं काव्यात्म रूप में व्यवस्थित रसादिरूप अर्थ] से अनुप्राणित काव्य के प्रणयन में निपुण प्रतिभा से सम्पन्न होने पर महाकवि पद मिलता है ।[४]

आचार्य दण्डी के अनुसार नैसर्गिक प्रतिभा, विविधशास्त्र नैपुण्य तथा निरन्तर अभ्यास ही काव्य-सम्पत्ति का कारण है ।[५]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिभा ही काव्य का मूल है । उससे युक्त होने पर ही कवि महाकवि पद का अधिकारी होता है । प्रतिभा को ही

---

१. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।-काव्यमीमांसा-राजशेखर १.५ ।

२. प्रतिभा अस्य हेतुः। अभ्याससंस्कृता हि प्रतिभाकाव्यामृतकामधेनुर्भवति । —काव्यानुशासन-हेमचन्द्र, प्रथम अध्याय, पृ० ५८ ।

३. 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा, तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्य-काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' इति । येनेति । अभिव्यक्तेन स्फुरताप्रतिभाविशेषेणनिमित्तेनमहाकवित्वगणनेतियावत् । ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, प्रथम उद्योत की छठवीं कारिका की वृत्ति में द्रष्टव्य ।

४. एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकवि-व्यपदेशोभवतीति भावः ।-द्रष्टव्य-ध्वन्यालोक, प्र० उ० ४ कारि० की वृत्ति ।

५. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ काव्यादर्श १.१०३ ।

अपूर्ववस्तुनिर्माण में समर्थ प्रज्ञा की संज्ञा प्रदान की गई है। इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर ऐसा कहा जा सकता है कि दण्डी में भी वह प्रतिभा विद्यमान है जिसके बल पर उन्होंने एक ऐसे अभिनव काव्यामृत का अक्षय कोष संस्कृत साहित्य-जगत् में उपस्थित किया है जिसका आस्वादन सहृदयों के लिये हृदयावर्जक है। दशकुमारचरित में समूचे सप्तम उच्छ्वास का ओष्ठ्यवर्णों से रहित वर्णन, कथा काव्य एवं चरितकाव्यों की तुलना में एक अभिनव तथा ज्वलन्त निदर्शन के रूप में विद्यमान कृति निश्चय ही दण्डी के महाकवित्व की परिचायिका कही जा सकती है। इस प्रकार का उदाहरण संस्कृत साहित्य में दुर्लभ ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दशकुमारचरित संस्कृत-गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। काव्यगत मान्यताओं का भी यथोचित परिपालन प्रकृत ग्रन्थ की विशेषता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में आख्यान काव्य का यह ज्वलन्त दृष्टान्त है जिसके पात्र जीते-जागते जगत् के प्राणी हैं जिनका चित्रण शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया गया है।

'ओजस्वी और ललित संस्कृत गद्य पर अधिकार रखने वाले दण्डी सर्वाधिक प्रशंसनीय हैं। और कलात्मक एवं सामाजिक चुनौतियों के रूप में उनकी कृति निश्चित रूप से अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अद्वितीय उपलब्धि है जिसकी विशेषताएँ सामान्य आदर्श के अनुरूप न होने के कारण ही आधुनिक रुचि के द्वारा उदासीनतापूर्वक स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।'[१]

अतः यह सुस्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दण्डी का व्यक्तित्व 'महाकवि' के गुणों से ओतप्रोत था। नैसर्गिकी प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति[२] के मणि-काञ्चन संयोग ने दण्डी को वह दिव्य दृष्टि और पर्यवेक्षणशक्ति प्रदान किया, मानवजीवन की सर्वविध समस्याओं को साहस और धैर्य से सुलझाने की वह क्षमता प्रदान किया, सहृदयों के चित्तानुरंजन को शाश्वत बनाये रखने की उस अद्भुत शक्ति से उन्हें अलंकृत किया कि जिसका यथार्थ एवं पूर्ण परिचय प्राप्त होते ही प्राचीन आलोचक, वाल्मीकि तथा व्यास के अनन्तर होने वाले कवि के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए बाध्य हो गए और उनके हृदय का सच्चा उद्गार निम्नलिखित रूप में प्रकट हो गया—

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास-आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ४०७।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास-एस० के० डे० द्वितीय संस्करण, प्रथम भा, पृ०।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ।।

विविधविषयों के ज्ञान ने दण्डी की शैली को अनेकात्मकता प्रदान की है। संक्षेप में दण्डी सर्वज्ञकल्प थे।

दण्डी की यथार्थवादिता की दिव्यझाँकी दशकुमारचरित में सर्वत्र उपलब्ध होती है। सामान्य लोक-कथाओं को लेकर उन्हें काव्य की आभा से उद्दीप्त करने की पूर्ण सामर्थ्य दण्डी में ही दृष्टिगत होती है। अभिव्यंजना पक्ष के मधुर संकेत एवं उसकी मनोरम अभिव्यक्ति के साथ ही लोक-ज़ीवन का यथार्थ चित्रण दण्डी की निजी विशेषता है। दण्डी के पात्र इस लोक में चलते-फिरते प्राणी हैं और यहाँ रहने वाले अच्छे-बुरे, शिष्ट अशिष्ट, पण्डित मूर्ख, चतुर चोर, गणिकाओं एवं अंगनाओं सभी को स्थान मिला है और इन सबका सच्चा स्वरूप हमें देखने को मिलता है। काम के वशीभूत होकर अपना मार्ग परित्याग करने वाले वेश्यानुगामी तपस्वी मरीचि, भोले तपस्वी को ठगनेवाली काममंजरी, पति को कुयें में गिरा कर विकृतअंग वाले व्यक्ति के प्रति मुग्ध होने वाली धूमिनी जैसी कुलटा पत्नी, पतिपरायणा नितम्बवती जैसी अंगना का धोखे से उपभोग करने वाले धूर्त कलहकण्टक के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त मणि, मन्त्र एवं ओषधि के प्रभाव से सुसम्पन्न उपहारवर्मा का चरित, चौर्यशास्त्र के प्रवर्तक कर्णीसुत-विहित पथ का अनुसरण करने वाला अपहार वर्मा जैसा सिद्धहस्त चोर, द्यूतक्रीडा, कुक्कुटों की लड़ाई, पापाचरण, छल-कपट वाग्वैदग्ध्य प्रभृति विषयों का सुस्पष्ट एवं यथार्थ निरूपण दण्डी के लोक-जीवन के विविध अंगों के ज्ञान का पूर्ण परिचायक है।

'दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्यवर्ग के यथार्थपूर्ण जीवन में है जिसमें जादूगर, चंचल तपस्वी, जैन क्षपणक, राजकुमारी, राज्यभ्रष्ट राजा, वेश्यायें, कुट्टनियाँ, नर्म व्यापार के दूती कर्म करने में प्रवीण भिक्षुणियाँ, मृच्छकटिक के शर्विलक जैसे सिद्धहस्त चोर, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों के विविध चरित्रों का जमघट पाया जाता है। देवताओं और तपस्वियों, राजाओं और महारानियों के पात्रों को दण्डी ने चित्रित किया है।'[१]

---

१. संस्कृत कवि दर्शन-डा० भोलाशंकर व्यास, पृ०

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के शब्दों में कह सकते हैं, 'दण्डी ने तत्कालीन समाज को अपनी पैनी दृष्टि से देखा था इसलिए तत्कालीन समाज का व्यंग्य और विनोद से भरा यथार्थ चित्रण विशेष हृदयावर्जक है। समाज के शोभनपक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूंक दी है। दम्भी, तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ती है। अपहार वर्मा के प्रसंग में काममंजरी नामक वेश्या मरीचि नामक तापस को कितनी विदग्धता तथ बहादुरी के साथ ठगती है यह देखने का विषय है। इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ कसी हैं। नारी हृदय की परख दण्डी को खूब थी। कहीं पतिवंचक नारी का जघन्य चित्र है तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के हृदय की मनोरम झाँकी है। 'धूमिनी' स्त्री की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है तो 'गोमिनी' पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वलमूर्ति है। धूमिनी जैसी क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिये आलोचक समाज दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।'[१]

इस प्रकार दण्डी का यथार्थवादी दृष्टिकोण, प्रायः सभी आलोचकों द्वारा प्रशंसनीय है।

दशकुमारचरित में महाकवि दण्डी ने कतिपय मौलिक सत्यों का प्रतिपादन किया है जिसका न केवल अमिट प्रभाव पाठकों के मानस पटल पर पड़ता है अपितु उनसे कवि के पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व की मानोरम झाँकी भी देखने को मिलती है। दण्डी की दृष्टि में 'दुर्बलता से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।[२]

इसके अतिरिक्त कुछ और भी स्थलों पर कवि ने पाप का स्वरूप निर्धारित किया है। 'आत्मघात से बढ़ कर और कोई पाप नहीं हो सकता।'[३] दण्डी की सम्मति में भले लोग अपनी आत्मा को विना कष्ट दिए हुए ही मुक्ति की प्राप्ति कर लेते हैं।[४] 'पितृवध से बढ़कर कोई पाप नहीं है।'[५] अविश्वास को कवि ने दारिद्र्य

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास-आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ।

२. न चान्यदस्तिपापिष्ठं तत्र दौर्बल्यात्। विश्रुतचरित का अन्तिम अंश।

३. नान्यत्पापिष्ठतममात्मत्यागात्। दश० कु० च०, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० २०० । ताराचरण भट्टाचार्यविरचित बालविबोधिनी टीका, चौखम्बासंस्कृत सिरीज़, काशी से प्रकाशित

४. आत्मानमात्मनानवसाद्यैवोद्धरन्ति सन्तः। द्वितीय उच्छ्वास, पृ० २०१ ।

५. न ह्यस्ति पितृवधात्परं पातकम्। तृतीयोच्छ्वास, पृ० ३०१

अथवा निर्धनता की जननी कहा है। मानवीय जीवन को क्षणिक सिद्ध करते हुए उसे केवल चार-पाँच दिन की अवधि वाला बताया है। अविचारियों को अथवा विना सोच समझ कर कार्य करने वालों को पीछे अनेक पश्चात्ताप करने पड़ते हैं। छल और कपट का उद्भवस्थान स्त्रियाँ ही होती हैं।[१] इत्यादि वाक्य मौलिक सत्य के उदाहरण रूप में कवि के पूर्ण पाण्डित्य के परिचायक कहे जा सकते हैं।

२. विद्वान् और कलाकार की दृष्टि से

चौर्यशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, दण्डनीति, समाज-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, साहित्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र, नीतिशास्त्र वेदवेदांग प्रभृति विषयों के मनन एवं अभ्यासादि के द्वारा विशदीभूत अन्तःकरण दण्डी के अक्षयज्ञान का मधुमय कोष प्रतीत होता है। संक्षेप में, अपहारवर्मा का चरित, प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा परस्पर मिलन के लिये किए जाने वाले उपाय, गणिकामाता के अधिकार तथा वेश्याओं के कर्तव्य, 'गोमिनी' जैसी पतिपरायणा तथा प्रस्थ परिमाण धान्य के द्वारा आतिथ्य सत्कार के संदर्भ में पाकक्रिया का कौशल तथा ब्राह्मणोचित आचार तथा नियमों का पूर्ण परिपालन, पतिव्रता स्त्रियों के पतिपरायणता का माहात्म्य, आत्मत्याग, साहस एवं धैर्य, विश्रुत चरित में वर्णित राजनीतिक गुत्थियों का स्वरूप, राजवाहन के चरित में प्रथम उच्छ्वास में कन्यान्तःपुर को दूषित करने वाले व्यक्ति के वध की आज्ञा,[२] काममञ्जरी एवं तापस मरीचि के परस्पर वार्तालाप के प्रसंग में 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चर्चा तथा, जीवन की नश्वरता एवं अस्थिरता, नीतिशास्त्र-प्रणेता चाणक्य की पंक्तियों तथा सिद्धान्त का उद्धरण, मृगयावर्णन, द्यूत क्रीडा वर्णन, सन्ध्या प्रभात चन्द्रोदयादि प्राकृतिक वर्णन के अतिरिक्त अलंकार, रस, रीति एवं गुणों का सुकोमल पदावली के माध्यम से समुचित सन्निवेश, हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण स्थलों का मनोरम चित्रण, व्याकरणात्मक सौष्ठव तथा चरकसंहिता, ज्योतिष प्रभृति गूढ़ विषयों के तथ्यों का प्रतिपादन उपरिनिर्दिष्ट क्रमशः सभी शास्त्रों के ज्ञान का परिचायक कहा जा सकता है अर्थात् उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दशकुमारचरित की कथावस्तु एवं उसमें वर्णित विषयों के अध्ययन से यह

---

१. अविश्वास्यता हि जन्मभूमिरलक्ष्म्याः। -अष्टम उ०, पृ० १६। जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि।-षष्ट उ० पृ० ४२१ स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम्।-तृतीय उ०, पृष्ठ २६०।

२. 'अयि मूढ, किमस्ति कन्यान्तःपुरदूषकेऽपि कश्चित्कृपावसरः।' प्र० उ० पृ० १४०।

निष्कर्ष समीचीन ही प्रतीत होता है कि दण्डी का हृदय विविध-विषयों के ज्ञान का असाधारण संगम है, उनका मस्तिष्क सभी शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों का उल्लसित एवं विशद विवेचन करने में क्षम है । यत्र-तत्र शास्त्रानुकूल मर्यादित गूढ विषयों की मनोरम अभिव्यक्ति कवि की सहज प्रतिभा का द्योतक है । प्रकृत विषय की चर्चा दण्डी की व्युत्पत्ति के प्रसंग में आगे की जायेगी ।

कवि क्रान्तदर्शी एवं कलाकार होता है । उसका काव्य कलात्मक विनोद का आकर होता है । भारतीय साहित्य में कलात्मक विनोद का अभाव नहीं अपितु प्राचुर्य ही देखा जाता है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'हमारे देश का जितना अंश जाना जा सका है उसकी अपेक्षा वह अंश कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना नहीं जाना जा सका । कभी कभी तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है । हमारे पास जो पुराना साहित्य उपलब्ध है उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश वैरागी साधुओं द्वारा वैरागी साधुओं के लिये ही लिखा गया है । नाच-गान का स्थान उसमें है ही नहीं फिर भी वह लोक-विच्छिन्न नहीं है इसीलिए किसी न किसी बहाने उसमें लोक प्रचलित कलात्मक विनोदों की बात आ ही जाती है । बौद्धों और जैनों के विशाल साहित्य में ऐसे उल्लेख कम नहीं हैं ।'[१]

इस प्रकार के विनोदों का यथार्थ वर्णन लौकिक रस के उपस्थापक काव्यों, नाटकों, कथा आख्यायिकाओं और इनकी विवेचना करने वाले ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है ।

संस्कृत साहित्य के जिन ग्रन्थों की विषय-सामग्री को दृष्टि में रख कर कलात्मक विलासिता का स्वरूप आचार्य द्विवेदी ने निर्धारित किया है उनमें दशकुमारचरित की छाया अवश्य देखी जा सकती है । विलासिता और कलात्मक विलासिता का भेद स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है—थोथी विलासिता में केवल भूख रहती है—नंगी बुभुक्षा । पर कलात्मक विलासिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है...उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौंदर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके । परन्तु इतना ही काफी नहीं है । उस जाति में जीवन के प्रति एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशुसुलभ इन्द्रिय"वृत्ति को और वाह्य पदार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनो-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १ ।

प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य गर्व होना चाहिए जो आत्ममर्यादा को समस्त दुनियावी सुख-सुविधाओं से श्रेष्ठ समझता हो और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता। भारतवर्ष में एक ऐसा जीवन बीता है जब इस देश के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य गर्व था और सुन्दर के रक्षण-पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे, संधि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञान जगत् की सभ्यता का नियन्त्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओं द्वारा अपने को समस्त सभ्य जगत् का सिरमौर बना लिया था। उस समय इस देश में एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी जो सौन्दर्य की सृष्टि, रक्षण और सम्मान में अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समय के काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मयविमुग्ध होकर देखता रहता है। उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है और रस है।[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का संकेत उस युग की ओर प्रतीत होता है जिसे स्वर्णयुग के नाम से कहा जाता है। वह युग निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त या सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य का युग था जिसने अपने मार्ग को सर्वांगरूपेण निष्कण्टक बना लिया था। उसी युग ने भारतीय जन- समूह में राष्ट्रीयता और विद्या-प्रेम का संचार किया, राज्य कार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति व परिवर्तन हुआ, सामाजिक मर्यादाओं का कायापलट हुआ, रूढ़ियों के बन्धन शिथिल हुए, ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा अभिनव प्रेरणा से अनुप्राणित हुई। इसी काल से भारतीय-चिन्तनस्रोत की नयी दिशा का उन्नयन होता है। कला और साहित्य की चर्चा करने वाले कोई भी कवि अथवा समालोचक इस घुमाव से वंचित न रहे। महाकवि कालिदास की कृति 'रघुवंश' में वर्णित अयोध्या की दारुण एवं हीनावस्था का अन्त इन्हीं गुप्त सम्राटों द्वारा संभव हुआ। रघुवंश के २६ वें सर्ग में ११ से २१ श्लोक तक का वर्णन विशेषरूप से द्रष्टव्य है। ऐसे जीर्ण एवं ध्वस्त भारतवर्ष को गुप्त सम्राटों ने ही जीवनदान दिया।

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २,३।

'गुप्त काल के पश्चात् भारतीय मनीषा की मौलिकता यद्यपि थोथी हो गई किन्तु उनके आदर्शों का प्रभाव किसी न किसी रूप में ईसा की नौवीं शताब्दी तक चलता रहा।'[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि दण्डी भी उन प्राचीन आदर्शों के प्रभाव से वंचित न रहे क्योंकि दशकुमारचरित में स्थल-स्थल पर कालिदास की कृतियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं, संभवत: तत्कालीन सामाजिक स्थिति व मर्यादा तथा नियमों का यथार्थ चित्रण एक सफल कलाकार के व्यक्तित्व का परिचायक कहा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन की दृष्टि से, दण्डी की कृति में जहाँ एक ओर अशोभन एवं अशिष्ट समाज का चित्र दिखाई देता है, वहाँ दूसरी ओर सभ्य तथा शिष्ट समाज के भी स्वरूप-चित्रण का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह विदित होता है कि सामाजिक मर्यादाओं का परिपालन और उसके यथार्थ रूप के चित्रण का यहाँ अभाव नहीं है। सर्वप्रथम गोमिनी वृत्तान्त के सन्दर्भ में अष्टादशवर्षीय शक्ति कुमार के द्वारा प्रस्थ परिमाण धान से स्वादिष्ट भोजनोपलब्धि का प्रस्ताव रखने पर गोमिनी का एक अपरिचित नवयुवक के हाथ से कोई वस्तु स्वीकार करना या उससे वार्तालाप करना असंगत समझ कर साभिप्राय अपनी उपमाता की ओर दृष्टि डालती है जिससे अंगनाजनोचित शील, शिष्ट आचरण तथा लज्जा से परिपूर्ण मृदु भावों का मधुर संकेत उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर 'अयिमूढ, किमस्ति कन्यान्तःपुरदूषकेऽपि कश्चित्कृपावसरः' [प्रथम उच्छ्वास, पृ० १४०], मयिवयोविरुद्धं सख्यमुपेत्य तदहरेव स्वगृहे स्नानभोजनादिकारयित्वोत्तरेद्युः श्रावस्तीं प्रतियान्तं मामनुगम्य'स्मर्तव्योऽस्मि' इति मित्रवद् विसृज्य प्रत्ययासीत्' [पंचम उच्छ्वास, पृ० ३३६] 'कथमिह तरुणेनानेन सह समाजं गमिष्यामि' [पंचम उच्छ्वास, पृ० ३६१] 'रम्भोरु सहस्व मत्कृतानिदुश्चरितानि, मनसापि न चिन्तयेयमितः परमितरनारीम्। त्वरस्व प्रस्तुते कर्मणि' इति। [तृतीय उच्छ्वास, पृ० २३४], 'किन्तु परकलत्रलङ्घनाद्धर्मपीडा भवेत्, [तृतीय उच्छ्वास, पृ० ३७४] आदि सारगर्भित उक्तियाँ—सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण या उल्लंघन न कर उसकी सुरक्षा

---

१. वही, पृष्ठ ६।

तथा पालन करना धर्म है, कवि के संयमित व्यक्तित्व तथा शिष्ट समाज के चित्रण की द्योतक हैं।'

अष्टम उच्छ्वास में वर्णित मृगयावर्णन, 'स्वदेशो देशान्तरमितिनेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य, 'शैथिल्यमिव किञ्चित्प्रज्ञासत्त्वयोरनर्थैनेदृशेन देशत्यागेन सम्भाव्यते, [पृ० १९६] न ह्यलमतिनिपुणोऽपिपुरुषोनियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्' [पृ० २१९] सेयमाकृतिर्निर्व्यभिचरति शीलम् [षष्ठ उ० पृ० ४२१], पर्यस्फुरन् मे दक्षिणभुजः [पृ० ३४७] प्रभृति उक्तियों में कालिदास की उक्तियों का पर्याप्त साम्य पाया जाता है। विस्तारभय से संक्षेप में यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत होता है कि दण्डी का व्यक्तित्व एक सफल कवि एवं कलाकार की विशेषताओं से ओत-प्रोत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने सिद्धान्तों से लोकजीवन की मर्यादा को सुव्यवस्थित करने के लिए ही दण्डी में कवित्व का जन्म हुआ था। 'बुद्धिः यस्य बलं तस्य' यह उक्ति मन्त्र रूप में उनके लिए सार्थक सिद्ध हुई। दण्डी के अनुसार बुद्धिहीन राजा किसी काम का नहीं होता। कुलीनता भी सच्चा गुण है। 'सब कुछ होते हुए भी बुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ गुण है। अर्थशास्त्र और दण्डनीति आदि के ज्ञान से संवलित न होने पर बुद्धि अग्नि में विना संशोधित सोने के सदृश होती है। बुद्धिहीन राजा अत्यन्त उन्नतिशील होते हुए भी, शत्रुओं द्वारा पीडित होने पर आत्मसुरक्षा करने में असमर्थ्र होता है। बुद्धि के अभाव में वह अपने साध्य और साधन का भी विभाग करने में असमर्थ होता है...मर्यादाहीन प्रजा अपने को तथा अपने स्वामी को इहलोक और परलोक से भ्रष्ट कर देती है। शास्त्ररूपी दीपक के प्रकाश में देख कर निर्धारित मार्गानुसरण करने से लोकयात्रा भी सुखी होती है। जिसके पास दिव्य दृष्टि नहीं होती वह सुन्दर और विशाल नेत्रों के होते हुए भी अन्धे के सदृश होता है।'[१]

आचार्य दण्डी का व्यक्तित्व आस्तिकविचारों से भी परिपूर्ण था जिसका परियच हमें पदे पदे मिलता है। 'आज सभी नास्तिकों का शिर लज्जा से नत हो

१. तथाप्यसावप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः। बुद्धिहीनो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परेरध्यारुह्यमाणमात्मानं चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। ...दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु ...सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात्।—अष्टम उच्छ्वास, पृ० ५।

गया है ।'अद्य सकलनास्तिकानां जायते लज्जानतं शिरः । प्रायः दण्डी के कतिपय पात्रों में नित्यकर्म संध्यावंदनादि, तीर्थ स्थान, मंदिर में देवपूजा तथा भाग्य की दुहाई देने की प्रवृत्ति देखी जाती है ।

गुरुओं तथा अपने से श्रेष्ठ लोगों की आज्ञा का उल्लंघन दण्डी की दृष्टि में समीचीन नहीं ।[१] अनुद्योगी अथवा उद्यम से हीन मनुष्य को लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती । उद्योगियों के समीप ही समस्त मंगलमय कार्यों का आवास होता है[२] इत्यादि पंक्तियों से दण्डी के उद्यमी और पुरुषार्थयुक्त होने की झलक मिलती है ।

संक्षेप में दण्डी का व्यक्तित्व बुद्धिपक्ष एवं हृदयपक्ष दोनों के मंजुलसमन्वय से युक्त चरितार्थ होता है ।

क्षात्र धर्म और स्त्री धर्म का जो स्वरूप-प्रतिपादन दण्डी के द्वारा हुआ है उससे उनकी मानवता तथा उनके तत्त्वान्वेषण के सामर्थ्य की झलक मिलती है—'यह क्षत्रियों का धर्म है कि बन्धु हो अथवा अबन्धु, दुष्ट होने पर वह दण्डनीय होता है । महिलाओं का भी यह धर्म है कि उनका पति योग्य हो अथवा अयोग्य उसकी मृत्यु के पश्चात् उन्हें उसी की गति का अनुसरण करना चाहिए ।'[३]

इस प्रकार दण्डी के हृदय का पावनत्व, उनकी कुशाग्रबुद्धि की उत्कृष्टता, यथार्थवादिता, आस्तिकता एवं नीतिनैपुण्य प्रभृति गुणों के प्रकर्ष का अभिट प्रभाव पाठकों पर पड़ता है । दशकुमारचरित में दण्डी के व्यक्तित्व की दिव्य झाँकी इन्हीं कुछ रूपों में मिलती है ।

---

१. 'न च निषेधनीया गरीयसां गिरः ।'—सप्तम् उ० पृ० ४८८ ।

२. इह जगति हि न निरीहं श्रियः संश्रयन्ते । श्रेयांसि च सकलानि अनलसानां हस्ते नित्यसांनिध्यानि ।-सप्तम उ०, पृ० ४८२ ।

३. एष खलु क्षात्रधर्मो यद् बन्धुरबन्धुर्वा दुष्टः सः निरपेक्षं निग्राह्य इति ।' 'स्त्रीधर्मश्चैष यददुष्टस्य दुष्टस्य वा भर्तुर्गतिर्गन्तव्येति ।'-चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० ३२७ ।

द्वितीय अध्याय

भामह और दण्डी के पौर्वापर्य का तात्त्विक विवेचन

किसी भी ग्रन्थकार का महत्त्व इस बात पर निर्भर होता है कि भविष्य में उसके ग्रन्थ कहाँ तक उपादेय सिद्ध होते हैं । साहित्य जगत् में जितना ही ग्रन्थकार के ग्रन्थ का अधिक उपयोग होता है, विद्वत् गोष्ठी तथा पाठक-समुदाय को जितनी ही अधिक उससे प्रेरणा मिलती है, अत्यल्प भी मति वालों के लिए जितने ही अधिक सौकर्य और सौष्ठव के साथ अभिनव दिशाओं का उन्मीलन होता है, काव्य साहित्य सभ्यता तथा संस्कृति की मान्यताओं का जितनी ही उचित रीति से परिपालन होता है, ग्रन्थ प्रणेता उतना ही अधिक लोकप्रिय सिद्ध होता है । महर्षि वाल्मीकि और व्यास, भरत मुनि तथा महाकवि-कालिदास अद्यावधि रमणीय काव्य की रचना करने के कारण जितने ही सम्मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध स्वरूप के प्रतिपादन तथा लोक व्यवहार की मान्यताओं का सुन्दरतम सन्देश प्रस्तुत करने के लिए लोकप्रिय भी हैं । इस तरह से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी ग्रन्थ का महत्त्व जानने के लिए यह विचार करना पड़ता है कि वह भविष्य में कितना उपयोगी होता है, क्योंकि सुन्दर निबन्धों की रचना करने वालों के दिवंगत हो जाने पर भी उनका काव्यमय सुन्दर शरीर निरातंक बना रहता है[१] और इसी से उस सुन्दर निबन्ध-लेखक की कीर्ति-चन्द्रिका का विस्तार भी हुआ करता है ।

प्रकृत विषय की दृष्टि से यदि हम भामह की ओर दृष्टि डालें तो ऐसा विदित होता है कि संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के लेखकों ने भामह का नाम किसी न किसी रूप में अवश्य लिया है । ध्वन्यालोक तथा साहित्यदर्पण आदि शीर्षस्थ ग्रन्थों में भामह

---

१. उपेयुषामपिदिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातंकं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥—काव्यालंकार-भामह, परि० १, श्लोक ६ ।

की पंक्तियाँ किसी न किसी रूप में उद्धृत की गई हैं। दण्डी का भी महत्त्व भामह की तुलना में कम नहीं है। दोनों ही प्राचीनतम ग्रन्थकार हैं। यद्यपि भामह का कार्यकाल, उनका जीवन वृत्त अपने प्रकृत विषय से असम्बद्ध सा प्रतीत होता है किन्तु दोनों के पौर्वापर्य विषयक विवेचन से दण्डी के काल-निर्णय पर प्रकाश पड़ेगा। दोनों में कौन पूर्ववर्ती है, यह विषय भी आज तक विवादग्रस्त है। इस दृष्टि से यह विवेचन यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

आचार्य भामह और दण्डी के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। काव्यशास्त्र के इतिहास के लेखकों ने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है, किन्तु दोनों के पौर्वापर्य विषयक मतैक्य का प्रायः अभाव ही देखने को मिलता है। दोनों में से पहले कौन हुआ इस विषय की दृष्टि से तीन बातें ध्यान में आती हैं—प्रथम तो यह कि दोनों ही आचार्यों के ग्रन्थगत पद्यों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है।

दूसरी बात यह है कि दोनों ही इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि उनके पूर्व कतिपय आचार्य हो चुके हैं जिनकी सारस्वतसाधना दोनों के लिए उपादेय सिद्ध हुई है। काव्यालंकार तथा काव्यादर्श दोनों ही ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों एक दूसरे की समालोचना कर रही हैं।

तीसरी वस्तु यह है कि दोनों ही प्राचीनतम आलंकारिक तथा समय की दृष्टि से एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट हैं। इस बात का उल्लेख डा० पी० वी० काणे ने भी किया है।[१]

पूर्वोक्त तीनों बातों पर अब क्रम से विचार किया जा रहा है। जिन उक्तियों में दोनों ही आचार्यों में समानता पाई जाती हैं वे निम्न लिखित हैं—

सर्वप्रथम महाकाव्य के लक्षण के सन्दर्भ में—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥ १ प० । १९

—भामह-काव्यालंकार

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्॥१ प० ।२०

—भामह-काव्यालंकार

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, तीसरा संस्करण, पृ० ६७

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।

आशीर्नमस्क्रियावस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम्॥ १.१४

—दण्डी-काव्यादर्श

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥ १.१७।

—दण्डी-काव्यादर्श

अलंकारों के निरूपण के प्रसंग में—

अपरे षडलंकाराः।

आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।

समासातिशयोक्ती च षडलंकृतयो पराः॥ २.६६।

—भामह-काव्यालंकार

स्वभावाख्यानमुपमारूपकं दीपकावृती।

आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेकोविभावना॥ २.४।

—दण्डी-काव्यादर्श

वार्ता के उदाहरण में—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ २.८७।

—भामह-काव्यालंकार

दण्डी ने इसी तरह का पद्य ज्ञापकहेत्वलंकार के उदाहरण में दिया है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासायपक्षिणः।

इतीदमति साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥ २.२४४

पुनः कतिपय अलंकारों के निरूपण में—

प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।

द्विप्रकारमुदात्तञ्च भेदैः श्लिष्टमपि त्रिभिः॥ ३.१।

—भामह-काव्यालंकार

समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः ।
प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम् ॥ २.५ ।

—दण्डी-काव्यादर्श

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाभूतभाविनः ॥ ३.५३ ।

—भामह-काव्यालंकार

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥ २.३६४ ।

—दण्डी-काव्यादर्श

प्रेयोऽलंकार के उदाहरण में—

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषाभवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥ ३.५ ।

—भामह-काव्यालंकार

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥ २.२७६ ।

—दण्डी-काव्यादर्श

चतुर्थ परिच्छेद् के आदि में दोष निरूपण के सन्दर्भ में—

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥ ४.१ ।

—भामह-काव्यालंकार

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ ४.२ ।

—भामह-काव्यालंकार

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ॥ ३.१२५ ।

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।

इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ ३.१२६ ।

—दण्डी-काव्यादर्श

पुनः अपार्थलक्षण के प्रसंग में—

समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते ।

दाडिमानि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम् ॥ ४.८ ।

—भामह-काव्यालंकार

समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते ।

उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ ३.१२८ ।

—दण्डी-काव्यादर्श

उपर्युक्त पद्यों से भामह और दण्डी के ग्रन्थगत पद्यों की समानता बिल्कुल स्पष्ट दिखायी देती है ।

भामह पाँचवें[१] तथा छठें[२] परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख करते हैं कि दूसरों की कृतियों का भलीभाँति पर्यवेक्षण करके तथा स्वयं अपना भी तर्क देकर मैंने अलंकारों आदि का निरूपण, तथा सत्कवियों के मतों का अवलोकन करके अपनी बुद्धि के अनुसार काव्यलक्षण सुजनों के बोध के लिए रक्रिलगोमि के पुत्र भामह मैंने किया । दूसरों के मतों का भामह तथा दण्डी ने अनुशीलन अवश्य किया किन्तु निर्णय दोनों के अपने हैं तथा भिन्न भी प्रतीत होते हैं ।

कहीं-कहीं तो भामह ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों तथा कवियों का नामोल्लेख भी किया है । मेधाविन्[३] का नाम उपमा दोष के प्रसंग में लिया गया

---

१. इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया, बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च । ५.६९ । —भामह-काव्यालंकार

२. अवलोक्यमतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म ।
सुजनावगमाय भामहेनग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम् ॥ ६.६४ । —भामह-काव्यालंकार

३. त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः । २.४० । भामह-काव्यालंकार ।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् । २.८० । भामह-काव्यालंकार ।

है । इसके अतिरिक्त उसी द्वितीय परिच्छेद के श्लोक संख्या ८८ में भी मेधाविन् का नाम आया है । क्रमश: शाखावर्धन का 'राजमित्र' तथा राम शर्मा का 'अच्युतोत्तर' इन कृतियों की ओर संकेत किया गया है ।[१]

आचार्य दण्डी ने भी अपने ग्रन्थ में 'पूर्वसूरिभि:' 'पूर्वाचार्यै:' 'सूरय:' 'पौरस्त्या:' अपरे इत्यादि शब्दों के द्वारा अपने से पूर्व काव्यतत्त्ववेत्ताओं, काव्यपद्धति और कतिपय कृतियों की ओर भी संकेत किया हैं । पूर्व के शिलालि, भरत, भामह प्रभृति आचार्यों का ग्रन्थावलोकन अथवा पूर्व शास्त्रों का परीक्षण करने के पश्चात् अपनी सामर्थ्य के अनुकूल काव्यलक्षण में तत्पर हुए ।[२]

अब संक्षेप में यह देखना है कि दोनों के ग्रन्थगत स्थल कौन-कौन से हैं जहाँ एक दूसरे की आलोचना करते हुए प्रतीत होते हैं—

सर्वप्रथम कथा और आख्यायिका के प्रसंग में दण्डी की दृष्टि भामह से भिन्न है ।

भामह का मत—

गद्य से युक्त, उदात्त अर्थवाली, सुन्दर संस्कृत के शब्द अर्थ और पदवृत्ति से परिपूर्ण जो उच्छ्वासों में विभक्त हो वह आख्यायिका है[३] ।

इसमें नायक आत्मकथा को स्वत: कहता है । भावी अर्थ की सूचना देनेवाले वक्त्र तथा अपरवक्त्र के छंद होते हैं[४] ।

---

१. समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम् । रामप्रसत्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यतनारद ॥ ३.१० । मामह-काव्यालंकार । दृष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम्—२.८५ । भामह-काव्यालंकार । सूर्यांशुसंमीलितलोचनेषुइत्यादि तथा निष्पेतुरास्यादिव तस्यदीप्ता: इत्यादि शाखावर्धनस्य—२.४६.८७ ।

२. पूर्वशास्त्राणिसंहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च । यथासामर्थ्यमस्माभि: क्रियते काव्य-लक्षणम् ॥ १.२ ।—दण्डी-काव्यादर्श ।

३. संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्थासोच्छ्वासाऽख्यायिकामता ।-१.२५ ।-भामह-काव्यालंकार

४. वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ॥-१.२६ ।-भामह-काव्यालंकार

कवि के लिए प्रिय विचारों तथा अभिप्राय से समवेत कथन से युक्त हो, जिसमें कन्यापहरण, संग्राम, विप्रलंभ तथा नायक का अभ्युदय स्पष्ट हो[१] इससे पृथक् स्वरूप कथा का होता है—

कथा में वक्त्र और अपरवक्त्र छंद, उच्छ्वास नहीं होना चाहिए। भाषा इसकी चाहे संस्कृत हो चाहे असंस्कृत प्राकृत हो या अपभ्रंश हो[२]। इसमें नायक के चरित का व्यापक व्यपदेश अन्यों के द्वारा होना चाहिए न कि नायक के द्वारा। सुन्दर कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति अपने गुणों की प्रशंसा स्वत: कैसे करेगा।[३]

दण्डी का मत—

आचार्य दण्डी का मत भामह से सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार—

गणमात्रानियत पद्यतुरीयभाग पाद कहा जाता है उससे रहित पदसमुदाय को गद्य कहते हैं। उसके कथा और आख्यायिका दो भेद होते हैं। उसमें आख्यायिका का लक्षण यह है[४]—

प्राचीनों का मत है कि आख्यायिकाओं में नायक आत्मकथा अपने मुख से कहता है और कथा में नायक स्वयं भी तथा दूसरे भी कहते हैं। अपने में वस्तुत: वर्तमान गुणों का वर्णन आत्मश्लाघा नहीं है। अत: इस प्रकार का कथन अदोष है।[५]

अब निम्न श्लोक के अर्थ से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी किसी पूर्व प्रतिपादित मत की आलोचना कर रहे हैं—

---

१. कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदंकिता।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता॥-१.२७।-भामह-काव्यालंकार

२. न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतासंस्कृताचेष्टाकथाऽपभ्रंशभाक्तथा॥ १.२८-१.२८। भामह-काव्यालंकार

३. अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥ २९॥

४. अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा।
इतितस्यप्रभेदौद्वौतयोराख्यायिकाकिल॥ १.२३-दण्डी-काव्यादर्श।

५. नायकेनैववाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणनिष्क्रियादोषो नात्रभूतार्थशंसिनः॥ १.२४।-दण्डी-काव्यादर्श।

प्राचीनों ने जो यह नियम बनाया कि आख्यायिका का नायक स्वयं अपनी कहानी कहता है और कथा में नायक स्वयं या दूसरे भी कहते हैं इस पर आक्षेप करते हुए दण्डी का कहना है कि— यह भेद (नियम) असंगत है। क्योंकि देखा गया है कि आख्यायिका में भी दूसरे के द्वारा कथा कही जाती है। वक्ता स्वयं हो या अन्य कोई हो इस तरह का भेद करने वाला लक्षण क्यों स्वीकार किया जाय[१]।

आख्यायिका में परिच्छेदों को उच्छ्वास शब्द से अभिहित करना, कथा में लम्भकादि तथा आख्यायिका में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंद का होना, यह नियम भी संगत नहीं है। यह भेद चित्र कथा की तरह आख्यायिका में भी हो सकते हैं। इस प्रकार के भेदक चिन्हों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।[२]

इस तरह से दण्डी ने आख्यायिका तथा कथा में कोई भेद नहीं माना है, संज्ञा भेद को अप्रयोजक ही बताया है। कथा में भी आर्या आदि की तरह वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्दों के समावेश से कोई बाधा नहीं होती। कथा और आख्यायिका दोनों में वक्त्र, अपरवक्त्र आदि छन्दों का प्रयोग किया जा सकता है। लम्भक, उच्छ्वास आदि भी भेदक तत्त्व के रूप में नहीं कहे जा सकते।[३]

कथा और आख्यायिका यह केवल नाम का भेद है। संज्ञाओं के भिन्न होने से भी संज्ञी में कोई भेद नहीं होता। इस तरह समस्त आख्यान जातियों का अन्तर्भाव इसी आख्यायिका में ही समझना चाहिए।[४] इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी की बुद्धि एक सफल समालोचक की सी है। ऐसा लगता है कि उनके समक्ष कथा और आख्यायिका विषयक मत प्रतिपादित होकर उपस्थित हैं और वे उसका अपने ढंग से खण्डन कर रहे हों। इससे प्रतीत होता है कि अवश्य दण्डी भामह के परवर्ती हैं।

---

१. अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्रापि अन्यैरुदीरणात्।
अन्योवक्तास्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम्। १.२५। दण्डी-काव्यादर्श।

२. वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेतप्रसंगेकथास्वपि॥ १.२६ दण्डी-काव्यादर्श।

३. आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तकिंततः॥ १.२७। दण्डी-काव्यादर्श।

४. तत्कथाऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यंति शेषाश्चाख्यानजातयः॥ १.२८ दण्डी-काव्यादर्श

इतना ही नहीं अभी कतिपय और भी अलंकारों के लक्षण निरूपण में दोषों तथा मार्गों के प्रतिपादन में, रस तथा गुण के सविस्तर विवेचन में, रससिद्धान्त को, सर्वथा एक उदात्त हृदय तथा काव्य मर्मज्ञ के रूप में अपनी व्यापक तथा समालोचनात्मक दृष्टि के साथ विकसित रूप देने में दण्डी भामह की अपेक्षा कहीं अधिक सफल सिद्ध हुए हैं जिनका ठोस व प्रामाणिक निदर्शन डा० नगेन्द्र (रस सिद्धान्त) प्रभृति विद्वानों की कृतियों में उपलब्ध होता है ।[१]

अब उपर्युक्त शेष प्रकरणों में दण्डी के परवर्ती होने के विषय में संक्षेप में विचार प्रस्तुत किए जाएँगे । यद्यपि विषय इतना गूढ़ है कि यह सुस्पष्ट रूप से निश्चय करना कठिन अवश्य है कि दोनों आचार्यों में पूववर्ती कौन है । क्योंकि दोनों ही आचार्यों के ग्रन्थगत कतिपय ऐसे भी स्थल हैं जहाँ यह सन्देह उत्पन्न होता है कि भामह दण्डी की आलोचना कर रहें हैं या दण्डी भामह की । किन्तु इतना तो अवश्य है कि भामह की अपेक्षा दण्डी की आलोचना-सरणि व्यापक तथा विलक्षण है । पूर्व प्रतिपादित मत की समालोचना का जो स्वरूप दण्डी में उपलब्ध होता है वह भामह में नहीं है ।

उदाहरण के लिए हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह अंलकार नहीं मानते[२] हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मत: । —भामह-काव्यालंकार २.५६ । जब कि दण्डी हेतु, सूक्ष्म और लेश को वाणी का उत्तमं भूषण मानते हैं[३] । भामह इन तीनों अलंकारों को चमत्कारशून्य बतलाते हैं जबकि दण्डी के कथन का उद्देश्य यह है कि इनमें अलंकार होने की योग्यता है, चमत्कार भी इनमें है तथा अर्थ की अलंकृति भी इनसे होती है । अत: इन्हें अलंकार रूप में स्वीकार करना चाहिए ।

पुन: हेतु अलंकार के पश्चात् एक उदाहरण—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण: ।

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

—भामह-काव्यालंकार २.८७ ।

---

१. रस-सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र, पृ० १८.२२ ।

२. हेतु, सूक्ष्म लेशा: अनलंकारा: ।

३. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।—दण्डी-काव्यादर्श-२.२३५ ।

इस में भामह का कथन है कि सूर्यास्त हो गया है, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने निवास स्थान को जा रहे हैं-इत्यादि वाक्यों की गणना काव्य में नहीं हो सकती, इन्हें वार्ता की संज्ञा देनी चाहिए। इसके विरोध में दण्डी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥

—दण्डी-काव्यादर्श २.२४४।

प्रस्तुत वर्णन से समय की स्थिति—सायंकाल का ज्ञापन होता है, इसीलिए दण्डी द्वारा यह ज्ञापक हेतु का उदाहरण माना गया है। स्पष्ट है कि जहाँ भामह एक ओर इस प्रकार के वाक्य को काव्य का अविषय मानते हैं वहाँ दूसरी ओर दण्डी इसे साधु रूप में स्वीकार करते हैं ! पुनः हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पांचवें उल्लास में भी व्यंजना-प्रतिष्ठा के प्रसंग में इस श्लोक का उल्लेख किया गया है[१] ऐसा प्रतीत होता है कि यदि प्रस्तुत उदाहरण में काव्य का लेश भी न होता तो निश्चय ही परवर्ती सम्मान्य आचार्यों की दृष्टि में यह प्रसंग काव्य रूप में अस्वीकृत ही रहता। किन्तु वास्तविक स्थिति इससे सर्वथा भिन्न ही दिखाई देती है। अर्थात् काव्य साहित्यशास्त्र के जिन सिद्धान्तों के विवेचन में, जिन प्रकरणों के सम्यक् प्रतिपादन में जिन तथ्यों के समुन्मीलन में, जिन अभावपूर्ण प्रसंगों में दण्डी की तत्वग्राहिणी तथा आलोकमयी प्रज्ञा तत्पर हो सकी है वे विषय सर्वथा निर्विवाद रूप में मान्य सिद्ध हुए हैं। आगे उन्हीं विषयों का पल्लवन, प्रतिफलन तथा उपवृंहण परवर्ती आचार्यों द्वारा हुआ है।

ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जहाँ पर दण्डी प्रत्यक्ष रूप से भामह की समालोचना करते हुए दिखाई देते हैं। भामह जिस पद्यांश को[२] अवाचक

१. नहि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथाभवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नंप्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यता-मिति, दूरं मा गा इति सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तुनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यंग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति। —मम्मटःकाव्यप्रकाश, वामन की टीका, पृ० २४०।

२. हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्।—भामह-काव्यालंकार १.४१।

दोष के उदाहरण में प्रस्तुत करते हैं दण्डी उसी को[१] प्रकारान्तर से दूसरे प्रसंग में प्रहेलिका के उदाहरण में स्वीकृति प्रदान करते हैं।

काव्य-स्वरूप का वर्णन करते समय भामह ने काव्य के दो भेद किए हैं,[२] दण्डी ने काव्य के तीन भेद स्वीकार किंए हैं।[३]

दोषों के विवेचन में भी भामह के दोष-विभाजन के विरुद्ध ही दण्डी की दृष्टि अथवा प्रवृत्ति दिखाई देती है। भामह ने, पहले पन्द्रह दोषों[४] का निर्देश करने के पश्चात् तीन प्रतिज्ञाहीनत्व, हेतुहीनत्व और दृष्टान्तहीनत्व अन्य भी दोषों की गणना की है। दण्डी ने केवल दश ही दोषों[५] को स्वीकार किया है और यही १० दोष काव्य में वर्ज्य हैं। शेष तीन दोषों के प्रति भामह पर ही उनका आक्षेप प्रतीत होता है। दण्डी का अभिप्राय है शेष तीन दोषों की गणना की जाए अथवा नहीं यह विचार कर्कश है, रूक्ष है, अत: उनके सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करने से कोई लाभ नहीं।[६]

भामह की दृष्टि में काव्यात्मक तत्त्वों में मार्ग अथवा रीति का कोई महत्त्व नहीं है। वे वैदर्भी तथा गौडी रीतियों में कोई भेद स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि वैदर्भी तथा गौड़ी में भेद है ऐसी दूसरे लोगों की सम्मति है। काव्य में अनिवार्य तत्त्व वक्रोक्ति है न कि रीति।[७] इस विवेचन से कुछ विचारकों को

---

१. विजितात्मभवेद्वषिगुरुपादहतोजनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥ —दण्डी-काव्यादर्श-३.१२०

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।-भामह-काव्यालंकार-१.१६

३. गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधेव व्यवस्थितम्। -दण्डी-काव्यादर्श- १.११।

४. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तम् विसन्धिकम् ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ -भामह-काव्यालंकार-४-१२।

५. अपार्थं व्यर्थमेकार्थ ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तम् विसन्धिकम् ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इतिदोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषुसूरिभिः ॥

६. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेनकिंफलम्—दण्डी -काव्यादर्श-३.१२५,२६,२७।

७. काव्यालंकार-भामह-१.३१,३२,३६।

संदेह हुआ है जो दण्डी को भामह के पूर्व मानते हैं कि यहाँ भामह द्वारा दण्डी की आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में डा० एस० के० डे का कथन है कि, 'ऐसा प्रतीत होता है कि भामह जिस मत की आलोचना कर रहे हैं वह या तो परम्परागत है अथवा एक सामान्य विवाद का विषय हो सकता है जैसा कि भामह स्वयं इस सम्बन्ध में कहते हैं कि गौड़ी और वैदर्भी क्या भिन्न-भिन्न हैं? यह तो गतानुगतिक-न्याय हुआ, मूर्ख लोगों को इस प्रकार का भेद करने से रोका नहीं जा सकता।'[१] भामह के इस उपर्युक्त मत के सर्वथा विरुद्ध दण्डी की सम्मति प्रतीत होती है। वे रीति अथवा मार्ग को काव्य के आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें पारस्परिक सूक्ष्म भेद हैं। उसमें वैदर्भ तथा गौड़ ये ही दो अपेक्षित हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि दण्डी भामह के ग्रन्थ से पूर्णतया परिचित थे। 'काव्यादर्श' के टीकाकार तरुणवाचस्पति का भी यही मत है कि इन परस्पर विरुद्ध पद्यों में दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती भामह के पूर्व विचारों के प्रतिकूल अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रायः सभी स्थलों पर दण्डी ने भामह की अपेक्षा सविस्तर तथा उत्कृष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। पारस्परिक मत-वैषम्य का स्वरूप भी यथार्थ तथा उत्तम है।[३]

डा० पी० वी० काणे का मत दण्डी को ही पूर्ववर्ती सिद्ध करने के पक्ष में उपलब्ध होता है। भामह और दण्डी के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में काणे महोदय ने बहुत ही तर्कशुद्ध प्रामाणिक विवेचना के आधार पर विस्तार से विचार किया है और उसका परिचय विषय के जिज्ञासु-जन उनके ग्रन्थ[४] से प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ संक्षेप में उनका मत इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. हिन्दी अनुवाद-हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स-प्रथम भाग-डा० एस० के० डे-पृ०। डा० डे ने भामह की पंक्ति का भी उल्लेह किया है:— गौड़ीयमिदमेततवैदर्भमिति किं पृथक्।

२. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्रवैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥—दण्डी-काव्यादर्श-१.४०।

३. द्रष्टव्य-हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स-डा० एस० के० डे, प्रथम भाग, पृ०।

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स-डा० पी० वी० काणे, तृतीय संस्करण, पृ० १०२ से १३३ तक।

मि० त्रिवेदी, डा० याकोबी, प्रो० रंगाचार्य, श्री गणपति शास्त्री, प्रो० पाठक प्रभृति विद्वानों के अनुसार भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। प्रो० नरसिंहेयर, डा० कीथ तथा बाद में प्रो० पाठक भी अपने परिवर्तित विचार के आधार पर दण्डी को ही भामह से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं। श्री त्रिवेदी जी तथा प्रो० रंगाचार्य 'अलंकार सर्वस्व'[१] के आधार पर भामह का चिरन्तन आलंकारिकों में सर्वप्रथम उल्लेख होने से दण्डी आदि आचार्यों से पूर्व मानते हैं। रुद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नेमि साधु ने लिखा है—'ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि'[२] इत्यादि। पुनः विद्यानाथकृत प्रतापरूद्रिय में-'पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः', 'प्राच्या भामहेन' (पृ० ४ और २१) में भी पंक्तियाँ मिलती हैं। ऐसी स्थिति में जबकि कहीं दण्डी का प्रथम उल्लेख तथा कहीं भामह का उल्लेख मिलता है इस उल्लेख पद्धति के आधार पर दोनों (भामह और दण्डी) के पौर्वापर्य का निर्णय समुचित नहीं है। अलंकारों के निरूपण के अवसर पर दण्डीकृत उपमा के ३२ भेदों को भी अवैज्ञानिक तथा अयथार्थ बताया गया है। यदि ग्रन्थों में आचार्यों के उल्लेख का क्रम प्राचीनता की कसौटी हो सकती है तो इस सिद्धान्त के अनुसार डा० पी० वी० काणे दण्डी को ही भामह से पूर्ववर्ती मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनके तर्क सर्वथा तर्कशुद्ध तथा युक्ति संगत लगते हैं। अधिकांश विचारकों की दृष्टि में दोनों ही मत (भामह पूर्ववर्ती अथवा दण्डी) संभावित हो सकते हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भामह और बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के मतसाम्य के आधार पर निर्णय देते हुए भामह का समय दिङ्नाग के पश्चात् और धर्मकीर्ति से पूर्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि—"भामह ने अपने पञ्चम-परिच्छेद में न्याय-निर्णय के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों से अपना प्रगाढ़ परिचय दिखलाया है। इस अवसर पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नाग के ही मत से साम्य रखता है, परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। कल्पना कहते हैं किसी वस्तु के विषय में नाम तथा जाति आदि की कल्पना को। इस लक्षण को धर्मकीर्ति

१. अलंकार सर्वस्व-रुय्यक- पृ० ३ पर—'इह हि तावद्भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानर्थ वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथा हि...।'

२. काव्यालंकार-रुद्रट-१.२।

ने 'अभ्रान्त पर जोड़ कर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है । भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षणपरिष्कार से परिचित नहीं हैं । प्रतिज्ञादोष में भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' से साम्य रखते हैं । अत: भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिए । अत: इनका समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है ।'[१]

दण्डी के सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत इस प्रकार है—'दण्डी ने अपनी अवंन्तिसुन्दरी कथा में बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरस सारांश उपस्थित किया है । इन निर्देशों से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होने वाले दण्डी सप्तम शतक के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए हैं ।'[२]

डा० नगेन्द्र का मत भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि दण्डी भामह के परवर्ती हैं । गुणों के सविस्तर विवेचन तथा रस-सिद्धान्त तथा उसकी सच्ची अनुभूति और उसकी उपादेयता कवि की दृष्टि से ओझल नहीं थी । डा० साहब का मत इस प्रकार है—'दण्डी की दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक उदार थी । सिद्धान्तत: तो भामह तथा अन्य ध्वनिपूर्व आचार्यों की भाँति उनहोंने भी शब्दार्थ में ही काव्य का मूल सौन्दर्य माना है । अलंकार को सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य का पर्याय मानते हुए रस का रसवद् अलंकार के ही अन्तर्गत वर्णन किया है । किन्तु स्वभावत: पदलालित्य-रसिक दण्डी के मन में रस के प्रति अधिक आदर था । भामह ने जहाँ रसवद् अलंकार के प्रसंग में केवल शृंगार रस का एक अपुष्ट उदाहरण देकर रस-विषय को चलता कर दिया है वहाँ दण्डी ने आठ रसों का रुचिपूर्वक वर्णन किया है । इसमें सन्देह नहीं कि समास शैली के कारण उन्होंने विभिन्न रसों के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का पृथक् विवेचन नहीं किया...उनके उदाहरणों में विभाव-अनुभाव आदि के अत्यन्त स्पष्ट चित्रण द्वारा रस-परिपाक प्रस्तुत किया गया है—दण्डी का रसवर्णन संक्षिप्त होते हुए भी अपूर्ण नहीं है ।[३]

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र-आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रथम खंड, प्र०, सं०, पृ० ४३ ।

२. वही, पृ० ४८ ।

३. रस-सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र, पृ० २१ ।'

दण्डी रस के मर्म तथा स्वरूप से पूर्णतया अवगत हैं। उनके श्लोकों में रस सामग्री की कमी नहीं है। निम्न प्रदर्शित उदाहरण[१] की भाँति दण्डी के अन्य उदाहरण भी इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी दृष्टि में रस सामग्री का रूढ़िगत संयोजन मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें रस के आस्वाद्य रूप की भी पहचान है।...

दण्डी का मर्मज्ञ कवि हृदय स्वभावतः ही इस तथ्य से अवगत था। श्रुत्यनुप्रासादि से युक्त ललित पदावली शृंगारादि रसों के आस्वाद में योगदान या उसकी परिवृद्धि करती है और इसी तरह अलंकार भी यथा प्रसंग विभिन्न रसों का उत्कर्ष करते हैं...। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भामह की अपेक्षा दण्डी रससिद्धान्त के अधिक निकट हैं, क्योंकि—

रस का वर्णन उन्होंने कहीं अधिक विस्तार से और रुचि के साथ किया है। रससिद्धान्त का उन्हें कहीं अधिक स्पष्ट ज्ञान है, रस की सामग्री, रस और भाव का भेद, रसपरिपाक की विधि आदि के विषय में उनका ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्ति है। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुखी है। भाव-सौन्दर्य के प्रति अपनी रचना और विवेचन दोनों में वे अधिक संवेदनशील हैं। 'ईष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' में ईष्ट विशेषण इस तथ्य की ओर इंगित करता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भी भामह जहाँ अलंकारवादी हैं, वहाँ दण्डी का झुकाव गुणचर्चितरीति के प्रति स्पष्ट है। अतः वे उसी अनुपात से भामह की अपेक्षा रस के अधिक निकट हैं जिस अनुपात से कि रीति-सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त की अपेक्षा रस के निकट है।[२]

भामह के समय निर्धारण के सम्बन्ध मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संकेत ध्वन्यालोक में उपलब्ध होता है जहाँ पर आनन्दवर्धन इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि बाणभट्ट ने भामह से यह विचार लिया—

शेषोहिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्॥

-भामह-काव्यालंकार-३.२८।

---

१. मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यथा मे मरणं मतम्। सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि॥-दण्डी-काव्यादर्श २.२८०। प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः॥-दण्डी-काव्यादर्श २.२८१।

२. रस-सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र, पृ०।

ध्वन्यालोक में—

'दृष्टपूर्वा अपीत्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥'

तथा

विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्ति उद्भवानुरणनरूपव्यंग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा—'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'(बाण के हर्ष चरित में) इत्यादौ शेषोहिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः । पदलंघितमर्यादाञ्चलन्ती विभ्रेत भुवम् ॥ इत्यादिषु सत्स्वपि तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यसमाश्रयेणनवत्वम्[१]

आनन्दवर्धन के उक्त वाक्यसमूह से भी सिद्ध है कि भामह बाणभट्ट के पूर्ववर्ती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । ऐसी स्थिति में दण्डी जो कि बाणभट्ट के भी परवर्ती हैं उनका भामह से परवर्ती होना सुनिश्चित है ।

---

१. काव्यालंकार-भामह-तृतीय परिच्छेद के २८ वें पद्य के फुटनोट में उद्धृत ।

तृतीय अध्याय

दण्डी के प्रबन्धत्रय का निर्णय

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।

त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्चत्रिषुलोकेषु विश्रुताः ।।

प्रस्तुत पद्य शाङ्‍र्गधरपद्धति नं० १७४ तथा जल्हण की सूक्तिमुक्तावली पृ० ४५ नं० ७४ में राजशेखर के नाम से उद्धृत है । किन्तु यथासाध्य प्रयास करने के अनन्तर भी यह नहीं ज्ञात हो सका कि राजशेखर की किस कृति में इसका उल्लेख हुआ है । शार्ङ्गधरपद्धति में पद्य के नीचे राजशेखर का नाम दिया हुआ है । इस पद्य के अनुसार आचार्य दण्डी को तीन प्रबन्ध का रचयिता कहा गया है । भिन्न-भिन्न विचारकों ने दण्डी-विरचित तीनों प्रबन्ध का निश्चय करने में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है ।

उपर्युक्त पद्य का अर्थ इस तरह किया जा सकता है कि—तीन अग्नि दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आह्वनीयाग्नि, तीन वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद, तीन देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीन गुण सत्व, रजस्, तथा तमस् तथा दण्डी के तीन प्रबन्ध न केवल इस लोक में अपितु तीनों लोकों में विश्रुत हैं । डा० पी० वी० काणे ने भी इस पद्य का अर्थ किया है कि—'पद्य का संपूर्ण अर्थ यही है कि दण्डी के तीन ग्रन्थ सभी लोकों में विश्रुत हैं न कि यह, कि दण्डी ने केवल तीन ही ग्रन्थ लिखे हैं ।

यह सर्वविदित है कि दण्डी के निश्चित समय की भाँति उनकी कृतियाँ कौन कौन सी हैं यह भी विषय नितान्त सन्दिग्ध है । कतिपय शोध-प्रबन्धों तथा निबन्धों में आज तक जो निर्णय हो सका है उसमें भी मत-वैषम्य ही उपलब्ध होता है ।[१]

---

१. हिन्दी अनुवाद-हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—पी० वी० काणे ।

काव्यादर्श दण्डी की निःसन्दिग्ध रचना है। दशकुमारचरित भी अधिकांश विद्वानों द्वारा दण्डी की ही रचना के रूप में स्वीकार किया जाता है। तृतीय प्रबन्ध दण्डी का कौन हो सकता है इस सम्बन्ध में प्रायः मतैक्य का पूर्ण अभाव ही परिलक्षित होता है। दण्डी के तीन प्रबन्ध कौन कौन हो सकते हैं इस निर्णय के लिए 'प्रबन्ध' शब्द का अर्थ भी समझ लेना अनिवार्य प्रतीत होता है। कल्पद्रुम में प्रबन्ध शब्द का अर्थ 'काव्यादिग्रन्थनम्' किया गया है। अमरकोश में क्षीरस्वामी का कथन है कि, 'प्रबन्धस्य कल्पना कादम्बर्यादिरुत्पाद्यत्वात्।'

उपर्युक्त दोनों मतों में 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग क्रमशः काव्य आदि ग्रन्थ तथा 'कादम्बरी' आदि गद्य की रचनाओं के लिए प्रतीत होता है।

हिन्दी साहित्य कोश[१] के अनुसार निबन्ध का समानार्थी किन्तु अधिक व्यापक शब्द 'प्रबन्ध' है जिसका मूल अर्थ प्र + बन्ध (बाँधना) + अच् सन्दर्भ या ग्रन्थरचना है। इस आधार (कथाविषय) पर कल्पना से ग्रन्थरचना करना भी प्रबन्ध कहा जाता था। दूसरे शब्दों में परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय या कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता था। धीरे धीरे यह शब्द आख्यान या कथा के सम्यक् तारतम्य पर आधारित केवल काव्य के लिए प्रयोग में आने लगा और प्रबन्धकाव्य के लिए रूढ़ हो गया। उदाहरण के लिए वाल्मीकिय-रामायण प्रबन्ध-काव्य है। दण्डी का 'दशकुमारचरित' प्रबन्ध काव्यात्मक है। किन्तु आज 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' दोनों ही अपने मूल या रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते। 'प्रबन्ध' का प्रयोग आज उस गद्य-रचना के लिये होता है जिसमें लेखक किसी विषय का सांगोपांग व विस्तार के साथ अपनी भाषा-शैली में विवेचन करता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की टीका वाचस्पतिमिश्रविरचित 'भामती'[२] के अन्त में उपलब्ध श्लोक से दोनों शब्दों के अर्थसाम्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वविन्दुभिः,
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः।
समचैषं महत्पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया,
समर्पितमथैतेन प्रीयतां परमेश्वरः।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश-सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, संवत् २०१५, पृ० ४०७
२. 'भामती'-पृ० १०२०.२१, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१७।

भगवदमलानन्दविरचित 'वेदान्तकल्पतरु' नाम की भामती टीका में ऐसा अर्थ किया गया हैं—

न्यायकणिका विधिविवेकटीका, तत्त्वसमीक्षा ब्रह्मसिद्धिव्याख्या तत्त्वविन्दुर्भाट्टमताश्रयं स्वकृतं प्रकरणम्। न्यायस्य निबन्धो न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, तत्वकौमुदी सांख्यनिबन्धः सांख्यतत्वकौमुदीत्यर्थः योगनिबन्धनम् पातञ्जलभाष्यटीका तत्वशारदी। वेदान्तानां सर्वोपनिषदां निबन्धमियमेव भामती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'निबन्ध' शब्द विशेष तथा टीका विशेष का वाचक है। अस्तु 'निबन्ध' तथा 'प्रबन्ध' शब्द समानार्थक हैं, दोनों एकार्थक हैं। वैसे 'निबन्ध' तथा 'प्रबन्ध' दोनों के अर्थ में भेद भी प्रसिद्ध है। ११ वीं शताब्दी के बाद संस्कृत में टीकाओं, सूत्र, वृत्ति, भाष्य और समीक्षा के संग्रह के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग होने लगा था। 'निबन्ध' के साथ इसी अर्थ में प्रायः 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है, अन्तर कदाचित् यह है कि किसी एक विषय पर अनेक व्याख्याओं के संग्रह को निबन्ध तथा अनेक विषयों पर अनेक मतों के संग्रह को प्रबन्ध कहते हैं।[१]

तरुणवाचस्पति ने काव्यादर्श[२] में 'दशकुमारचरित' का, प्रबन्ध के उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है।

आप्टे महोदय ने 'प्रबन्ध' शब्द का अर्थ किया है 'कोई साहित्यिक कृति या रचना, मुख्य रूप से काव्यात्मक रचना या ग्रन्थ'।

'त्रयो दण्डिप्रबन्धाः' का अर्थ करते हुये डा० पी० वी० काणे तथा डा० वी० राधवन ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि दण्डी की तीन कृतियाँ या रचनाएँ (थ्री वर्क्स आफ दण्डिन्) विश्रुत हैं, न कि यह, दण्डी ने तीन ही ग्रन्थ लिखे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही विचारकों ने 'प्रबन्ध शब्द का अर्थ कोई भी ग्रन्थ, कृति या रचना मात्र स्वीकार करते हुये 'काव्यादर्श' को दण्डी की सुनिश्चित कृति माना है। 'प्रबन्ध' से यदि उनका अभिप्राय केवल काव्यात्मक ग्रन्थ (पोयटिक कम्पोजीशन) ही होता तो 'काव्यादर्श' को 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च' के आधार पर प्रबन्ध-त्रय के अन्तर्गत निर्विवाद रूप से स्थान न मिलता। इसके अतिरिक्त विश्वनाथकवि-

१. हिन्दी साहित्य कोश-प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।
२. काव्यादर्श-दण्डी १.२८ की टीका में द्रष्टव्य।

राजप्रणीत 'साहित्यदर्पण' की भूमिका में भी उपर्युक्त श्लोक के अर्थ का संकेत प्राप्त होता है[1] वहाँ भी दशकुमारचरित के साथ 'काव्यादर्श' भी प्रबन्धत्रय के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। महाकवि कालिदास, सुबन्धु, माघ तथा दण्डी प्रभृति कवियों की कृतियों में प्रायः 'प्रबन्ध' शब्द आया है—

प्रथितयशसां भासकविसौमिल्लकविमिश्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य

—मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।

अनुज्झितार्थसंबन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥१.७३॥

—माघ, शिशुपालबध।

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।

प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् ॥ १३ ॥

—सुबन्धु, वासवदत्ता।

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।

भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥ ३.३६४ ॥

—दण्डी, काव्यादर्श।

---

१. अथ—

त्रयोऽग्नयस्त्रयोवेदास्त्रयोदेवास्त्रयो गुणाः।

त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्चत्रिषुलोकेषु विश्रुताः॥ इति

सुभाषितहारावलीधृत-राजशेखरमहाकविश्लोकाद्दण्डिनोग्रन्थत्रयकर्तृत्वं सुप्रतीतम्। तत्र काव्यादर्शदशकुमारचरितेतावदतिरोहिते। तृतीयो ग्रन्थः क इति गवेषणायां छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चोनिरूपितः इति काव्यादर्शेन 'छन्दोविचितिरिवमालिनीसनाथा' इति सौबन्धवीय वासवदत्ताश्लेषेण 'छन्दोविचितिग्रन्थविशेषः' इति त्रिपाठिशिवरामप्रणीतया तट्टीकयाच छन्दोविचितिरेवेति। केचित्पुनश्छन्दोविचितिशब्दं यौगिकं मन्यन्ते। तथा च विचितिप्रस्तार इति फलति। अन्ये तु तृतीयं ग्रन्थं कलापरिच्छेदं कलयन्ते।

—आचार्यविश्वनाथप्रणीत 'साहित्यदर्पण' की भूमिका-महामहोपाध्याय श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी - पृ० ७०, चतुर्थ संस्करण, १९२२।

एकवाक्येप्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम्।

विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥ ३.१३१ ॥

—दण्डी, काव्यादर्श।

उपर्युक्त उद्धरणों में माघ के शिशुपाल-वध वाले श्लोक का अर्थ करते हुए टीका में 'प्रबन्ध' का अर्थ 'सन्दर्भ किया गया है।[१]

'वासवदत्ता' की टीका में 'प्रबन्ध' का अर्थ 'रचना' किया गया है[२]

दण्डी के 'काव्यादर्श' में 'प्रबन्ध' शब्द को महाकाव्य और नाटकादि के अर्थ में लिया गया है[३]

राजशेखर के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर 'प्रबन्ध' शब्द का अर्थ काव्यशास्त्र न होकर 'काव्यात्मक ग्रन्थ' पोयटिक कम्पोजीशन किया गया है और 'काव्यादर्श' को दण्डी की तीन कृतियों में अमान्य सिद्ध किया गया है।[४] श्लोक इस प्रकार है—

कालंजरपतिश्चक्रे भीमटः पंचनाटकीम्।

प्राप प्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम्॥

—सूक्तिमुक्तावली।

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है कि कालंजरपति भीमट ने पंचनाटकों की रचना की जिनमें स्वप्नदशानन सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध के रूप में सिद्ध हुआ। स्पष्ट है कि यहाँ 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया गया है उस दृष्टि से काव्य शास्त्र का अर्थ गृहीत नहीं होता किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि काव्यादर्श दण्डी की कृति नहीं है। काव्यादर्श दण्डी के आचार्यत्व को प्रमाणित करता है, शेष इतर तीन प्रबन्ध प्रमुख रूप से उनके कवि स्वरूप के द्योतक हैं।

---

१. अनुज्झितार्थसम्बन्धः पदार्थसङ्गतिर्यस्मिन्सप्रबन्धः सन्दर्भ...मल्लिनाथकृत शिशुपालवध की टीका।

२. एकेन पदेनानेकार्थाभिधानरूपस्तन्मयस्तत्प्रचुरो यः प्रबन्धो रचना तस्य विन्यासे निर्माणे...। वासवदत्ता। सुबन्धु।

३. प्रबन्धाः ते ते महाकाव्यनाटकाख्यायिकादयः...। व्याख्याकार आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, न्यायव्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८।

४. दशकुमारचरित की भूमिका—गनेश जनार्दन आगाशे, बी० ए० पृ०।

पिशेल महोदय ने काव्यादर्श तथा मृच्छकटिक के एक पद्य[१] के साम्य के आधार पर मृच्छकटिक को दण्डी की तीसरी रचना के रूप में स्वीकार किया। इस तरह दशकुमारचरित काव्यादर्श तथा मृच्छकटिक यह तीन ग्रन्थ दण्डी के पिशेल महोदय की दृष्टि में निश्चित हुए। किन्तु जिस पद्य के साम्य के आधार पर पिशेल का मत प्रतिष्ठित है उसकी उपलब्धि भास के दो नाटकों चारुदत्त १.१९ तथा बालचरित १.१५ में होने से उनका मत निःसार सिद्ध हो जाता है।[२]

इसके अतिरिक्त 'छन्दोविचिति', 'कलापरिच्छेद' 'द्विसंधान' तथा 'अवन्तिसुन्दरी कथा' प्रभृति रचनाओं को दण्डी विरचित बताया जाता है। डा० याकोबी ने 'छन्दोविचिति' को दण्डी की तीसरी कृति बताया है। 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद में गद्य, पद्य तथा मिश्र इन तीन काव्य भेदों का निरूपण करने के पश्चात् दण्डी ने वृत्त जाति आदि छन्दोभेद का सविस्तर विवेचन छन्दोविचिति नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है[३] ऐसा निर्देश किया है। इसी मत के आधार पर डा० जैकोबी का मत अवलम्बित है। इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख डा० पी० वी० काणे तथा पिटर्शन प्रभृति विचारकों ने किया है।[४] किन्तु यह भी मत निराधार सिद्ध किया जा चुका है। 'छन्दोविचिति' का उल्लेख दण्डी ने छन्दशास्त्र के लिए किया है और न कि उसका संकेत अपनी किसी अन्य कृति की ओर है। और 'इन्डियन ऐन्टीक्विरी'[५] में पी० वी० काणे का मत विशेष रूप से द्रष्टव्य है जिसमें यह निश्चय किया गया है कि 'छन्दोविचिति' नामक दण्डी की कोई भिन्न कृति नहीं है। 'वासवदत्ता'[६] सुबन्धु की कृति में भी छन्दोविचिति शब्द आया है उसका प्रयोग दण्डी की तीसरी कृति की ओर संकेत करने में नहीं है। 'छन्दःकल्प' एक शब्द है जिसका अर्थ है कल्पसूत्र तनुमध्या एक छन्द है।[७]

---

१. लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।—दण्डी, काव्यादर्श २.२२६।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स।—पी० वी० काणे, तृतीय संस्करण, पृ० ९३.९४।

३. छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपंचो निदर्शितः।—दण्डी, काव्यादर्श-१.१२।

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स-पी० वी० काणे, पृ० ९४ तथा इन्ट्रोडक्शन टू दशकुमारचरित-पिटर्शन, पृ० ५।

५. भाग ४०, १९११ पे० १७७.७८ में डा० पी० वी० काणे का लेख।

६. 'छन्दोविचितिमिवभ्राजमानतनुमध्याम्'-सुबन्धु, वासवदत्ता-पृ० २३५, हाल संस्क०।

७. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स-पी० वी० काणे, पृ० ९४।

दशकुमारचरित की भूमिका में पिटर्शन महोदय ने 'छन्दोविचित्यांसकल-स्तत्रपंचोप्रदर्शित:' पूरा पद्य उद्धृत करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'काव्यादर्श' में इस पंक्ति के अनुकूल छन्द:शास्त्र के नियमों का कोई विवेचन नहीं दिया है। अगर समुचित रीति से मैं इस पद्य की व्याख्या करूँ तो कहूँगा कि दण्डी एक ग्रन्थ की ओर संकेत कर रहे हैं जो कि उनकी ही कृति हो सकती है।[१]

'कलापरिच्छेद' को भी कुछ लोग दण्डी की कृति मानते हैं। किन्तु वह भी मत सर्वथा अमान्य और अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। ऐसा लगता है कि दण्डी ने' कला के विषय में एक अध्याय लिखा जो काव्यादर्श का ही एक अंश हो सकता है। कलापरिच्छेद दण्डी की तीसरी रचना नहीं हो सकती। प्रश्न उठता है कि 'काव्यादर्श' तथा 'दशकुमारचरित' दोनों के रचयिता एक ही दण्डी हैं या कोई अन्य ? 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'[२] की भूमिका तथा 'इन्डियन एन्टीक्विरी'[३] में मि० त्रिवेदी तथा मि० आगाशे का मत है कि काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते। दण्डी जो कि काव्य में अत्यल्प भी दोष का आना स्वीकार करते नहीं प्रतीत होते हैं वे दशकुमारचरित के रचयिता नहीं हो सकते[४] क्योंकि दण्डी जिन दोषों से रहित काव्य के स्वरूप का काव्यादर्श में निरूपण करते हैं उन सबका समावेश दशकुमारचरित में हुआ है। डा० काणे ने आगाशे महोदय के मत की ओर संकेत किया है—

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ॥

—दण्डी, काव्यादर्श-१.६३।

इन पंक्तियों से जहाँ एक ओर 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डी ग्राम्य भी दोष को काव्य में वर्ज्य बताते हैं वे ही दशकुमारचरित में उन्हीं दोषों का पालन

---

१. हिन्दी अनुवाद-इन्ट्रोडक्शन टू दशकुमारचरित, पृ० ७।

२. इन्ट्रोडक्शन टू प्रतापरुद्र०-मि० त्रिवेदी, पृ० ३१।

३. इन्डियन ऐन्टिक्विरी-मि० आगाशे सृ १९१५, पृ० ६७ तथा दशकुमारचरित की भूमिका, पृ० २५।

४. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।-दण्डी, काव्यादर्श

करते हुए प्रत्यक्ष रूप से अश्लील दोष तथा अभद्र ऐन्द्रिय सुख की ओर संकेत करें यह वस्तु अनुकूल नहीं प्रतीत होती ।

आगाशे प्रभृति विद्वानों के प्रस्तुत मत के विरुद्ध डा० पी० वी० काणे ने अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार 'उपदेश देना' और उसका पूर्णतया पालन भी करना इन दोनों में महान् अन्तर होता है जिसको प्रायः सभी समालोचक स्वीकार करते हैं । 'व्यक्तिविवेक' में महिमभट्ट का दूसरों में दोष निकालने की विधि का वर्णन आया है ।[१] उसी प्रकार क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचारचर्चा में भी अपने ही काव्य के दोषनिरीक्षण के सम्बन्ध में चर्चा हुई है ।[२]

यह भी हो सकता है कि 'दशकुमारचरित' दण्डी की पहली अवस्था युवावस्था की कृति रही हो, तथा 'काव्यादर्श' पूर्ण परिपक्वावस्था की कृति रही हो ।

डा० कीथ का भी मत इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है । 'तो भी हो सकता है कि 'छन्दोविचिति' और उसी प्रकार उल्लिखित 'कलापरिच्छेद' ये दोनों केवल दो परिच्छेद थे जिन्हें वे परिशिष्ट के रूप में काव्यादर्श में देना चाहते थे । काव्यादर्श और दशकुमारचरित तो दो रचनाएँ उनकी मानी जाती हैं, तीसरी रचना के संबंध में मतभेद है । काव्यादर्श और दशकुमारचरित दोनों एक ही कवि की कृतियाँ हैं, इस सम्बन्ध में भी कई आधारों पर सन्देह प्रकट किया गया है । ऐसा कहा गया है कि 'दशकुमारचरित' की भाषा की अशिष्टता तथा प्रायेण उपलब्ध अश्लीलता का 'काव्यादर्श' में उपलब्ध परिष्कार के प्रति आग्रह के साथ कोई सामंजस्य नहीं बैठता । साथ ही कुछ भाषा शैली की अरमणीयताओं को लेकर भी कहा गया है कि उनका एक अलंकार-शास्त्र के लेखक में पाया जाना असम्भव है । परन्तु इन दोनों युक्तियों में से किसी का भी कोई विशेष मूल्य नहीं है । उपदेश और व्यवहार में भेद प्रसिद्ध है । उसको छोड़कर भी यह पूर्णतया संभव है कि उपर्युक्त गद्यकाव्य दण्डी की युवावस्था की कृति रही हो जब कि काव्यादर्श की रचना उनके परिपक्व विचार का परिणाम है । व्याकरण की तथाकथित अशुद्धियों के सम्बन्ध में कहा

---

१. स्वकृतिस्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम् ।
वारयति भिषगपथ्यादितरान्स्वयमाचरन्नपितत् ॥—म० भट्ट-व्यक्तिवि० ।

२. औचित्यविचारचर्चा-क्षेमेन्द्र-कारिका २०,२१ ।

जा सकता है कि या तो वे अशुद्धियाँ ही नहीं हैं या तो वे इस प्रकार की हैं जैसी अन्य कवियों में भी पाई जाती हैं ।[१]

डा० एस० के० डे का मत इस विषय में उपर्युक्त मत के सर्वथा विपरीत है । उनके अनुसार 'काव्यादर्श' तथा 'दशकुमारचरित' दोनों ही कृतियाँ न तो अपरिपक्व विचारों के परिणाम हैं और न तो दोनों के लेखक भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं । 'दशकुमारचरित' में वर्णित भौगोलिक दशा सम्राट् हर्षवर्धन के पूर्वकाल की सिद्ध होती है और काव्यादर्श उसके बहुत बाद की कृति है । यह भी सत्य है कि दोनों ही रचनाओं का समय अज्ञात है, किन्तु 'काव्यादर्श' का समय प्रामाणिक रूप से यदि आठवीं शताब्दी माना जाता है तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि 'दशकुमारचरित' उसके पहले की कृति न हो । 'मृच्छकटिक' 'चतुर्भाणी' प्रभृति कृतियों की भाषा उसका स्वरूप तथा शैली में भी दशकुमारचरित से पर्याप्त साम्य पाया जाता है । 'दशकुमारचरित' बाणभट्ट की दो रचनाओं 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' से अपूर्णता का साम्य रखता है ।

इस तरह के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष प्रतीत होता है कि दोनों ही ग्रन्थों के रचयिता एक ही दण्डी हो सकते हैं और नहीं भी । दोनों ही पक्ष में मत भिन्न-भिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं । यह तो निश्चित है कि 'दशकुमारचरित' में 'सुबन्धु' तथा 'बाणभट्ट' की लम्बे-लम्बे वाक्यों वाली समस्त शैली का प्राय: अभाव पाया जाता है । किन्तु इसी आधार पर केवल गद्यकाव्य की दृष्टि से दशकुमारचरित में 'ओजसमासभूयस्तमेतद्गाद्यस्यजीवितं' के अनुसार दण्डी का उसके कर्तृत्व के विषय में संदेह असमीचीन प्रतीत होता है ।

'कवि' क्रान्तदर्शी होता है । उसकी मौलिक प्रतिभा द्वारा उसकी अमरलेखनी का समाश्रय पाकर नित्यनूतन विषय—समाज का स्वरूप, रीतियों, व्यवहार के तरीके, मानव की चित्तवृत्तियों, तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् का यथावत् अंकन दर्पण में आत्मस्वरूप की भाँति उसके काव्य में झलकता है । कवि लोकोत्तरवर्णनानिपुणं होता है । उसका काव्य सहृदयों की मन: प्रीति का विषय होता है । दण्डी ने यदि 'दशकुमारचरित' जैसे आख्यान ग्रन्थ को अपनी लेखनी का विषय बनाया हो तो 'काव्यादर्श' की तुलना में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए । भर्तृहरि,

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास-ए० वी० कीथ-भाषान्तरकार-डा० मंगलदेव शास्त्री१९५९, पृ० ३५१ ।

कालिदास, श्री हर्ष, जयदेव प्रभृति कवि यदि अश्लील नहीं हैं तो दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी भी अश्लील नहीं हैं । दण्डी का प्रतिपाद्य सर्वस्वरूपेण यथार्थ तथा समीचीन है, वह कभी अश्लील नहीं है । संस्कृत साहित्य में शैली का जो याथार्थ्य हमें दशकुमारचरित में परिलक्षित होता है वह छठीं, सातवीं शताब्दी के भारतीय सामाजिक अवस्था तथा संस्कृति का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है । 'कवि' जब सहृदय का जामा पहन कर वाङ्मय की त्रिविध शैलियों में विशेष रूप से कान्तासम्मित शैली के समुपदेश से सुसमन्वित सत्काव्य की सरसता का साक्षात् समुज्ज्वलन्त तथा गाम्भीर्य गर्भितनिदर्शन सहृदय पाठकों को देने का निश्चय कर लेता है तो उस समय कवि, मृदु किन्तु सद्भावों की उस कोटि तक पहुँच जाता है जहाँ तक उस रस-मर्मज्ञ-कवि हृदय को अपेक्षित सामग्री का साक्षात्कार न हो जाय । इस दृष्टि से महाकवि दण्डी ने कवि-सहृदयों की कोटि में आने पर अपनी लेखनी को ऐसी रचना के माध्यम से एक अद्भुत किन्तु यथार्थ मोड़ प्रदान किया तो वह सार्थक ही कहा जा सकता है, निरर्थक तथा तर्क-विरुद्ध कदापि नहीं । त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़ से प्रकाशित 'अवन्तिसुन्दरी' की भूमिका में उल्लिखित ठोस प्रमाण के आधार पर यह निश्चय किया गया है कि 'दशकुमारचरित' मूलभाग दण्डी की ही कृति है और उसका पूर्व भाग बाद का संवर्धन मात्र है । वहीं अनन्तशयन विश्वविद्यालय में ही प्राप्त पुस्तकालय की हस्तलिपि के आधार पर निर्णय दिया गया है कि जहाँ उच्छ्वास का अन्त होता है वहाँ दण्डी का नाम स्पष्ट रूप से उल्लिखित है । पेपरमनुस्क्रिप्ट नं० १४०३५ में निम्नलिखित पंक्ति की प्राप्ति की सूचना दी गई है[१] ।

'इति दण्डिनः कृतौ दशकुमारचरिते अपहारवर्मचरितं नाम द्वितीय उच्छ्वासः ।' दूसरे 'पामलीफमनुस्क्रिप्त नं० १०६३५ में पुनः दण्डी का नाम प्राप्त हुआ है ।'

'इति श्री दण्डिविरचिते दशकुमारचरिते प्रथम चरितम्' पुनः उसी स्थल पर यह भी स्पष्ट किया गया है कि संस्कृत की एक कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल की चर्चा' प्राप्त हुई है जिसमें दशकुमारचरित का कोई अंश उद्धृत किया गया है और 'अत्राहदण्डी' इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध हुआ है । दशकुमारचरित के कर्तृत्व के सम्बन्ध में यह भी एक ठोस प्रमाण के रूप में प्रतीत होता है । आज तक की

१. अवन्तिसुन्दरीकथा-आचार्य दण्डी-भूमिका के पृ० ३ में द्रष्टव्य ।

परम्परा भी क्रम से दण्डी को ही दशकुमारचरित के रचयिता के रूप में स्वीकार करती है।

अब प्रश्न उठता है कि दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा के रचयिता एक ही दण्डी हैं या ये दोनों कृतियाँ भिन्न-भिन्न लेखकों की लेखनी के परिणाम हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः मतैक्य का पूर्ण अभाव ही है। उपर्युक्त अनन्तशयन विश्वविद्यालय से निकली हुई 'अवन्तिसुन्दरी' की भूमिका (पृ० २) में यह स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि उस स्थल के पुस्तकालय में प्राप्त हस्तलिपि में दण्डी के नाम का स्पष्ट निर्देश हैं—

'इत्याचार्य दण्डिना कृता अवन्तिसुन्दरी समाप्ता।'[१]

कथा भाग में यह भी स्पष्ट रूप से देखा गया है कि दण्डी ने, अपने मित्रों द्वारा बाध्य किये जाने पर, इस कथा को सुनाया है।[२] प्रायः अधिकतर विद्वानों ने दशकुमारचरित के पूर्वभाग को अवन्तिसुन्दरी कथा के रूप में माना है। म० म० डा० वी० वी० मिराशी जी ने अपने वक्तव्य के अवसर पर दिनांक ८ अप्रैल, ६५ को यह बताया कि ऐतिहासिक सूचना की दृष्टि से 'अवन्तिसुन्दरी' एक उत्कृष्टरचना है। दशकुमारचरित अवन्तिसुन्दरी का सार कहा जा सकता है।

डा० एस० के० डे महोदय ने इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया है।[३] उनके मत का सारांश इस प्रकार है—

'दशकुमारचरित' बाणभट्ट की दो रचनाओं की तरह अपूर्ण है। उसका आरंभ भी अविश्वसनीय है। 'दशकुमारचरित' ग्रन्थ नाम से स्पष्ट होता है कि उसमें दशकुमारों का चरित वर्णित होना चाहिए। किन्तु पूर्व पीठिका तथा उत्तरपीठिका को छोड़कर केवल ८ ही कुमारों का चरित वर्णित है। शेष दो कुमारों की कथा को ग्रन्थ की पूर्णता की दृष्टि से उसमें परवर्ती कवियों ने जोड़ देने का प्रयास किया है।

---

१. अवन्तिसुन्दरी कथा-अचार्य दण्डी-भूमिका, पृ० २।

२. अवन्तिसुन्दरीकथा-आचार्य दण्डी-पृ० १७। स्वयं च प्राशितहविष्याशनःप्रशस्त_अस्ति चेत् कुतूहलमयमहं कथयामि। यतामः-

३. द्रष्टव्य-ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर-डा० एस० के० डे०, कलकत्ता १९५९, पृ० २६६ से ३०८।

'अवन्तिसुन्दरी' कथा की भाषा व शैली का स्वरूप स्पष्ट रूप से बाण की कादम्बरी से साम्य रखता है। दशकुमारचरित का लेखक उत्कृष्ट कोटि की वर्णन शैली से युक्त प्रतीत होता है। वहाँ किसी भी विषय का वर्णन अवन्तिसुन्दरी की तरह संकुचित नहीं है। दशकुमारचरित का रचयिता कभी भी अलंकृत शैली की ओर अधिक झुका हुआ नहीं प्रतीत होता जबकि अवन्तिसुन्दरी में वह इसके प्रयोग मे तत्पर दिखाई देता है। दशकुमारचरित के साथ अवन्तिसुन्दरी की शैली मेल नहीं खाती, दशकुमारचरित संस्कृतगद्यकाव्य की एक अनोखी तथा अपने ढंग की एक अनूठी रचना है। यह स्पष्ट है कि जो हमें दशकुमारचरित में सुलभ है वह 'अवन्तिसुन्दरी' में नहीं है। अवन्तिसुन्दरी कथा 'दशकुमारचरित' का खोया हुआ अंश कदापि नहीं हो सकता। रामकृष्णकवि जी कि यह घारणा की 'अवन्तिसुन्दरी' दशकुमारचरित का विनष्ट हुआ पूर्व भाग हो सकता है यह सर्वथा असमीचीन है ? इस प्रकार का कथन डा० डे० ने अपने मत की पुष्टि में दिया है और यथावसर प्रमाणों की भी कमी नहीं है।[१]

डा० वी० राघवन का भी मत इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'शृँगारप्रकाश' में एक एक ग्रन्थ पर विस्तार से अपना मत उपन्यस्त किया है। 'काव्यादर्श' को दण्डी की निःसन्दिग्ध रचना ये भी मानते हैं। 'दशकुमारचरित' का मूल भाग ही दण्डी की निर्विवाद रचना हो सकती हैं। और पूर्वभाग तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह नष्ट हो गया या खो गया। पूर्व पीठिका तथा उत्तरपीठिका दूसरे लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं। 'अवन्तिसुन्दरी' का ही आरम्भ तथा अन्त नष्ट हुआ था। दशकुमारचरित कै नाम से शेष ८ उच्छ्वास ही प्रसिद्ध हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि 'दशकुमारचरित' ग्रन्थ का नाम किसी भी अलंकारग्रन्थ तथा टीका में नहीं आया है।[२] इस प्रकार डा० राघवन के अनुसार 'अवन्तिसुन्दरीकथा' और काव्यादर्श दण्डी की निःसंदिग्ध रचनाएँ हैं। तीसरी कृति के सम्बन्ध में उनका मत बहुत कुछ ठोस और प्रामाणिक प्रतीत होता है जो भोज के शृंगार प्रकाश पर आधारित है—दण्डी की तृतीय रचना के सम्बन्ध में भोज के शृंगार प्रकाश से पर्याप्त सहायता मिली है और अन्य किसी स्रोत से हमें यह ज्ञात नहीं होता कि महाभारत

---

१. ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर-एस० के० डे।

२. शृङ्गारप्रकाश-भोजराजः डा० वी० राघवन, पृ०।

और रामायण की कथा का वर्णन करते हुए दण्डी ने 'द्विसंधान काव्य' का प्रणयन किया।[१]

वाक्य धर्मों के उदाहरण तथ उसकी परिभाषा के सन्दर्भ में भोज ने प्रबन्ध के उदाहरण में द्विसंधान का नाम लिया है—'प्रबन्धो यथा—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।

धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातोभरतपूर्वजः ॥

रामायणमहाभारतयोर्दण्डिद्विसंधानमिति।

—शृङ्गारप्रकाश, भाग-२, पृ० १६८-६९।

अन्त में—

'यह पद्य कदाचित् वस्तुनिर्देश के रूप में दण्डी के महाकाव्य का मंगल-श्लोक है।' इस प्रकार का निर्णय देते हुए डा० राघवन ने 'द्विसंधानकाव्य' को दण्डी की तृतीय रचना मानकर दण्डी द्वारा प्रणीत तीन ग्रन्थों की संख्या पूर्ण की है।

अन्ततः यह विषय इस रूप में विचारणीय प्रतीत होता है कि 'त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च' यह उक्ति राजशेखर की है अतएव राजशेखर की सम्मति में 'प्रबन्ध' शब्द का क्या अर्थ है, भलीभाँति समझ लिया जाय। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' मैं 'प्रबन्ध', 'निबन्ध', 'बन्ध', 'काव्यबन्ध', 'महाप्रबन्ध' शब्दों का प्रयोग किया है। कहीं तो 'प्रबन्ध' या 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग रचना सामान्य के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है और कहीं सुस्पष्ट रूप से काव्यग्रन्थ के लिए ही यह शब्द प्रयोग में आया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी 'ध्वन्यालोक': (तृतीय उद्योतः) में 'प्रबन्ध' की विशद विवेचना प्रस्तुत करते हुए मुक्तक काव्य से उसका स्पष्ट भेद प्रदर्शित किया है। समग्र रूप से वहाँ भी 'प्रबन्ध' का अभिप्राय केवल काव्यग्रन्थ ही है। न तो ऐसा विधान ही किया गया है और उससे: (प्रबन्ध से) रचना सामान्य का अर्थ स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध भी नहीं किया गया है। अस्तु दोनों ही आचार्यों के मतों पर विचार करना सम्यक् प्रतीत होता है।

---

१. वही, पृ०।

सर्वप्रथम, 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर की उक्ति है कि—'कवि के हृदय में ही रहने वाले उस काव्य से क्या लाभ, जिसकी रचनाओं (निबंधों) को आलोचकगण सर्वत्र न फैलावें।'

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धादिशोदश॥

—काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय।

इसके अतिरिक्त पुस्तकों के पन्नों पर लिखे हुए अनेक काव्य-बन्ध तो घर-घर में हैं किन्तु आलोचकों की हृदय-शिलाओं पर खुदे हुए काव्यबन्ध इने-गिने दो-तीन ही हैं—

सन्तिपुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्टनिकुट्टिताः॥

—काव्यमीसांसा, चतुर्थ अध्याय।

जो प्रकीर्ण रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर रचना करता है, किसी एक प्रबन्ध का निर्माण नहीं करता वह घटमान कवि है—

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः।

—काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय।

जो किसी एक महान् या पूर्ण प्रबन्धकाव्य के निर्माण में प्रवीण होता है वह महाकवि होता है—'योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः'-वही, पंचम अध्याय।

'जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में, भिन्न-भिन्न प्रबन्ध रचनाओं में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्रतापूर्वक रचना करने में समर्थ है वह कविराज कहा जाता है। ऐसे कविराज यदि संसार में हैं तो कुछ ही—

यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च
रसेस्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जंगत्यपिकतिपये।

— काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय।

पुनः नवम अध्याय में कवि ने मुक्तक और प्रबन्ध का भेद स्पष्ट करते हुए प्रत्येक को पाँच प्रकार का बतलाया है। मुक्तक के उदाहरणों में अमरु कवि के

'अमरुशतक' से तथा प्रबन्ध के उदाहरणों में 'मालती माधव' और कुमारसंभव से ही उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं। 'यह (काव्य) पुनः दो प्रकार का होता है— प्रबन्ध और मुक्तक। मुक्तक पाँच प्रकार के तथा प्रबन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं—शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानक-भू और आख्यानकवान्—

स: पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं

पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च।

इसके अतिरिक्त दशम अध्याय में भी 'प्रबन्ध' निबंध और महाप्रबन्ध आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है—

सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति निक्षेपो

विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता। त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेद हेतवः॥

—काव्यमीमांसा, दशम अध्याय।

कवि को चाहिए की वह अपना प्रबन्ध पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाने पर उसका अनेक साधनों द्वारा प्रचार करे। ऐसा कहा जाता है कि प्रबन्ध किसी के पास धरोहर रूप में रख देने से, बेंच देने से, दान कर देने से, देशत्याग कर देने से अल्पायु होने से, अपूर्ण रह जाने से अग्नि एवं जल आदि से विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ 'प्रबंध' शब्द का प्रयोग रचना सामान्य के लिए ही हुआ है। प्रसंगतः इसका अर्थ काव्य कृति ही है क्योंकि कवियों का ही प्रकरण चल रहा है। 'पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामि इति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।'—वही, दशम अ०।

'यथा यथाभियोगाश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः।

तथा तथा निबन्धानां तारतम्येन रम्यता॥'

—वही, दशम अध्याय।

इन पंक्तियों में भी क्रमशः प्रबन्ध और निबन्ध शब्द का प्रयोग किसी काव्य ग्रन्थ के ही लिए प्रतीत होता है क्योंकि रमणीयता का प्रश्न काव्य के ही विषय में उठता है। मुक्तक की रचना करने वाले कवि अनन्त हो सकते हैं, किसी एक विषय

पर भी कविता करने वाले कवि भी सैकड़ों हो सकते हैं। किन्तु महाप्रबन्ध की रचना करने वाले कवियों में एक, दो या तीन ही हो सकते हैं:—

मुक्तके कवयोऽनन्ताः संघाते कवयः शतम्।

महाप्रबन्धे तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रयः ॥

—वही, दशम अध्याय।

प्रस्तुत पद्य में 'महाप्रबन्ध' शब्द से कवि का अभिप्राय महाकाव्य से है। इसी प्रसंग में कवि ने अपने मत की पुष्टि में माघ के भी एक पद्य को उद्धृत किया है और अन्त में रचना सामान्य अथवा किसी भी विद्वान् कवि की कृति के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग करके विषय को समाप्त किया है—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।

अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धोदुरुदाहरः ॥

—माघ, शिशुपालवध का० मी० द० अ० में उद्धृत।

विद्वान् कवि को चाहिए कि वह सर्वप्रथम वैदर्भी आदि रीतियों को, ओज आदि गुणों को, शब्द, अर्थ और उनके पारस्परिकसम्बन्ध को भलीभाँति समझ कर प्राचीन सूक्तिकारों की शैली का अनुशीलन करने के पश्चात् काव्य या निबन्ध-विषय में प्रयत्न करे। ऐसा कौन है जो विना पोत यंत्र के समुद्र को पार कर सके—

रीतिं विचिन्त्य विगणय्य गुणान्विगाह्य

शब्दार्थसार्थमनुसृत्य च सूक्ति मुद्राः।

कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्नः

के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते ॥

—काव्यमीमांसा, दशम अध्याय।

ध्वन्यालोक में भी प्रबन्ध और मुक्तक का भेद सुस्पष्ट किया गया है। काव्य के प्रभेदों में महाकाव्य के लिए 'सर्गबन्ध' तथा नाटक के लिए 'अभिनेयार्थ' शब्दों के प्रयोग हुए हैं—

यतः काव्यस्य प्रभेदाः मुक्तकं संस्कृतप्राकृतअपभ्रंशनिबद्धम्...

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका कथेत्येवमादयः।

—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबंधाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।

—वही तृतीय उद्योत।

जिस प्रकार प्रबन्धों में सामग्री के संघटन से कवि को रसबन्ध (निर्माण) में अभिनिवेश (अनुराग) होता है उसी प्रकार मुक्तक मात्र में भी अतिशय प्रतिभाशाली कवि का रसबन्धविषयक अभिनिवेश होता है।

'यथा हि अमरुकस्य कवेर्मुक्तका: शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाना:

प्रसिद्धा एव'—जैसे अमरुक कवि का शृंगार रस को व्यंजित करने वाला 'मुक्तक' छोटा होने पर भी अधिक व्यंग्यार्थ के होने से महाप्रबन्ध की तरह प्रसिद्ध है।'

लोचनकार की दृष्टि से शृङ्गार रस का निस्यन्दन करने वाले मुक्तक भी प्रबन्ध के सदृश विख्यात हैं। आचार्य आनन्दवर्धन की पंक्तियों से प्रतीत होता है कि उन्होंने 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग काव्यग्रन्थ के लिए ही किया है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रबन्ध' शब्द से इनका अभिप्राय केवल काव्य कृतियों से ही रहा होगा न कि शास्त्रों से[१]।

निम्नलिखित पंक्तियों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

---

१. अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यंजकत्वे निबन्धनम्॥—ध्वन्यालोक ३.१४।
अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबंधेषु भासते सोऽपि केषुचित्॥—वही, ३.१५।
प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥—वही, ३.१७।
'नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥—ध्वन्यालोक, तृ० उ० १९वीं
कारिका के अंत में परिकर श्लोक।
प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गी कर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥—वही, ३.२१।
कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते॥-वही, ३.२३।

'रामायणादि प्रसिद्ध काव्यग्रन्थों में स्वेच्छाकारिता नहीं होनी चाहिए। कहा भी गया है कि वृत्तप्रपंच में कविगण अपनी इच्छानुसार वृत्तमार्ग का उल्लंघन नहीं करें। स्वेच्छया वर्णन करने पर भी इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए कि वृत्त रस का विरोधी न होने पाये। तेषु कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या--- रसविरोधिनी न योज्या।' (१४ वीं कारिका की वृत्ति)

प्रबन्धात्मक विषयों का रसाभिव्यंजकत्व के प्रति एक और भी कारण है कि इतिवृत्तवश यदि रसप्रतिकूल रचना उपस्थित हो जाय तो उसे छोड़कर मध्य में स्वकल्पित अर्थ की कल्पना कर अभीष्ट रसोचित कथा का उन्नयन करें—

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यंजकत्वे निबन्धनम्-इतिवृत्त-वशायातां कथंचिद् रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराऽभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः।

—तृ० उ०, १४ वीं कारिका की वृत्ति में द्रष्टव्य।

जिस प्रकार कालिदास के प्रबन्धों में, सर्वसेनविरचित हरिविजय में एवं प्रकृत कविकृत अर्जुनचरित महाकाव्य में—'यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनविरचितेहरिविजये। यथा च-मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये।'

प्रबन्ध का प्रणयन करते समय कवि को सर्वात्मना रसपरतन्त्र होना चाहिए। उस स्थिति में यदि इतिवृत्त में कहीं रस का विरोधी तत्त्व दृष्टिगत हो तो उसे दूर कर स्वतन्त्रतापूर्वक रसानुकूल कथान्तर का सन्निवेश करे—

कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेणभवितव्यम्। इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्, तां भङ्क्त्वाऽपि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्।

उपर्युक्त इन सभी स्थलों में प्रयुक्त 'प्रबन्ध' शब्द महाकाव्य और नाटकादि के लिए ही प्रतीत होता है। ध्वनिकार एवं राजशेखर के पूर्व महाकवि भट्टि ने भी भट्टिकाव्य के लिए 'प्रबन्ध' शब्द का ही प्रयोग किया है—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते॥

सुबन्धु ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपनी कथाकृति को भी 'प्रबन्ध' की ही संज्ञा प्रदान की है—'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् ।'

—वासवदत्ता श्लोक— ॥ १३ ॥

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि ने प्रबन्ध, निबन्ध, महाप्रबन्ध आदि में कोई मौलिक भेद नहीं माना है । अब प्रश्न उठता है कि दण्डी के वे तीन 'प्रबन्ध' कौन-कौन से हो सकते हैं जो कि तीनों लोकों में विश्रुत हैं और जिनके बल पर दण्डी भी अद्यावधि ख्याति प्राप्त हैं ? चिन्तकों एवं आलोचकों की दृष्टि में दण्डी का 'काव्यादर्श' अलंकार ग्रन्थ होते हुए भी तीन प्रबन्धों में से एक है, किन्तु उपर्युक्त तर्कशुद्ध प्रामाणिक विवेचना के आधार पर सुस्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि राजशेखर की अपनी उक्ति 'त्रयोदण्डि-प्रबन्धाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुताः' में प्रबन्ध शब्द से उनका अभिप्राय लक्ष्य ग्रन्थों या काव्यकृतियों से ही रहा होगा । राजशेखर ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त ही व्यक्ति को कवि की संज्ञा प्रदान करते हुए उसके तीन भेद प्रदर्शित किये हैं—शास्त्र, कवि, काव्यकवि, और उभयकवि अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनों में प्रवीण कवि उभयकवि दोनों विषयों में सिद्धहस्त होने के कारण वस्तुतः दोनों से श्रेष्ठ है ।[1] दण्डी का व्यक्तित्व उभय कवि का व्यक्तित्व था । उनमें वह प्रतिभा थी जो शब्दों के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलंकारों, उक्तरीतियों एवं अन्यान्य काव्यतत्त्वों को (कवि के हृदय मे) प्रतिभासित करती है । प्रतिभाशून्य व्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष भी पदार्थपुंज परोक्ष से प्रतीत होते हैं किन्तु प्रतिभासम्पन्न के लिए परोक्ष भी पदार्थ प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं ।[2] अतिशयविधान ही प्रतिभा का कार्य है ।[3] इस अतिशयविधान के कारण ही उन्ही पदविन्यासों और अर्थपुंजों में पूर्व-ज्ञात भी

---

१. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्चकविः कविरित्युच्यते ।
स च त्रिधा-शास्त्र कविः काव्यकविरुभयकविश्च ॥—राजशेखर, काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय ।

२. याशब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव ।—राजशेखर, काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय ।

३. प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किंचिदपूर्वमत्रास्ति ॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० १४३ ।

पदार्थ अत्यन्त नूतन प्रतीत होते हैं । संक्षेप में यह तो प्रतिभा के ही महत्त्व की बात हुई । व्युत्पत्ति का भी कवि के लिए प्रतिभा की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं है । प्राचीन आचार्यों ने बहुज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहा है । राजशेखर के अनुसार 'उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है ।[१] प्राय: सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में कवि में प्रतिभा और व्युत्पत्ति (शास्त्रज्ञान) दोनों का समावेश स्वीकार किया है । प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के मणिकांचन संयोग ने महाकवि दण्डी को संस्कृत के इतर कवियों की तुलना में अप्रतिम पद प्रदान किया है । कवि की सरस्वती दो दिशाओं का आश्रय लेती है—१-शास्त्र प्रतिपादन अथवा २- काव्यनिर्मिति । शास्त्रीय प्रतिपादन में कवि की प्रज्ञा एवं काव्य-प्रणयन में उसकी प्रतिभा उतरदायी होती है ।[२] किन्तु शास्त्र तथा काव्य दोनों के सहकृत प्रतिपादन में परमप्रवीण कोई अलौकिक ही व्यक्ति होगा जो कि उभय कवि का अप्रतिम पद अलंकृत कर सके । शास्त्र-प्रणयन में तत्त्वज्ञान एवं व्यवस्थित विश्लेषण या विवेचन की अपेक्षा होती है जबकि काव्य के निर्माण में मौलिक प्रतिभा एवं कवित्व शक्ति आवश्यक होती है । कवि की ख्याति का मुख्य आधार इसी लिए उसका काव्य होता है न कि शास्त्र । काव्यशास्त्रपरक ग्रन्थ उसके आचार्यत्व को ही प्रमाणित करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च' इस उक्ति का यथार्थ विवरण अभी तक नहीं हो पाया है । विभिन्न विद्वन्मनीषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं । ऐसी दशा में पुन: यही कहना समीचीन प्रतीत होता है कि कवि की वास्तविक कवित्वशक्ति, काव्यकला-कौशल एवं मौलिक सृजन का निकष उसका प्रबन्धकाव्य ही हो सकता है न कि पूर्वप्रतिपादित शास्त्रीय मान्यताओं के परिवेश में यत्किंचित् परिवर्तन या संवर्धन द्वारा प्रणीत शास्त्रपरक ग्रन्थ । प्रबन्ध काव्य के प्रणयन में अतीत एवं वर्तमान की प्रशस्त काव्यसरणि का आश्रय लेते हुए भी कवि की अलौकिक प्रतिभा तथा अभिनवकाव्यप्रतिपादनशैली अनिवार्य होती है ।

---

१. उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः'इति यायावरीयः ।—काव्यमीमांसा, पाँचवाँ अध्याय ।'

२. द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कवि कर्म च। प्रज्ञोपाज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥-पं० बलदेव उपाध्यायकृत भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम भाग पृष्ठ ४२१ पर उद्धृत ।

दण्डी के व्यक्तित्व में कवि और काव्याचार्य दोनों की विशेषताओं का समावेश है। 'काव्यादर्श' उनके उभयपक्षीय असाधारण व्यक्तित्व (सत्त्व) का ज्वलन्त प्रमाण है। इसके लक्षणों की रचना में शास्त्रकार की तत्त्वदृष्टि और उदाहरण-रचना में कवि की प्रतिभा सुस्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुई है किन्तु समग्र रूप से देखने पर 'काव्यादर्श' एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही सिद्ध होता है और इसी रूप में उसकी मान्यता भी रही है। अतएव दण्डी की महत्त्वपूर्ण कृति होते हुये भी उसे प्रबन्ध मानना समुचित नहीं है। अतएव उनके त्रिलोकविश्रुत इतर तीनों ग्रन्थों— 'दशकुमारचरित', 'अवन्तिसुन्दरीकथा', 'द्विसंधानकाव्य'— को ही प्रबंध के रूप में स्वीकार करना समीचीन है।

चतुर्थ अध्याय

दशकुमारचरित का कथानक और उसका औचित्य

दशकुमारचरित का आरम्भ वामनावतार भगवान विष्णु के चरणदण्ड की स्तुति के साथ होता है। पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका से संपुटित मूल ग्रन्थ ही दशकुमारचरित के नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वपीठिका-प्रथम उच्छ्वास

विश्व के समस्त देशों के वैभव की कसौटी मगध देश की राजधानी पुष्पपुरी है। इस नगरी में राजहंस नामका राजा हुआ। उसकी वसुमती नाम की सुन्दरमति वाली पत्नी थी। उस राजा के परम विनीत परम्परागत तीन मन्त्री हुए। उनमें से सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा, धर्मपाल के सुमन्त्र, सुमित्र और काम पाल तथा पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोभव नामके पुत्र उत्पन्न हुए। राजहंस मालवेश्वर मानसार पर आक्रमण करता है। अन्त में तपोबल से प्रभाव-सम्पन्न मानसार द्वारा युद्ध में परास्त होकर राजहंस जंगल में चला जाता है। वहीं उसे राजवाहन नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। उसी समय प्रमति, मित्र गुप्त, मन्त्रगुप्त, और विश्रुत का भी जन्म होता है। इन्हीं अमात्य पुत्रों कें साथ रहकर खेलता हुआ राजवाहन बड़ा होता है। कुछ समय के व्यतीत हो जाने पर किसी तापस ने, राजलक्षणों से युक्त नयनानन्दकारी सुकुमार कुमार को राजा को समर्पित करके महावन में कुश-समिधा आदि सामग्री हेतु भ्रमण करते हुएउसने एक रोती हुई स्त्री को देखा, उसने अपनी करुण कहानी को सुनाते हुए बताया कि मालवेश्वर तथा मगधराज के बीच युद्ध कें फलस्वरूप मैं और मेरी लड़की राजा के साथ न जा सकी। उसका बालक शबरों के हाथ लग गया, लड़की भी न जाने कहाँ चली गई। बाद में वह स्त्री 'मैं अकेली रह गई हूँ' ऐसा कहते हुए चली गई।

राजा के मित्र विदेहराज की आपत्ति से दुखी वह तापस एक दिन रमणीय चण्डिका मन्दिर में पहुँचकर देखा कि कुछ किरातों का समूह एक बालक की बलि देना चाहता था। इसे वृक्ष की शाखा में लटकाकर तलवार से काटा जाए, या बालू में गड्ढा बनाकर पैर बांध कर तीक्ष्णशरनिकरों से काटा जाए या कुक्कुरबालकों द्वारा कटवा कर मार डाला जाए-इत्यादि बातचीत करते हुए उन किरातों से अपनी असहायावस्था का विवरण देते हुए उसने कहा कि बालक को कहीं छाया में छोड़कर मार्गान्विषणतत्पर मैं कहीं अन्यत्र चला गया। अन्त में उस द्विजोत्तम से प्रभावित उन किरातों ने उस बच्चे को उसे दे दिया। शिशिरोदकादि उपचारों से उस बालक को आश्वस्त करके राजा के अंक में समर्पित कर दिया। राजवाहन की ही भाँति उसे अपना प्रिय समझ कर राजा ने उसका पालन-पोषण किया और उपहार वर्मा नाम रखा।

तीर्थस्थान के लिए जाते हुए राजा ने एक स्त्री की गोद में अनुपम कुमार को देख कर कुतूहल से आकुल होकर उससे पूछा-भामिनि ! राजगुणों से सुसम्पन्न बालक यह तुम्हें कहाँ मिला। 'लज्जा तथा विनम्रता के साथ उसने उत्तर दिया,' राजन् ! शबर सैनिकों से प्राप्त मेरे पतिदेव द्वारा यह मुझे मिला है। 'राजा ने किसी तरह बालक को उससे लेकर उसका नाम अपहार वर्मा रखकर रानी को पालन-पोषण करने के लिए दे दिया।

पुन: रामतीर्थ में स्नान करके लौटते समय वामदेव के शिष्य सोमदेव शर्मा ने मार्ग में नाव दुर्घटना से बची हुई मगधराज के मन्त्री रत्नोद्भव की पत्नी सुवृत्ता से वन में उत्पन्न् एक बालक को अंक में लेकर उसे बैठी देख कर पूछा-तुम कौन हो और इस बालक को लेकर बन में क्यों घूम रही हो ? वृद्धा ने कहा कि वन में सुवृत्ता को अचेत समझकर उसके पास इस बच्चे को छोड़ना उचित न समझ कर मैंने इसे ग्रहण किया है और अब मैं नगर जाने का मार्ग ढूँढ़ती हूँ।

इतने में एक हाथी के भय से वह वृद्धा भाग गई, बालक को उसी स्थल पर छोड़ दिया। बालक को हाथी ने पकड़ लिया और सिंह के भय से उसके द्वारा उछालने पर वृक्ष की शाखा पर बैठे एक बन्दर के हाथ बच्चा चला गया। उसे फल समझ कर बन्दर ने लिया था, बाद में फल न देख कर बन्दर ने एक मोटी डाल पर रख दिया। अन्त में लता-कुञ्ज से निकलकर उस स्त्री को भी ढूँढ़ने पर भी न पाकर गुरू की आज्ञा से मैं सोमदेव इसे आपके पास लाया हूँ। अन्त में सभी मित्रों की

दुर्दशा पर पश्चात्ताप करते हुए राजा ने बालक का पुष्पोद्भव नाम रखकर सुश्रुत, जो उसका भाई था, उसे सौंप दिया।

कुछ दिन के पश्चात् एक मणिभद्र नाम के यक्ष की पुत्री तारावली जो राजा राजहंस के अमात्य धर्मपाल के पुत्र कामपाल की स्त्री थी उसके द्वारा एक बालक रानी वसुमतीको मिला। उसने बच्चे को राजा के समक्ष प्रस्तुत करते हुए बालक की प्राप्ति के वृत्तान्त को सुनाया। राजा ने अपने मन्त्री सुमन्त्र को बुलाकर उस बच्चे को दे दिया। उसका नाम अर्थपाल रखा गया।

वामदेव के आश्रम में उनके एक शिष्य ने राजतीर्थ में स्नान करने के लिए जाते समय अपने अंक में एक बालक लिए हुए किसी वृद्ध स्त्री को देखा। शिष्य के उसके वन में आने का कारण पूछने पर वृद्धा ने उत्तर दिया-हे ब्राह्मणपुत्र ! राजहंस के मन्त्री सितवर्मा के पुत्र सत्यवर्मा ने तीर्थयात्रा की इच्छा से देशान्तर में काली नामकी एक ब्राह्मण-पुत्री से विवाह किया। उससे सन्तानोत्पत्ति न होने पर उसकी बहन गौरी से विवाह कर लिया। उससे एक लड़का उत्पन्न होने पर उसकी बड़ी बहन काली ने ईर्ष्या वश किसी बहाने से बालक समेत मुझे नदी के समीप लाकर धक्का दिया। वैसी असहायावस्था में बालक के सहित तैरती हुई उसे नदी की धारा में बहते हुए वृक्ष पर बैठे हुए सर्प ने काट लिया। किनारे लगने पर विष के प्रभाव से उसकी दुर्दशा को देख कर तथा अन्त में उसकी मृत्यु हो जाने पर राजा ने मन्त्री की सन्तान समझ कर उसने उस बालक को स्वीकार कर, सोमदत्त नाम से उसे अभिहित करके सुमति को दे दिया। अपने भाई की सन्तान को भाई की तरह मानते हुए वह बहुत अधिक प्रसन्न हुआ।

इस तरह दैवयोग से सभी (१०) बच्चे एकत्र हो गए। राजवाहन इन सब के साथ खेलता हुआ हर तरह के वाहन की सवारी करने में निपुणता को प्राप्त हुआ। क्रमश: चौल तथ उपनयन आदि सुसंस्कारों से सम्पन्न होकर षडंगवेद, काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, चित्रकथा, पुराण, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा, तर्क, कौटिल्य और कामन्दकीयशास्त्र की निपुणता, वीणा आदि सभी वाद्यों की जानकारी, संगीत, साहित्य में अभिरुचि, मणिमंत्र औषधि आदि के ज्ञान प्राप्ति में ख्याति प्राप्त कर सभी शस्त्र प्रयोग की जानकारी, द्यूतक्रीड़ा चौर्यशास्त्र आदि विद्याओं में निरालस्य परिपक्व हो गया।

सभी कुमारों के सहित राजवाहन को आचार्यों से विद्याध्ययन करता हुआ और उसको यौवनसुसम्पन्न देखकर राजहंस को आनन्दानुभूति होने लगी।

पू० पी० द्वितीय उच्छ्वास

एक दिन वामदेव राजा राजहंस के यहाँ पहुँच कर कामदेव का संशय उत्पन्न करने वाले राजपुत्र राजवाहन को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ। भ्रमर-सदृश काले केश वाले सभी कुमारों ने उसके चरणकमलों पर शिर झुकाया, वामदेव ने सस्नेह आलिंगन करते हुए उन कुमारों को आशीर्वाद दिया और राजहंस को अपने पुत्र राजवाहन को इन कुमारों के साथ दिग्विजय के लिए प्रेषित करने की प्रेरणा प्रदान की।

कामदेव के सदृश सौन्दर्यवाले, रामादि के सदृश पौरुष वाले उन सुकुमारों के साथ राजहंस ने राजवाहन को समुचित उपदेश देकर शुभ मुहूर्त में दिग्विजय के लिऐ भेज दिया।

विंध्याटवी में पहुँचकर राजवाहन मातंग नाम के ब्राह्मण से मिला। उसने राजवाहन का आतिथ्य-सत्कार किया। थोड़ी देर के पश्चात् राजवाहन ने, किरातों की तरह कार्य करने के फलस्वरूप शरीर के आघात-चिन्हों से युक्त उस ब्राह्मण से जंगली जानवरों के लिए अनुकूल निर्जन तथा सघन जंगल में परिभ्रमण करने का कारण पूछा। मातंग ने इस विन्ध्याटवी में तमाम पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणों का परिचय देते हुए उन सबके स्वामी पुलिन्द का नाम बताया और कहा कि उन्हीं कुत्सित ब्राह्मणों में से किसी एक का निन्दित चरित्र वाला पुत्र मैं भी हूँ। मेरा नाम मातंग है। किरातों के साथ मैं भी जनपदों में जाकर अमीरों को यहाँ ले आकर उनका धन छीन लेता था। इसी बीच में ब्राह्मण की हत्या के विरुद्ध दयाभाव प्रदर्शित करने पर मैं उन किरातों द्वारा मारा गया। यमपुरी में पहुँच कर देहधारी पुरुषों द्वारा घिरे हुए सभा के बीच रत्न-जटित सिंहासन पर बैठे हुए यमराज को मैने प्रणाम किया। उसने भी मुझे देख कर चित्रगुप्त नाम के अपने अमात्य को बुलाकर उससे कहा—सचिव ! अभी इसका मृत्यु का समय नहीं है। निन्दित चरित वाला होते हुए भी महीसुर के निमित्त इसका प्राणान्त हुआ है। अभी इसकी अभिरुचि पुण्यकर्मों की ओर उदित होगी। पापियों द्वारा भोगी जाने वाली यातनाओं को दिखा कर पूर्व शरीर में ही इसे पुन: भेज दो।

चित्रगुप्त ने नरक की यातनाओं को भलीभाँति मातंग को दिखा कर उसे पुण्यबुद्धि का सदुपदेश देकर पुन: पूर्व शरीर में उसे छोड़ दिया । उसके पुन: देहधारी होने पर जिस ब्राह्मण की उसने हत्या रोकी थी उसी ने शीतोपचार आदि के द्वारा उसकी रक्षा की । इसके पश्चात् उसके वंशीय बन्धुगणों ने आकर उसे घर ले जाकर, व्रणों से अपक्रान्त किया । वह कृतज्ञ ब्राह्मण इसे अक्षरशिक्षा, विविध आगम के सिद्धान्त, पाप विनाशक सदाचार तथा ज्ञानचक्षु से प्राप्त करने योग्य शशिखण्डशेखर के पूजाविधान का उपदेश देकर इसकी भेंट सहित चला गया । उसी दिन से किरात बन्धुओं को छोड़ कर समस्त लोक के एकमात्र कारण भगवान शिव का चित्त में स्मरण करता हुआ निष्कलंक होकर मैं इस वन में रहता हूँ । हे देव आपसे एकान्त में बताने योग्य कुछ रहस्य है अत: इधर आइए—राजवाहन को वयस्यवर्ग से अलग ले जाकर उसने [अपने] दण्डकारण्य के मध्य से जाने वाली, नदी तट पर स्फटिकलिंग के पीछे भगवती की पदपंक्ति से चिह्नित पाषाण के समीप विद्यमान एक बिल में से ब्रह्मा के शासन पत्र की तरह ताम्रशासन को लेकर पाताल लोक का अधीश्वर बनने के वृत्तान्त को सुनाया । उस मातंग की सहायता करने के लिए अपने [राजवाहन] निद्रा-परतन्त्र मित्रगण को छोड़ कर उसके साथ दूसरे वन में चला गया । इसके अनन्तर प्रात:काल मित्रवर्ग राजवाहन को न देख कर उसकी खोज में पुनर्मिलन का स्थान निश्चित करके देशान्तर को चला गया । संसार के एकमात्र वीर कुमार द्वारा रक्षित सन्तुष्ट हृदय वाले मातंग ने शिवनिर्दिष्टलक्षणोपेत ताम्रशासन को निर्भीक होकर बिल में घुस कर ग्रहण किया और अन्त में रसातल में जाकर राजवाहन के देखते-देखते समुद्दीप्त अग्नि में अपने पुण्यगेह देह की आहुति देकर विद्युत् की तरह कान्तिमयी शरीर को प्राप्त किया । थोड़ी देर बाद कलहंसगामिनी समस्त लोक की ललनाओं में सर्वोत्तम एक कन्या ने आकर उस ब्राह्मण को एक चमकीला मणिखण्ड प्रदान किया और मातंग के द्वारा पूछे जाने पर कोकिल के सदृश मधुर स्वर में धीरे-धीरे बोलती हुई अपने को कालिन्दी नाम की असुरराज की लड़की बताया । अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् परम कृपालु किसी सिद्ध तापस के द्वारा, दिव्यदेहधारी नवयुवक को पति रूप में प्राप्त करने का उसे आशीर्वाद मिला था । फलत: मातंग ने रसातल की राजलक्ष्मी को स्वीकार करके राजवाहन की अनुमति से उस तरुणी कालिन्दी के साथ विवाह किया । इस तरह दिव्यांगना की प्राप्ति से मातंग परमानन्दित हुआ । उस लोक से राजवाहन के लौटते समय कालिन्दी ने भूख, प्यास आदि क्लेशों को दूर करने में समर्थ एक मणि उसे

दिया । भूमण्डल पर अपने मित्रगणों को न पाकर राजवाहन इधर-उधर भ्रमण करने लगा । इस तरह घूमता हुआ, एक दिन विशालापुरी के समीप अपनी रमणी तथा आप्तजनों के साथ उद्यान में आये हुए अपने मित्र सोमदत्त को पाकर राजवाहन परम प्रसन्न हुआ, और साथ में आये हुए परिजनों तथा रमणी के सम्बन्ध में पूछना प्रारम्भ किया । सोमदत्त भी मित्रलाभ के कारण चिन्ताजन्य स्वर से रहित होकर विनम्रतापूर्वक अपनी आपबीती सुनाने लगा ।

पू० पी० तृतीय उच्छ्वास

अपने मित्र राजवाहन के चरणकमलों की सेवा का अभिलाषी, भूख और प्यास से व्याकुल वन में धूमते हुए सोमदत्त ने एक दिन एक शुभ्र रत्न प्राप्त किया । कुछ दूर आगे चलने पर उसी वन में ही स्थित किसी देव मन्दिर में पहुँच कर कई बालकों को साथ लिए हुए एक दीन तथा वृद्ध ब्राह्मण को देखा और उसका कुशल पूछा । दीन ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि वह मातृहीन बालकों के सहित भिक्षा माँगकर अपना जीवन निर्वाह करता हुआ उसी देवमन्दिर में रहा करता था ।

समीप में ही वर्तमान सेना को देख कर सोमदत्त ने उस ब्राह्मण से सेनाधिपति का देश, नाम और आगमन का कारण पूछा । महीसुर ने उत्तर दिया—लाट देश के राजा मत्तकाल ने यहाँ के स्वामी वीरकेतु की पुत्री से विवाह करने की इच्छा व्यक्त की । वीरकेतु के वैसा न करने पर मत्तकाल ने उसका नगर घेर लिया । भयभीत वीरकेतु ने मत्तकाल को अपनी कन्या दे दी । कन्या के सहित अपने नगर को लौटते समय शिकार खेलने की इच्छा से वह वन में रुक गया । वीरकेतु की आज्ञा से उसका मन्त्री मानपाल भी अपनी सेना सहित अपने स्वामी के सम्मान की सुरक्षा के लिए तैयार हो गया ।

इसके अनन्तर सोमदत्त ने उस ब्राह्मण को अत्यन्त दीन, वृद्ध तथा विद्वान् समझ कर रत्न को जिसे वन में पड़ा हुआ उसने पाया था दे दिया । रत्न प्राप्ति से प्रसन्नचित्त होकर उस ब्राह्मण ने सोमदत्त को आशीर्वाद दिया । उधर वीरकेतु के मन्त्री मानपाल की आज्ञा से उसके सेवक लाटाधिपति मत्तकाल को मार डालने की इच्छा से सुरंग बनाकर रात्रि में उसके घर में प्रविष्ट हुए । राजा मत्तकाल को घर में न पाकर उसका बहुत सा धन चुरा लेने के कारण मानपाल के सभी सेवक लाटेश्वर के सिपाहियों द्वारा कारागार में डाल दिए गए थे । चुराया हुआ समस्त धन वापस मिलने पर उसमें एक बहुमूल्य रत्न के न होने से चोरों को मृत्यु दण्ड की आज्ञा हुई

थी । इधर ब्राह्मण द्वारा आशीर्वाद प्राप्ति के अनन्तर, सोमदत्त गहरी निद्रा में सो गया था । थोड़ी देर पश्चात् जगने पर उसने देखा कि वह वृद्ध ब्राह्मण सिपाहियों द्वारा बाँध लिया गया है, उसका शरीर चाबुक के आघात से चिह्नित है । ऐसी अवस्था वाले उस ब्राह्मण ने सोमदत्त को चोर बताया । इसके बाद उन सिपाहियों ने उस बाह्मण को छोड़कर सोमदत्त को भी रस्सी से बाँध कर कारागार में डाल दिया । वहाँ सोमदत्त ने उपर्युक्त चोरी का वृत्तान्त सुनकर निश्चय किया कि जो रत्न उसे वन में पड़ा हुआ मिला था, वह वही रत्न था जिसके न मिलने पर लाटाधिपति द्वारा इन बन्दियों को मृत्यु दण्ड की आज्ञा के साथ बन्दी बनाया गया है । सोमदत्त ने उन चोरों से मित्रता कर ली और रात्रि में उन सबके बन्धन खोल कर, स्वत: भी उन चोरों द्वारा बन्धनमुक्त होकर, पहरेदारों के सो जाने पर उनके शस्त्रों को लेकर नगर से सिपाहियों का अपने प्रबल पराक्रम से सामना करता हुआ मानपाल के शिविर में जा पहुँचा । मानपाल ने उस समय सोमदत्त के पराक्रम की सराहना की । दूसरे दिन मत्तकाल द्वारा भेजे गए राजपुरुषों द्वारा युद्ध की सूचना पाकर मानपाल अपने सैनिकों सहित युद्ध करने को तैयार हो गया । सोमदत्त भी ससम्मान दिए गए रथ, कवच, धनुष बाण आदि लड़ाई के योग्य विविध अस्त्र-शस्त्रों के सहित मन्त्री मानपाल के साथ ही युद्धस्थल में आ गया । युद्ध में अपना पराक्रम प्रदर्शित करते हुए, मत्तकाल के रथ के समीप पहुँच कर सोमदत्त ने उसका सिर काट लिया । युद्ध में मत्तकाल का वध सुनकर वीरकेतु बड़ा प्रसन्न हुआ । अपने अमात्यों तथा बन्धुओं से सलाह लेकर वीरकेतु ने अपनी कन्या बालचन्द्रिका का विवाह सोमदत्त के साथ कर दिया साथ ही युवराजपद भी उसको प्रदान कर दिया । उसके पश्चात् अपने मित्रों से मिलने की अभिलाषा से श्री शिवजी की आराधना करने के लिए अपनी स्त्री तथा परिजनों के सहित वन में चला गया । इस तरह वहाँ वन में राजवाहन का उसे दर्शन हुआ ।

उपर्युक्त वृत्तान्त को सुन कर राजवाहन ने भी उसके पराक्रम की भूरिभूरि प्रशंसा की । उसी समय पुष्पोद्भव भी वहीं आ गया । राजवाहन ने उसका सत्कार किया । अन्त में मातंग ब्राह्मण की रक्षा के लिए अपने प्रस्थान के लिए राजवाहन ने अपने मित्रों से क्षमा याचना की और पुष्पोद्भव से उसके अकेले चले जाने के सम्बंध में तथा अपने सम्बन्ध में समस्त वृत्तान्त को सुनाने के लिए कहा । पुष्पोद्भव राजवाहन की आज्ञा से अत्यन्त विनीत भाव से अपना वृत्तान्त कहने लगा ।

पू० पी० चतुर्थ उच्छ्वास

राजवाहन को ब्राह्मण मातंग का उपकार करने के लिए गया हुआ समझ कर भी, किन्तु यह न जान कर कि वह किस ओर चला गया, इसलिए उसी की खोज में पुष्पोद्भव आदि सभी मित्र अलग-अलग होकर निकल पड़े। पुष्पोद्भव राजवाहन की खोज में पृथ्वी पर घूमता हुआ एक दिन पर्वत के किनारे शीतल छाया वाले वृक्ष के नीचे विश्राम करने की इच्छा से रुक गया। वहाँ शोक से आक्रान्त किसी पुरुष को पर्वत से नीचे की ओर गिरता हुआ देख कर दया से विह्वल पुष्पोद्भव ने उसे अवलम्बन दिया और उससे पर्वत के नीचे कूद पड़ने का कारण पूछा।

रोते हुए उस पुरुष ने उत्तर दिया—वह मगध देश के राजमन्त्री पद्मोद्भव का पुत्र रत्नोद्भव था। व्यापार करने की इच्छा से वह कालयवनद्वीप में चला गया था। वहीं पर एक वणिक् कन्या से उसका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् अपने देश को वापस लौटते समय रास्ते में उसका जहाज एक चट्टान से टकरा कर टूट गया और केवल इस पुरुष को छोड़कर शेष सभी डूब गए। अन्त में पत्नी वियोग से दुःखी होकर एक सिद्ध तपस्वी की मन्त्रणा से सोलह वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् अपने दुःख का अन्त न देख कर पर्वत से नीचे कूदने का निश्चय किया। इतने में उसे एक स्त्री का रुदन सुनाई पड़ा। वह जलती हुई अग्नि में कूदने को तैयार थी और साथ में एक और भी स्त्री थी। उसे आग में गिरने से रोक कर, दोनों को साथ लेकर उस पुरुष के पास पुनः गया और उसे अपने पिता के रूप में देख कर पहचान लिया। आग में कूदने का कारण पूछने पर उस स्त्री ने जहाज की दुर्घटना का वृत्तान्त कह सुनाया और यह भी बताया कि उसके साथ की कन्या कालयवनद्वीप के एक वैश्य की पुत्री थी और अपने पति रत्नोद्भव से वियुक्त होने पर एक सिद्ध तपस्वी की आज्ञा से १६ वर्ष किसी तरह इसने भी बिताया था। सिद्ध पुरुष ने यह भी कहा था कि १६ वर्ष के पश्चात् उसके पति और पुत्र दोनों की उपलब्धि हो जाएगी। जहाज के डूब जाने पर वह किसी तरह किनारे लगी थी। उसके अनन्तर ही जंगल में उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसे हाथी उठा ले गया। १६ वर्ष पूर्ण हो जाने पर अपने पति और पुत्र की उपलब्धि न देख कर वह आग में जल कर प्राण त्याग देने के लिए उद्यत हुई थी। यह समस्त समाचार सुनने के पश्चात् पुष्पोद्भव ने अच्छी तरह निश्चय कर लिया कि ये दोनों हमारे माता-पिता हैं। इसके अनन्तर

उसने अपनी सारी बातें उनसे बता कर और उनके स्नेह से विह्वल होकर वह एक वृक्ष की शीतल छाया में उनके साथ बैठ गया।

पुनः वहाँ से उठ कर इन दोनों माता-पिता को एक मुनि के आश्रम में छोड़ कर राजवाहन की खोज में निकल पड़ा। साधना की युक्तियों से विन्ध्य-पर्वत के पुरातन खण्डहरों से सिद्धाञ्जन द्वारा, विविध प्रकार के खजानों की सूचना देने वाले वृक्षों के नीचे जमीन में पड़े हुए धन से परिपूर्ण कलशों को उसने प्राप्त दूसरी वस्तुओं को ढोने के बहाने से सब धन इन्हीं जानवरों पर लाद कर धीरे-धीरे बनियों के शिविर में पहुँचा। वहाँ उसने चन्द्रपाल नामके वैश्य से मैत्री कर ली और उसी के साथ उज्जयिनी चला गया। वहाँ के राजा मालवनाथ की आज्ञा से पुष्पोद्भव उसी नगर में रहने लगा। अपने मातापिता को भी वहीं साथ ले गया। मालवनाथ की आज्ञा से, सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल में मित्र (राजवाहन) की खोज का कार्य असम्भव समझ कर समय की प्रतीक्षा करने लगा। धीरे-धीरे समय बीतने पर किसी दिन पुष्पोद्भव ने मालवनाथ की मूर्तिमती लक्ष्मी के समान परम सुन्दरी तरुणीरत्न बालचन्द्रिका को देखा। दोनों की आसक्ति एक-दूसरे के प्रति इतनी अधिक हो गई कि एक के अभाव में दूसरे का जीवित रहना असंभव सा हो गया। एक दिन अत्यन्त उदासीनवदना बालचन्द्रिका को एक सरोवर के तट पर एकान्त में बैठी हुई देख कर उसकी दीनता का कारण पूछा। लज्जा तथा भय का परित्याग करके उसने बताया कि मालवाधीश मानसार ने अपने वार्धक्य के कारण राज्यकार्य संचालन में अपने को असमर्थ देख कर अपने लड़के दर्पसार का उज्जयिनी में अभिषेक कर दिया है। दर्पसार यह भार अपनी बुआ के दो उद्दण्ड लड़कों चण्डवर्मा और दारुवर्मा को सौंप कर तपस्या करने के लिए हिमालय चला गया। चण्डवर्मा के राज्यकार्य संचालन आरम्भ करने पर कन्या के साथ पाप करने के दोष की परवाह न करने वाले दारुवर्मा ने एक दिन बालचन्द्रिका के साथ बलपूर्वक रमण करना चाहा। यही उसकी दीनता और चिन्ता का कारण है। पुष्पोद्भव उसे अपनी ओर आसक्त जान कर तथा दारुवर्मा को अपने प्रयोजन-सिद्धि में विघ्न समझ कर उसे मारने का उपाय सोचने लगा।

फलतः उसने बालचन्द्रिका को यह सुझाव दिया कि वह सर्वत्र इस बात का प्रचार करे कि उसके सिर पर कोई यक्ष रहता है। एक सिद्ध पुरुष की आज्ञा है कि जो कोई साहसी और सुयोग्य पुरुष, रतिमन्दिर में अपनी सखी के साथ विद्यमान

बालचन्द्रिका के ऊपर रहने वाले यक्ष को जीत कर तथा उसके [बाल-चन्द्रिका के] वचनामृत से सुख का अनुभव करता हुआ सकुशल लौट आवे उसी के साथ उसका विवाह हो सकता है। बालचन्द्रिका ने वैसा ही किया। अन्त में बालचन्द्रिका के साथ, अलंकारों एवं वस्त्रों से सुसज्जित उसकी सखी के रूप में पुष्पोद्भव भी रति-मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। यक्ष की अफवाह चारों ओर फैल चुकी थी। इसलिए दारुवर्मा के घर पर कौतूहल वश बड़ी भीड़ थी। रति-मन्दिर में दारुवर्मा ने दोनों का बड़ा सत्कार किया। अतिशय रागान्ध होने के कारण जब उसने बालचन्द्रिका का आलिंगन करना चाहा उसी समय पुष्पोद्भव ने उसे पलँग से नीचे गिरा कर निर्दयतापूर्वक मारना प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात् घर में अत्यंत कोलाहल होने पर पुष्पोद्भव धीरे से वहाँ से निकल कर बालचन्द्रिका के साथ अपने घर चला आया। उसी के साथ अपना विवाह करके सुख पूर्वक रहने लगा। अन्त में अपने मित्र चन्द्रपाल के पिता बन्धुपाल के बताए गए शकुन के अनुसार उसे राजकुमार राजवाहन का दर्शन हुआ और पृथ्वी पर स्वर्ग के समान सुन्दर अवन्तिका पुरी में उनका अच्छी तरह परिचय देकर उसने अपने विशाल भवन में ही उनको स्नान भोजन आदि की सुविधायें प्रदान कीं।

पू० पी० पञ्चम उच्छ्वास

तत्पश्चात् रसिक जनों के मन को उल्लसित करने वाले वसन्त समय में मानसार-नन्दिनी अवन्तिसुन्दरी अपनी प्रियसखी बालचन्द्रिका के साथ विहार करने की इच्छा से एक दिन नगर के समीपवर्ती रम्योद्यान में आई और वहाँ विविध प्रकार की सुगन्धित सामग्री से उसने कामदेव का पूजन किया। उसी समय प्राकृतिक सौन्दर्य के वैभव से आह्लादित चित्तवाले वे दोनों पुष्पोद्भव और राजवाहन अवन्तिसुन्दरी के समीप पहुँचे। बालचन्द्रिका के यह कहने पर कि 'निश्चिन्त होकर चले आइए'[१] राजवाहन अवन्तिसुन्दरी के समीप उपस्थित हुआ। मूर्तिमान कन्दर्प के सदृश सुन्दर राजवाहन को देख कर काम के वशीभूत होती हुई, मन्द पवन से स्पन्दित लता की तरह अवन्तिसुन्दरी काँपने लगी। दोनों एक दूसरे के अपूर्व लावण्य पर मुग्ध हो गए। अवन्तिसुन्दरी के मन में राजकुमार का परिचय जानने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। बालचन्द्रिका ने दोनों की अन्तरंगवृत्ति को भलीभाँति

---

१. 'निःशंकमित आगम्यताम्' दशकुमारचरित-पू० पी०, पञ्चम उच्छ्वास।

समझ कर राजकुमार का परिचय देते हुए अवन्तिसुन्दरी द्वारा उसकी पूजा कराई। राजवाहन ने सोचा कि अवश्य ही यह पूतात्मा मेरी पूर्वजन्म की पत्नी है, यदि ऐसा न होता तो मेरे हृदय में इस प्रकार का अनुराग न उत्पन्न होता।[१] इतने में उसी स्थल पर एक रमणीय हंस दिखाई पड़ा जिसे पकड़ने के लिए बालचन्द्रिका चली गई। वार्तालाप करने का यथोचित अवसर पाकर राजवाहन ने अवन्तिसुन्दरी को, शाप समाप्ति के अवसर पर एक तपोनिधि द्वारा पूर्वजन्म की बातों को याद रहने के लिए दिए गए आशीर्वाद का ध्यान कराया। प्राचीन समय में शाम्ब नाम के राजा अपनी प्रियतमा के साथ विहार करते हुए किसी सरोवर के तट पर एक राजहंस को पकड़ कर उसके पैरों को मृणाल में बाँध दिए। फलत: उसने राजा को पत्नी के विरह-जन्य सन्ताप से दुखी होने का शाप दिया। तत्पश्चात् राजा के विनय करने पर जन्मान्तर में भी उन्हें, पति-पत्नी रूप में पुनर्मिलन तथा तज्जन्य दो मास तक के वियोग के दु:ख को भोगने का वचन देकर पूर्वजन्म की बातों की स्मृति का आशीर्वाद भी दिया। इस प्रकार राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी को स्मरण हुआ कि इस जन्म में भी हम दोनों शरीरान्तर से पूर्वजन्म के ही शाम्ब और यज्ञवती हैं। दोनों एक दूसरे को पहचान लेने के अनन्तर काम के वशीभूत हो गए। इसी समय में अवन्तिसुन्दरी की जननी अपने परिजनों के साथ अपनी प्रिय पुत्री की क्रीड़ा को देखने के अभिप्राय से उस उद्यान में आई। अवन्तिसुन्दरी बारबार अनुराग भरे नेत्रों से पीछे मुड़ कर राजवाहन को देखती हुई अपनी माता के साथ घर चली गई। घर पहुँच कर राजवाहन के विरहजन्य शोक से व्याकुल वह चन्दन-जल से अभिषिक्त सुकोमल पुष्पों तथा पत्तों की शय्या पर करवटें लिया करती थी। सखियों द्वारा भलीभाँति किया हुआ शीतोपचार भी उसके लिए निरर्थक ही होता था। अवन्तिसुन्दरी की इस प्रकार शोचनीय दशा देख कर उसके समस्त मनोभावों को बालचन्द्रिका ने समझ लिया और एक मात्र राजवाहन की प्राप्ति ही परम औषधि रूप में निश्चय करके उन्हें ले आने का उपाय सोचने लगी। अवन्तिसुन्दरी ने राजकुमार के लिए एक पत्र लिखा कर दिया और वह पत्र बालचन्द्रिका ने ले जाकर राजवाहन को दिया। राजवाहन ने पत्र को पढ़ कर उनके मनोरथ को पूर्ण करने का वचन दिया। विश्वस्तहृदया बालचन्द्रिका वापस चली गई। अब राजकुमार की भी दशा अति

---

१. नूनमेषा पूर्वजन्मनि मे जाया यज्ञवती, नो चेदेतस्यामेवंविधोऽनुरागो मन्मनसि न जायेत।-दशकुमारचरित, पञ्चम उच्छ्वास।

विचित्र हो गई। कामपीड़ा से व्यथित हो कर उद्यान में भ्रमण करते हुए विद्येश्वर नाम के पण्डित से राजकुमार का साक्षात्कार हुआ। परिचय के समय पुष्पोद्‌भव ने उसे इन्द्रजाल विद्या का पण्डित समझ कर राजकुमार के मनोभावों को व्यक्त करते हुए दोनों राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी को मिला देने का उपाय पूछा। विद्येश्वर ने कहा कि, 'हे देव ! आप किसी सखी द्वारा उस राजकन्या अवन्तिसुन्दरी से यह वृत्तान्त कुछ समय पहले ही कहला दें कि मैं इन्द्रजाल की विद्या द्वारा मालवाधिपति महाराज मानसार को मुग्ध कर पुरवासियों के समक्ष तुम्हारे साथ विवाह करके तुम्हें अपने राजमहल में ले आऊँगा।' उसकी यह बात सुनकर राजवाहन बहुत प्रसन्न हुए। अवन्तिसुन्दरी की सखी बालचन्द्रिका द्वारा उपर्युक्त वृत्तान्त राजा ने उसके पास भेजा और अन्त में विद्येश्वर की ऐन्द्रजालिक विद्या द्वारा सभी भयभीत हो गए। उसने दोनों के वैवाहिक खेल के माध्यम से उनका विवाह करा दिया और अवन्तिसुन्दरी अपनी प्रिय सखियों और स्वामी के साथ अन्तःपुर में चली गई। इस प्रकार दैव और भाग्य दोनों की सहायता से अपना अभीष्ट सिद्ध हो जाने पर अपनी सरस और सुमधुर चेष्टाओं से धीरे-धीरे उस मृगनयनी का भय एवं संकोच दूर करते हुए राजकुमार ने उसे चौदहों भुवनों का वृत्तान्त सुनाया।

इस प्रकार दशकुमारचरित की पूर्व पीठिका का अन्त होता है।

इसके आगे ८ उच्छ्वास वाले दशकुमारचरित के मूलभाग का आरम्भ होता है जो निर्विवाद रूप से दण्डीविरचित माना जाता है।

प्रथम उच्छ्वास

राजवाहन द्वारा चौदहों भुवनों का वृत्तान्त सुनकर अवन्तिसुन्दरी ने अपनी श्रोत्रवृत्ति को चरितार्थ समझा, अपने प्रियतम के चरणों की सेवा का फल सफल माना। धीरे-धीरे अन्तःपुर के सुखों का अनुभव करते हुए दोनों सो गए और स्वप्न में एक वृद्ध हंस देखा जिसके पैर मृणालतन्तु से बँधे हुए थे। जगने पर राजकुमार ने देखा कि उसके दोनों पैर चाँदी की शृंखला से जकड़े हुए हैं। राजवाहन की ऐसी दशा को देख कर अवन्तिसुन्दरी व्याकुल होकर चीख उठी। उसकी दुःखपूर्ण आवाज़ को सुन कर अन्तःपुर में बहुत से लोग आ गए। यह समाचार चण्डवर्मा को मिला। उसने अन्तःपुर की दशा देखी और विविधप्रकार से राजवाहन की निन्दा करते हुए अवन्तिसुन्दरी को भी अपमानित करते हुए धमकियाँ दीं। अन्त में राजकुमार के हाथ को पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया। पुरुषार्थी राजवाहन ने

सहिष्णुता को ही एकमात्र उपाय समझ कर अपने को चण्डवर्मा के हाथ में सौंप दिया। राज-कुमारी को वृद्ध हंस की बात का स्मरण दिलाते हुए उसने दो महीने तक धैर्य धारण करने का आश्वासन दिया। चण्डवर्मा ने पुष्पोद्भव का भी सर्वस्व छीन कर उसे कारागार में डाल दिया। राजवाहन को भी काष्ठनिर्मित पिंजड़े में बंद करवा दिया। राजा सिंह वर्मा को समूल विनष्ट कर देने की इच्छा से चण्डवर्मा ने उस पर आक्रमण किया और उसकी चम्पा नगरी को घेर लिया। अन्त में उसे जीत कर बन्दी बना लिया और उसकी कन्या अम्बालिका से विवाह कर लिया। इसके अनन्तर महाराज दर्पसार का दूत आकर के उसके सन्देश को सुनाते हुए कहा कि, 'राजकन्या के अन्तःपुर को दूषित करने पर क्या कोई कृपा का अवसर शेष रह जाता है ? शीघ्र ही उसके [राजवाहन के] वध की सूचना से हमको आनन्दित करने के लिए दूत भेजो और उस दुष्ट कन्या (अवन्तिसुन्दरी) के साथ उसके छोटे भाई कीर्तिसार को कारागार में बन्द कर देना चाहिए।' सुनते ही चण्डवर्मा ने दूसरे दिन प्रातःकाल राजद्वार पर राजवाहन को हाथियों से कुचलवा कर मार डालने की योजना बनाई। नौकरों द्वारा राजद्वार पर राजवाहन के उपस्थित किए जाने पर उसके पैरों में बँधी हुई चाँदी की जंजीर स्वतः खुल गई और स्त्री रूप में प्रकट होकर उसने नम्रभाव से समस्त रहस्य को बताया। यह सुरतमंजरी नाम की सुरसुन्दरी अप्सरा थी। महर्षि मार्कण्डेय के शाप से वह शृंखला रूप में परिवर्तित हो गई थी। इक्ष्वाकुवंशी राजा वेगवान के पौत्र, मानसवेग के पुत्र वीरशेखर ने कैलाशपर्वत पर उसे पड़ी हुई देख कर अपने पास रख लिया था। वीरशेखर और उसके पिता दोनों में विद्रोह उपस्थित होने पर वीरशेखर दर्पसार से मिला और अपनी सहायता के बदले में अवन्ति-सुन्दरी का उसके साथ विवाह करने का वचन दिया। दर्पसार एक दिन अपनी मनोभिलषित प्रियतमा अवन्तिसुन्दरी से मिलने की आकाँक्षा से उसके राजभवन में गया। वहाँ उसने उसे राजवाहन के साथ सोई हुई देख कर क्रोध से आग बबूला हो गया, और कोई अन्य उपाय न देख कर उसी जंजीर से राजवाहन के पैरों को बाँध कर वहाँ से चला गया।

महर्षि मार्कण्डेय के शाप के अनुसार दो मास की अवधि समाप्त हो जाने पर उस सुरसुन्दरी को पुनः अपना स्वरूप मिल गया। उसने विनम्र भाव से राजकुमार की सेवा करने का आग्रह किया, राजकुमार ने इस वृत्तान्त से अपनी प्रियतमा अवन्तिसुन्दरी को आश्वासन देने का आदेश देकर उसे विदा किया।

उसके पश्चात् क्षणभर में ही 'चण्डवर्मा मार डाला गया' यह ध्वनि सुनाई पड़ी। राजा सिंहवर्मा की पुत्री अम्बालिका का पाणिग्रहण करते समय ही अपहारवर्मा ने उसका प्राणान्त कर दिया। सुनते ही राजवाहन वहाँ पहुँच कर उसे अपने हाथी पर बैठा कर वहाँ से दूर निकल गया। रास्ते में कर्णिकारकुसुम के सदृश सुकोमल तथा तेजस्वी कुमार धनमित्र मिला। उसे देख कर अपहारवर्मा प्रसन्न हुआ। अपहारवर्मा ने नगर के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे गंगा की तरंगों से पवित्र बालुका के चबूतरे का निर्माण किया जिस पर राजवाहन सुख से बैठे। बैठने के अनन्तर उपहारवर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मैथिल, प्रहारवर्मा, काशीपति, कामपाल, चम्पापति सिंहवर्मा आदि के साथ आकर धनमित्र ने राजकुमार राजवाहन को प्रणाम किया। राजवाहन ने सहर्ष अपने सभी मित्रों का स्वागत किया, अपना, सोमदत्त तथा पुष्पोद्भव का वृत्तान्त सुनाकर क्रम से सभी मित्रों से अपना-अपना समाचार कहने के लिए प्रस्ताव किया। उनमें से अपहार वर्मा ने सर्वप्रथम अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया।

द्वितीय उच्छ्वास

राजवाहन को मातंग ब्राह्मण के उपकार के लिये पाताल लोक में गया हुआ देख कर अपहार वर्मा उसी की खोज में अंग देश चम्पा नगरी के आस-पास विचरण करता हुआ गंगा तट पर महर्षि मरीचि के आश्रम में पहुँचा। महर्षि मरीचि को विना पहचाने हुए अपहार वर्मा ने उन्हीं ऋषि से अपने मित्र राजवाहन के खोजने का उपाय पूछा। ऋषि ने कहा 'शीघ्र ही मेरी आत्मा आपकी कार्यसिद्धि में क्षम होगी।' मरीचि ऋषि ने सर्वप्रथम काममंजरी नाम की वेश्या द्वारा ठग लिए जाने की आत्मकथा सुनायी। किसी समय काममंजरी तथा उससे द्वेष रखने वाली एक वेश्या में शर्त मान्य हुई थी कि दोनों में से जो महर्षि मरीचि को अपनी सौंदर्य-सम्पत्ति से मुग्ध कर उन पर विजय प्राप्त कर लेगी, दूसरी उसकी दासी बन कर रहेगी।

ऐहिक (सांसारिक) सुख की निन्दा करते हुए उसने आमुष्मिक (पारलौकिक) सुख की प्राप्ति के लिए ऋषि की शरण ली। अपनी माता तथा परिवार के अन्य लोगों द्वारा सफल प्रयास किये जाने पर भी वह आश्रम से लौट कर नहीं गई। ऋषि मरीचि ने भी वनवास को समस्त दुःखों की खान के रूप में बताते हुए उसे घर वापस चली जाने के लिए प्रेरित किया किन्तु काममंजरी उन्हीं के आश्रम में रह कर पूजा के लिए पुष्पों का चयन करती, विविध प्रकार के उपचार एकत्र करती, श्री शिव जी

की पूजा की साम्रगी—गन्ध, माला, धूप, दीप आदि की व्यवस्था करती और धीरे धीरे धर्मार्थ काम तथा आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करती हुई स्वल्प समय में ही उन्हें अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट किया कि उसके अभाव में मुनि जी का रहना असंभव हो गया।

अन्त में ऋषि ने काममंजरी से अर्थ और काम के स्वरूप, परिवार और फल की चर्चा सुनने के अनन्तर अपने सभी नियमों का परित्याग कर दिया। काममंजरी उन्हें रथ से अपने विशाल भवन में ले गयी। दूसरे दिन कामी पुरुषों की वेश-भूषा में ऋषि मदनोत्सव में काममंजरी के साथ उपस्थित हुए। इन्हें देखते ही समस्त राजदरबार ने काममंजरी की बड़ी प्रशंसा की और दूसरी वेश्या ने काममंजरी के दासीत्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर काममंजरी ने ऋषि मरीचि को पुनः आश्रम लौट जाने के लिए कहा। ऋषि मरीचि की वज्र से आहत की सी दशा हुई। काममंजरी के द्वारा की गई अवज्ञा तथा तिरस्कार से ऋषि को पूर्ण वैराग्य मिला।

मरीचि की इस दशा को सुनने के पश्चात् अपहारवर्मा ने वहीं पर उनके साथ रात बितायी। प्रातःकाल नगर के समीप एक दीन बौद्ध-भिक्षु को देख कर शोक का कारण पूछा। यह दीन भिक्षु भी उसी काममंजरी द्वारा ठगा हुआ चम्पानगरी के सेठ निधिपालित का ज्येष्ठ पुत्र था। विरूपक की आत्मकथा को सुन कर अपहार वर्मा को महान् कष्ट हुआ और उसको काममंजरी द्वारा समस्त धन वापस कराने का आश्वासन दे कर उसने चौर्यशास्त्र के प्रवर्तक कर्णीसुत के विहित मार्ग का अनुसरण करने का संकल्प किया।

सर्वप्रथम द्यूत-सभा में प्रविष्ट होकर द्यूतक्रीडाकौशल को प्राप्त किया। जुआड़ियों से मित्रता भी कर लिया। उस समय द्यूत सभा के अध्यक्ष भी हुआ करते थे। द्यूताध्यक्ष की आज्ञा से द्यूतक्रीडा में भाग लेकर अपहारवर्मा ने सोलह हजार अशर्फियाँ जीत लिया। उसमें से आधा द्यूताध्यक्ष तथा उसका आधा सभ्य पुरुषों को दे दिया।

अंधेरा हो जाने पर नीले रंग का अर्धोरुक (लबादा) धारण कर, कमर मे अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार, सेंध लगाने का औजार (शबरी) तथा कैंची, रस्सी इत्यादि समस्त चौर्यसाधनों से सुसज्जित होकर नगर के एक लोभी सेठ के घर में सेंध लगाई। झरोखे के सूक्ष्म छिद्र से घर की भीतरी स्थिति का भलीभाँति अध्ययन

कर के अन्दर घुस गया और वहाँ से एक बहुमूल्य करधनी को चुराकर बाहर चला गया। वहाँ से आगे बढ़ने पर रास्ते में वैश्यवर्ग कुबेरदत्त की कन्या मिली जो अर्थपति के साथ विवाह के भय से अपने प्रियतम धनमित्र के घर रात्रि ही में जा रही थी। उसने अपहारवर्मा को एक भाण्ड प्रदान किया।

रास्ते में उन दोनों को सशस्त्र नागरिकों का एक झुण्ड मिला। अपहारवर्मा ने उस युवती को धैर्य धारण करने का उपदेश दिया और अपने को उन सबके समक्ष मरा हुआ दर्शाया। नागरिकों के पूछने पर युवती स्त्री ने उसे सर्प का काटा हुआ बताया और उसको मंत्रादि के द्वारा जीवित करने के लिए प्रार्थना की। उन लोगों ने उसमें सभी मरणचिन्हों को देख कर उसे वहीं छोड़ दिया और उस स्त्री से 'विधि के विधान का अतिक्रमण कौन कर सकता है?' ऐसा कह कर वे आगे बढ़ गये। उन नागरिकों के चले जाने पर अपहारवर्मा उठा और उस युवती को उसके प्रियतम उदारक के पास पहुँचा कर उसके सभी आभूषण उसको दे दिया। अपनी प्रियतमा को पाकर उदारक अतीव प्रसन्न हुआ और अपहारवर्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त किया। धनमित्र का ही दूसरा नाम उदारक था।

इसके अनन्तर दोनों ने उस युवती को उसके घर पहुँचा कर उसी के माध्यम से उसके घर के अवशिष्ट धन को चुरा लिया। वहाँ से चलने पर मार्ग में एक मतवाला हाथी मिला उसी की सहायता से अर्थपति का भवन भी नष्ट कर दिया। प्रातःकाल नगर में पहुँचकर यह सुना कि अर्थपति और कुबेरदत्त की कन्या का विवाह सुनिश्चित हो गया। यह विषय इन दोनों धनमित्र और अपहारवर्मा के लिए नितान्त चिन्ताजनक हो गया। अपहारवर्मा ने अपनी चातुरी से चर्मरत्नभस्त्रिका के माध्यम से कुबेरदत्त और अर्थपति में विद्रोह उत्पन्न कर के धनमित्र और कुबेरदत्त की उसी कन्या कुलपालिका का विवाह करा दिया। इन्हीं दिनों काममंजरी की छोटी बहन रागमंजरी ने अपने कटाक्षों से अपहारवर्मा को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अपहारवर्मा ने अपने बुद्धिबल से चर्मरत्नभस्त्रिका को काममंजरी को देकर उसके बदले में गुणशुल्का रागमंजरी के कर-किसलयों को ग्रहण किया। इसी समय, राजदरबार में चर्मरत्नभस्त्रिका की चौर्यवार्ता का आरम्भ हुआ। अर्थपति राजदरबार में बुलाया गया। अपहारवर्मा के गुप्तचर विमर्दक के न मिलने पर अर्थपति ने ही उसके अपराध को स्वीकार कर लिया। फलतः राजा की ओर से अर्थपति को बेड़ी पहना दी गई। उन्हीं दिनों में चर्मरत्नभस्त्रिका को दुहनेवाली कौममंजरी जो पहले

बौद्धभिक्षुक विरूपक का धन ले चुकी थी उसे वापस कर दिया। धीरे-धीरे काममंजरी अपने अभ्युदय के लिए चर्मरत्नमस्त्रिका को दुहने की इच्छा से सब धन दानकर के अत्यन्त निर्धन हो गई। अपहारवर्मा की आज्ञा से धनमित्र ने राजा को यह सूचना दी कि काममंजरी ने ही चर्मरत्नभस्त्रिका को चुराया है। उधर अपहारवर्मा ने अपनी वाक् चातुरी से काममंजरी को राजदरबार में अपना नाम बतलाने से इसलिए रोक दिया कि वैसा करने पर उसकी बहन रागमंजरी जीवित न रह सकेगी। ऐसी स्थिति में राजा के सामने काममंजरी ने अर्थपति का ही नाम बताया और अर्थपति के लिए प्राणदण्ड की आज्ञा हुई। पुनः धनमित्र की प्रार्थना पर राजा ने उसे प्राणदण्ड से मुक्त कर उसका सर्वस्व अपहरण कर राज्य से निर्वासित कर दिया। अर्थपति के प्राणों की रक्षा करने के कारण धनमित्र का और भी यश फैल गया। अर्थपति के ही धन का कुछ अंश काममंजरी को दे दिया गया और अपहार वर्मा ने शेष समस्त धन से रागमंजरी का भवन भर दिया। अपहारवर्मा ने चौर्यकौशल से सम्पूर्ण नगर को निर्धन बना दिया। एक दिन रागमंजरी के प्रणयकोप को शान्त करने की इच्छा से अमृतगण्डूष का प्रेमपूर्वक पान करने से वह मदोन्मत्त हो गया। उन्मत्तावस्था में शृगालिका नाम की दूती द्वारा अनुगम्यमान होता हुआ नागरिक पुरुषों द्वारा पकड़ लिया गया। इस अवस्था में उसने अपने मित्र धनमित्र तथा रागमंजरी की सुरक्षा के लिए अपनी कूटनीति का जाल फैलानां आरम्भ कर दिया। शृगालिका द्वारा धनमित्र को यह सन्देश भेज दिया कि वह अंगराज से इस प्रकार निवेदन करे कि राजा की ही कृपा से पहले भी उसे (धनमित्र को) वह चर्मरत्नभस्त्रिका मिली थी। सखा भाव के कारण अपहार वर्मा ने मुझ धनमित्र पर रागमंजरी के प्रति प्रणय की आशंका कर चर्मरत्नभस्त्रिका तथा रागमंजरी के आभूषणों की पेटी को चुरा लिया। अतः वह चर्मरत्नभस्त्रिका अपहारवर्मा से प्रदान करा दिया जाए।

इसी समय कारागृह का अध्यक्ष कान्तक अंगराज की कन्या अम्बालिका पर आसक्त हो चुका था। शृगालिका द्वारा कहे जाने पर उसने अंगराज के घर से सेंध लगाने तथा उसे अपहारवर्मा को मार डालने के विचार से कान्तक ने उसकी बेड़ियाँ खोल दीं और जेल से मुक्त कर दिया गया। अपहारवर्मा ने कुछ दूर तक दीवाल में खुदाई करके सेंध लगा दी और जिस कारागृहाध्यक्ष कान्तक ने उसे जेल से मुक्त किया था, उसने ज्यों ही अपहारवर्मा को बाँधने के लिये हाथ बढ़ाया त्योंही उसके सिर को काट लिया। शृगालिका द्वारा अम्बालिका के अन्तःपुर का मार्ग पूछ कर वह भीतर प्रविष्ट हुआ और अन्तःपुर की शोभा को देख कर चोरी की इच्छा

समूल नष्ट हो गयी। अन्तःपुर में, खूंटी में लटकते हुए काष्ठफलक को लेकर उसमें राजकुमारी का चित्र बनाकर उसके पैरों के नीचे हाथ जोड़े हुए के रूप में अपना भी चित्र बना दिया और एक आर्यावृत्त भी लिख दिया जिसमें राजकुमारी के साथ रमण करने का पूरा भाव व्यक्त था। कुछ समय के पश्चात् अंगूठी का आदान प्रदान करके अपहारवर्मा उसी सुरंग मार्ग से बाहर आया और नगररक्षकों द्वारा पकड़ लिया गया। उनसे मुक्त होकर वह चिरविरहजन्य खेद से विह्वल रागमंजरी तथा धनमित्र से मिला। इसके अनन्तर ऋषि मरीचि से भी मिलकर राजवाहन का समाचार प्राप्त किया। उधर चण्डवर्मा विवाह करने की इच्छा से सिंहवर्मा को युद्ध में पराजित करके उसकी पुत्री अम्बालिका को बलात् अपने अन्तःपुर में उठा ले गया था। वहाँ पहुँच कर अपहारवर्मा चण्डवर्मा का प्राणान्त करके उस राजकुमारी के आलिंगन सुख का अनुभव करता हुआ रति-गृह में ज्योंही प्रवेश कर रहा था कि तत्काल ही नूतनमेघ के गर्जन के सदृश राजवाहन के गम्भीर स्वर को सुना। सुनते ही राजवाहन से मिल कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तदनन्तर राजवाहन ने अपहार वर्मा की 'आपने अपनी कठोरता से कर्णीसुत स्तेयशास्त्र प्रवर्तक को भी अतिक्रांत कर दिया' इन शब्दों से प्रशंसा करते हुए सामने उपस्थित उपहारवर्मा से अपना चरित सुनाने के लिये कहा।

तृतीय उच्छ्वास

अब उपहारवर्मा ने अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया।

किसी समय पर्यटन करता हुआ उपहारवर्मा विदेहपुरी में पहुँचा। वहाँ किसी वृद्धा ने रोते हुये उससे बताया कि मगधराज राजहंस तथा विदेह स्वामी प्रहारवर्मा में पर्याप्त मैत्री थी। राजहंस और मालवेन्द्र में युद्ध आरम्भ होने पर प्रहार वर्मा उसकी सहायता के लिए गया। लौटते समय अरण्यवासियों ने उसका सर्वस्व लूट लिया। उसका एक छोटा पुत्र उस वृद्धा के हाथों लगा जो भील के बालकों द्वारा अपहृत कर लिया गया। प्रहारवर्मा का पूरा राज्य उसके बड़े भाई के पुत्रों के अधिकार में चला गया। वृद्धा ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए विकटवर्मा के अत्याचार को सुनाया। उसकी दीनदशा को सुनकर उपहारवर्मा ने कहा ज़िस पुत्र के लिए वह इतना दुःखी थी वह यही उपहारवर्मा ही था। प्रियंवदा से इसकी उत्पत्ति हुई थी। इस चरित में उपहारवर्मा का अपनी उपमाता के मुख से पितृव्यसन का सुनना, पुष्करिका के मुख से कल्पसुन्दरी के पति में द्वेष का उत्पादन, अलौकिक

रूप की लिप्सा वाले विकटवर्मा का हनन और उसको राज्याधिगति, सिंहवर्मा के सहायतार्थ राज-वाहन की समुपस्थिति प्रभृति विषयों का सुस्पष्ट रीति से वर्णन है। अन्त में राजवाहन के साथ इसका (उपहारवर्मा) का सम्मिलन होता है। इसके पश्चात् राजवाहन ने आग्रहपूर्वक स्नेहपूर्ण नेत्रों से अर्थपाल की ओर देख कर उसे अपना वृत्तान्त कहने के लिए आदेश दिया।

चतुर्थ उच्छ्वास

कान्तिमती और कामपाल से उत्पन्न अर्थपाल माता के द्वारा श्मशान पर छोड़ दिया जाता है। वहाँ से उसकी विमाता यक्षिणी तारावली उसे वसुमती को भेंट करती है। वसुमती के द्वारा ही उसका पालन-पोषण होता है।

राजवाहन की खोज में भ्रमण करता हुआ अर्थपाल किसी समय काशीनगरी में पहुँच कर मणिकर्णिका तीर्थ में स्नान किया। तदनन्तर उसी स्थल पर विद्यमान एक दीन वृद्ध पूर्णभद्र से उसे अपने पिता (कामपाल) का वृत्तान्त ज्ञात हुआ। राजा सिंहघोष ने मन्त्रियों द्वारा कामपाल और कान्तिमती का विवाह सम्बन्ध सुनकर कामपाल को कारागृह में डाल दिया था और अन्त में यह भी आदेश दिया था कि उसकी आँखें निकाल कर उसका प्राणान्त कर दिया जाए। अपने मन्त्रबल से एक सर्प को वशीभूत कर उसने अपने पिता के प्राणों की रक्षा की। उसकी माता कान्तिमती भी उसको अन्त में अपना ही पुत्र समझ कर परम प्रसन्न हुई। राजकर्मचारी ज्योंही पूरी तैयारी करके काम पाल की आँखें निकालने को उद्यत हुए अर्थपाल ने त्योंही वृक्ष की आड़ में से विशाल सर्प को अपने पिता के ऊपर फेंक दिया। अन्य सभी सर्प के भय से उस स्थल से भाग गये, अन्त में एकान्त में लेजाकर अर्थपाल ने अपने मंत्रों की सहायता से (गरुडविद्या द्वारा) अपने पिता को विषरहित किया। कामपाल ने नरक की यातनाओं से मुक्त होकर स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करने वाले के सदृश सभी कष्टों से रहित होकर अपूर्व अभ्युदय की प्राप्तिका अनुभव किया।

पूर्णभद्र के द्वारा राजा सिंहघोष के शयन-स्थान का पता लगाकर अर्थपाल ने सुरंग खोदना प्रारम्भ कर दिया। सुरंग-मार्ग से ही राजा के शयन-स्थल तक पहुँच कर उसे बन्दी बना कर अपनी माता कान्तिमती और पिता कामपाल के सामने उसे उपस्थित किया। सुरंगमार्ग से जाते समय एक वृद्धासहित रमणीय नारीमण्डल का साक्षात्कार हुआ। उनमें से राजा सिंहघोष की कन्या मणिकर्णिका के साथ उसका

(अर्थपाल का) विवाह भी सम्पन्न हुआ । कान्तिमती के द्वारा प्रजाकोपभय के कारण राजा को बन्धनमुक्त करने की इच्छा व्यक्त करने पर भी सिंहघोष मुक्त नहीं हुआ । उसका राज्य भी अर्थपाल को मिल गया और इस प्रकार सुख से निवास करते हुए, राजवाहन से मिल कर उसने अद्वितीय आनन्द का अनुभव किया । राजवाहन ने मुक्तकण्ठ से अर्थपाल की प्रशंसा की और सिंहघोष को बन्धनमुक्त करके मिलाने तथा प्रमति नामक कुमार से उसका चरित सुनाने की इच्छा प्रकट की ।

पञ्चम उच्छ्वास

मन्त्री सुमति से उत्पन्न प्रमति ने प्रणाम करके अपने विषय में कहना प्रारम्भ किया, वह इस प्रकार है—राजवाहन का अन्वेषण करता हुआ विन्ध्य पर्वत के समीप सायंकाल एक वृक्ष की छाया में आचमन आदि करके उसने सायं सन्ध्या सम्पन्न किया । दिन भर राजकुमार की खोज में इधर-उधर भ्रमण करने से वह बहुत थक गया था । अत: विश्राम करने की इच्छा से वहीं पर (वृक्ष के नीचे) किसलयों की शैय्या बनाकर बायें हाथ के ऊपर मस्तक रखकर सो गया । सोने से पूर्व प्रमति ने दोनों हाथों को अञ्जलि रूप में रखकर प्रार्थना की, 'इस वृक्ष के ऊपर जो भी देवता निवास करते हों, घातक पशुओं से परिपूर्ण होने से भयंकर तथा घोर अंधकार से व्याप्त इस महावन में मुझ अकेले सोये हुये की रक्षा करें ।' इस प्रकार उस वृक्ष के नीचे शयन करने से उसकी थकावट दूर हो गई, अन्तरात्मा पुलकित हो गई । दाहिनी भुजा फड़कने लगी । नींद खुलने पर ऊपर की ओर दृष्टि डालने पर चन्द्रमा के सदृश स्वच्छ वस्त्र वाला एक वितान दिखाई पड़ा । बायीं ओर दृष्टि पड़ने पर उसी समय एक निर्मल बिछौने के ऊपर विश्वस्त होकर सोई हुई अंगना को देखा । दक्षिण की ओर दृष्टि डालने पर स्तनों पर से खिसके हुए वस्त्रों वाली, अमृत के फेनपटल के सदृश अत्यन्त विमल शैय्या पर शयन करती हुई...इन्द्र के ऐरावत हाथी द्वारा मदान्ध होने से तोड़ कर त्यागी हुई नन्दनवन के कल्पवृक्ष की रत्नमंजरी के समान कान्ति वाली किसी (अनिर्वचनीया) तरुणी को देखा ।

अत्यन्त रमणीय तथा सुविशाल प्रासाद में सुन्दरियों के मध्य में अपने को उपस्थित देख कर प्रमति आश्चर्य में पड़ गया और विचार करने लगा कि किसलयों द्वारा निर्मित वह शय्या और गहन-वन कहाँ चला गया । उसने प्रतिज्ञा की जब तक इस रहस्य का ज्ञान न हो जाएगा तब तक वह इस विशाल महल को छोड़ कर कहीं के लिए प्रस्थान नहीं करेगा । अन्त में वहीं पर एक अति कृशांगी महिला को देखकर

प्रमति उसको प्रणाम करना चाहा, तब तक.अपने को मणिभद्र नामक यक्ष की कन्या तारावली बतलाती हुई वात्सल्य-प्रीति के कारण स्तनों से दूध को टपकाती हुई उसने उसे अपनी भुजाओं से उठाकर गले से लगाया और पूर्ण रहस्य को सुनाया ।

इसके पूर्व विगत रात्रि में श्रावस्ती नगरी में देवदेव त्र्यम्बक महादेव जी के मन्दिर में महान् उत्सव सम्पन्न होने वाला था । तारावली से कामपाल पर अकारण क्रोध करने के फलस्वरूप किसी राक्षस की प्रतिकृति द्वारा एक वर्ष तक प्रवासजन्य क्लेश को सहन करने का शाप था । त्र्यम्बक भगवान् के विशाल मन्दिर में पहुँचकर उनके पुण्यदर्शन से शाप से मुक्ति एवं अपने चरमलक्ष्य की सिद्धि की कामना से अभिसरण करती हुई तारावली ने पूर्वोक्त महावन में प्रमति को अकेला सोया हुआ देखा । शापवशात् वह प्रमति को ठीक-ठीक नहीं पहचान सकी, तथापि शरणार्थी जन को भयावह महावन में अकेले छोड़कर आगे चल देना, पुन: युवक के साथ देव (त्र्यम्बक महादेव) मन्दिर के समीप उत्सव गोष्ठी में जाना अयुक्त समझ कर श्रावस्ती नगरी के राजा यथार्थनामा महाराज धर्मवर्धन की पुत्री नवमालिका को अपने परिजनों के सहित प्रासाद में शयन करती हुई देख कर वहीं उसको (प्रमति को) सुला दिया । स्वत: त्र्यम्बक भगवान् के दर्शन से कृतकृत्य होकर, उत्सव की शोभा से अपने नेत्रों को सफल करती हुई, स्वजनों के दर्शन सुख से आनन्दित तथा भक्ति से प्रणत हृदय होकर भगवती अम्बिका को प्रणाम करने के फलस्वरूप शाप से विगत होकर वापस लौटी । उसके पूर्व नवमालिका के अनुपम लावण्य से प्रमति का मन काम के वशीभूत होकर उसकी ओर पूर्ण रूप से आकृष्ट हो चुका था । दोनों के परस्पर अनुराग तथा अन्योन्य आसक्ति को देख कर रहस्य के प्रकट हो जाने के भय से तारावली ने पुन: उसी महावन में पत्र-शय्या पर लेजाकर उसे निद्रित अवस्था में छोड़ दिया ।

इस प्रकार का वृत्त तारावली ने प्रमति को सुनाया । तत्पश्चात् तारावली ने सस्नेह प्रमति का चुम्बन आदि किया और अपने पति कामपाल के समीप चली गई ।

नवमालिका की प्राप्ति के लिये प्रमति श्रावस्ती नगरी की ओर चल पड़ा । मार्ग में वणिक् जनों की एक नगरी में कुक्कुटों का युद्ध हो रहा था । उस स्थल पर पहुँच कर प्रमति ने कुक्कुट-युद्ध का ज्ञान रखने वाले पांचालशर्मा नाम के एक वृद्ध पुरुष से मैत्री की ।

उस वृद्ध ने अपने घर पर प्रमति का यथोचित स्वागत किया । वहां से कृतार्थ होकर प्रमति पुनः श्रावस्ती की ओर चल पड़ा । वहाँ पहुँच कर एक उद्यान में लता मण्डप के नीचे सो गया । तब तक हंस-ध्वनि के सदृश नूपुर-ध्वनि से उसकी निद्रा भंग हो गयी । उठने पर उसने हाथ में चित्रपट लिये हुई अपनी ओर आती हुई एक युवती को देखा । चित्रपट में प्रमति के अनुरूप ही चित्र बना हुआ था । उस युवती के आग्रह करने पर प्रमति ने उसके यहाँ जाना स्वीकार किया । वहाँ पहुँचने पर उसका राजोचित स्वागत हुआ । अन्त में उसको इस तथ्य का ज्ञान को गया कि वही राज-प्रासाद था जहाँ वह इसके पूर्व शयन कर चुका था और जिसके विषय में तारावली ने भी संकेत किया था । प्रमति ने चित्रपट में कामपीडिता राजकुमारी की अवस्था का स्पष्ट भान कराते हुए, कपटनिद्रितावस्था में उसकी प्रतिकृति का निर्माण कर दिया । फलतः सम्पूर्ण रहस्य के प्रकट हो जाने पर प्रमति ने उन सभी सखियों को राजकुमारी के अन्तःपुर में निःशंक शयन करने का उपाय निश्चित करके पुनः आगमन का आश्वासन देकर अपने पूर्वपरिचित वृद्धविट के यहाँ चला गया । उस वृद्ध की सहायता से और अपने कपट पूर्ण चातुर्य से स्त्री-वेश में उसी वृद्ध की कन्या के नाम पर राजप्रासाद के कन्यान्तःपुर में प्रवेश पाकर राजकुमारी की जलक्रीडा में निःशंक होकर भाग लिया । जल में डूबकी लगाने के पश्चात्, जहाँ तक गो का शब्द सुनाई पड़े उतनी दूर पर बैठे हुये वृद्ध के समीप जाकर प्रमति ने अपना कपट वेश त्याग कर वृद्ध द्वारा प्रदान किए गए स्वच्छ वस्त्र को धारण किया । इसके पश्चात् प्रमति को कन्यारूप में डूबा हुआ समझकर राजकुमारी के सहित उसकी सखियाँ रुदन करने लगीं । उसके जल में डूब जाने का वृत्तान्त सर्वत्र शोक और कौतूहल का विषय हो गया । 'ब्राह्मण पुत्री जल में डूब गयी' इस तथ्य के कारण सभी नगरवासियों के शोकाकुल हो जाने पर वृद्ध ने प्रमति को राजसभा में उपस्थित करके उसकी विद्वत्ता तथा व्यवहारकुशलता, उसके पाण्डित्य और नीति-नैपुण्य की प्रशंसा करने लगा । प्रमति की सर्वविध प्रशंसा को सुन कर राजा ने नवमालिका का विवाह प्रमति के साथ कर दिया । नवमालिका के पुष्परस का पान करने वाले भ्रमर के सदृश प्रमति भी राजा की कन्या नवमालिका कुमारी के तारुण्यरस का आस्वादन करने लगा । तत्पश्चात् राजा सिंहवर्मा की सहायता के लिए, अपने दलबल सहित चम्पापुरी में आने पर राजवाहन का दर्शन हुआ ।

प्रमति के इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण चरित को सुनकर राजवाहन का मुखकमल विकसित हो गया, 'आपका यह आदर्शभूत मार्ग बुद्धिमानों द्वारा अनुकरणीय है'[१] इत्यादि शब्द-समूहों से राजवाहन ने प्रमति की भूरि-भूरि प्रशंसा की और मित्रगुप्त को अपना चरित सुनाने का आदेश दिया।

षष्ठ उच्छ्वास

मन्त्री सुमन्त्र से उत्पन्न मित्रगुप्त अपने अन्य सभी मित्रों के समान पृथिवी पर भ्रमण करता हुआ एक समय सुह्म प्रान्त के अन्तर्गत दामलिप्त नामक नगर के वाह्य उद्यान में पहुँचकर महान् उत्सव समाज को देखा। उत्सव गोष्ठी से विरक्त, एकान्त स्थल में माधवी लता के मण्डप में बैठे हुए तथा आत्मविनोदार्थ वीणा को बजाते हुए एक युवक (कोशदास) से उसका समागम हुआ।

मित्रगुप्त ने कोशदास से उत्सव का नाम, उसका कारण तथा उसे अनादृत करके उसके एकान्त में सुदूर बैठने का कारण जानने की इच्छा प्रकट की। कोशदास ने संक्षेप में मित्रगुप्त को समस्त वृत्तान्त सुनाया—सुह्मपति (तुंगधन्वा) ने सन्तान हीन होने के कारण देवी विन्ध्यवासिनी से सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रार्थना की थी। देवी ने प्रसन्न होकर स्वप्न में राजा को अपने दर्शन से कृतार्थ कर एक पुत्र और एक पुत्री के जन्म होने का वचन दिया और साथ ही यह भी कहा कि पुत्र पुत्री के पति का अनुजीवी होगा। पुत्री सात वर्ष की अवस्था पूर्ण कर लेने के पश्चात् विवाहपर्यन्त सुयोग्य पति की प्राप्ति के लिए कन्दुकनृत्य द्वारा देवी की आराधना किया करेगी। स्वेच्छा से जिस युवक में उसका झुकाव हो उसी के साथ उसका विवाह भी सम्पन्न हो। ऐसा उत्सव 'कन्दुकोत्सव' नाम से कहा जायेगा।

इसके अनन्तर अत्यल्प समय में ही राजा की प्रियमहिषी मेदिनी ने एक पुत्र तथा पुत्री को जन्म दिया। वही राजकुमारी कन्दुकावती अपने कन्दुकनृत्य से देवी की आराधना करेगी। राजकुमारी कन्दुकावती की चन्द्रसेना नामकी प्रिय सखी थी जो कि एकान्त में बैठे हुए उसी युवक की प्रिया भी थी। राजा तुंगधन्वा के पुत्र भीमधन्वा ने उसे कोशदास के समीप जाने से रोक दिया था। उसी के विरहजन्य क्लेश तथा कामदेव के बाणों से पीडित होकर उत्सवगोष्ठी से सर्वथा पराङ्मुख

---

१. इष्ट एष मार्गः प्रज्ञावताम्। दशकुमारचरित-पंचम उच्छ्वास, पृ० ३८१।

हो कर दूर बैठा हुआ था। उसी समय मंजीरों की अनिर्वचनीय ध्वनि करती हुई चंद्रसेना मित्रगुप्त और कोशदास के समीप आ पहुँची। कोशदास उसे देखते ही प्रफुल्लित हो कर खड़ा हो गया। चन्द्रसेना से उसे गले से लगाया। उसके अनन्तर कोशदास चन्द्रसेना के आलिंगन से मुग्धहृदय होकर, राजपुत्र का कुछ भी अनिष्ट करने में अपने को असमर्थ समझ कर अपने प्राणों का परित्याग कर देने की चर्चा करने लगा।

'वेशदास' नाम से प्रख्यात कोशदास को अपने प्राणों का परित्याग करने से चन्द्रसेना ने रोका। कोशदास, मित्रगुप्त तथा चन्द्रसेना की वार्ता हो ही रही थी कि कन्दुकावती के मणि-नूपुरों की ध्वनि गूँज उठी।

मणि-नूपुरों की ध्वनि से, देवी विन्ध्यवासिनी की आराधना के लिए राजकुमारी कन्दुकावती के आगमन की सूचना पाकर चन्द्रसेना वहाँ से राजकुमारी के समीप चली गई। कोशदास और मित्रगुप्त ने भी उसकी गति का अनुसरण किया। सर्वाङ्गसुन्दरी उस राजकुमारी ने अपनी कन्दुकक्रीडा आरम्भ कर दी और उसके इस कन्दुकनृत्य-पर्यन्त कोशदास और मित्रगुप्त खड़े होकर नयनानन्दकारी उस उत्सव के दर्शन से कृतकृत्य हुए। प्रथम बार दृष्टि पड़ते ही कन्दुकावती मित्रगुप्त के मन में बस गई। कन्दुकतन्त्रोक्त नियमों के अनुसार क्रीडा करती हुई अनिन्द्य अवयवों वाली राजकुमारी मित्रगुप्त में अनुरक्त सी प्रतीत हुई। अपनी प्रिय सखी चन्द्रसेना तथा अन्य भी परिजनों से अनुगत वह राजकुमारी अन्त में पीछे मुड़कर मित्रगुप्त को बार-बार देखती हुई अपने निवासस्थान को चली गई।

कामदेव से पीड़ित मित्रगुप्त भी अपने स्थान पर पहुँच कर उदारचित्त वाले कोशदास द्वारा भोजनादि की सुविधा प्राप्त करके पूर्ण रूप से विश्राम किया। सायंकाल चन्द्रसेना पुनः कोशदास के घर आयी और कोशदास ने इसी प्रकार जीवनपर्यन्त अपने प्रति शुभेच्छा रखने के लिए उससे प्रार्थना की। मित्रगुप्त ने अवसर पाकर दोनों का उपहास किया। उसके पास एक अंजन था जिसके उपयोग से चन्द्रसेना वानरी के सदृश हो जाती। अस्तु वानरी के समान उसे देख कर राजपुत्र स्वतः उसको त्याग देता और चन्द्रसेना स्वतंत्र होकर स्वेच्छया रमण किया करती। चन्द्रसेना ने हँसते हुए उत्तर दिया—'आर्य ! यह (चन्द्रसेना) अपकी आज्ञाकारिणी आपसे अत्यन्त अनुगृहीत है क्योंकि इसी जन्म में आप इस जन को मानुषी देह से

वानरी रूप में परिणत करना चाहते हैं। ऐसी कृपा करने की आवश्यकता नहीं है, अन्य उपायों से भी हमारा अभीष्ट सिद्ध हो जाएगा।'[१]

चन्द्रसेना, राजकुमारी का मित्रगुप्त से समागम कराने का वचन देकर कोशदास के यहाँ चली गयी। उसने इस रहस्य को भी मित्रगुप्त से प्रकट कर दिया कि राजपुत्री का विवाह उसके साथ हो जाने पर राजा का पूरा राज्य भी उसके अधिकार में हो जायेगा और राजपुत्र भी देवी जी के कथन के अनुकूल उसके अधीन हो कर रहेगा।

दूसरे दिन प्रातः काल दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो कर मित्रगुप्त पुनः उसी उद्यान में विहार करने की इच्छा से पहुँच गया जिसमें प्रथमवार उसे राजपुत्री का दर्शन हुआ था। वहाँ पहुँचने पर मित्रगुप्त से राजपुत्र का साक्षात्कार हुआ। राजपुत्र भीमधन्वा ने मित्रगुप्त का राजोचित स्वागत किया। इसके पश्चात् शयन करते समय स्वप्न में उसने राजकुमारी के आलिंगन सुख को प्राप्त किया और लोहे की जंजीर से राजपुरुषों द्वारा अपने को बन्दी के रूप में देखा।

जागने पर राजपुत्र भीमधन्वा के क्रोध के फलस्वरूप मित्रगुप्त का स्वप्न सत्य हो गया। राजपुत्र ने अपने सेवकों को उसे बँधे हुए हाथों सहित समुद्र में फेंकने का आदेश दिया। सेवकों ने वैसा ही किया। इस प्रकार निरालम्ब होकर तैरते हुए दैववशात् समुद्र में उसे एक काष्ठ मिला। उसी की सहायता से मित्रगुप्त रात्रि भर तैरता रहा। अन्त में दूसरे दिन प्रातःकाल यवनों की नाव उसे दिखाई पड़ी। उन यवनों ने इसके प्राणों की रक्षा की। इतने में 'मद्गु' नामका एक युद्ध-पोत भी समुद्र से होकर जा रहा था। उस नाव के योद्धाओं को देख कर सभी यवन भयान्वित हो गए। यवनों ने मित्रगुप्त को रामनाम के नाविकों के अधिपति को सौंप दिया। दोनों ही नाव वालों में विकट युद्ध हुआ। यवन पराजित हो गए। मित्रगुप्त के कहने पर यवनों ने उसे बन्धन रहित कर दिया। इस प्रकार बन्धन से मुक्त होने पर मित्रगुप्त ने तीक्ष्ण बाणों से शत्रुपक्ष के सैनिकों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। भीमधन्वा पकड़ लिया गया। मित्रगुप्त वहाँ से वायु के प्रतिकूल होने पर भी एक द्वीप में पहुँचा। वहाँ एक विशाल पर्वत था। उसकी शोभा मनोहारिणी थी। वहीं

---

१. तया तु स्मेरयास्मि कथितः-सोऽयमार्येणाज्ञाकरो जनोऽत्यर्थमनुगृहीतः, यदस्मिन्नेव जन्मनि मानुषं वपुरपनीय वानरीकरिष्यते। तदास्तामिदम्। अन्यथापि सिद्धं नः समीहितम्।—दशकुमारचरित-षष्ठ उच्छ्वास। पृ० ३९९

पर पद्मरागमणि की आभा से रक्तिम तथा कमलों के सौरभ से युक्त एक सरोवर में स्नानादि क्रियाओं को समाप्त करके तत्पश्चात् मित्रगुप्त सुधा के समान मधुर मृणालखण्डों का आस्वादन करने लगा। इतने में तालाब के तटवर्ती किसी ब्रह्मराक्षस ने आकर मित्रगुप्त से उसका वृत्तान्त पूछा। मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस को अपना परिचय दिया। मित्रगुप्त का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् ब्रह्मराक्षस ने कतिपय गूढ़ प्रश्नों के उत्तर के अभाव में ब्रह्मराक्षस ने मित्रगुप्त को खा जाने की धमकी दिया। फलतः एक निम्नलिखित आर्या-वृत्त में दोनों का परस्पर सम्भाषण आरम्भ हुआ—

किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः।

कः कामः सङ्कल्पः किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा॥

मित्रगुप्त ने अपने उत्तर की पुष्टि के लिए धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती नामकी स्त्रियों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया।

सर्वप्रथम क्रूरता के उदाहरण में मित्रगुप्त ने धूमिनी का वृत्तान्त सुनाया—

त्रिगर्त नाम के नगर में जल-वृष्टि न होने से सम्पूर्ण नगर दुर्भिक्ष के कुप्रभाव से पीडित था।उस नगर में धनकधान्यक और धन्यक तीन सगे भाई थे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी।इन तीनों गृहपतियों ने समस्त संचित धन तथा अन्न राशि को समाप्त करने के पश्चात् भेड़, बकरी, गाय, भैंस प्रभृति पशुओं को खाना प्रारम्भ किया। इसके अनन्तर दास, दासियों, भाइयों की स्त्रियों और बच्चों को भी खाकर उदरपूर्ति करने लगे। अन्त में छोटे भाई धन्यक की स्त्री को कल खायेंगे ऐसा निश्चय होने पर धन्यक अपनी पत्नी सहित नगर से बाहर चला गया। मार्ग में अपनी पत्नी को पिपासा आदि क्लेशों से व्याकुल होने पर धन्यक अपने रक्त मांसादि से उसे सन्तुष्ट करता था। मार्ग में धन्यक ने किसी वन में एक पंगु पुरुष को देखा। उसकी दीन दशा से दुखी धन्यक ने उसे भी अपने कंधे पर रख लिया और कुछ दूर आगे चलकर उसी वन में यत्न से एक पर्णकुटी का निर्माण किया। उसी पर्णकुटी में रहते हुए धन्यक ने उस पंगु पुरुष के सभी घावों को ईंगुदी के तैल आदि से अच्छा किया। मांस और शाक आदि वन्य खाद्य-पदार्थो से उसकी सेवा शुश्रूषा करते हुए उसके शरीर को पुष्ट किया। एक दिन उसके मृगों की खोज में चले जाने पर धूमिनी ने पुष्ट शरीर वाले उस पंगु के साथ रमण करने की इच्छा प्रकट की। पंगु द्वारा तिरस्कृत होने पर भी धूमिनी ने बलात् उसके साथ रमण

किया। धन्यक के पुन: वापस आने पर तथा अपनी प्यास बुझाने के लिये जल की याचना करने पर धूमिनी ने शिर में पीड़ा का बहाना लेकर निर्दयतापूर्वक रस्सी सहित जलपात्र को उसके सामने फेंक दिया और स्वयं कुएँ से जल निकालकर जल पीने के लिए कहा। कुयें से जल निकालते समय घूमिनी ने अपने पति को पीछे से ढकेल दिया और उस पंगु को स्कन्ध से वहन करती हुई देश-देशांतर में भ्रमण करती हुई पतिसेवापरायणा की ख्याति प्राप्त किया। अन्त में उज्जयिनी के राजा का कृपापात्र होकर उन्हीं के यहां रहने लगी। कुयें में गिरा हुआ धन्यक जलाभिलाषी वणिकों के द्वारा बाहर निकाल लिये जाने पर भिक्षा मांगता हुआ एक दिन उज्जयिनी पहुँचा। धन्यक को देख कर उस धूमिनी ने राजा से प्रार्थना करते हुए कहा कि जिसने मेरे पति को शरीरावयवों से हीन किया है वह यही दुरात्मा धन्यक है। धूमिनी की प्रार्थना पर अज्ञात-वृत्त राजा ने साधुचरितवाले धन्यक के वध की आज्ञा दे दी। राजपुरुषों द्वारा उसे वध्यभूमि पर ले जाने के पश्चात् अवशिष्ट आयु वाले धन्यक ने कहा—जिस भिक्षु को उसने हीनांग किया है वह भी वहाँ प्रस्तुत किया जाय और यदि वह कहे कि उसको धन्यक ने ही पंगु बनाया है तो अवश्य ही धन्यक दण्ड का भागी है। धन्यक के भावों के अनुकूल राजपुरुषों ने उस पंगु को उसके सामने उपस्थित किया। धन्यक को देख कर, शोकाकुल पंगु पुरुष उसके चरणों को पकड़कर रोने लगा। उसके असह्य रुदन से प्रभावित राजा ने समस्त वास्तविक वृत्तान्त का ज्ञान हो जाने पर धूमिनी को कुत्सितांगी कर के कुत्तों की पाचिका (भोजन बनाने वाली) नियुक्त किया, धन्यक उसका कृपापात्र बन गया। मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस से कहा—अतएव कहता हूँ कि-स्त्री का हृदय क्रूर (निष्ठुर) होता है।

तत्पश्चात् उस ब्रह्मराक्षस द्वारा पूछे जाने पर मित्रगुप्त ने गोमिनीवृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया—

द्रविड़ प्रदेश में कांची नामकी एक नगरी है। उस नगरी में करोड़ों की सम्पत्ति वाला शक्तिकुमार नामका एक श्रेष्ठि-पुत्र था। अठारह वर्ष की अवस्था में विवाह करने की इच्छा होने लगी क्योंकि गुणवती स्त्री के अभाव में सुख नहीं होता। इसलिए हस्तरेखाविद् (लक्षणज्ञ) के वेश में अपने वस्त्र में प्रस्थपरिमाण धान बाँध कर पृथिवी पर पर्यटन करना आरम्भ कर दिया। शक्तिकुमार को लक्षणज्ञ समझ कर सभी गृहपतियों ने अपनी कन्याओं की हस्तरेखाओं को दिखाना प्रारम्भ किया। एक गुणवती कन्या की हस्तरेखा देखकर शक्तिकुमार ने अपने प्रस्थपरि-

माण धान द्वारा स्वादिष्ट भोजन तैयार करने का आदेश दिया। कन्या ने उसका उपहास किया और तिरस्कृत होकर एक गृह से दूसरे गृह में प्रवेश करता हुआ शक्तिकुमार इतस्ततः भ्रमण करने लगा।

भ्रमण करते हुये शक्तिकुमार ने एक दिन कावेरी नदी के दक्षिण भाग के एक नगर में एक उपमाता द्वारा प्रदर्शित एक-दो आभूषणों से अलंकृत और गुणवती कन्या देखी जिसके माता-पिता मर चुके थे। गृह की सम्पत्ति भी विनष्ट हो चुकी थी। शरीरावयव सभी अनुकूल थे। अंगुलियों का तल प्रदेश लाल था। हाथ में यव, मत्स्य, कमल और कलश आदि पुण्य रेखाओं का चिह्न था। सर्वांगसुन्दरी तथा अपूर्व लावण्य से सुसम्पन्न उस कन्या की आकृति से उसके स्वभाव पर शक्तिकुमार को पूर्ण विश्वास हो गया। उसका हृदय भी पूर्णरूप से उस कन्या में आसक्त हो गया। अस्तु परीक्षा करके ही उसने परिणय करना समुचित समझा क्योंकि अविचारियों को पीछे अनेक पश्चात्ताप करने पड़ते हैं।

ऐसा निश्चय करके शक्तिकुमार ने पूर्ववत् उस कन्या की भी परीक्षा करने के अभिप्राय से अपने वस्त्र में बंधे हुए अत्यल्प धान्य से भोजन तैयार करके अपने को खिलाने का प्रस्ताव किया। कन्या ने साभिप्राय अपनी उपमाता की ओर देखा। उपमाता ने शक्तिकुमार से प्रस्थ-परिमाणधान्य लेकर, उसे बैठने के लिए अपने द्वार के समीप विशुद्ध भूमि पर आसनादि अर्पित करके उस प्रस्थपरिमाणधान्य को अपनी कन्या को कूटने के लिए दे दिया। कन्या ने धान को कूटकर धूप में सुखा लिया। पुनः ओखली में रखकर हल्के हाथों से धीरे-धीरे मूसल से उसकी भूसी अलग कर दिया। टूटे हुये दानों को भी अलग कर दिया। धान से निकली हुई भूसी को स्वर्णकार के हाथ बेचकर उसके बदले में प्राप्त द्रव्य से ईंधन के लिए लकड़ी तथा स्वल्पपाचिनी हँडिया व दो मिट्टी के ढक्कन मँगवाया।

उपर्युक्त क्रियाओं के सम्पादित हो जाने पर कन्या ने विधिवत् चूल्हे की पूजा आदि करके चावल पकाया। उसका मांड़ निकाल कर अलग रख दिया। लकड़ी के जल जाने पर टूटे हुये कोयलों के बदले में प्राप्त द्रव्य से अपनी उपमाता द्वारा उस कन्या ने अतिथि के लिए शाक, घृत, दही, तेल, आंवला तथा इमली आदि पदार्थों को मँगवाया।

इसके पश्चात् उस कन्या गोमिनी ने कई प्रकार का शाक तैयार किया। सरस बालू के नवीन पात्र में रखे हुए माड़ को पंखे की मंद हवा से शीतल कर

दिया। उसमें नमक आदि डालकर जीरे आदि से बघार दिया। आमलक आदि की सहायता से और भी सुगन्धित सामग्री तैयार कर लिया। अन्त में धात्री द्वारा अतिथि को स्नान करने की सूचना भेज दी। स्वत: भी उस कन्या ने स्नान करके अतिथि के लिए तेल आदि अर्पित किया। स्नान करने के अनन्तर गृह के भीतर प्रवेश करने पर अतिथि शक्तिकुमार को बैठने के लिए यथोचित काष्ठासन (पीढ़ा) दिया। और पात्रों का अभाव होने के कारण आँगन में स्थित केले के पत्ते तोड़ कर, उसे जल से शुद्ध करके कन्या ने उसी पर भोजन देना आरम्भ कर दिया। सर्वप्रथम उसने चावल का माड़ प्रदान किया जिसका पान करते ही शक्तिकुमार का मार्ग-श्रम दूर हो गया। तदनन्तर शेष भोजन सामग्री से तृप्त होकर पूर्ण सन्तुष्ट हुआ। अगुरु और पाटल कुसुमों से सुरभित जलपान भी किया।

उपर्युक्त विधि से स्नान भोजनादि के द्वारा शक्तिकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसकी शरीर पुलकित हो गई। धात्री ने उसके जूठन को हटाकर विधिपूर्वक हरे गोबर से उस स्थान को लीप दिया। तत्पश्चात् उसके लिए विश्राम करने की व्यवस्था कर दी। उसके इन गुणों पर मुग्ध होकर शक्तिकुमार ने विधिपूर्वक उस कन्या के साथ विवाह करके उसे अपने घर ले आया। कुछ दिन के पश्चात् उस अभिनव परिणीता कन्या की उपेक्षा करके शक्तिकुमार ने एक वेश्या को लाकर घर में रख दिया उसके साथ भी गोमिनी प्रियसखी का सा व्यवहार करती थी। सभी परिजन तथा घर के लोग उसके सद्भावों तथा सद्व्यवहारों से मुग्ध हो गए। शक्तिकुमार सहित सम्पूर्ण परिवार उसके अधीन होकर रहने लगा।

इस प्रकार मित्रगुप्त ने गुणवती स्त्री का वृत्तान्त सुनाकर ब्रह्मराक्षस से कहा—'अत: कहता हूं कि गृहस्थों के प्रिय (हितकर कार्यो) को गुणवती स्त्री ही कर सकती है।'

इसके पश्चात् उस ब्रह्मराक्षस के पूछने पर मित्रगुप्त ने निम्बवती के चरित को कहना आरम्भ किया—

सौराष्ट्र प्रदेश में बलभी नामकी एक नगरी है। उस नगरी में कुबेर के सदृश धनवान् जहाज-व्यापारियों का एक मुखिया रहा करता था जिसकी रत्नवती नाम की एक कन्या थी। मधुमती नाम की नगरी से आये हुए बलभद्र नाम के एक वैश्य पुत्र ने उसके साथ विवाह कर लिया। नवविवाहिता उस कन्या के साथ एकान्त में रमण करते समय नवीना होने के कारण रतिक्रीडा में उससे कुछ विघ्न उपस्थित

हुआ। इस अल्प अपराध के कारण वैश्यपुत्र बलभद्र ने रत्नवती का परित्याग कर दिया। फलतः स्वजन तथा परिजन सभी उसकी पूर्णतया उपेक्षा करने लगे।

कुछ समय के पश्चात् मन्दभाग्या रत्नवती को सभी 'निम्बवती' नाम से पुकारने लगें। इस प्रकार तिरस्कारजन्य शोकसंतप्तहृदया रत्नवती 'अब मेरी क्या गति होगी' ऐसा सोचती हुई एक वृद्धा सन्यासिनी से मिली। उससे मिलकर रत्नवती ने वास्तविक रहस्य को छिपाकर केवल अपनी दीनता प्रकट की। वृद्धा सन्यासिनी ने उसके कष्टों को दूर करने का आश्वासन दिया। उसे विरक्त देख कर तप करने का आदेश दिया। किन्तु रत्नवती द्वारा पति-सेवा को ही धर्म समझ कर और उसी को प्राथमिकता देने पर वृद्धासन्यासिनी ने उसे पुनः पति-प्राप्ति में अपना योग दिया।

रत्नवती का पड़ोसी एक वैश्य था। उसकी पुत्री कनकवती थी। कनकवती भी रत्नवती के अनुरूप अंगों वाली थी और इसकी प्रिय सखी भी थी। रत्नवती ने वृद्धा सन्यासिनी से यह प्रार्थना की कि वह किसी बहाने से बलभद्र को कनकवती के घर तक ले जाने का कार्य करे। वृद्धा द्वारा वैसा ही किये जाने पर रत्नवती जो कि कनकवती के साथ उसके अत्यन्त ऊँचे महल के ऊपर विहार कर रही थी, एक गेंद फेंक दिया। वृद्धा ने उस गेंद को महल के ऊपर कनकवती को देने के लिए कहा। रत्नवती को कनकवती समझ कर बलभ्रद्र के गेंद देते समय रत्नवती ने उसका आलिंगन किया और देशान्तर में चलने के लिये निवेदन किया। बलभद्र भी रत्नवती को कनकवती समझ कर मणि-सुवर्ण आदि लेकर उसके साथ अर्धरात्रि में देशान्तर के लिए चल पड़ा।

इसके पश्चात् सन्यासिनी द्वारा चारों ओर यह वार्ता फैली कि बलभद्र ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है और लज्जा के कारण यहाँ नगर में रहना अनुचित समझ कर वह अपनी पत्नी सहित दूसरे देश में चला गया। ऐसी सूचना प्राप्त होने पर रत्नवती के माता-पिता भी उसके अन्वेषण में शिथिल हो गए। मार्ग में रत्नवती ने एक दासी को भी खरीद लिया और उसी की सहायता से दोनों खेटकपुर में पहुँचे।

व्यापार में कुशल बलभद्र खेटकपुर में पहुँच कर थोड़े ही धन के बल पर नगर का प्रधान भी बन बैठा। कुछ समय के पश्चात् रत्नवती द्वारा तिरस्कृत होने पर उस प्रथम खरीदी हुई दासी ने समस्त गुप्त रहस्य को प्रकाशित करना आरम्भ

कर दिया। अस्तु, नगर में बलभद्र द्वारा कनकवती को चुराकर ले आने की वार्ता फैल गई। बलभद्र भयभीत हो गया। रत्नवती ने बलभ्रद्र को सुझाव दिया कि वह दण्डाधिकारियों से वास्तविक रहस्य को प्रकट करे कि यह निधिपतिदत्त की पुत्री कनकवती न होकर बलभी नगर के गृहगुप्त की पुत्री रत्नवती है जिसके साथ विधिवत् विवाह किया गया है। यदि आवश्यक ही हो तो उसके माता-पिता से तथ्य की जानकारी प्राप्त की जाये। दण्डाधिकारियों ने वैसा ही किया। वास्तविकता का ज्ञान हो जाने के पश्चात् सूचना मिलने पर रत्नवती का पिता खेटक पुर में आकर उन्हें अपने नगर में ले गया। इस प्रकार रत्नवती बलभद्र की बल्लभा होकर रहने लगी।

इस प्रकार मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस के 'कः कामः?' इस प्रश्न का उत्तर 'संकल्पः' निम्बवती के चरित से सप्रमाण सिद्ध किया।

तत्पश्चात् मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस के चौथे प्रश्न का उत्तर नितम्बवती के चरित से देना आरंम्भ किया—

शूरसेन प्रदेश में एक मथुरा नाम की नगरी है। उस नगरी में उत्तमकुलोत्पन्न, नृत्यगीत आदि कलाओं में पटु तथा वेश्याओं का प्रेमी कलहकण्टक नाम का युवक था। एक दिन कलहकण्टक ने किसी आगन्तुक के हाथ में एक चित्रपट देखा जिसमें एक युवती का चित्र बना हुआ था। आलेख्यगता युवती के दर्शनमात्र से ही कलहकण्टक कामातुर हो गया और उसके लक्षणों से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि युवती का पति पौरुषहीन है। इसीलिए वह पति के सच्चे सुख से वञ्चित प्रतीत हो रही है।

आगन्तुक चित्रकार ने कलहकण्टक की प्रशंसा करते हुए नितम्बवती का पूरा परिचय दिया और नाम के अनुरूप ही उसका रूप भी था। उसके सौंदर्य से विस्मित होकर ही उसने उसका चित्र तैयार किया था। यह युवती नितम्बवती उज्जयिनी के सार्थवाह अनन्तकीर्ति की भार्या थी। कलहकण्टक तत्काल उसके दर्शनार्थ उज्जयिनी चला गया। वहाँ भार्गव नामक दैवज्ञ वन कर भिक्षा माँगता हुआ नितम्बवती के घर पहुँचा। उसके रूपलावण्य पर मुग्ध हो गया। अब वह नितम्बवती को प्राप्त करने का उपाय सोचने लगा। नगर के मुख्य लोगों से मिल कर उसने श्मशान रक्षक की नौकरी प्राप्त कर ली। श्मशान पर प्राप्त मृतकों के कफन आदि से उसने एक बौद्ध सन्यासिनी को अपने अनुकूल कर लिया। उसी

बौद्ध सन्यासिनी द्वारा कलहकण्टक ने नितम्बवती के लिए सन्देश भेजा। नितम्बवती ने सन्यासिनी को डाँट दिया।

सन्यासिनी द्वारा यह सूचना पाकर कि नितम्बवती कुलांगना है, उसकी प्राप्ति दुर्लभ है, कलहकण्टक ने पुन: उस बौद्ध सन्यासिनी से एकान्त में कहा कि एक बार वह पुन: नितम्बवती से मिले। और यह कहे कि सारहीन संसार का परित्याग कर कुलांगनाओं का चरित्र नष्ट करना सन्यासिनियों का धर्म नहीं है। इस प्रकार कलहकण्टक द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुकूल वह बौद्ध सन्यासिनी सन्तानोत्पत्ति के उपाय का विधान बनाकर मन्त्रज्ञ से मिलाने के बहाने नितम्बवती को नगर के बाहर वृक्षवाटिका में ले गई। कलहकण्टक उस वाटिका में उपस्थित था। उसके द्वारा पूर्वप्रतिपादित नियमों के अनुसार नितम्बवती ने अपना चरण धीरे से कलहकण्टक के हाथ में दिया। इसके पश्चात् कलहकण्टक ने उसके पैर का एक सुवर्ण का नूपुर निकाल लिया और छुरी से उसकी जाँघ में हल्का प्रहार करके दूर भाग गया। इस प्रकार नितम्बवती अपने ही दुराचार की निन्दा करती हुई घर चली गई। घर पहुँच कर अपने घाव को धोकर, पट्टी बाँध कर और अपने दूसरे नूपुर को निकाल कर तीन-चार दिन तक एकान्त में शयन करती रही।

कलहकण्टक नूपुर बेंचता हुआ अनन्तकीर्ति के यहाँ पहुँचा। अनन्तकीर्ति ने अपनी पत्नी नितम्बवती का नूपुर समझ कर कलहकण्टक से नूपुर-प्राप्ति का वृत्तान्त पूछा। उसने वणिक् समूह के समक्ष वृत्तान्त को कहना स्वीकार किया। अनन्तकीर्तिने ने नितम्बवती से नूपुर भेजने के लिए सन्देश भेजा। नितम्बवती ने शरीर के कृश होने के कारण वाटिका में विहार करते समय गिर जाने का बहाना बनाया। शेष दूसरा नूपुर उसने भेज दिया। कलहकण्टक वणिक्-समुदाय के समक्ष उपस्थित किया गया। उसने बताया कि रात्रि में सर्वदग्ध शव को बलात् खींचती हुई किसी कृष्णवर्णा स्त्री के पैर में से उसने नूपुर निकाल लिया था। उसी समय उसके हाथ की छुरी से उसका पैर आहत हो गया, उसने स्वेच्छया छुरी से प्रहार नहीं किया था। उसके पश्चात् वह स्त्री तीव्र गति से भाग गई।

पुरवासियों ने उपर्युक्त वृत्त से नितम्बवती को पिशाचयोनि की समझ कर अनन्तकीर्ति से उसका परित्याग करा दिया। अपने द्वारा परित्यक्त नितम्बवती के श्मशान पर आत्महत्या करने के लिये उद्यत कलहकण्टक ने उसे अपना समस्त कपटपूर्ण चरित सुनाया। यह समस्त प्रपञ्च केवल उसकी प्राप्ति के लिए ही था।

अन्त में कलहकण्टक ने अपनी चातुरी से नितम्बवती को स्वाधीन कर लिया और इस प्रकार उसने अपनी कामनाओं की पूर्ति की।

इस प्रकार नितम्बवती का चरित सुनाकर मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस को यह बताया कि दुष्कर कार्य भी बुद्धि से साध्य हो जाता है।

उपर्युक्त वृत्तान्तों को सुन कर ब्रह्मराक्षस ने प्रसंन्न होकर मित्र गुप्त का पूजन किया। तत्पश्चात् मित्रगुप्त ने आकाशमार्ग से एक अंगना को लेकर जाते हुए राक्षस को देखा। ब्रह्मराक्षस उसे देखते ही आकाश में उड़ा और दोनों में युद्ध होने लगा। राक्षस के हाथ से गिरती हुई अंगना को मित्रगुप्त ने अपने हाथों में ले लिया। उसे भूमि पर नहीं गिरने दिया। वह अंगना मित्रगुप्त की वल्लभा कन्दुकावती थी जो कन्दुकक्रीडा के समय ही इस राजकुमार में अनुरक्त हुई थी। मित्रगुप्त को समुद्र में फेंक दिये जाने पर कन्दुकावती आत्महत्या के लिये अकेली क्रीडावन में भाग गई थी। वहीं मायावी राक्षस ने इसे प्राप्त किया था। मित्रगुप्त और कन्दुकावती नाव से पुन: दामलिप्त नगर में लौट आये। महाराज तुंगधन्वा ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या मित्रगुप्त को दे दी, राजपुत्र भीमधन्वा उसके अधीन होकर रहने लगा, चन्द्रसेना भी उससे मुक्त होकर कोशदास की सेविका हो गई। देवी विंध्यवासिनी का वरदान अक्षरश: सत्य सिद्ध हुआ।

इसके अनन्तर राजा सिंहवर्मा की सहायता के लिये निकला हुआ मित्रगुप्त राजवाहन से मिल कर उसके दर्शनोत्सव सुख का अनुभव किया। मित्रगुप्त के पुरुषार्थ की प्रशंसा करके राजवाहन ने मन्त्रगुप्त की ओर देखा। मन्त्रगुप्त ने भी अपन्ना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। उसके ओष्ठ उसकी प्रेयसी द्वारा दन्तक्षत की व्यथा से पीड़ित थे अत: मन्त्रगुप्त ने ओष्ठ्य पवर्ग रहित वर्णो में ही अपना वृत्तान्त सुनाया।

सप्तम उच्छ्वास

राजाधिराजनन्दन राजवाहन के पर्वत की गुफा में प्रविष्ट हो जाने पर उनकी गति का ज्ञान करने के लिये मन्त्रगुप्त कलिंगदेश में पहुँचा। वहाँ श्मशान भूमि से अनतिदूरवर्ती एक वृक्ष की छाया में पत्तों की शय्या का निर्माण कर उसी पर वह सो गया। सायंकाल कालरात्रि के केशसमूह के सदृश अँधेरा होने पर दुष्ट तापस की निन्दा में तत्पर किंकर और किंकरी की अव्यक्त एवं कातर ध्वनि सुनाई पड़ी।

उपर्युक्त दास और दासी की ध्वनि को सुनते ही मन्त्रगुप्त उस दुष्ट तापस को देखने की इच्छा से आगे बढ़ा। कुछ दूर चलने पर उसने मानव-अस्थि-निर्मित अत्यन्त चञ्चल अलंकारों को धारण किये हुये, शरीर में भस्म लगाये हुये, विद्युल्लता के सदृश जटा धारण किये हुये, प्रज्वलित अग्नि में बायें हाथ से तिल, सरसों आदि का हवन करते हुए एक पुरुष को देखा। किंकर बद्धाञ्जलि होकर उसके सम्मुख खड़ा था। कुत्सितबुद्धिवाले उस हवनकर्ता ने उसे, कलिंगराज की कन्या कनकलेखा को कन्यागृह से अपने समीप ले आने का आदेश दिया। किंकर ने वैसा ही किया। भय से काँपती हुई तथा करुण क्रन्दन करती हुई कन्या कनकलेखा की शिरस्थ माला भी म्लान हो गई। सामने उपस्थित कनकलेखा के शिर को काटने के लिए उद्यत उस दुष्ट पुरुष की तलवार को छीन कर मन्त्रगुप्त ने उसके शिर को काट कर समीपस्थ किसी वृक्ष के कोटर में फेंक दिया। मन्त्रगुप्त ने किंकर से अनुनय करके कनकलेखा को उसके साथ उसके घर भेज दिया। जाते समय प्रशस्तयौवना, विरहविधुरा कमनीयकलेवरा कतिपयकमनीयभावसंयुक्ता कलिंग-राजकन्या कनकलेखा ने कोयल के सदृश मधुर कण्ठ से हृदयगत मृदु भावों को व्यक्त किया—'हे आर्य! आप किस हेतु इस दास-जन को काल के गाल से बचाकर, पुन: अनुराग रूपी पवन से चञ्चल तथा उत्कण्ठा रूपी तरंग वाले कामदेव रूपी समुद्र में फेंक रहे हैं? आप मुझे अपने चरणकमलों की रज ही समझें[1] इत्यादि अनेक प्रकार से मन्त्रगुप्त के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हुई तथा अपने अन्त:पुर में उसे आने के लिए बार-बार विनय करती हुई कनकलेखा चली गई।

कामदेव द्वारा पीड़ित तथा राजपुत्री कनकलेखा के कटाक्षरूपी लोहे की शृँखला से परिबद्ध हुआ मन्त्रगुप्त किंकर की सहायता से कनकलेखा के अन्त:पुर में उपस्थित हुआ। अन्त:पुर में पहुँचते ही कनकलेखा ने प्रगाढ़ निद्रा में शयन करती हुई अपनी अन्य सखियों को भी धीरे से जगाया। उन सखियों द्वारा विनयपूर्वक प्रोत्साहित किये जाने पर मन्त्रगुप्त ने कनकलेखा के साथ यथेष्ट रमण किया (रतिक्रीडा की)।

---

१. आर्य केनकारणेन एनं दासजनं कालहस्तादाच्छिद्यानन्तरं रागानिलचालितरणरणि-कातरंगिण्यनंगसागरे किरसि। यथा ते चरणसरसिजरज:कणिका तथाहं चिन्तनीया..।—दशकुमारचरित-सप्तमउच्छ्वास। पृ० ४६४

रमण करते हुये, कुछ समय के पश्चात् रमणीहीन पुरुषों के चित्तों को व्यथित करने वाला वसन्त का आगमन हुआ। वसन्त समय की शोभा से आकृष्ट कलिंगराज अपनी अंगनाओं, पुत्री तथा नगरवासियों के साथ सागरतीरकानन में विहार करने के लिए चला गया। उद्यान में पहुँच कर नृत्यगीतादि में अत्यन्त विह्वल चित्तवाला कलिंगराज सपरिवार आन्ध्रदेशाधिपति जयसिंह द्वारा पकड़ लिया गया। कनकलेखा को भी परहस्तगता देख कर मन्त्रगुप्त की दशा दयनीय होने लगी। मन्त्रगुप्त के चिन्तित हो जाने पर आन्ध्र नगर से आये हुये एक ब्राह्मण ने उसे यह वृत्तान्त सुनाया कि राजा जयसिंह कलिंगराज को मारना चाहता था किन्तु कलकलेखा के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी (कलिंगराज) की रक्षा की। कनकलेखा के ऊपर अधिष्ठित यक्ष को दूर करने का उपाय किया जा रहा है। यह वृत्त सुनते ही मन्त्रगुप्त यती का वेश धारण कर आन्ध्र नगर पहुँचकर एक सरोवर के तट पर कुटी का निर्माण करके रहने लगा। सर्वशास्त्रज्ञ तथा सत्यवादी के रूप में उसकी ख्याति सर्वत्र फैल गई।

राजा जयसिंह भी उसके इस अद्भुत प्रभाव के वशीभूत होकर उसका अपूर्व सम्मान किया और कनकलेखा में स्थित यक्ष को दूर करने का उपाय पूछा।

मन्त्रगुप्त ने राजा को सान्त्वना प्रदान की और तीन-चार दिन तक प्रतीक्षा करने का आदेश भी दिया। राजा जयसिंह के प्रसन्न होकर चले जाने पर तालाब के किनारे अर्धरात्रि में उसने सुरंग का निर्माण किया और उसे गुप्त रखने के अभिप्राय से पत्थर की शिलाओं से उसके प्रवेश द्वार को बन्द कर दिया। प्रातःकाल यथोचित रूप से सूर्य की आराधना करके अपनी कुटी में प्रतिदिन चला जाता था। तीन दिन व्यतीत होने पर राजा जयसिंह ने मन्त्रगुप्त के समीप आकर ससम्मान उसका अभिवादन किया। मन्त्रगुप्त ने तालाब को सुसंस्कृत कर दिया था। उसी दिन उसने राजा को अपने सैनिकों सहित वहां आमंत्रित किया। आधी रात में तालाब के भीतर प्रवेश करने का आदेश दिया और यह भी बताया की उसमें प्रवेश कर जल में प्राणादि वायु का निरोध कर शयन करते समय किसी व्यक्ति की मन्दध्वनि सुनाई पड़ेगी। जल की ध्वनि शान्त हो जाने पर भीगी शरीर वाला तथा कुछ लाल नेत्रों वाला एक पुरुष बाहर निकलेगा जिसका दर्शन करते ही कनकलेखा के ऊपर का यक्ष उसका परित्याग कर देगा। मन्त्रगुप्त ने राजा को अपने घर जाकर स्नानादि दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का आदेश दिया। राजा के चले जाने

के पश्चात् मन्त्रगुप्त स्वनिर्मित सुरंग में गुप्त रीति से आसीन हो गया । राजा, रात्रि में, सैनिकों को तालाब से १०० हाथ से अधिक दूरी पर नियुक्त कर तालाब में प्रविष्ट हुआ । राजा के मन्त्रगुप्त के द्वारा उपदिष्ट कार्य में तत्पर हो जाने पर मन्त्रगुप्त ने जल के भीतर ही राजा का प्राणान्त कर दिया और अपनी लीला सामाप्त कर, यती का वेश त्यागकर जल से बाहर निकल आया । सरोवर के तटवर्ती हाथी पर सवार होकर मन्त्रगुप्त ने राजभवन में पहुँचकर सिंहासन को अलंकृत किया । याचकों को खूब धनादि का दान दिया । कनकलेखा की सहचरी शशांकसेना के माध्यम से कनकलेख को प्राप्त किया, सम्पूर्ण राज्य भी उसके अधीन हो गया ।

इसके पश्चात् अंगराज सिंहवर्मा की सहायता के लिए गया हुआ राजवाहन के दर्शन-जन्य आनन्दराशि से मन्त्रगुप्त परम प्रसन्न हुआ । मित्रगुप्त के वृत्तान्त को सुन कर राजवाहन ने उसका अभिवादन किया और बहुश्रुत विश्रुत को अपना वृत्तान्त सुनाने का आदेश दिया ।

अष्टम उच्छवास

विश्रुत ने अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया—

विन्ध्याटवी में भ्रमण करता हुआ विश्रुत एक दिन एक कुयें के समीप पहुँच कर, भूख तथा प्यास से व्याकुल ८ वर्ष के किसी बालक को देखा । जलाभिलाषी कोई वृद्ध पुरुष उस कुयें में गिरा पड़ा था । लता आदि की सहायता से विश्रुत ने उसे कुयें से बाहर निकाला । बाँस की नाली से कुयें से जल निकाल कर तथा पत्थरों और बाणों से कुछ फल तोड़कर उसने दोनों की भूख तथा पिपासा को शान्त किया और बालक एवं उस बृद्ध का परिचय पूछा ।

वृद्ध ने कहा-विदर्भ नाम का एक देश है । उसमें पुण्यवर्मा नाम का सत्यवादी राजा हुआ । पुण्यवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अनन्तवर्मा राज्य का अधिकारी हुआ ।

पुण्यवर्मा के वृद्धमन्त्री वसुरक्षित ने एक दिन अनन्तवर्मा को एकान्त में दण्डनीति का उपदेश देना आरम्भ किया । दण्डनीति के सदुपदेश को सुनकर अनन्तवर्मा ने अन्तःपुर में जाकर अपनी रानियों से उसकी चर्चा की । समीप में ही विद्यमान नृत्य, गीत-वाद्यादि विद्याओं में निपुण विहारभद्र नाम के सेवक ने भी समस्त वृत्तान्त सुन लिया । वह सेवक राजा का कृपा पात्र था । उपदेश-श्रवण के

अन्त में विहारभद्र ने वसुरक्षित के उपदेश की निन्दा करते हुऐ तथा उसे धूर्त की संज्ञा देते हुए राजा को सांसारिक सुख की ओर प्रवृत्त किया। उसमें भी उसने भोग-विलासमय जीवन का प्राधान्य प्रदर्शित किया। उसके उपदेश को सुनकर अन्तः पुर की सभी स्त्रियाँ हंसने लगीं।

राजा को तटस्थ देख कर वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित चिन्तित हो गया। उसने राजा को अपने से विमुख देखकर उसे त्यागने का विचार किया किन्तु अपने पिता-पितामह आदि द्वारा सम्मान्य होने के कारण राजा का परित्याग अनौचित्यपूर्ण समझकर अपने पूर्व पद का कार्य करना ही श्रेयस्कर समझा।

मन्त्री के तटस्थ हो जाने पर अश्मकेन्द्र के मन्त्री इन्द्रपालित के दुराचारी पुत्र चन्द्रपालित ने विहारभद्र को अपने वश में कर लिया और उसी की सहायता से उसने राजा का पद भी प्राप्त कर लिया था। तत्पश्चात् जिन-जिन व्यसनों में वह प्रवृत्त हुआ, विहारभद्र ने उन सभी-मृगया, द्यूतक्रीड़ा, उत्तमांगना के साथ सम्भोग, मद्यपान प्रभृति विषयों को विशदरूप से उपकारक तथा हितप्रद वर्णित किया। कटुभाषण दारुणदण्ड और अर्थदूषण को भी यथावकाश औचित्यपूर्ण बताया। मुनिवदाचरण करने वाला राजा न अपने शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ होता है और न ही प्रजा के शासन में सफल होता है।

राजा ने धूर्त विहारभद्र के उपदेश के अनुकूल ही कार्य करना आरंभ किया। राजा के अनुयायी सभी परिजन, प्रजावर्ग तथा मन्त्री-गण भी स्वेच्छया दुर्व्यसना-वलम्बी हो गए। नित्य मदिरापान, वैश्यागमन आदि कुत्सित विषयों में प्रवृत्ति होने लगी। अन्तः पुर की युवतियाँ भी दूषित हो गईं। स्वेच्छया अभिसरण करने में वे निःशंक हो गईं। सम्पूर्ण राज्य पथभ्रष्ट हो गया, सर्वत्र अव्यवस्था ही दृष्टिगोचर होने लगी। फलतः शत्रुओं की भेदनीति को सुअवसर प्राप्त होने लगा। शत्रुओं ने अनेकों बहाने से अनन्त वर्मा की सेना में प्रविष्ट होकर उसके सैनिकों को सुद्रर ले जाकर उनका प्राणान्त करना आरम्भ कर दिया। कभी पर्वत से नीचे गिराते, कभी कुयें खोद कर उस पर घासफूस रख कर उस पर चलने के लिए प्रेरित कर उसमें ढकेलते, वन्य जन्तुओं के शिकार के बहाने वन में ले जाकर धोखे से मृत्यु के घाट उतारते, पारस्परिक भेद उत्पन्न करके आपस में ही विनष्ट करने की नीति का प्रयोग करते। मत्त गजेन्द्रों से कुचलवाते, विष प्रदान करते हुए अनन्तवर्मा की पूर्ण सैन्यशक्ति को जर्जर बना दिया।

इसके पश्चात् वसन्तभानु ने भानुवर्मा नाम के भीलों के राजा तथा अनन्तवर्मा में विद्रोह उपस्थित करके अनन्त वर्मा का विनाश करा दिया। अश्वकपति ने कुन्तलपति अवन्ति देव में मिलकर अनन्तवर्मा पर आक्रमण करा दिया। अनन्तवर्मा मार डाला गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् वसन्तभानु ने अनन्तवर्मा का सर्वस्व अपने अधिकार में कर लिया। सम्पूर्ण राज्य का वैभव परहस्तगत देख कर वसुरक्षित मन्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ कष्टापन्न होकर अनन्त वर्मा की त्रयोदशवर्षीया भगिनी तथा अष्टवर्षीय बालक और उसकी प्रियतमा महादेवी वसुन्धरा को अपने साथ लेकर देशान्तर को चल दिया। कुछ दिनों के पश्चात् दाहज्वर से मन्त्री की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसके कतिपय मित्रों ने वसुन्धरा को उसकी सन्तान सहित उसकी सौत के लड़के के यहाँ पहुँचा दिया। उसने वसुन्धरा को पथ भ्रष्ट समझ कर तथा कहीं यह वसुन्धरा अपने बेटे को ही राजा बनाने के अभिप्राय से आई हो ऐसा अनुमान करके उसके पुत्र को मार डालने का विचार किया। इस रहस्य का ज्ञान होते ही रानी वसुन्धरा ने नालीजंघ को लड़ने को सौंप कर उसे कहीं बाहर जाकर गुप्त रूप से निवास करने का आदेश दिया। महारानी की आज्ञा के अनुकूल विन्ध्य पर्वत के वनों में विचरण करता हुआ बच्चे की भूख तथा पिपासा को शान्त करने के लिये एक कुएं से जल निकालते समय उसी कुयें में गिर पड़ा। कुयें में उसे गिर जाने के पश्चात् निरालम्ब होकर बालक रोने लगा। इसी अवसर पर विश्रुत ने वहाँ पहुँच कर वृद्ध को कुयें से बाहर निकाला। बाहर आने पर वृद्ध ने समस्त वृत्तान्त उपर्युक्त रीति से उसे सुनाया और बालक की रक्षा का भार उसी को सौंप दिया।

अपने अति सन्निकट होने से विश्रुत ने बालक को छाती से लगाया और वसन्तभानु को नीति बल से पददलित कर बालक को राजा के पद पर बैठाने की प्रतिज्ञा कर लिया।

अब सुश्रुत-सुत विश्रुत को बालक की भूख मिटाने की चिन्ता हो गई। मार्ग में एक व्याध से अनुगत दो मृगों को देख कर उसी व्याध के धनुषबाण से ही उन्हें मारकर उनमें से एक व्याध को दे कर और दूसरे के मांस द्वारा बालक, वृद्ध नालीजंघ की और अपनी भूख मिटाई। व्याध से पूछने पर विश्रुत को यह वृत्तान्त भी ज्ञात हुआ कि चण्ड वर्मा का छोटा भाई प्रचण्डवर्मा मित्र वर्मा की पुत्री मंजुवादिनी की प्राप्ति की कामना से पुरी में प्रवेश कर रहा है।

मित्रवर्मा द्वारा बालक को मार डालने की आशंका से विश्रुत ने वृद्ध नालीजंघ से देवी वसुन्धरा के समीप यह सन्देश भेजा कि वह मित्रवर्मा से यह निवेदन करे कि 'बच्चे को बाघ खा गया' और अब वह उसी की आज्ञा के अनुकूल आचरण करेगी। बच्चे की मृत्यु की वार्ता सुन कर मित्रवर्मा देवी वसुन्धरा के समीप जाता है। देवी वसुन्धरा विश्रुत द्वारा भेजे गए वत्सनाभ नामक महाविष से अभिषिक्त कर फूलों की माला का मित्रवर्मा के ऊपर प्रहार करती है। उसके पश्चात् उसी माला को जल से धोकर उसे विषरहित कर उसी माला को मंजुवादिनी को दिया। इसी माला का प्रहार मित्रवर्मा के लिये असिप्रहार हो गया और यही माला मंजुवादिनी के स्तनों का अलंकार बन गई। वसुन्धरा के पातिव्रत की ख्याति फैल गई और सभी उसकी आज्ञा के उल्लंघन में भयापन्न होने लगे। एक दिन विश्रुत सन्यासी के वेष में उसके पुत्र के साथ भिक्षा मांगने आया। वसुन्धरा उन्हें देख कर अतीव प्रसन्न हुई। प्रचण्डवर्मा को राज्य के राजाविहीन होने की सूचना दी जाती है। राज्य का भार उसके वहन करने पर सती वसुन्धरा विश्रुत द्वारा उपदिष्ट नीति के अनुसार पुरवासियों और वृद्ध मंत्रियों के बीच इस स्वप्न की घोषणा करती है कि आज के चौथे दिन प्रचण्डवर्मा मर जायेगा। पाँचवें दिन रेवा नदी के तटवर्ती मंदिर से निःसृत तुम्हारे बालक के साथ एक ब्राह्मणकुमार राज्य को अपने अधिकार में करके उस बालक को राज्यसिंहासन प्रदान करेगा। मंजुवादिनी उसी ब्राह्मणकुमार की पत्नी होगी। इस स्वप्न की वार्ता को गुप्त रखने का उसने सबसे निवेदन किया।

उसके पातिव्रत धर्म की महिमा सर्वत्र विदित हो गई। विश्रुत प्रचण्डवर्मा का पता लगाकर चारण के वेष में सभागृह में पहुँचता है। राजपुत्र भी उसी का सेवक बन जाता है। वह सभागृह में पहुँच कर अच्छी कविता, नृत्य, गीत आदि से प्रचण्डवर्मा का मनोरंजन करता है। अन्ततः नृत्यगान, विविध प्रकार के बनावटी रुदन तथा नाना प्रकार के जन्तुओं की गति का अनुकरण करता हुआ सभी दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर सबकी छुरी अपने पास लेकर विश्रुत छद्म वेष में धीरे-धीरे प्रचण्डवर्मा के समीप पहुँच कर उसकी छुरी लेकर उसे मार डालता है और गुप्त योद्धाओं के पीछा करने पर भी दीवाल को लाँघ कर पश्चिम दिशा का आश्रय लेता हुआ अपने पूर्व शून्य मठ में पहुँच कर अपना पुराना वेष पुनः धारण कर लेता है। विश्रुत इसके पश्चात् श्मशान के समीप दुर्गा जी के मन्दिर में एक गुप्त द्वार का निर्माण कर उसी के भीतर बालक सहित प्रविष्ट हो जाता है। दूसरे

दिन प्रात: काल पुरवासियों, वृद्ध मन्त्रियों औ सामन्तों के साथ मन्दिर में दुर्गाजी की पूजा में भाग लेकर स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि वह चण्डवर्मा तथा प्रचण्ड वर्मा की मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता ।

अन्त में विश्रुत समस्त प्रजा के समक्ष कुमार की सुरक्षा का भार स्वीकार कर मंजुवादिनी से अपना विवाह करता है । उसके कपटपूर्ण आचरण का ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ । रात्रि में सुरंग को उसने भलीभाँति बन्द कर दिया । उसके अद्भुत कार्यों से किसी में उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं रहा ।

दूसरे दिन शुभ मुहूर्त में राजकुमार का मुण्डनसंस्कार और यज्ञोपवीत होता है । नीतिशास्त्र की शिक्षा का आरम्भ भी कराया जाता है । त्रितय शक्तियों तथा नीतिमार्ग का अनुसरण करता हुआ विश्रुत राज्य का संचालन करने लगा । पुन: अपनी नीति के बल से मित्रवर्मा के मन्त्री आर्यकेतु को भी अपने अनुकूल कर लिया और अपनी अलुब्ध वृत्ति तथा धार्मिकभावना का गुप्तचरों द्वारा प्रचार करता हुआ, नास्तिकों को विनष्ट करता हुआ शत्रुओं की कूटनीति को शमन करता हुआ राज्य के संचालन के लिये अर्थोपार्जन का उपाय करने लगा क्योंकि राज्य के कार्यों की सिद्धि अर्थ से ही होती है, उसी से राज्य शक्ति सम्पन्न होता है—दौर्बल्य से बढ़कर और कोई पाप नहीं होता, इस प्रकार विचार करता हुआ विश्रुत शक्तिसंचय का उपाय करने लगा ।

इस प्रकार दण्डी विरचित दशकुमार चरित (८ उच्छ्वास) का अन्त होता है ।

उत्तरपीठिका

विश्रुत चरित का अवशिष्ट अंश

विश्रुत अपने विरोधी अश्मकेन्द्र वसन्तभानु की तुलना में सैन्यशक्ति एवं नीतिबल आदि विषयों में अपने को अधिक समर्थ समझ कर उसे पराजित करके अनन्तवर्मा के पुत्र भास्कर वर्मा को अपने पितृपद पर बैठाने के उपायों का चिन्तन करने लगा । गुप्तचरों की सहायता से वह अश्मकेन्द्र की सेना में भेदभाव उत्पन्न करके उन्हें अपने अनुकूल किया । वसन्तभानु ने अपने राज्यशासन की प्राप्ति के लिए विश्रुत पर आक्रमण किया । युद्ध में उसकी मृत्यु हुई और उसकी सैन्य शक्ति

को भी अपने प्रभाव से स्ववशीभूत कर विश्रुत ने राजपुत्र भास्कर वर्मा का राज्याभिषेक करके अपने पितृपद पर आसीन किया।

इसके पश्चात् अंगराज सिंह वर्मा की सहायता के लिए गये हुये विश्रुत से राजवाहन का समागम हुआ। राजवाहन को अपने मित्रों सहित समासीन होकर परस्पर वार्तालाप के अवसर पर पुष्पपुरी राजधानी से श्री राजहंस का पत्र प्राप्त होता है। पिता की आज्ञा शिरसा स्वीकार करके राजवाहन अपने समस्त मित्रों के साथ अपने पिता तथा माता के चरणों का दर्शन करता है। सभी कुमारों के अद्भुत एवं साहस पूर्ण चरित को सुन कर राजहंस वसुमती तथा मुनि सहित परम प्रसन्न हुये। मुनि की आज्ञा से राजहंस वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लेता है। पुष्पपुरी का राज्य शासन का कार्यभार राजवाहन स्वीकार करता है और शेष सभी कुमार अपने अपने राज्यों का न्यायपूर्ण शासन करते हुए इन्द्रादि देवों के लिये भी दुर्लभ सुख का अनुभव करने लगे।

इस प्रकार दशकुमारचरित की कथा समाप्त होती है।

कथानक का औचित्य

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

—ध्वन्यालोक

'अनौचित्य' के समान रस-भंग का दूसरा कोई कारण नहीं होता। 'रस' ही काव्य की आत्मा है। अपनी कृति की उपादेयता के लिए 'अथ' से 'इति' तक कवि का उत्तरदायित्व इस बात में निहित होता है कि वह रसापकर्षक तत्त्वों के परिहार एवं उसके पोषक तत्त्वों के सन्निवेश का पूरा ध्यान रखे। 'औचित्य का निर्वाह ही रस-सिद्धि का मूल मंत्र हैं। जिनका वर्णन प्रस्तुत हो उन पात्रों के परस्पर संवाद, उनकी चेष्टा, उनके विचार आदि में देश और काल की परिस्थिति और उनकी अपनी व्यक्तिगत परिस्थिति का पूरा ध्यान रखना चाहिए, यही औचित्य का निर्वाह है।'[१]

---

१. 'साहित्यिक निबंध'-म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, सम्पादक-शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी (प्राध्यापक काशी हिंदू विश्वविद्यालय), पृ० ५८।

किसी भी काव्य ग्रन्थ की रचना करने से पूर्व कवि को अपनी कृति के मूलभूत इतिवृत्त की कल्पना और उसकी यथार्थता के लिए काव्यगत नियमों का परिपालन करना पड़ता है । कवि अपने इस उत्तरदायित्व के निर्वाह की चिन्ता में, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की रम्य योजना में, अपनी कृति को विद्वानों के परितोष का विषय बनाने की चेष्टा में, अनागत काव्यसरणि का पथ प्रशस्त करने में, अपनी प्रतिभा और व्युत्पत्ति के मणिकांचन संयोग से काव्य में उपदेश की कान्तासम्मित शैली को सुप्रतिष्ठित करने की तत्परता में अपनी चिरन्तन सारस्वत-साधना का सर्वस्व लुटा देने में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रखता । तथापि कवि अपनी कृति को तब तक सफल नहीं मानता जब तक उसकी कृति विद्वानों के परितोष का विषय न बन जाये ।[१] इसके लिए उसे पूर्व के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यगत नियमों का परिपालन और लक्षण ग्रन्थों का अनुशीलन भी अनिवार्य हो जाता है । महाकाव्यों के 'इतिवृत्त' के सम्बन्ध में आचार्यों का मत है कि इतिवृत्त ऐतिहासिक या सज्जनाश्रित होना चाहिए ।[२] कथा और आख्यायिका के सम्बन्ध में भामह और दण्डी आदि आचार्यों ने अपना मत प्रस्तुत किया है किन्तु दोनों के कथानक के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं प्रतीत होता । परवर्ती मत इस प्रकार अवश्य है कि आख्यायिका का इतिवृत्त ऐतिहासिक और कथा का काल्पनिक या कवि-कल्पना-प्रसूत होता है । इतिहास में अतीत का यथावत् अंकन या अतीत की घटनाओं और पात्रों का यथार्थ चित्रण हुआ करता हैं । इतिहास की घटनायें और उसके पात्र अतीत के सत्य होते हैं । जिसके आधार पर अनागत एवं वर्तमान का भी पथ-प्रदर्शन एवं स्वरूप-निर्धारण होता है । ऐतिहासिक नीरस तथा शुष्क पात्र एवं घटनाएँ कवि की अभूतपूर्व कवित्वशक्ति का आश्रय पाकर सहृदयमनः प्रीति में उपादेय सिद्ध होती हैं । सज्जनाश्रित इतिवृत्त का भी स्थान काव्य ग्रन्थ की उपादेयता में महत्त्वपूर्ण ही होता है । यहाँ भी रमणीयार्थ की अभिव्यक्ति में, औचित्य के पूर्ण निर्वाह में उसे सहृदयहृदयग्राह्य रूप देने की तत्परता में कवि की कल्पना शक्ति और उसका संवेदनशील भावुक हृदय ही उत्तरदायी होता है । कवि इसी लोक का प्राणी होता है किन्तु उसके चिन्तन, मनन या अनुशीलन के विषय अलौकिक भी होते हैं जिन्हें

---

१. आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।—कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.२ । इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।—दण्डी, काव्यादर्श, १.१५ ।

२. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् । दण्डी, काव्यादर्श-१.१५ ।

वह अपनी इन्द्रधनुषी प्रतिभा के दिव्यालोक से एक अभिनव स्वरूप प्रदान कर ऐसे अद्‌भुत चमत्कार की सृष्टि किया करता है जिसमें मानव मात्र की सहज रागात्मिका वृत्ति रमती है। ऐतिहासिक इतिवृत्त के आधारभूत ग्रन्थ रामायण, महाभारत और अन्यान्य पुराण परिगृहीत होते हैं, इसके अतिरिक्त किसी सत्पुरुष को भी प्रधान नायक बनाकर महाकाव्य का प्रणयन किया जाता है। अश्वघोष ने भगवान बुद्ध को नायक रूप में प्रतिष्ठित करके बुद्धचरित नामक महाकाव्य की रचना की। महाकाव्यों में, वर्णन शैली में चमत्कार ला देना कवि के नैपुण्य की एक प्रमुख विशेषता मानी गयी है। महान् जीवनदृष्टि और महान् विषयवस्तु के अनुरूप शैली में भी गरिमा और वैशिष्ट्य अपेक्षित होता है। नितान्त कल्पित कथानक को काव्य के लिए उपयोगी नहीं माना गया है—विशेष रूप से महाकाव्य के लिए।

अब प्रश्न उठता है कि कथा का इतिवृत्त ऐतिहासिक हो, या सज्जनाश्रित या कल्पित अथवा इन विभिन्न तत्त्वों का समन्वित रूप।

वस्तुतः कथाकाव्यों में काल्पनिक इतिवृत्त की ही प्रधानता देखी जाती है। काल्पनिकता, रोमांसिकता, उद्दाम साहस और सामन्ती प्रेम भावना की प्रवृत्ति ही उसमें प्रधान होती है। कथा-काव्य के विकास-क्रम के मूल में भी कल्पना का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। 'हिन्दी साहित्य कोश (पृ० १८२) से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वीर युग में प्रचलित गाथाचक्रों से ही विकसनशील वीरकाव्य (महाकाव्य) कथाकाव्य इतिहास और पुराण इन तीनों का काव्य रूपों में विकास हुआ। वे गाथाचक्र मुख्य रूप से तीन प्रकार के थे—१-वीरभावनाप्रधान, २-रोमांसिक तत्त्वों से युक्त प्रेमभावनाप्रधान और ३-लोकविश्वासों और निजंधरी (लोक-कल्पित) पात्रों से सम्बन्धित तथा धर्मभावनाप्रधान। इन गाथाचक्रों से ही क्रमशः वीर भावना से युक्त महाकाव्य, रोमांसिक महाकाव्य और प्राचीन इतिहास पुराण का विकास हुआ। विकासोन्मुख सामन्त युग में समाज के वर्गविभक्त हो जाने और अभिजात वर्ग के उदय के पश्चात् सामन्ती दरबारी वातावरण में विशिष्ट कवियों द्वारा विकसनशील महाकाव्यों के अनुकरण पर अलंकृत महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की, विकसनशील रोमांसिक कथाकाव्यों या गाथाचक्रों के अनुकरण पर रोमांसिक कथा, आख्यायिकाओं या प्रेमाख्यानों की रचना होने लगी। इस प्रकार प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) और कथाकाव्य ये दो भिन्न रूप हो गए।'

कथाकाव्य के विकास का यह क्रम बहुत कुछ इसी रूप में दृष्टि गत होता है। रामायण, महाभारत के आधार पर किन्तु अलंकृत शैली में संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा विकसित हुई और प्राय: उन्हीं दोनों महाकाव्यों के रोमांसिक तत्त्वों और साहसिक कार्यों का अनुकरण करके वृहत्कथा की तथा उनकी पशुकथाओं के आधार पर पञ्चतंत्र की रचना हुई। इनमें से वृहत्कथा के सम्बन्ध में तो अधिकतर विद्वानों का मतैक्य है कि उसका मूलरूप भी पद्यबद्ध रहा होगा।

भारत में यूरोप की तरह अभिजातवर्गीय शास्त्रीय परंपरा और संस्कृत भाषा के विरुद्ध नवोत्थित पण्यजीवी मध्यवर्ग ने विद्रोह किया जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध और जैन साहित्य तथा कला में वणिक् वर्ग और सामान्य जनता के जीवन और भाषा के प्रति समादर दिखाई पड़ता है। जातक-माला, बृहत्कथा तथा पंचतंत्र की कथाओं में अभिजात-भावना और शास्त्रीय प्रवृत्ति की प्रधानता नहीं है। उदाहरणार्थ गुणाढ्य ने 'वृहत्कथा' में राजाओं और राजवंशों का उतना वर्णन नहीं किया है जितना वणिकों, समुद्र के व्यापारियों और कारीगरों का। पंचतंत्र, वृहत्कथा और जातक माला की कथाओं की लोकप्रियता से प्रभावित हो कर अभिजातवर्गीय संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के कवियों ने भी इस काव्य रूप को ग्रहण किया, यद्यपि उन्होंने इसका माध्यम पद्य को नहीं गद्य को बनाया। इस प्रकार संस्कृत में गद्यबद्ध कथाकाव्य कथा और आख्यायिका के नाम से प्रचलित हुआ।

सामान्य रूप से कथाकाव्य की अन्य काव्य रूपों से इस प्रकार भिन्नता प्रदर्शित की गई है[१]:— 'कथा का कोई महान् उद्देश्य नहीं होता मनोरंजन ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है। इस कारण उनमें महानता, गुरुत्व और गाम्भीर्य भी महाकाव्यों जैसा नहीं होता। इसी तरह उनके चरित्र भी महान् या आदर्श न होकर प्राय: धीरललित या धीरप्रशान्त होते हैं। उनका कथानक जीवन्त, प्रवाहमय और आकर्षक अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ जीवन पर आधारित नहीं होता। कथा के भीतर कथा कहने की प्रवृत्ति होने से उसमें अवान्तर कथाओं की भरमार होती है। काल्पनिक कथा का चमत्कार बहुत अधिक होता है क्योंकि उसमें असम्भव और अविश्वसनीय बातों, आश्चर्यजनक कार्यों और अप्राकृतिक या अमानवीय शक्तियों की भरमार होती है। फलत: उसमें रोमांसिकता और अतिशय मादकता विशेष रूप से पायी जाती है। साथ ही उसमें युद्ध, प्रेम, भयंकर यात्रा, अद्भुत कार्यों

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८३।

आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण होता है । उपर्युक्त प्रवृत्तियों के कारण कथा-काव्य लोकतत्त्वों और कथानक रूढ़ियों से भरा होता है । कथाकाव्यों के नायकों का वीर रूप उनके प्रेमी रूप से दबा रहता है । उनकी वीरता या तो नायिका की प्राप्ति के लिये होती है या चमत्कार प्रदर्शन करने के लिये । उसका उपयोग देश या जाति की रक्षा जैसे महत् उद्देश्य के लिये नहीं होता । यह प्रेम भी अतिशय भावुकतापूर्ण, सामग्रिक दायित्व से रहित, एकान्तिक और प्रायः स्थूल शारीरिक होता है । उसमें रसात्मकता, भावव्यंजना और अलंकृति तो होती है किन्तु विचारों और भावों की गम्भीरता, उद्देश्य की महत्ता, बौद्धिक उँचाई और भावभूमि की व्यापकता नहीं होती ।'

कथा का विशिष्ट अर्थ किया जाता है— किसी ऐसी कथित घटना का कहना या वर्णन करना जिसका निश्चित परिणाम हो । घटना के वर्णन क्रम में भी कालानुक्रम आवश्यक है जैसे सोमवार के बाद मंगल, यौवन के बाद वृद्धावस्था, प्राणान्त के पश्चात् क्षय इत्यादि । घटना का सम्बन्ध किसी से भी हो सकाता है—मनुष्य, वन्य जीवन पशुपक्षी इत्यादि और जगत् के नाना पदार्थ जिनका अनुभव किया जा चुका है या जो क़ल्पित किये जा सकते हैं । जिन्हें संस्कृत में कथा की संज्ञा दी गई है उनके लिये भी हिन्दी में उपन्यास शब्द आता है । उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है । प्रेमचन्द ने लिखा है— 'मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है ।'

उपन्यास शब्द का एक निर्वचन इस प्रकार है—उप = समीप तथा न्यास = थाती । अर्थात् (मनुष्य के) समीप रखी हुई वस्तु । ऐसी वस्तु या कृति जिसके अध्ययन से ऐसी प्रतीति हो कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिविम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गई है । 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी हुआ है । भरत के नाट्य शास्त्र में भी 'उपन्यास' शब्द आया है—

उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासस्तु स स्मृतः ॥

—भरत-नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, श्लोक ७९ । जिसका अर्थ है— युक्तिपूर्ण ढंग से किसी अर्थ को उपस्थित करने वाला । गुणाढ्य की 'बृहत्कथा', 'पञ्चतंत्र' तथा बौद्ध जातक कथाएँ तक इसके अन्तर्गत आ जाती हैं ।

इसमें मदोन्मत्त साहसिकों की कथा रह सकती है, पूरे समाज की कथा का समावेश हो सकता है, जीवित मनुष्यों की कथा की कोई बात नहीं कब्र से भी उठ कर मनुष्य आ सकते हैं। इसमें एक दिन की, एक घण्टे की तथा एक युग की कथा रह सकती है। पात्र एक या अनेक रह सकते हैं। घटनाएं या दृश्य भी अनेक हो सकते हैं।

'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' में कहा गया है कि—वृहत् आकार, गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है। सभी परिभाषाएं एक ही बात पर जोर देती हैं कि उपन्यास में मानव जीवन का प्रतिनिधित्व हो, घटनाएं शृँखलाबद्ध हों, वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।

सम्पूर्ण कथा साहित्य के मात्र छः तत्त्व बताये गये हैं—कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। बाणभट्ट की कादम्बरी के एक श्लोक से भी कथा के मूलभूत तत्त्वों का संकेत प्राप्त होता है। बाणभट्ट ने कथा की तुलना (पुरुष के) हृदय में कौतुक को उद्दीप्त करके अनुराग को उत्पन्न करने वाली उस अभिनवा बधू से की है जो स्पष्ट, मधुर वचनों एवं हावभावों के कारण कोमल तथा रागातिशय के कारण स्वयं शयन-शय्या के समीप आयी हुई हो। ऐसी अभिनवा वधू के समान स्फुट, सुव्यक्त समुल्लसित, कला, आलाप (संवाद) सुन्दर पद-विन्यास के कारण कोमल (सरल) तथा शृंगारादि रस द्वारा अपने आप पदगुम्फन को प्राप्त कथा (मनुष्य के) हृदय में कौतूहल को अभिवृद्ध करने वाली अभिरुचि उत्पन्न करती है।[१]

इसमें एक कथा प्रमुख होती है जो आदि से अन्त तक वर्णित होती है जिसका सम्बन्ध कथा के प्रमुख पात्र (नायक) या पात्रों से होता है। यही कथा नाट्य के आधिकारिक इतिवृत्त की भाँति मुख्य कथानक के नाम से अभिहित होती है। कथा की रुचिरता और यथार्थता की पुष्टि के लिए अनेक छोटे छोटे प्रासंगिक इतिवृत्त भी कवि द्वारा समाविष्ट किये जाते हैं जो वायुवेग या अन्य कारणों से उत्पन्न उन हिलोरों और भँवरों के सदृश हैं जो धारा की गति में कभी वेग या कभी क्षणिक अवरोध उत्पन्न करती हैं। अपने प्रधान इतिवृत्त की सफलता के लिए कवि

---

१. स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवावधूरिव॥—कादम्बरी, आरंभ का ८ वाँ श्लोक।

मानव-जीवन और जगत् के अनन्त रहस्यों का उद्घाटन करते हुए यथार्थ और अपेक्षित सामग्री को ग्रहण करने की तत्परता में निरन्तर प्रयत्नशील होकर भी तुष्ट नहीं होता। भय और विस्मय अथवा प्रेम और घृणा के आधार पर भी कथानकों की कल्पना की जाती है। कथानक के संघटन और वस्तु-विन्यास में सत्यता की झलक, विश्वसनीयता, कार्यकारणसम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्यसंकेत और चरम उत्कर्ष का होना आवश्यक है।

कथावस्तु के संघटन और विन्यास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण पात्रों के चित्रण की कुशलता है। चरित्र-चित्रण जितना ही यथार्थ और समीचीन होता है, पात्रों के क्रियाकलाप जितने ही सुरुचिपूर्ण और मर्यादित होते हैं, पात्र जितने ही सजीव और जीवन की गति को प्रेरणा प्रदान करने में सफल और यथार्थ होते हैं कथावस्तु का निर्माण भी उतना ही सफल और आकर्षक होता है, पाठकों की अभिरुचि और विद्वानों के परितोष का मनोरम विषय होने में समर्थ भी होता है। पात्रों की यथार्थता और सजीवता कवि की कल्पनाशक्ति और उसका मानव-मस्तिष्क विषयक ज्ञान उसकी कलात्मक योजना की कसौटी है। चरित्र-चित्रण के आधार पर ही कवि अथवा लेखक अपनी रचनाओं में महान् उद्देश्यों की अवतारणा करके उसे स्थायी मूल्यों से समन्वित करने में समर्थ होता है। चरित्र-चित्रण की योजना जितनी ही सीधी और सरल होगी सहृदय पाठकों की तन्मयीभवनयोग्यता उतनी ही सच्ची और मौलिक होगी। कथा-गत रस की सच्ची अनुभूति पाठकों को तभी होती है जब पाठक यथावसर उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। मानव स्वभाव या चरित्र के विभिन्न पक्षों और स्तरों के सूक्ष्म अवलोकन एवं पर्याप्त परिशीलन के परिणामस्वरूप शब्दों में चित्र और लालित्य उत्पन्न कर सकने की योग्यता ही सफल चरित्र-चित्रण की कसौटी स्वीकार की जाती है।

पात्रों का वार्तालाप भी कथा अथवा उपन्यास-गत उद्देश्य की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कथागत माधुर्य एवं हृदयपक्ष की मनोरम सृष्टि में संवाद या कथोपकथन का विशेष योगदान होता है। पात्रों के वार्तालाप से ही हम उनके सान्निध्य में पहुँचते हैं, परिचय प्राप्त करते हैं, पात्रों की संवादमूलक सजीवता से ही हम प्रभावित होते हैं, प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अन्त में कथावस्तु की सफलता और चरित्र-चित्रण के चरम विकास की आशा करते हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथोपकथन का उपयोग होना चाहिए। देश, काल और पात्रों के अनुकूल

स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिक याथार्थ्य और कथा की रोचकता, तथा आकर्षण के लिए उपादेय अभिनयात्मकता और सरसता भी परमापेक्षित है । पात्रों के वास्तविक व्यक्तित्व का विशद चित्र हमारे सम्मुख उनके कथनोपकथन से ही उपस्थित होता है, परन्तु ये पात्र जिन परिस्थितियों में से होकर गुज़रते हैं, व्यवहृतिवृत्ति के प्रति सोपान और क्रिया-विधि की प्रति वेला में जहाँ तक उनके कर्त्तव्यपालन की सीमा पर्यवसित होती है उन विविध परिस्थितियों का भी चित्र पाठकों के मानस-पटल पर यथावत् अंकित होना चाहिए । इसीलिए चरित्र-चित्रणादि अन्य तत्त्वों की तरह देशकाल या वातावरण की मनोरम सृष्टि भी कथा की सफलता के द्योतक केन्द्रविन्दु के रूप में सर्वात्मना स्वीकार की जाती है । देशकाल समसामयिक और ऐतिहासिक दोनों हो सकता है जिसका घनिष्ट परिचय कवि के लिए आवश्यक होता है । क्योंकि उसी के आधार पर कवि या उपन्यासकार भौगोलिक विवरण; सामाजिक रीति-नीति, शिष्टाचार, भाषा-प्रयोग इत्यादि का अपनी कृति में सन्निवेश करके घटनाओं को सजीव बनाकर नयी चेतना का स्फुरण किया करते हैं । देश काल के इस प्रकार के चित्रण के लिए भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का समग्र परिचय तो अपेक्षित होता ही है साथ ही कलाविधान करने वाली कल्पना-शक्ति का भी होना अनिवार्य है क्योंकि भौगोलिक और सामाजिक अध्ययन का समुचित उपयोग और विवरणों की सरसता का आधार वही है । सच्चाई और रमणीयता का समन्वित रूप भी इसी के अधीन होता है । देशकाल के प्रयोग में ही वाह्य प्रकृति का चित्रण होता है और, कवि पात्रों की रागात्मिका वृत्तियों का प्रकृति के साथ सामीप्य और तादात्म्य प्रदर्शित करता है और कभी उनकी भावनाओं के प्रतिकूल प्राकृतिक वैभव विलास का उत्कृष्ट वर्णन करके गूढ़ व्यंग्य की अवतारणा करता है । आलम्बन और उद्दीपन विभावों की रमणीय और प्रशस्त योजना की सफलता में कवि की कलात्मक अभिरुचि और काव्यगत वातावरण को चारुतम रूप प्रदान करने की सामर्थ्य में उसकी निपुणता की परीक्षा होती है ।

उपन्यास के सभी तत्त्वों को अपनी कृति में भव्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त शैली का भी विशेष महत्त्व होता है । शैली की विविधता अनन्त है । क्योंकि कवि या लेखक की अपनी पृथक् शैली होती है जिससे पाठकों के सामने उसके व्यक्तित्व की एक आलोकमयी रेखा खिंच जाती है जिसके प्रकाश में वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषयों का अवलोकन करता है । सभी तत्त्वों के समुचित सन्निवेश में शैली ही उत्तरदायी होती है । शैली की अनुरूपता और उसकी सरलता

पाठकों की मनस्तृप्ति को अक्षुण्ण रखने में क्षम होती है । शैली के विविध रूप हैं, कोई व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग करते हैं, कोई अभिनयात्मक शैली का । किसी की कला उस चित्रकार के सदृश होती है जो चित्र की पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अंकन करता है, अनेक रंगों का प्रयोग करता है और चित्र के सभी अवयवों को पूर्ण मनोयोग से प्रभावोत्पादक और प्रेरणादायक रूप में प्रस्तुत करता है ।कोई कतिपय कमनीय रेखाओं द्वारा ही चित्र का भाव व्यंजित कर देता है ।

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् विना प्रयोजन के मन्द भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । मानवमात्र की प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ प्रयोजन या उद्देश्य अवश्य होता है और उसकी पूर्ति के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील भी होता है । वस्तुत: कवि का भी अपनी कृति के पल्लवन में कुछ उद्देश्य सुनिश्चित होता है । इसलिए उद्देश्य भी कोई पृथक् तत्त्व नहीं कहा जा सकता । कवि या कलाकार सामाजिक प्राणी भी होता है और जब वह किसी विषय को कथा के रूप में प्रस्तुत करने का निश्चय कर लेता है तभी उसके मन में कथा सूत्र के साथ वह जीवनदृष्टि मूर्त होने लगती है जो उसने जीवन की विविध गतिविधियों की विचित्रताओं से, मानव-प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों और स्तरों से अनुभव किया था । फलत: जिन परिस्थितियों को वह जन्म देता है, जिन पात्रों या चरित्रों की अवतारणा करता है, जिन सुरुचिपूर्ण सद्भावों की अभिव्यक्ति करता है, भाषा और शैली के जिन सजीव और चारुतम रूपों को भावाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करता है, अतीत के जिन प्रिय सत्यों का परिचय प्रस्तुत करना चाहता है और अनागत के पथ प्रदर्शन में जिन स्थायी मूल्यों की वह कल्पना करता है वे सभी उसकी उस जीवनदृष्टि से अनुप्राणित होते हैं । इस प्रकार के सूक्ष्म जीवन-दर्शन और तज्जन्य अनुभव की मनोरम अभिव्यक्ति में ही उसका परम प्रयोजन निहित होता है जो वर्तमान की गतिविधि को भी प्रभावित करने के साथ ही नियंत्रित भी करने में सफल होता है । जब तक कवि अथवा कलाकार को कमनीय कृतियों का प्राय: कोई सर्वजनश्लाघ्य उद्देश्य नहीं होगा तब तक उसकी लोकप्रियता के स्वप्न सत्य नहीं होंगे । अतएव कला की दृष्टि से वही कृति श्रेष्ठ कही जा सकती है जिसमें मानव चरित्र का आदर्श सुप्रतिष्ठित हो और उस कलाकृति का रचयिता पाठकों के मानस पटल पर एक अमिट प्रभाव डाल सके कि उसकी रचना से जिस जीवन-दर्शन और स्थापित आदर्श का सन्देश मिलता है उन्हें उसने बाहर से आरोपित न कर जीवन के चिरन्तन सत्य से ही ग्रहण किया था । इस विषय में तो

प्राय: सभी सहमत हैं कि कथा के लिए पुस्तकों से सामग्री का आदान न कर जीवन ही से ग्रहण करना चाहिए। वाल्टर वेसेन्ट ने अपनी 'उपन्यासकला' नाकम पुस्तक में लिखा है उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रखी पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो नित्य ही चारों तरफ मिलते हैं...पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा। हेनरी जैम्स ने लिखा है कि 'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए।'

दशकुमारचरित एक घटनाप्रधान कथानक है। घटनाओं का इसमें जाल सा विछा हुआ है। उल्लासमयी घटनाओं की विविधता पाठकों के हृदय में कभी हर्ष एवं विषाद, कभी विस्मय और औत्सुक्य की रेखाएं खींचने मे समर्थ होती है। प्राय: सभी चिन्तक और आलोचक इस बात से सहमत हैं कि दण्डी ने संभव है कि अपनी कथा का आधार गुणाढ्य की वृहत्कथा को ही स्वीकार किया हो।

'बहुत संभव है कि दण्डी की कथाओं का आधार बृहत्कथा थी और शायद उन कथाओं के प्राचीन भौगोलिक संकेत भी दशकुमारचरित में आ गये।...यह बहुत संभव है कि दण्डी ने अपनी कथाओं का रूप और कहने का ढंग गुणाढ्य की वृहत्कथा से लिया। दशकुमारचरित में गुणाढ्य अथवा बृहत्कथा का कोई सीधा उल्लेख तो नहीं आया है पर दशकुमारचरित के प्रथम उच्छ्वास में सुरतमंजरी कहती है कि वेगवत् का पौत्र और मानसवेग का पुत्र वीरशेखर विद्याधरों के सम्राट की संतान का वैरी था। इस उल्लेख से पता चल जाता है कि दण्डी को वृहत्कथा का पता था। 'बृहत्कथा' की कहानियों में जिस तरह नरवाहनदत्त के साथी उनसे मिलकर अनेक विचित्र घटनाओं और साहसिक कार्यो का वर्णन करते हैं उसी प्रकार दशकुमारचरित के पात्र भी। कुछ विद्वानों की राय है कि दण्डी दशकुमारचरित को बहुत बड़ा बनाना चाहते थे पर किसी कारणवश वे ऐसा न कर सके।'[१]

'दशकुमारचरित' के आमुख (पृ० ६) में ही डा० मोती चन्द्र ने ही लिखा है-मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है की दण्डिन् गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से बहुत प्रभावित थे। गुणाढ्य ने जिस समाज का चित्रण किया है वह रूढ़िगत संस्कृत

---

१. दशकुमारचरित का हिन्दी रूपान्तर-पं० निरंजनदेव शूरि आयुर्वेदालंकार। द्रष्टव्य—'आमुख'-डा० मोतीचन्द्र अग्रवाल-पृ० ७-८।

साहित्य का काल्पनिक समाज न होकर, जीते-जागते, हंसते-खेलते, खाते-खिलाते समाज का चित्र है। ऐसे जीवित समाज के चित्रण के लिये सीधी, पर चोट करने वाली शैली की आवश्यकता थी और दण्डी ने उसे बेखटके अपनाया।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दण्डी को दशकुमारचरित के कथानक की मूल प्रेरणा वृहत्कथा से हुई। उसे उपस्थित करने में कवि ने अपनी अभूतपूर्व कल्पना- शक्ति का समुचित उपयोग किया है। कथा चाहे सीधे मानव समाज की हो या सच्ची हो किन्तु कवि की कल्पना शक्ति का सम्बल पाकर ही वह यथार्थ और अनमोंल उपलब्धि के रूप में विद्वानों द्वारा समादृत होती है।

अंग्रेज़ी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि विलियम वर्ड्सवर्थ का भी यही सिद्धान्त है—'कवि, एक ऐसा मानव है जिसका मानव-प्रकृति या स्वभाव विषयक ज्ञान हम सामान्य जनों की अपेक्षा गम्भीर होता है, जिसकी बुद्धि व्यापक और विस्तृत होती है, जो अपनी सदिच्छा और उत्कण्ठाभाव या औत्सुक्य से आनन्दित होता है और जो अन्य जनों की अपेक्षा जीवन-दर्शन में अधिक प्रसन्न होता है, जगत् की घटनाओं से प्रभावित होकर आत्म-चिन्तन और मनन के साथ ही प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है और स्वभावत: जो उन घटनाओं के अभाव में भी उन भावों की अभिव्यक्ति किया करता है। और भी, मुख्य रूप से अपनी नियंत्रित, सूक्ष्म एवं तीव्र कल्पना एवं चिन्तन शक्ति के कारण ही वह अन्य सामान्य जनों से भिन्न होता है। सत्काव्य के उद्भव में केवल सूक्ष्म-बोध या चेतनता ही पर्याप्त नहीं होती, शान्त मस्तिष्क से इसका अनुभव होना भी अनिवार्य होता है। समस्त सत्काव्य शक्तिशाली भावनाओं या अनुभूतियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है...क़ाव्य की उत्पत्ति शान्त वातावरण में शान्तिमय मस्तिष्क (हृदय) में भावों की स्मृति से होती है...इस प्रकार इसके चार स्तर हैं— सर्वप्रथम (भावों का) संस्मरण, चिन्तन या मनन, ।'

भावों का पुनरुद्गार और फिर अभिव्यक्ति।[१]

'वड्र्सवर्थ का सिद्धान्त है कि 'कल्पना' ही एक ऐसी शक्ति है जो हमें सत्य और वास्तविकता का पथ-प्रदर्शन करती है। यह सद्य: अन्तर्दृष्टि और चिंन्तन (मनन) है। यह कल्पना ही अनुभूत वस्तु और मस्तिष्क के स्वर को मिलाने वाली एक कड़ी है।

---

१. 'वड्र्सवर्थ' के० के० शर्मा-पृ० ६८,६९ का हिन्दी अनुवाद।

अस्तु स्पष्ट है कि काव्य में कवि की कल्पना शक्ति रथचक्र की उस धुरी के सदृश है जिसके अभाव में उसकी गति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। काव्य में कल्पनाशक्ति की उपादेयता सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। बाणभट्ट तथा दण्डी आदि इन महान् कवियों ने वस्तुत: एक ऐसे ही अद्‌भुत कल्पनालोक की सृष्टि की है जहाँ नित्य नूतन भावों के दर्शन होते हैं। कल्पना ही इनकी कथाकृतियों का सर्वस्व है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जीवन और जगत् के अनन्त रहस्यों को प्रकट करने में कल्पना का उपयोग अनिवार्य है। अतएव कुतूहल की सृष्टि तथा मानवीय आवेगों के उद्दीपन द्वारा अपनी कृति में रोचकता और किसी नीति या सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों के उत्तेजन द्वारा उनमें गरिमा का सन्निवेश भी वाञ्छनीय होता है जिसके मूल में कल्पना का अस्तित्व सर्वथा स्पृहणीय है। दण्डी की कल्पना शक्ति इस अर्थ में दशकुमारचरित के कथानक में सर्वथा सराहनीय है। वह जीवन की हर गति को स्पन्दित करनेमें पूर्ण रुप से क्षम है। राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी के प्रणय चित्रण में, महर्षि मरीचि और काममञ्जरी की अवस्थाओं उनके क्रिया कलापों के विविध रूपों के यथार्थचित्रण में, अपने अभीष्ट की सिद्धि में नीति बघारने वाली काममंजरी की चतुरता के अद्‌भुत निरूपण में, यत्र-तत्र तर्कों की पुष्टि में शास्त्र के सिद्धान्तों और उपदेशों के उल्लेख में, पौराणिक संकेतों की रमणीय अभिव्यक्ति में, अपहार वर्मा के पराक्रम और उसकी चौर्यवृत्ति के सांगोपांग विवेचन में दण्डी की निपुणता द्रष्टव्य है। एक मूल कथा की पुष्टि और उसकी पूर्णता में अवांतर कथांशों का सन्निवेश कथानक की रोचकता में भूषण ही है दूषण नहीं। कथा की रुचिरता के लिए एक ही कथा के अन्तर्गत अनेक कथाओं के कहने की प्रवृत्ति यहाँ विशेष रूप से पायी जाती है और इस बीच में यत्र-तत्र उच्चादर्शों और सिद्धान्तों के विवेचन और कतिपय मौलिक सत्यों के प्रतिपादन भी कवि की लेखनी के अविषय न होकर कथानक की सफलता में अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुए हैं। काव्यों में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की चर्चा को भी प्राय: यथाकथंचित अवसर मिलता है और इन चारों की प्राप्ति भी साधुकाव्यों के अनुशीलन से ही बताई गई है।[१] दण्डी ने भी ऋषि मरीचि को धोखा देने वाली

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव...॥
साहित्यदर्पण- प्र० परिच्छेद में उद्‌धृत।
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥—वही।

काममंजरी के मुख से चतुर्वर्ग के स्वरूप, परिवार, और उनके फल आदि की व्याख्या प्रस्तुत की है। दण्डी पर प्राय: अश्लील आदि दोषों का आरोप किया जाता है, वस्तुत: ऐसी दृष्टि वास्तविकता से सुदूर है। चारों पुरुषार्थों में 'काम' की महिमा रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् और वेदादि में धूमधाम से गायी गई है। दशकुमारचरित भी उसकी एक उदात्त भूमिका प्रस्तुत करता है।

अथर्ववेद में कामदेव की कल्पना उभरी है। उन्हें प्रथमोत्पन्न बताया गया है। उनके पास तीर है जो सभी के हृदय को बींधता है। उनके विषय में प्राप्त अल्प विचारों से प्रतीत होता है कि वे अपने प्राथमिक रूप में मानव-प्रेम के देवता नहीं थे यद्यपि संभव यह भी है कि उनके स्वरूप का वह पक्ष आरम्भ ही से अस्तित्व में आ गया हो अथवा जल्दी ही उनके ऊपर आरोपित हो गया हो। उनका वर्णन दार्शनिक दृष्टिकोण से किया गया है। यह दृष्टिकोण अथर्ववेदीय तत्त्वज्ञान के अनुकूल बैठता है, तथापि इस रूप में वे ऋग्वेद के एक अत्यन्त मार्के के सृष्टिविद्या सम्बन्धी सूक्त में आये हुए 'काम' शब्द से लिये गये प्रतीत होते हैं। वहाँ 'काम' मनस् का प्रथम बीज है और वह ब्राह्म तत्त्व है। परवर्ती आर्षकाव्य के अन्तिम स्तर तक पहुँचकर हमें कामदेव का उनके पंचेषुओं के साथ दर्शन होता है, वे जिन्हें प्रेम की पीर से तपाते हैं उनके हृदयों को वे अपने बाँण से बींधते बताए गये हैं।[१]

शारीरिक तथा मानसिक कहे जा सकने वाले ऋग्वैदिक देवताओं में मन्यु सबसे अधिक निखरे हुए हैं। उन्हें स्वयंभू और दुर्धर बताया गया है। वे वृत्रवध करते, धन देते, इन्द्र की तरह विजय प्रदान करते और मरुतों की मण्डली में रहते हैं। मन्यु की कल्पना निस्सन्देह संहारक इन्द्र के स्वरूप से आविर्भूत हुई है। ऋग्वेद में श्रद्धा का भी दैवीकरण हुआ है। श्रद्धा के द्वारा यज्ञाग्नि प्रज्वलित होती है, आज्याहुति दी जाती है और धन प्राप्त किया जाता है। उनका आह्वान प्रात: मध्याह्न और रात्रि के समय किया गया है। ब्राह्मण उन्हे सूर्य अथवा प्रजापति की पुत्री बताते हैं। श्रद्धा का प्राथमिक अर्थ है देवताओं के अस्तित्व और उनकी वदान्यता में विश्वास। दण्डी नाना विद्याओं तथा शास्त्रों के मर्म से भलीभाँति परिचित थे। उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और व्यावहारिक थी। कथाकार, काव्यशास्त्री और

---

१. वैदिक धर्म और दर्शन— ए० बी० कीथ- हिन्दी अनुवादक- सूर्यकान्त पृ० २६०.२६१ (रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ द वेद ऐण्ड उपनिषद्स) प्रथम भाग १९६३ ई० ।—प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

आचार्य के रूप में उनका व्यक्तित्व महनीय था। दशकुमारचरित में दण्डी का चारों पुरुषार्थो में से मुख्यरूप से 'अर्थ' और काम की ओर विशेष झुकाव प्रतीत होता है। दण्डी की व्यावहारिक दृष्टि राजनीति के गूढ तत्त्वों, कामशास्त्र के सूक्ष्म तथ्यों का प्रतिनिधित्व करती है। दण्डी की दण्डनीति 'अर्थ' पुरुषार्थ का प्रतीक है और श्रृंगारपिच्छिलवर्णन 'काम' पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। 'अर्थ' एवं 'काम' यही दोनों पुरुषार्थ जीवन की यथार्थवादी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से 'धर्म' और मोक्ष का महत्त्व है। भारतीय संस्कृति इन दोनों दृष्टियों का मञ्जुल सामंजस्य प्रस्तुत करती है। क्योंकि इनमें इन चारों के समवाय का महत्त्व है। महाकवि कालिदास ने भी चारों पुरुषार्थो की ओर संकेत किया है। 'राजा दशरथ के चारों पुत्र इस प्रकार शोभित हो रहे थे मानो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ने साक्षात् अवतार ले लिया हो, अर्थात् मूर्तिमान हों।'[१] महाभारत तो इन चारों पुरुषार्थो का आकर है। इसी दृष्टि से उसका इतना महत्त्व है-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

—महाभारत, आदिपर्व।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ के सम्बन्ध में जो यहाँ है वही अन्यत्र सर्वत्र है जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। वस्तुतः धर्म की ही यहाँ प्रधानता है-महाभारत की ही एक प्रसिद्ध उक्ति यह भी है—मैं अपनी भुजा उठाकर कहता हूं किन्तु कोई सुनता नहीं है, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है अतएव धर्म का ही पालन क्यों नहीं किया जाता:—

ऊर्ध्वबाहुः विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

दण्डी ने वस्तुतः काम की चर्चा या उसका खुलकर वर्णन इसलिए नहीं किया कि लोग उसे पढ़ कर कामुक हों। दशकुमारचरित में कामसूत्रों की परम्परा का निर्वाह किया गया हैं। इस प्रकार दशकुमारचरित 'काम' पुरुषार्थ की एक उदात्त भूमिका प्रस्तुत करता है। दशकुमारचरित की कहानियों का सम्बन्ध दोनों क्षेत्रों से

---

१. स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतारइवांगभाक्॥—कालिदास, रघुवंश-१०.८४।

है। स्थल जगत् से और जल जगत् से भी। पाठक कभी भयानक अरण्यानी के बीच हिंस्र पशुओं के चीत्कारों और दहाड़ों को सुन कर व्याकुल हो उठता है तो कभी समुद्र के बीच जहाज की दुर्घटना हो जने से अपने प्राणों की रक्षा करने वाले पात्रों के दुर्दिन की व्यथा से उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है। मित्रगुप्त के जीवन में हमें तत्कालीन जलयात्रा का एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। लोक-जीवन का रम्यचित्रण दशकुमारचरित के मूलकथानक का आधार है।

दशकुमारचरित में कहीं भावमय गम्भीर अर्थों का समावेश है तो कहीं मूलकथा में मनोरम उपाख्यान भी है, कहीं गृहस्थ जीवन की आदर्शमयी निर्मल चित्रशाला है, कहीं दुष्ट और सज्जन, क्रूर और करुण हृदय का अपूर्व विकास है, कहीं युद्ध का तुमुल कोलाहल है तो कहीं शान्ति की मधुर, अजस्र धवल धारा है, कहीं दाम्पत्यगत-प्रेम की पराकाष्ठा है तो कहीं कल्पनालोक की अद्‌भुत सृष्टि एवं व्यंग्यपूर्ण विनोदों की चारु चर्चा है, कहीं प्रवंचना और चौर्य, धोखेबाजी और परनारीहरण की रोमांचकारी और विस्मयावह घटनाओं का दुर्गम व्यूह है तो कहीं कर्तव्यपरायणता एवं परोपकार, दानशीलता एवं त्याग का भावमय उत्तमोत्तम निदर्शन है, कहीं नृत्य एवं संगीत की मधुमयी स्वरलहरी कर्णकुहरों को आप्यायित करती है तो कहीं दिवस के पर्यवसान में स्निग्ध एवं सुशीतल करों से प्रकृतिसुन्दरी के रमणीयांचल को रंजित एवं आर्द्र करने वाले भगवान भास्कर के दिव्य दर्शन होते हैं, कहीं रम्या रजनी के अंक में प्रोद्‌भासित होने वाले निर्मल चारु चन्द्र की चंचल किरणें प्रणयिजनों के चित्तचंचरीक को आकृष्ट कर नेत्रोत्सव का विषय बनती हैं तो कहीं वसन्त का अतुल वैभव मानस तल को अनूठे ढंग से तरंगित करता है, कहीं पुरुषार्थों की यथार्थ विवेचना है तो कहीं दण्डनीति प्रभृति—चारों विद्याओं की विशद व्याख्या है, कहीं कूटनीति एवं अंगनाओं का सांगोपांग और नखशिख वर्णन है तो कहीं समाज के मर्मस्पर्शी चटकीले रंगीन चित्र का यथार्थ चित्रण है। शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य से ओत-प्रोत दशकुमार चरित का कथानक आदर्श एवं यथार्थ के पारस्परिक सामंजस्य को प्रस्तुत करता है जो मनोरम प्रतीत होता है। वर्णन की विविधता न तो मूल कथानक की रोचकता में अवरोध उपस्थित करती है और न ही अवान्तर कथाएँ उसके अमन्द प्रवाह को शिथिल करती हैं। घटनाओं के यथार्थ चित्रण में ही दण्डी की इस रचना का विशेष महत्त्व है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी दशकुमारचरित एक श्लाघनीय रचना है जिसके पात्र जीते जागते जगत् के प्राणी हैं । प्रत्येक उच्छ्वास के नायक कुमारों का साहस और पराक्रम, अतुल बुद्धि वैभव उनके अद्भुत क्रिया कलाप उनके चरित्र की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने में तो समर्थ है ही, साथ ही कथागत सामान्य पात्र भी विभिन्न परिस्थितियों में विविध भावों के प्रतीक हैं जिनके चमत्कारपूर्ण कार्य मानस तल पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं । ब्राह्मण और तपस्वी, जादूगर और पाखण्डी साधु, दूतकर्म में निपुण बौद्ध भिक्षुणियाँ, स्वैरिणी अभिसारिकायें, राजे-महाराजे, वेश्याएं और चोर, सेवक और मन्त्री, कपटवेषधारी सन्यासियों और लक्षणज्ञों का रंगीन चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपनी व्यापक लोकानुभूति एवं कलात्मकता का सुन्दर परिचय दिया है । ऋषि मरीचि, काममंजरी और रागमंजरी जैसी वेश्याएँ, सती स्वरूपा पतिपरायणा गोमिनी और क्रूरहृदया धूमिनी जैसी नारियाँ, व्यापारी वसुपालित, कुक्कुट युद्ध के अवसर पर प्रमति से मैत्री करने वाला वृद्ध ब्राह्मण पांचाल शर्मा, राजकुमारी में अनुरक्त शहरकोतवाल कांतक, मित्रगुप्त से पर्वत पर मिलने वाले ब्रहराक्षस और सामुद्रिकशास्त्रवेत्ता के रूप में नारी प्राप्ति की अभिलाषा से विचरण करने वाले शक्तिकुमार तथा प्रेम के अन्धे कतिपय कामुकों एवं धन के लोभी श्रेष्ठियों आदि के यथार्थ चित्रण द्वारा दण्डी ने अपनी कृति के मूल कथानक में सजीवता उत्पन्न कर दी है । दशकुमारचरित के पात्र राजा हों या रंक, मंत्री हों या सेवक सभी अपने कर्तव्य-पालन में उदासीन नहीं प्रतीत होते । इसीलिए उनके कर्तव्य हास्य एवं विनोद के अजस्र स्त्रोत हैं । बिल साधना, सुरँग निर्माण करना, मसान जगाना, सिद्धाञ्जन और मणि, मन्त्र और औषधियों के प्रयोग व्यंग्य और शिष्ट हास्य के केन्द्रविन्दु हैं । विदर्भ के राजा पुण्यवर्मा के आद्योपान्त वर्णन में एक आदर्श राजा की तस्वीर खींची गयी है । राजा अनन्तवर्मा का चित्र भी बड़ी खूबी से प्रस्तुत किया गया है । राजाओं के इस प्रकार के चित्रण से दण्डी ने प्राचीन भारतीय राजसी जीवन के आदर्श की भव्य झाँकी उपस्थित की है । गुप्तचरों के भी कमनीय कृत्यों का दण्डी ने सिद्धहस्त लेखक के रूप में सुन्दर चित्र खींचा है ।

दशकुमारचरित विविध अद्भुत चरित्रों का एक विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है । मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं अत्यन्त साहसी हैं जो नित्य नूतन कुतूहल की सृष्टि करते हैं । विश्रुत जैसा तेजस्वी और नीतिनिपुण, अपहार

वर्मा जैसा योद्धा और सिद्धहस्त चोर, उपहार वर्मा जैसा कपटी और धूर्त, राजवाहन जैसा धीर और सहिष्णु, अर्थपाल जैसा उपस्थितबुद्धि और पितृभक्त, प्रमति जैसा परिश्रमी और चतुर, मित्रगुप्त (षष्ठ उच्छ्वास) जैसा पुरुषार्थी और ज्ञानी, मन्त्रगुप्त जैसा ढोंगी, धूमिनी जैसी कुलटा, और गोमिनी जैसी पतिपरायणा नारियों का चरित्र संस्कृत कथा-साहित्य में बेजोड़ है ।

इन विविध चरित्रों के यथार्थ चित्रण में दण्डी की यथार्थवादी दृष्टि का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है । जिन कृतियों में आदर्शवादी दृष्टि का प्राधान्य होता है वहां कवि हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है जिनका अन्तः करण विशुद्ध होता है, जिनमें हृदय का पावनत्व अनुकरणीय होता है, जो स्वार्थ और वासना रहित तथा साधु प्रकृति के होते हैं । जहाँ यथार्थवादी दृष्टि की प्रधानता होती है वहाँ कवि अथवा लेखक हमारी दुर्बलताओं और विषमताओं का यथार्थ अंकन प्रस्तुत करता है । भारतीय आशावादी दृष्टिकोण के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण के निरूपण में फल प्राप्ति का होना आवश्यक होता है । अतएव वे फलप्राप्ति-पर्यन्त मानवीय एवं अमानवीय सभी आपत्तियों को झेलते, कुचलते, पददलित करते दुर्धर्ष गति से आगे बढ़ने से रुकते नहीं प्रतीत होते । इसके विपरीत यथार्थवादी ऐसे चरित्रों की सृष्टि करता है जिन्हें वह सिद्धान्तों या आदर्शों को मूर्तिमान रूप में प्रतिष्ठित न कर उनके वास्तविक स्वरूप को यथावत् हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है । पात्रों के यथार्थ चित्रण में उनकी सच्चरित्रता या कुचरित्रता के सुपरिणाम या कुपरिणाम में लेखक की दृष्टि केन्द्रित नहीं प्रतीत होती । उसमें उनके गुणों और दोषों तथा समाज की वास्तविक स्थिति का नग्न चित्र होता है । यथार्थवादी दृष्टि के फलस्वरूप प्रायः हमें निराशा भी होती है किन्तु चरित्र को सजीव बनाने के लिए तथा आदर्श को सुप्रतिष्ठित करने के लिए भी किसी न किसी रूप में यथार्थ का उपयोग अनिवार्य होता है । वस्तुतः समाज और चरित्रों की निर्बलताओं की अभिव्यक्ति से कोई हानि नहीं होती । हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन की ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है उसके साथ आत्म-परिष्कार भी इस प्रकार की साहित्यसर्जना का लक्ष्य रहा है ।

पात्रों का यथार्थ स्वरूप ही हमारा पथ-प्रदर्शक हो सकता है, सद्भावों का संचार कर मानवता प्रभृति उदात्त वृत्तियों का उद्भावक भी वही हो सकता है, मनुष्यत्व को जागृत कर दृष्टि को व्यापकता और परिष्कार के लिए उत्तरदायी होने में समर्थ हो सकता है । दण्डी ने समाज की कुरीतियों और सद्वृत्तियों का अद्भुत

समन्वय प्रस्तुत किया है। यहाँ यथार्थ औ अयथार्थ दोनों का असाधारण संगम है। पुरुषार्थ में जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया गया है 'अर्थ' और 'काम' यही दोनों जीवन की यथार्थवादी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। दण्डी की दण्डनीति की विशद विवेचना 'अर्थ' पुरुषार्थ की प्रतीक है और शृंगार-रसपेशल वर्णन 'काम' पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। इस प्रकार दण्डी की दृष्टि आज की पदावली में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का चित्रण प्रस्तुत करती है।

संवाद या वार्तालाप की दृष्टि से भी दशकुमारचरित का कथानक सरस और सजीव है। राजकुमार राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी का पारस्परिक प्रेमालाप, ऋषि मरीचि और काममंजरी (द्वि० उ०), मित्रगुप्त, चंद्रसेना और कोशदास (पष्ठ उच्छ्वास)[1] के वार्तालाप शिष्ट हास्य एवं व्यंग्य से ओतप्रोत हैं। कथागत प्राय: सभी पात्रों का वाग्वैदग्ध्य पाठकों के चित्तानुरंजन में पर्याप्त है। न केवल हास्य और विनोदों के ही यहाँ रम्य स्थल हैं। वरन् हृदय को द्रवीभूत करने वाले शोक, विस्मय, और उत्साह तथा रति आदि भावों से भी अनुस्यूत एकाधिक संवाद-स्थल हैं जो मूल कथानक की सजीवता यहां (दशकुमारचरित में) नहीं है तथापि अत्यल्प होते हुए भी वे अपूर्ण नहीं हैं। यत्र तत्र शृंगार रस-पेशल वर्णनों में कुछ अगूढ़ वार्तायें अवश्य हैं जहाँ पात्रों में खुल कर हृदयगत भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सप्तम उच्छ्वास: (पृष्ठ ४६७-६४) में कनक लेखा, उसकी सखियों तथा मन्त्रगुप्त की आलंकारिक पदावली में हुई बातचीत से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। ऐसे स्थलों में पात्रों की इस प्रकार की अगूढ़ वार्ता या खुलकर कथन करना अरुचि का भी उत्पादक प्रतीत होता है।

दशकुमारचरित में दण्डी ने पात्रों के जीवन में जिन परिस्थितियों को जन्म दिया है, जिस वातावरण की सृष्टि की है, जिन नगरों और जिन प्रदेशों का नामोल्लेख किया है और उनकी विशेषताओं का निरूपण किया है तथा जिस अभिनव शैली के माध्यम से उपर्युक्त सभी तत्त्वों का सन्निवेश किया है वे निश्चित रूप से न

---

१. आचष्ट च हृष्टः कोशदासः— भुयांसमेवं यावदायुरायताक्षि त्वत्प्रासादस्य पात्रम् इति। मया तु सस्मितमभिहितम्—'सखे किमेतदाशास्यम्। अस्ति किंचिदंजनम्। अनया तद्रक्तनेत्रया राजसूनुरुपस्थितो वानरीकरिष्यते। तदास्तामिदम्। अन्यथापि सिद्धं नः समीहितम्।'—पृ० १९८-३९९।

केवल.रसौचित्यनिर्वाह में नितान्त उपयोगी हैं वरन् कवि के भौगोलिक ज्ञान, लोक-जीवन की सच्ची अनुभूति और कवित्वशक्ति के भी पूर्ण परिचायक हैं।

राजवाहन के जीवन के संकटमय क्षण अमानवीय या दैवी शक्तियों के परिणाम हैं। अन्तः पुर में अवन्तिसुन्दरी के साथ शयन करते हुए राजवाहन का वृत्तान्त चण्डवर्मा को ज्ञात होने पर उसने राजवाहन के राजद्वार पर हाथियों से कुचलवा देने का निश्चय किया। इस अवसर पर नायक (राजकुमार) का यदि प्राणान्त होता तो उसके पीछे राजकुमारी अवन्ति सुन्दरी और मालवाधिपति तथा उनकी राजमहिषी के भी जीवन की आशा न थी। अतएव दोनों के वियोग का कारण एक हंस के शाप तथा महर्षि मार्कण्डेय द्वारा सोमरश्मिसम्भवा, सुरसुन्दरी सुरतमंजरी को भी दिये गये शाप की कल्पना से एक महान् अनर्थ की संभावना को दूर किया गया है, साथ ही नायक के चरित्र और सम्मान की रक्षा भी हो सकी है। स्वयं राजवाहन को, कारागृह में बन्द हो जाने के कारण अपनी प्रियतमा को सान्त्वना देने का पुनः अवसर नहीं मिला अतएव उस नारी रूप को प्राप्त शृङ्खला की कल्पना रस के अनुकूल है जिसे राजवाहन ने यह संदेश देकर विदा किया था कि 'तुम इस वृत्तान्त से प्राणों के समान मेरी प्रियतमा को धैर्य प्रदान करना।'[१]

चण्डवर्मा द्वारा अपमानित होने पर तथा पूरी शक्ति के साथ कारागृह में बन्द करने की उसकी प्रवृत्ति देखकर राजवाहन ने, समर्थ होते हुए भी दैवी आपत्ति[२] से मुक्त होने का और कोई उपाय उचित न समझ कर केवल सहिष्णुता का ही आश्रय लिया। अन्त में अवन्तिसुन्दरी को आश्वासन देकर शत्रु की दो मास की पराधीनता स्वीकार कर ली। दैवी आपत्तियों के विपरीत, केवल उन्हें सहन करने के अतिरिक्त प्रायः कुछ भी चेष्टा करना निष्फल ही होता है अतएव यहां 'सहिष्णुता'को ही मात्र उपाय समझ कर राजवाहन के अपने संकट को झेलने की प्रवृत्ति में भी कवि ने औचित्य का निर्वाह किया है। इस प्रकार से घटनाओं का

---

१. 'किं तव करणीयम्' इति प्रणिपतन्तीं 'वार्तयानया यत्प्राणसमां समाश्वासय' इति व्यादिश्य विससर्ज।—दशकुमारचरित-प्र० उ०, पृ० १४६।

२. स तु स्वभावधीरः सर्वपौरुषातिभूमिः सहिष्णुतैकप्रतिक्रियां दैवीमेव तामापदमवधार्य 'स्मर तस्याः हंसगामिनि, हंसकथायाः। सहस्व वासु मासद्वयम्' इति प्राणपरित्यागरागिणीं प्राणसमां समाश्वास्यारिवश्यतामयासीत्।—वही, पृ० १३६।

समुचित चित्रण कवि की मौलिक प्रतिभा और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का द्योतक है ।

द्वितीय उच्छ्वास में अपहारवर्मा के क्रिया-कलाप और उसकी उदारता के भी चित्रण में औचित्य का अतिक्रमण प्रायः नहीं हो पाया है । अपहारवर्मा का, नगर को निर्धन बनाने और चोरी करने का उद्देश्य स्वार्थ-सिद्धि न होकर ऋषि मरीचि को सान्त्वना प्रदान करना तथा काममंजरी द्वारा धोखे से अपहरण की हुई वसुपालित की समस्त धनराशि को वापस कराना है । अंधेरी रात में अभिसरण करने वाली अकेली तरुणी का साक्षात्कार होने पर उसे यथास्थान अपने प्रियतम तक पहुँचा देने की तत्परता में मार्ग में राजपुरुषों द्वारा गृहीत होने पर भी आत्मरक्षा एवं परस्त्री सुरक्षा की निपुणता से और उसके समस्त आभूषण भी यथावत् समर्पित करने की शालीनता में अपहारवर्मा की उदात्तवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है । प्रायः सभी परिस्थितियों को यावच्छक्य साहस और उपायों द्वारा पार करने की सामर्थ्य में अपहारवर्मा के चातुर्य का भी परिचय मिलता है । इन सभी घटनाओं के यथाक्रम सूक्ष्म चित्रण औचित्यपूर्ण हैं । संपूर्ण द्वितीय और अष्टम उच्छ्वास कवि प्रतिभा की अद्भुत कसौटी है । चतुर्थ उच्छ्वास में अपने माता-पिता को बन्दीगृह से मुक्त कराने के उपाय-चिन्तन और पिता की आँखें निकालने के लिए उद्यत चाण्डालों की उक्तियों के अनुरूप ही राग अलापने वाले तथा सर्प के द्वारा उनके प्राणों की रक्षा करने वाले अर्थपाल की अद्भुत चेष्टाओं की कल्पना में भी औचित्य का चमत्कार दर्शनीय है । सामाजिक रीतियों, नीतियों और कथावस्तु सी कल्पना तथा वर्णनशैली आदि सभी विषयों की दृष्टि से दशकुमारचरित दण्डी के औचित्य-विधान की निपुणता का पूर्ण परिचायक है । दण्डनीति के सम्यक् ज्ञान के अभाव में राजा तथा उसकी प्रजा की क्या दशा होती है, सर्वत्र अराजकता, निराशा, दुर्वृत्त और लोक चित्त के संकटमय होने का जो सजीव और स्वाभाविक चित्र दण्डी ने प्रस्तुत किया है वह भी परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण है । क्योंकि उससे दूसरे पक्ष की अन्तिम परिणति का बोध भी हो जाता है । भारतीय लोकजीवन का यथार्थ स्वरूप दण्डी की इस कृति में झलकता है । कवि की दृष्टि धर्म, राजनीति और समाज इन तीनों विन्दुओं पर दौड़ती है और यथासम्भव राजनीति और समाज के यथार्थ स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत कर पाठकों को उससे परिचित कराना ही यहाँ कवि का उद्देश्य

प्रतीत होता है। 'दण्डी का मुख्य उद्देश्य कहानी कहना था इसीलिए दशकुमारचरित में उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई देती है। कहानी कहने के लिए सीधी-सादी और अत्यन्त सरल वर्णन-शैली की अपेक्षा होती है जिसका उचित उपयोग दण्डी ने किया है। अलंकारों और समासों की सहायता से शैली में गम्भीरता का प्रयत्न दश कुमारचरित में नहीं प्रतीत होता। दशकुमारचरित का मुख्य उद्देश्य जन-जीवन की जिसमें बड़े-छोटे सब आ जाते हैं, झलकें दिखलाना था।'[१] दण्डी की लेखनी बड़ी निर्ममता के साथ समाज के दोषों को अनावृत करती है, समाज के अंधविश्वासों और रीतियों की हँसी भी उड़ायी गई है। नीति का उपदेश भी यदि इसका लक्ष्य मान लिया जाय तो भी अनुचित नहीं किन्तु केवल सहृदयानुरंजन तक ही उसे सीमित रखना दण्डी की व्यापक दृष्टियों को भी संकुचित करना है।

इस प्रकार कथाकाव्य के उपयुक्त (आधुनिक) तत्त्वों को दृष्टि से मूल्यांकन करने पर दशकुमारचरित प्राचीन लोकजीवन के विविध विषयों से ओतप्रोत एक सफल कृति के रूप में प्रतिष्ठित होने में समर्थ है जिसके कथानक आदि सभी साहित्यिक अंशों में भी विशेषण[२] रस[३] भाव एवं वर्णन शैली आदि के भी औचित्य-निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया गया है। गुण अलंकार आदि का भी समुचित सन्निवेश हुआ है।

वात्स्यायन ने लोकयात्रा का मूल तत्त्व 'अर्थ' (धन) स्वीकार किया है। राजा के लिए धर्म और काम से अधिक अर्थ आवश्यक होता है।[४] अर्थ पुरुषार्थ के महत्त्व का प्रतिपादन दण्डी ने भी विशेषरूप से अष्टम उच्छ्वास में किया है। धर्म

---

१. दशकुमारचरित के आमुख में द्रष्टव्य-डा० मोतीचन्द्र अग्रवाल।

२. 'विशेषणैः समुचितैर्विशेष्योऽर्थः प्रकाशते।
गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः।—औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र।

३. कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरोरसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः।—वही।
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥—वही।

४. अर्थश्च राज्ञः। तन्मूलत्वाल्लोकयात्रायाः।—कामसूत्र, १.२.१५।

ही अर्थ का मूल है अतएव धर्म की उपेक्षा भी नहीं की गई है। विश्रुत की कथा से स्पष्ट है कि उसने अलुब्ध वृत्ति का प्रचार और धार्मिक भावनाओं की उद्‌भावना, नास्तिकों का तिरस्कार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लोगों को अपने धर्म का पालन करने का उपदेश आदि करते हुए अर्थोपार्जन के उपाय निकाले, क्योंकि अर्थ से दण्ड और राज्य सम्बन्धी कार्य सिद्ध होते हैं। 'दुर्बलता से बढ़कर और कोई पाप नहीं है' इत्यादि सूक्तियों के द्वारा दण्डी ने अर्थव्यवस्था को राज्य की समृद्धि और सफलता का अनुप्राणक स्वीकार किया है।[१] इन सभी दृष्टियों से सिद्ध होता है कि 'दशकुमारचरित' दण्डी की उत्कृष्ट कोटि की अद्वितीय रचना है।

---

१. द्रष्टव्य- दशकुमारचरित- अष्टम उच्छ्वास का अन्त।

पञ्चम अध्याय

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

—कालिदास

कवि लोकोत्तरवर्णना निपुण होता है । उसकी कृति जीवन और जगत् के त्रैकालिक अनन्त रहस्यों की अमूल्य निधि होती है । कवि-निर्मिति में उसका हृदय या अन्तः करण तो उत्तरदायी होता ही है, उसकी प्रेरणा की हेतुभूता जीवन की वाह्य परिस्थितियाँ भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध होती हैं । काव्य का क्षेत्र मानव-हृदय है । कवि की दृष्टि में प्रकृति का भी एक मानवमय स्वरूप है जो उसके लिए भावसामग्री की अनुपम उपलब्धि का आधार या अनन्त स्रोत है । प्राकृतिक उपकरणों के मानवीरकरण में अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर कवि जिस अद्भुत कल्पनालोक की सृष्टि करता है उसकी मिथ्या संज्ञा प्रदान करना उचित नहीं, उसकी आधारशिला वास्तविकता में ही होती है । कवि सत्य और यथार्थ की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता, उसके नितान्त कल्पित और रूढ़िगत विषय भी नित्य-नूतन ही प्रतीत होते हैं । किसी भी काव्य ग्रन्थ का प्रणयन करने के पूर्व कवि को अपने पूर्ववर्ती काव्य साहित्य एवं शास्त्रों आदि का अनुशीलन भी अनिवार्य रूप से करना पड़ता है । पूर्ववर्ती काव्य-सम्पत्ति के उस अनुशीलन और लोकजन्य अनुभव को क्रियात्मक रूप देने में कवि को अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण करने में स्वतन्त्र होते हुए भी उसकी अपनी मौलिक प्रतिभा ही उत्तरदायी होती है । अपने से पूर्व एक ही विषय का वर्णन कई कवियों द्वारा किए जाने पर भी उसी विषय को लेकर सर्वथा अनूठी वर्णन-शैली के द्वारा नूतन चमत्कार की सृष्टि से उसकी लोकप्रियता की अभिवृद्धि होती है । विषय के समान रहने पर भी कवि की स्वतन्त्र चिन्तनप्रणाली

तथा उसकी मौलिक उद्‌भावनाएँ उसे अभिनव स्वरूप देकर हृद्य बनाती हैं। विषय-निरूपण की सफलता के निकष के पर्यवेक्षण में विचारणीय बात यह होती है कि कवि किसी वस्तुविशेष की गहराई तक पहुँच कर उसके मर्म को पहचानने में कहाँ तक समर्थ हो सका है तथा अन्त में उसे अत्यन्त सरस और सरल वर्णन-शैली में अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल हो सका है। वस्तुविशेष के मार्मिक पक्ष की वास्तविक पहचान और उसकी रमणीय अभिव्यक्ति होने पर ही प्राय: कवि की कृति उच्चकोटि की होती है और वही विद्वानों के परितोष और समादर का विषय बनती है। तथापि किन्हीं दो कवियों की दो विभिन्न कृतियों में परस्पर अनुकरण की प्रकृति तथा भाव आदि कतिपय साम्य की विवक्षा न होने पर भी वस्तुत: उनमें कभी समानपद, समान वाक्य, समान अर्थ और समान शैली तक के प्रयोग उपलबध होते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि कवि किसी न किसी रूप में अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों के प्रभाव से प्राय: वंचित नहीं होता। कवियों की अपनी कृति की भावसामग्री के आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया निरवधिकाल तक अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। यह भी सत्य है कि किसी एक प्रकार की काव्यधारा के युग में कभी कभी ऐसा कोई प्रतिभासम्पन्न कवि अवतार लेता है जिसकी कमनीय कृति के सत्पथ का अवलम्ब अन्य कवियों द्वारा किया जाता है और उस दशा में उस युग की अधिकांश रचनाओं में कुछ बातों का साम्य देखकर हम उसे उस प्रकार की रचना-प्रणाली का 'युग' कहने लगते हैं।

महाकवि दण्डी के समय का भी एक ऐसा युग था जिस समय के कवियों की रचनाओं के वर्ण्य विषय, सामाजिक अवस्था तथा संस्कृति के विभिन्न अंगों के निरूपण में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। दण्डी के पूर्व प्राय: जितने शास्त्रों, कथाकृतियों और नाटकों की रचना हो चुकी थी उनमें से अधिकांश कृतियों का प्रभाव दण्डी में देखने को मिलता है। मुख्य रूप से कालिदास, कौटिल्य, वात्स्यायन, शूद्रक और बाणभट्ट आदि कवियों से दण्डी विशेष रूप से प्रभावित रहे हैं। वात्स्यायन का मत है कि शास्त्र का प्रभाव परोक्ष और प्रत्यक्ष सर्वत्र रहता है। प्रयोग का हेतु शास्त्र ही होता है। शास्त्र का जो भी नियम और विधान होता है उसका प्रच्छन्न प्रभाव परम्परागत प्रयोगों, व्यवहारों में रहता है। जो भी लोक व्यवहार है, लोकमान्यताएँ हैं, परम्पराएँ हैं उनके मूल में शास्त्र का प्रभाव अवश्य रहता है।

सातवीं शताब्दी तक की कृतियों में प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। दशकुमारचरित में दण्डी प्राय: कालिदास से बहुत अधिक प्रभावित रहे हैं। इसमें निरूपित सामाजिक अवस्था मृच्छकटिक और प्राचीन भाणों की सामाजिक अवस्थाओं की विशेषताएँ भी एक समान सी हैं। प्राचीन नाटकों की कथावस्तु और उसमें निर्दिष्ट देशकाल और पात्रों तथा वर्णनशैली के रूढ़िगत होने तथा, उन्हें भरत के नाट्यशास्त्र के नियमों की परिधि तक ही सीमित होने के कारण समाज के गुणों और दोषों को अनावृत कर उसके यथार्थ और सजीव चित्रण का उनमें अभाव ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय जीवन की एकसूत्रता को स्थापित करने वाली यथार्थ और पूर्ण सामग्री नाटकों में सुलभ न होने से उन ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है जिनमें उसका जीता जागता रूप प्रचुर-मात्रा में दृष्टिगत होता है। इन ग्रन्थों मे वात्स्यायन का 'कामसूत्र' शूद्रक का 'मृच्छकटिक' बुधभट्ट का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, संधदास महत्तर की वसुदेव हिण्डी, बाणभट्ट का हर्षचरित और कादम्बरी तथा दण्डी का दशकुमारचरित स्वीकार किया जाता है जिनमें गुप्तकालीन संस्कृति की सजीवता तथा वेश-संस्कृति की वास्तविकता में प्राय: कोई विरोध नहीं अपितु विद्वानों का मतैक्य ही प्राप्त होता है।

वात्स्यायन - कामसूत्र

सूत्र-साहित्य बहुत पहले का माना जाता है। सूत्र शैली में 'कामसूत्र' की रचना होने के कारण सर्वप्रथम उसी पर विचार करना सम्यक् प्रतीत होता है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में मूख्य रूप से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की व्याख्या की है। (वात्स्यायन ने) ग्रन्थ के आदि में ही 'धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार किया है[१] और उसका कारण भी दिया है कि—' इस शास्त्र में मुख्य रूप से धर्म, अर्थ और काम का उपदेश होने से धर्म, अर्थ और काम को ही नमस्कार किया गया है।[२] द्वितीय अध्याय 'त्रिवर्गप्रतिपत्तिप्रकरण' में धर्म, अर्थ और काम के स्वरूप और उनके महत्त्व की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। वात्स्यायन के अनुसार अलौकिक और परोक्षफल देने वाले यज्ञ आदि कार्यों में सद्य: प्रवृत्त न होने वाले मनुष्यों का शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त होना एवं इसी लोक में प्रत्यक्ष फल मिलने से

---

१. 'धर्मार्थकामेभ्यो नम:'। वात्स्यायन-कामसूत्र, प्र० अधिकरण, प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र।

२. 'शास्त्रे प्रकृतत्वात्॥' वही, १.१.२।

मांस आदि खाने में प्रवृत्त मनुष्यों का शास्त्र के आदेश से निवृत्त होना—यही प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो प्रकार का 'धर्म' है । इस धर्म को विद्वान् वेद से और साधारण पुरुष धर्मज्ञ पुरुषों से सीखें ।[१]

विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, धान्य, वरतन आदि घर का सामान तथा मित्रों और वस्त्राभूषण, गृह आदि वस्तुओं को धर्मपूर्वक प्राप्त करना तथा प्राप्त किए हुए की वृद्धि करना 'अर्थ' है । इस 'अर्थ' को अध्यक्षप्रचार (धनी लोगों के व्यवहार) से और कृषि, वाणिज्य आदि के तत्त्वज्ञों से तथा व्यापारियों से सीखना चाहिए ।[२]

'काम' का लक्षण इस प्रकार है—

'कान, त्वचा,चक्षु, जिह्वा, नाक इन पाँच इन्द्रियों की इच्छानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अपने, इन विषयों में प्रवृत्ति ही काम है अथवा इन इंद्रियों की प्रवृत्ति से आत्मा जो आनन्द का अनुभव करता है उसे 'काम' कहते हैं ।'

चुम्बन, आलिंगन आदि सुख के साथ कपोल, स्तन और नितम्ब आदि विशेष अंगो के स्पर्श करने से आनन्द की जो फलवती प्रतीति होती है वह 'काम' है ।

उस काम को कामसूत्र जैसे शास्त्रों से तथा काम-व्यवहार में निपुण नागरिकों से सीखना चाहिए ।

इन तीनों के समवाय में काम से श्रेष्ठ अर्थ और अर्थ से श्रेष्ठ धर्म है ।[३]

---

१. अलौकिकत्वाददृष्टार्थत्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्तनम्, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः शास्त्रादेव निवारणं धर्मः—कामसूत्र १.२.७ तं श्रुतेर्धर्मज्ञसमवायाच्च प्रतिपद्येत ।—वही, १.२.८ ।

२. विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यमाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनमर्जितस्यविवर्धनमर्थः ।—वही, १.२.९ । तमध्यक्षप्रचाराद्वार्तासमयविद्भ्यो वणिग्भ्यश्चेति ।-वही, १.२.१० ।

३. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषये ष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः । -कामसूत्र, १.२.११ ।
स्पर्शविशेषविषयात्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः । वही, १.२.१२ ।
तं कामसूत्रान्नागरिकजनसमवायाच्च प्रतिपद्येत । -वही १.२.१३
एषां समवाये पूर्वः पूर्वोगरीयान् । -वही, १.२.१४ ।

मानव जीवन के लक्ष्यभूत इस त्रिवर्ग की चर्चा दशकुमारचरित[१] में भी हुई है और धर्म की ही श्रेष्ठता या प्रधानता उसमें भी मानी गई है। दोनों ही ग्रन्थों में इस विषय के निरूपण में पर्याप्त साम्य दृटिगत होता है। ऋषि मरीचि को अपनी ओर आकृष्ट देख कर उनके प्रति काममंजरी द्वारा कहे गये शब्दों से धर्म की ही प्रधानता सिद्ध होती है—'एक दिन एकान्त में मुनि को अपने में अनुरक्त देख कर 'यह संसार कितना मूर्ख है जो 'धर्म' के साथ अर्थ और काम की भी गणना करता है' ऐसा विचार करके काममंजरी को कुछ विस्मय हुआ।'[२]

धर्म से पुनीत मन में, आकाश में धूलि के सदृश रजोगुण का स्पर्श या समावेश नहीं होता। अतएव मेरा विश्वास है कि अर्थ और काम धर्म की सौवीं कला को भी स्पर्श नहीं कर सकते।[३] धर्म की महत्ता के सम्बन्ध में इस प्रकार उत्कृष्ट विवेचन महाभारत की भी एक उक्ति के सर्वथा अनुरूप है।[४] इसके पश्चात् मरीचि के पूछने पर काममंजरी ने अर्थ और काम के स्वरूप, परिवार और फल का भी क्रमश: वर्णन किया है—

'अर्जन (संचय) वर्धन (व्यापार आदि के द्वारा उसकी वृद्धि) और नष्ट होने से उसे बचाना ही अर्थ का तत्त्व है। कृषि, पशुपालन, व्यापार, सन्धि और विग्रह ये ही अर्थ के परिवार हैं। सत्पुरुषों को दान देना ही अर्थ का फल है।[५] स्त्री पुरुष वासनावश परस्पर अत्यन्त आसक्त चित्त से जिसमें स्पर्श-सुख का अनुभव करते

---

१. द्वितीय उच्छ्वास।

२. एकदाच रहसि रक्तं तमुपलक्ष्य मूढ़: खलु लोको यत् सहधर्मेणार्थकामावपि गणयति इति किंचिदस्मयत।—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० १६८।

३. 'ननु धर्मादृतेऽर्थकामयोरनुत्पत्तिरेव। तदनपेक्ष एव धर्मो निवृत्तिसुखप्रसूतिहेतुरात्म-समाधानमात्रसाध्यश्च। सोऽर्थकामवद् वाह्यसाधनेषु नात्यायतते। तत्त्वदर्शनोप-बृंहितश्च यथाकथंचिदप्यनुष्ठीयमानाभ्यां नार्थकामाभ्यां वाध्यते। वाधितोऽपि चाल्पायासप्रतिसमाहितस्तमपि दोषं निर्हत्य श्रेयसेऽनल्पाय एव कल्पते। धर्मपूते च मनसि नभसीव न जातु रजोऽनुषज्यते'। तन्मन्ये नार्थकामो धर्मस्य शततमीमपि कलां स्पृशतः इति।—दशकुमारचरित-पृ० १६८.१७१।

४. ऊर्ध्वबाहु: विरौम्येष न च कश्चित् श्रृणोतिमाम्।
धर्मादर्थश्चकामश्च स धर्म: किन्न सेव्यते॥—महाभारत-आदिपर्व।

५. 'अर्थस्तावदर्जनवर्धनरक्षणात्मकः, कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यसंधिविग्रहादिपरिवारः, तीर्थप्रतिपादनफलश्च।'—दशकुमारचरित, पृ १७१-१७२।

हैं, उसे 'काम' कहते हैं । रमणीयता औरा उज्ज्वलता ही इसके परिवार हैं । परमानन्द ही इसका फल है । यह आनन्द स्त्री पुरुष के परस्पर आलिंगन, चुम्बन आदि से उत्पन्न होता है । स्मरण करने में यह बड़ा मधुर प्रतीत होता है, अभिमान को प्रोत्साहित करता है । आनन्द से उत्तम और कोई वस्तु नहीं है । यह अपरोक्ष सुख स्वसंवेद्य ही होता है । इसी के लिए स्थान विशेष में रहने वाले नाना प्रकार के कष्टों को सहन करते, तप करते, महान् दान देते, भयंकर युद्ध करते और विकराल समुद्र लाँघने आदि का दुष्कर कर्म करते हैं ।[१]

इसके अतिरिक्त वेश्यामाता के अधिकार तथा वेश्या के कर्तव्य और उनके चरित निरूपण में भी दशकुमारचरित में कामसूत्र की पर्याप्त छाया देखी जा सकती है । वात्स्यायन ने वैशिक अधिकरण में वेश्याओं की वृत्ति और उनके कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया है । इन वर्णनों में भी वात्स्यायन और दण्डी में साम्य की उपल्ब्धि होती है ।

कामसूत्र के अनुसार वेश्या को सदैव अलंकृत रहना चाहिए, साज-शृँगार से रहना चाहिए नहीं तो उसकी आय की हानि होती है ।[२]

दशकुमारचरित (द्वितीय उच्छ्वास) में भी अपहारवर्मा के प्रति शृगालिका की एक उक्ति से वेश्याओं के अलंकरण की ही प्रधानता सिद्ध होती है ।

'बहुत समय से परिचर्या करने वाली रागमंजरी के ऊपर अनुग्रह करें, रूप से जीवनवृत्ति चलाने वाली वेश्याओं का अलंकार ही मुख्य (तत्त्व) होता है ।'[३]

---

१. कामस्तु विषयातिसक्तचेतसोः स्त्रीपुंसयोर्निरतिशयसुखस्यस्पर्शविशेषः। परिवारस्त्वस्ययावदिह रम्यमुज्ज्वलं च। फलं पुनः परमाह्लादनम्, परस्परविमर्दजन्य, स्मर्यमाणमधुरम्, उदीरिताभिमानमनुत्तमम्, सुखमपरोक्षं स्वसंवेद्यमेव। तस्यैव कृते विशिष्टस्थानवर्तिनः कष्टानि तपांसि, महान्ति दानानि, दारुणानि युद्धानि, भीमानि समुद्रलंघनादीनि च नराः समाचरन्ति' इति ।—दशकुमारचरित, पृ० १७२-१७३ ।

२. नित्यमलंकारयोगिनी राजमार्गावलोकिनी, दृश्यमाना न चातिविवृतातिष्ठेत्। पण्यसधर्मत्वात् ॥—कामसूत्र ६.१.७ ।

३. स्मरंस्तु चिरकृतां ते परिचर्यामनुग्रहीतुर्महसि दासीं रागमंजरीम्। आकल्पसारो हि रूपाजीवा जनः।—दशकुमारचरित, पृ० २२३ ।

कामसूत्र के अनुसार शासनाधिकारी, वकील, ज्योतिषी, साहसी, शूरवीर, वेश्या के सदृश कलाकुशल, कलागुरु, पीठमर्द, विट, विदूषक, कलाकार, गन्धी, मद्य विक्रेता, धोबी, नाई और भिक्षुक आदि ऐसे ही वेश्या के सहायक होते हैं।

वेश्या द्वारा नियुक्त पीठमर्द आदि के द्वारा कुक्कुट, लवा और मेष के युद्ध दिखाने, शुक सारिका की बातें सुनने, तमाशा देखने, नृत्य आदि कलाओं में आनन्दित होने का अवसर प्रदान करने के बहाने नायक को वेश्या के घर ले जाने का उल्लेख है।[१]

दशकुमारचरित में भी पीठमर्द (नायक या नायिका का प्रधान सहयोगी) विट, विदूषक और भिक्षुक आदि सहायकों द्वारा ही नागरिकों के समवाय में वेश्या के रूप, शील, शिल्प, सौन्दर्य और माधुर्य आदि की प्रशंसा करने की बात कही गयी है। साथ ही सजीव और निर्जीव द्यूत कला अर्थात् कुक्कुट, मेष आदि की लड़ाई अक्षक्रीडा तथा रतिक्रिया के मर्म का ज्ञान ही वेश्याओं के लिए अनिवार्य है। इन विषयों का भी वर्णन हुआ है।[२]

वात्स्यायन ने 'नागरवृत्तप्रकरण' में नागरक के भवनविन्यास, उत्सवों, उद्यान यात्राओं और क्रीडाओं का जो सांगोपांग वर्णन किया है वह उनकी परिष्कृत रुचि का पूर्ण द्योतक है। दशकुमारचरित में भी अन्तः पुर के वर्णनों में कवि की दृष्टि प्रायः उस प्रकार के वर्णन के अनुरूप प्रतीत होती है। वात्स्यायन ने यद्यपि अन्तःपुर का वर्णन तो बहुत विस्तृत नहीं किया है किन्तु वाह्यप्रकोष्ठ का वर्णन[३] प्राचीन रसिक जनों के भवन-विन्यास की शालीनता का पूर्ण परिचय प्रदान करता है।

कामसूत्रकार ने विवाहयोगप्रकरण में नायक और नायिका के विवाह के लिये जिन विधियों का निर्देश किया है दशकुमारचरित में नायक और नायिका के

१. ते त्वारक्षकपुरुषा धर्माधिकरणस्था दैवज्ञा विक्रान्ताः शूराः समानविद्याः कलाग्राहिणः पीठमर्दविटविदूषकमालाकारगान्धिकशौण्डिकरजकनापितभिक्षुकास्ते च कार्ययोगात्।— कामसूत्र, ६.१.९। लावककुक्कुटमेषयुद्धशुकसारिकाप्रलापनप्रेक्षणककलाव्यपदेशेन पीठमर्दो नायकं तस्या उदवसितमानयेत्।—कामसूत्र, ६.२.२५।

२. आजीवज्ञाने क्रीडाकौशले सजीवनिर्जीवासु च द्यूतकलास्वभ्यन्तरीकरणम्...पीठमर्दविटविदूषकैर्भिक्षुक्यादिभिश्च नागरिकपुरुषसमवायेषु रूपशीलशिल्पसौन्दर्यमाधुर्यप्रस्तावना...।—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० १६०.६१।

३. कामसूत्र- १.४.४।

समागम के लिये प्रयुक्त विधियों में पर्याप्त समता दिखाई देती है । वात्स्यायन का कहना है—'यदि कन्या का एकान्त में दर्शन संभव न हो तो उसकी धाय का कोई उपकार करके उस पर सहानुभूति प्रकट कर उसे अपने अनुकूल कर लेना चाहिए । वह धाय उस नायक से अपरिचित-सी होकर नायिका को उस (नायक) के गुणों की प्रशंसा से प्रसन्न करे । इसके लिए नायिका की रुचि के अनुकूल ही नायक के गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करे । उन अन्य नायकों के जिनकी ओर उस नायिका का झुकाव हो उनके दोषों की निन्दा करे ।...उस नायिका को अनुकूल करने के लिए उसकी जाति की कन्याओं तथा शकुंतला आदि की प्राचीन कहानियों द्वारा उसे उत्तेजित करे । बड़े घरों की स्त्रियों के कष्टों का वर्णन करती हुई सपत्नियों द्वारा सताये जाने, कलह और द्वेषभाव तथा दुःखी दाम्पत्य-जीवन के कष्टों का भी वर्णन करे । जब धात्री यह निश्चय कर ले कि नायिका नायक की ओर आकृष्ट हो चुकी है तो समुचित उपायों द्वारा उस नायिका के भय और व्रीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करे । अन्त में समस्त भय और सन्देह के नष्ट होने तथा एकान्त में नायिका की प्राप्ति हो जाने पर किसी श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर से अग्नि लाकर धर्मशास्त्र के अनुसार हवन करके नायक और नायिका अग्नि की तीन बार परिक्रमा करें । इसके पश्चात् अपने-अपने माता-पिता को भी उन्हें सूचित कर देना चाहिए । आचार्यो का मत है कि अग्नि को साक्षी मान कर किये गये विवाह असमीचीन नहीं होते । किन्तु नायिका के सहायकों आदि को मारकर उसका हरण करना राक्षस विवाह कहा जाता है ।'[१]

दशकुमारचरित में उपहारवर्मा और कल्पसुन्दरी के प्रणय-चित्रण में उक्त काम सूत्र की विधियों का दर्शन होता है । उपहारवर्मा ने अपनी धाय और पुष्करिका के मुख से कल्पसुन्दरी के गुणों की प्रशंसा सुन लेने के पश्चात् पुष्करिका द्वारा ही उसके अन्तः पुर की स्थिति का पता लगाया । पुष्करिका को एक सुरभित माला देकर उपहार वर्मा ने उससे कहा—' मेरी यह माला कल्पसुन्दरी को देकर उसके

---

१. 'प्राचुर्येण कन्याया विविक्तदर्शनस्यालाभे धात्रेयिकां प्रियहिताभ्यामुपगृह्योपसर्पेत'। —कामसूत्र, ३.५.१ । 'सा चैनामविदिता नाम नाकस्य भूत्वा तद्गुणैरनुरंजयेत् । तस्याश्च—रुच्यान्नायकगुणान्भूयिष्ठमुपवर्णयेत्' ।—वही ३.५.२ । 'अन्येषां वरयितृणां दोषानभिप्रायविरुद्धान्प्रतिपादयेत् ।'—वही ३.५.३ । 'याश्चान्या अपि समानजातीयाः कन्याः शकुन्तलाद्याः स्वबुद्ध्या भर्तारं प्राप्य सम्प्रयुक्ता मोदन्तेस्म ताश्चास्या निदर्शयेत् ।—वही, ३.५.५ । 'महाकुलेषु सापत्नकैर्बाध्यमाना विद्विष्टाः दुःखिताः परित्यक्ताश्च दृश्यन्ते ।'—वही, ३.५.६ । 'आयतिं चास्य वर्णयेत् ।—वही, ३.५.७ ।'

पति के दोषों को प्रकट करते हुए दोनों में द्वेष भाव उत्पन्न करो। वासवदत्ता आदि सुयोग्य रमणियों की अपने अनुरूप ही पति की प्राप्ति का वर्णन करो। राजा विकट वर्मा का दूसरी रमणियों से अधिक विलास आदि करने की बात कहकर उसके मन में क्रोध उत्पन्न करो।[१] उसके पश्चात् अपनी धाय को भी अन्य समस्त कार्यों को त्याग कर केवल कल्पसुन्दरी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया, साथ ही यह भी आदेश दिया कि प्रतिदिन के वृत्तान्त से वह उसे सुखी करती रहे। उपहारवर्मा ने अपना चित्र भी उसी से कल्पसुन्दरी के पास भेज दिया। चित्र को देखने के पश्चात् उसकी अत्यन्त शोचनीय दशा हो गई। चित्र को देखते ही वह उसके प्रति आश्चर्य प्रकट करने लगी। कल्पसुन्दरी की ऐसी दशा देख कर धाय ने उपहार वर्मा की और भी प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया—'हे देवि, आप उचित ही कहती हैं क्यों कि भगवान मकरकेतु भी इतना सुन्दर है ऐसी सम्भावना करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। यह पृथ्वी अति विस्तीर्ण है। भाग्यवश यदि ऐसा ही रूपवान्, शिल्पकला में निपुण, विद्या, विज्ञान और कला-सम्पन्न उच्चवंश वाला कोई पुरुष सुलभ हो जाय तो उसे क्या पुरस्कार मिलेगा।'[२]

कल्पसुन्दरी ने कहा—हे अम्ब। क्या कहूं। मेरी शरीर, मेरा हृदय और जीवन यह सबकुछ उसके लिए अल्प है क्योंकि ये सभी उसकी योग्यता के अनुरूप नहीं हैं।[३]

अन्त में कल्पसुन्दरी के हृद्गत समस्त भावों को अपने प्रयोजन-सिद्धि के अनुरूप समझकर वृद्धा माता (धाय) ने उपहारवर्मा के समस्त रहस्य को उस कल्पसुन्दरी के सामने स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया। उपहारवर्मा को भी कल्पसुन्दरी की वास्तविक दशा का ज्ञान करा दिया। इसके पश्चात् उसने विकट वर्मा को उसके

---

१. तामवोचम्—उपसर्पय एनां मन्त्रयुक्तैर्गन्धमाल्यैः। उपजनय चासमानदोषनिन्दादिना स्वभर्तरिद्वेषम्। अनुरूपभर्तृगामिनीनां च वासवदत्तादीनां वर्णनेन ग्राहयानुशयम्। अवरोधनान्तरेषु च राज्ञो विलसितानि सुगूढान्यपि प्रयत्नेनान्विष्य प्रकाशयन्ती मानमस्या वर्धय।—दशकुमारचरित, पृ० २६२-२६३।

२. देवि। सदृशमाज्ञापयसि। भगवान्मकरकेतुरप्येवं सुन्दर इति न शक्यमेव सम्भावयितुम्—अथ तु यद्येवंरूपो रूपानुरूपशिल्पशीलविद्याविज्ञानकौशलो युवामहाकुलीनश्च_सः किं लप्स्यते।—दशकुमारचरित, तृ० उ०, पृ० २६५-२६६।

३. तयोक्तम्-अम्ब किं ब्रवीमि। शरीरं, हृदयं जीवितमिति सर्वमिदमल्पमनर्ह ञ्च—दशकुमारचरित, पृ० २६६।

रूपपरिवर्तन के बहाने कपटपूर्ण उपायों से मार कर कल्पसुन्दरी को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि उपहार वर्मा ने यहां परस्त्रीगमन-रूप पाप से बचने के लिए माता-पिता के उद्धार रूपी-पुण्य की कल्पना की है तथापि वात्स्यायन के नियमानुसार उपहारवर्मा द्वारा कल्पसुन्दरी की प्राप्ति से राक्षस-विवाह की ही पुष्टि होती है। कल्पसुन्दरी और उपहारवर्मा की रति-क्रीडाओं के चित्रण में भी दण्डी कामसूत्र से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं।

कामसूत्र के परिचयकारणाभियोगप्रकरण और दूतीकर्मप्रकरण तथा भाव-परीक्षा प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर दण्डी ने नायक-नायिकाओं के क्रियाकलापों का विशद चित्रण प्रस्तुत किया है।

'नायिका को जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो, जिन कार्यो से वह प्रसन्न रहे, जिन वस्तुओं में उसकी रुचि हो, जिस कला-कौशल को वह सीखना चाहती हो, उन सबको पूर्ण करने, उनका ज्ञान रखने तथा उनके लिए, प्रयत्न करने की अपनी योग्यता और सामर्थ्य नायक को प्रकट करते रहना चाहिए।' 'येन कर्मणा द्रव्येण कौशलेन चार्थिनी स्यात्तस्य प्रयोगमुत्पत्तिभागमुपायं विज्ञानं चात्मायत्तं दर्शयेत्।—कामसूत्र-५.२.१५।'

नायिका के साथ वार्तालाप करते समय उसे बहुत अद्‌भुत और बुद्धिमती कहना चाहिए। ये परिचय के कारण हैं।[१] इसके अतिरिक्त इसी प्रकरण में परस्पर वस्तुओं के आदान-प्रदान, खान-पान आदि को भी परिचय को दृढ़ करने का मूल कारण कहा गया है।

'नायक को चाहिए कि वह नायिका से उत्तरोत्तर अपना प्रेमसम्बन्ध बढ़ाता रहे।' क्रम से एकान्त में मिलना-जुलना, आलिंगन-चुम्बन करना, ताम्बूल का आदान-प्रदान करना, वस्तुओं का परिवर्तन करना और नायिका के गोपनीय अंगों को स्पर्श करना अभियोग है।'[२]

---

१. तया तु विवदमानोऽत्यन्ताद्‌भुतमितिऽब्रूयादिति परिचयकारणानि।—वही ५.२.१८।

२. 'अधिकैरधिकैश्चाभियोगैः साध्वसविच्छेदनम्।'—कामसूत्र ५.२.२३। क्रमेण च विविक्तदेशे गमनमालिंगनं चुम्बनं ताम्बूलस्य ग्राहणं दानान्ते द्रव्याणां परिवर्तनं गुह्यदेशाभिमर्शनं चेत्यभियोगाः।—वही ५.२.२४।

'जो स्त्री, भाव-संकेत प्रकट कर चुकी है, सामने आकर मिलना न चाहती हो, या अपूर्व स्त्री हो तो उसे दूती द्वारा प्राप्त करना चाहिए।'[१] जिस स्त्री को दूती फँसाना चाहती हो उसके घर उत्तम शील स्वभाव का परिचय देकर प्रवेश करे, इसके पश्चात् कपटपूर्ण आख्यानों से, सौंदर्य बढ़ाने वाले योगों से, लोकवृत्तान्तों से पराई स्त्री और पर-पुरुष की रसमयी कहानियों से तथा उस स्त्री की सुन्दरता, उसकी कलाकुशलता और उसके शील की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करे।'[२]

कामसूत्र में वर्णित नायक की उपर्युक्त चेष्टाओं, गुणों और अंगना-प्राप्ति के सूक्ष्म साधनों तथा दूती के कार्यों आदि की पर्याप्त समता दशकुमारचरित में उपहारवर्मा और कल्पसुन्दरी, कलहकण्टक और नितम्बवती (षष्ठ उच्छ्वासः), राजकुमारी कन्दुकावती और मित्रगुप्त आदि की कहानियों में दृष्टिगत होती है। इन वर्णनों में यद्यपि कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनायें और युक्तियुक्त परिकल्पनाएँ की हैं तथापि स्मरकेलियों की विभिन्न दशाओं और नायक-नायिकाओं के प्रणय की रसमयी कहानियों के निरूपण में, दौत्यकर्म में निपुण दूतियों के अद्भुत क्रिया कौशल के सुरुचिपूर्ण वर्णन में कामसूत्र का प्रभाव विशेष रूप से दर्शनीय है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र

कवि, कथाकार और काव्यशास्त्री (आचार्य) के रूप में दण्डी का व्यक्तित्व था। दण्डनीति के विशद विवेचन में कवि ने जिन नीति-निपुण शास्त्रकारों और आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जिन राजोचित गुणों और नीति रूपी कल्पतरु की झाँकी प्रस्तुत किया है, जीवन की सुगूढ़ समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाने में अत्यन्त उपादेय तत्त्वों के सम्यक् प्रतिपादन में जिस रीति और अभिनव शैली का माध्यम अपनाया है, जीवन-दर्शन की जिस अलौकिक दृष्टि और बौद्धिक शक्ति पर विशेष बल दिया है, किं बहुना, विविध विषयों के सुरुचिपूर्ण विवेचन में अपनी जिस प्रखर वैदुष्यवृत्ति और प्रतिभा का परिचय पुरस्कृत किया है उन सबके अनुशीलन से पाठकों के सामने दण्डी की प्रेरणा-सम्पत्ति के मूलभूत स्रोतों की एक

१. दर्शितेंगिताकारां तु प्रविरलदर्शनामपूर्वां च दूत्योपसर्पयेत्। —वही, ५.४.९।
२. सैनां शीलतोऽनुप्रविश्याख्यानकपटैः सुभगंकरणयोगैर्लोकवृत्तान्तैः कविकथाभिः पारदारिककथाभिश्च तस्याश्च रूपविज्ञानदाक्षिण्यशीलानुप्रशंसाभिश्च तां रंजयेत्। —वही, ५.४.२।

आलोकमयी रेखा खिंच जाती है। दशकुमारचरित का अष्टम उच्छ्वास एक ऐसे ही प्रभापुंज के दिव्यालोक से अनुप्राणित हुआ है।'

कौटिलीय दण्डनीति के अध्ययन पर बल देते हुए उसके स्वरूप एवं महत्त्व की भी कवि ने एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। दण्डी ने लिखा है 'आचार्य विष्णुगुप्त प्रतिपादित उस दण्डनीति का अध्ययन करो जिसको उन्होंने मौर्य (चन्द्रगुप्त) के लिए छः हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया था। जो भी इस उत्तम ग्रन्थ को पढ़कर तदनुकूल आचरण करेगा उसे ही उत्तम फल की प्राप्ति होगी।'[१]

इसके अतिरिक्त दो स्थलों पर और भी कवि ने चाणक्य का नाम लिया है—दण्डनीति की हँसी उड़ाने वाले दुर्नयोपाध्याय, वाह्यनारीपरायण और कामतन्त्र कर्णधार कुमार सेवक विहारभद्र ने राजा अनन्तवर्मा को बहकाने के लिए दुर्व्यसनों को भी उपयोगी सिद्ध किया है। दण्डनीति की निःसारता का वर्णन करते हुए कुमार सेवक विहारभद्र ने कहा है—बहुत समय तक, या अल्प समय में ही यदि दण्डनीति समझ में आयी भी तो उसका प्रथम उपदेश यह है कि अपने पुत्र और स्त्री पर भी विश्वास न करो। एक मनुष्य् के लिए इतने चावल से इतना भात तैयार हो सकता है। इतना चावल पकाने के लिए इतना ईंधन पर्याप्त होगा इसलिए उतना ही चावल और ईंधन, पकाने वाले को देना चाहिए। राजा सो कर उठने के पश्चात् मुख आदि धोया है या नहीं इसका ध्यान न रखते हुए, मुट्ठी भर या आधी मुट्ठी ही अन्न पेट में डालकर सूर्योदय होते ही उस दिन के आय-व्यय पर विचार करे। राजा के इस प्रकार आय-व्यय के सुनते और समझते रहने पर भी धूर्त अधिकारी उससे दुगुनी रकम हड़प जाते हैं। दूसरों के धन ऐंठने की चार विधियों का उपदेश चाणक्य ने किया है किन्तु वे धूर्त अपनी बुद्धि से सहस्रों उपायों की कल्पना कर लेते हैं।[२]

---

१. 'अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता। सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्मक्षमा।' इति। —दशकुमारचरित, अष्टम उ०, पृ० १०।

२. भवतु कालेन बहुनाल्पेन वा तदर्थाधिगतिः। अधिगतशास्त्रेण चादावेव पुत्रदारमपि न विश्वास्यम्। आत्मकुक्षेरपि कृते तण्डुलैरियद्भिरियानोदनः संपद्यते। इयत ओदनस्य पाकायेतावदिन्धनं पर्याप्तमिति मानोन्मानपूर्वकं देयम्। उत्थितेन च राज्ञा क्षालिताक्षालिते मुखे मुष्टिमर्धमुष्टिं वाभ्यन्तरीकृत्य कृत्स्नमायव्ययजातमह्नः प्रथमेऽष्टमे वा भागे श्रोतव्यम्। शृण्वत एवास्य द्विगुणमपहरन्ति तेऽध्यक्षधूर्ताश्चत्वारिंशतं चाणक्योपदिष्टानाहरणोपायान्सहस्रधात्मबुद्ध्यैव ते विकल्पयितारः। —दण्डी-दशकुमारचरित, अष्टम उ०, पृ० १०-११

राजा अनन्त वर्मा द्वारा अपमानित वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित ने अपने तर्कों की पुष्टि में चाणक्य की उक्ति का आश्रय लिया है—चाणक्य ने सत्य ही कहा है—मनोगत भावों के अनुरूप ही आचरण करने वाले दुर्जन भी राजाओं के प्रिय हो जाते हैं, उसके भावों के प्रतिकूल चलने वाले स्वभाव से भी सरल एवं अनुकूल प्रियजन भी शत्रु हो जाते हैं।'[१]

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है की दण्डी चाणक्य के प्रभाव से वंचित नहीं हैं। दशकुमारचरित का अष्टम उच्छ्वास कौटिलीय अर्थशास्त्र के राजनीति विषयक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के द्वितीय अध्याय में (विद्यासमुद्देश्य प्रकरण) में चार विद्याओं का वर्णन हुआ है। तीसरे अध्याय में त्रयी की स्थापना, चौथे अध्याय में वार्ता औद दण्डनीति की स्थापना तथा पाँचवें अध्याय में तीनों (आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता) का मूल दण्ड ही स्वीकार कर इन सब का वर्णन किया गया है।

विद्याएं चार हैं—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।[२] 'सामवेद, ऋग्वेद, और यजुर्वेद इन तीनों को त्रयी कहा जाता है। अथर्ववेद तथा इतिहास वेद भी वेद कहे जाते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त और छन्दोविचिति तथा ज्योतिष ये छः अंग हैं।'[३] कृषि, पशुपालन और व्यापार ये वार्ता के विषय हैं यह वार्ता विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य और ताम्र आदि अनेक प्रकार की धातु तथा नौकर-चाकर आदि को देने वाली अत्यन्त उपकारिणी होती है। इसी के बल पर राजा स्वपक्ष और पर-पक्ष को अपने वश में कर लेता है।[४]

आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन सबके योग और क्षेम का साधन दण्ड ही है। उसकी (दण्ड की) नीति अर्थात् यथार्थ स्वरूप ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त

---

१. सत्यमाह चाणक्यः—'चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्था अपि प्रियाः स्युः। दक्षिणा अपि तद्भावबहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः 'इति।'

२. आन्वीक्षकी, त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।-कौटिलीय अर्थशास्त्र-१.२.१

३. सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयत्रयी। १। अथर्ववेदेतिहासवेदो च वेदाः। २। शिक्षा, कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चांगानि। ३।

४. कृषिपाशुपाल्ये, वाणिज्या च वार्ता। १। धान्यपशुहिरण्यकुप्य विष्टिप्रदानादौपकारिणी। २। तथा स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्। ३। —वही १।४।

कराने वाली, प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने वाली, सुरक्षित पदार्थों में वृद्धि करने वाली और वृद्धि को प्राप्त हुए पदार्थों को उचित स्थानों में उगाने वाली होती है[१] संसार का निर्वाह इसी के ऊपर निर्भर है। इसलिए लोकयात्रा को सफल करने की इच्छा वाले राजा को सदैव उद्यतदण्ड रहना चाहिये। दण्ड के अतिरिक्त इस प्रकार का और कोई भी साधन नहीं है जिसके बल पर सभी प्राणियों को वश में किया जा सके। ऐसा आचार्यों का मत है।

कौटिल्य का मत है कि तीक्ष्ण दण्ड देने वाले राजा के प्रति सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं। इसलिए विधिपूर्वक शास्त्रानुकूल प्रयुक्त किया हुआ दण्ड प्रजा के धर्म, अर्थ और काम के लिए उपयोगी होता है। दण्डव्यवस्था के अभाव में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैल जाती है। अज्ञानतापूर्वक काम और क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित ढंग से प्रयुक्त किया गया दण्ड वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे विरक्त व्यक्तियों तक के कोप का विषय बन जाता है। यदि दण्ड का बिलकुल अभाव हो तो भी उचित नहीं क्यों कि उसके अभाव में बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली के सदृश बलवान के द्वारा निर्बल सताये जाते हैं। राजा की दण्डनीति से सुरक्षित चारों वर्णाश्रम समस्त लोक अपने अपने धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपने सत्पथ पर चलते रहते हैं।[२]

इसीलिए आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन तीनों विद्याओं का मूल दण्डनीति है। विधिपूर्वक सम्यक् रीति से प्रयुक्त दण्ड प्रजाओं के योग और क्षेम का साधन होता है।[३] कौटिलीय अर्थशास्त्र के इस प्रकार के दण्डनीतिविषयक विशद विवेचन

---

१. आन्वीक्षिकी त्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनोदण्डः। ४। तस्यनीतिर्दण्डनीतिः। ५। अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। ६। —वही, प्र० अधि०, चतुर्थ अ०।

२. तस्यामायत्ता लोकयात्रा। तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्। न हि एवं विधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्ड इत्याचार्यः।—वही, १.४.७,८,९। नेति कौटिल्यः। तीक्ष्णदण्डोहि भूतानामुद्वेजनीयः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजाधर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमंगपुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्त प्रभवतीति। चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥-वही, १.४.७,८,९,१०,१२,१४,१५,१६,१७,१८,१९॥

३. तस्माद्दण्डमूलास्तिस्रो विद्याः।
विनयमूलोदण्डः प्राणभृतां योगक्षेमवहः॥—वही, १.५.१,२।

और उसके महत्त्व का प्रभाव दण्डी में पर्याप्तरूपेण देखने को मिलता है। मन्त्री वसुरक्षित द्वारा अनन्त वर्मा के प्रति कहे गये शब्दों से भी यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि दण्डनीति ही वस्तुतः लोकयात्रा एवं समस्त विद्याओं का मूल है:—

'तात ! अपने कुल के अनुसार आप में सभी गुण विद्यमान हैं। बुद्धि भी आपकी स्वभाव से ही प्रखर है। नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्यकला पर भी और जनों की अपेक्षा आपकी बुद्धि विस्तृत है। यह सब होते हुए भी वह बुद्धि अर्थशास्त्र, (दण्डनीति) तक नहीं पहुँच पाती। अर्थशास्त्र या दण्डनीति आदि के द्वारा सुसंस्कृत (संस्कारसम्पन्न) होकर ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। इसके अभाव में अग्नि में तपाकर विना संशोधित किए गए सुवर्ण के सदृश बुद्धि की दशा होती है। बुद्धिहीन राजा उन्नतिशील होते हुए भी शत्रु के द्वारा अपमानित होने पर आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाता। बुद्धि के अभाव में राजा अपने साध्य और साधन का भी विवेक नहीं कर सकता। योग्यचरित्रहीन अथवा राजा के सदृश आचरण न करने वाला अपने या अन्य शत्रुओं द्वारा अपमानित होता है। अपमानित राजा की आज्ञा किसी भी रूप से प्रजा के योगक्षेम के लिए कल्याणकर नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्रजा राज्य के नियमों का अतिक्रमण करती हुई, अनियंत्रित रूप से स्वेच्छया भाषण करती हुई एवं यथेच्छ रूप से आचरण करती हुई अवश या मर्यादाहीन हो जाती है। मर्यादाहीन प्रजा अपने को तथा अपने स्वामी को भी इहलोक और परलोक से भ्रष्ट कर देती है।'[१]

इस स्थल पर हितोपदेश के भी एक सुप्रसिद्ध पद्य की ओर ध्यान आकृष्ट हो जाता है जहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजा की अवज्ञा के फलस्वरूप

---

१. 'तात ! सर्वैवात्मसंपदभिजनात्प्रभृत्यन्यूनैवात्रभवतिलक्ष्यते। बुद्धिश्च निसर्गपट्वी, कलासु, नृत्यगीतादिषु चित्रेषु च काव्यविस्तरेषु प्राप्तविस्तरा तवेतरेभ्यः प्रतिविशिष्यते। तथाप्यसावप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः। बुद्धिहीनो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते। न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय। अतिक्रान्तशासनाश्च प्रजाः यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकिरेयुः। निर्मर्यादश्चलोको लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं च भ्रंशयते।'—दशकुमारचरित, अष्टम उ०, पृ० ४६।

दण्डनीति के अभाव में सम्पूर्ण राज्य के समूल नष्ट हो जाने पर समस्त जगत् ही कष्टापन्न हो जाता है:—

राजा की अवज्ञा होने से परिजनमतिहीन हो जाते हैं, परिजनों के मतिहीन होने पर राजा के समीप बुधजनों का अभाव हो जाता है, बुधजनों के राज्य त्याग देने पर नीति ही गुणवती नहीं रह जाती, नीति के विपन्न होने पर समस्त जगत् ही अनियन्त्रित होकर दारुण दु:ख का अनुभव करता है ।[१]

शास्त्र रूपी दीपक के प्रकाश से प्रशस्त किये हुए पथ का अनुसरण करने से लोकयात्रा सुखकरी हो जाती है । शास्त्र दिव्यदृष्टि के सदृश है, जो दृष्टि वर्तमान, भूत और भविष्य तथा अज्ञान से दृष्टिगोचर न होने वाले सभी पदार्थों का अप्रतिहत रीति से ज्ञान कराती है वही दिव्यदृष्टि है । इस दिव्यदृष्टि से विहीन सुन्दर और विशाल नेत्रों के होते हुए भी वह अन्धे के सदृश होता है, क्योंकि उसमें कार्य और अकार्य विषयों के विवेचन की सामर्थ्य नहीं होती । इसलिए आप वाह्यविद्याओं की ओर अनासक्त होकर अपने कुल की विद्या—दण्डनीति का ज्ञान प्राप्त कीजिए । उस दण्डनीति द्वारा प्रशस्त पथ का अनुगमन करने से सभी शक्तियों एवं सिद्धियों की प्राप्ति हो जायेगी । फलत: शासन कभी स्खलित नहीं होगा । इस प्रकार (दण्डनीति का आश्रय लेकर) आप चिरकाल तक आसमुद्र इस पृथिवी का शासन कीजिए ।[२]

विहारभद्र ने दण्डनीति की हँसी उड़ाते हुए कौटिलीय अर्थशास्त्रोक्त चार विद्याओं का नाम लिया है—

---

१. 'अवज्ञानाद्राज्ञ भवति मतिहीन: परिजन:, ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजन: । बुधैस्त्यक्ते राज्ये भवति नहि नीतिर्गुणवती, विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥' —हितोपदेश ।

२. 'आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा । दिव्यं हि चक्षुर्भूचभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामप्रतिहतवृत्ति: । तेन हीन: सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात् । अतो विहाय वाह्यविद्यास्वभिषंगमागमय दण्डनीतिं कुलविद्यां तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासन: शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम् 'इति ।'—दशकुमारचरित, अष्टम उ० , पृ० ६-७ ।

'चार प्रकार की राजविद्यायें होती हैं-त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षकी और दण्ड-नीति। इनमें तीन विद्यायें परिश्रमसाध्य हैं और उनका फल भी मन्द होता है, अतएव उसकी कोई आवश्यकता नहीं। उनका परित्याग करके दण्डनीति का अध्ययन करो।'[१]

इस प्रकार के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर चारों विद्याओं के वर्णन एवं दण्डनीति की प्रधानता और उसके महत्त्व प्रतिपादन में समता का पुट विद्यमान है। दोनों ही आचार्यों ने सभी विद्याओं का मूल दण्डनीति स्वीकार किया है और लोकयात्रा की सफलता के मूल में भी दण्डनीति को ही प्राथमिकता प्रदान की गई है।

इसके अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'इन्द्रियजय' (प्रथम अधिकरण,षष्ठ अध्याय), 'राजप्रणिधि' राजा के कार्य-व्यापार (प्रथम अधिकरण) उन्नीसवाँ अध्याय:, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य एवं राजशक्तियों के विवेचन के आधार पर दशकुमारचरित में भी इन सभी विषयों की ओर संकेत किया गया है। यत्र तत्र शुक्र आंगिरस, विशालाक्षि, बाहुदन्तिपुत्र आदि जिन नीतिशास्त्रकारों का चाणक्य ने उल्लेख किया है दशकुमारचरित में उन्हें भी भुलाया नहीं गया है। कौटिल्य का मत है कि विद्या और विनय का हेतु इन्द्रियजय है, अत: काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका को उनके विषयों-शब्द, स्पर्श,रूप,रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहा जाता है। शास्त्रविहित नियमों के विपरीत आचरण करने वाला इंद्रिय लोलुप राजा समस्त पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी सद्य: विनष्ट हो जाता है।

इसलिए काम, क्रोध आदि छ: शत्रुओं का परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए...।[२]

---

१. ननु चतस्रो राजविद्यास्त्रयी वार्तान्वीक्षकी दण्डनीतिरिति। तासुतिस्रस्त्रयीवार्तान्वीक्षिक्यो महत्यो मन्दफलाश्च, तास्तावदासताम्। अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्।—दशकुमारचरित, अष्टम उ०, पृ० ९-१०।

२. विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः।
कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।-कौ० अर्थ० १.६.१
कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः।
—वही, १.६.२।

दशकुमारचरित में अनन्तवर्मा के प्रति कहे गए निम्नलिखित शब्दों में भी उपर्युक्त पंक्तियों की ओर ही संकेत प्राप्त होता है—

जो लोग यह उपदेश देते हैं कि 'इस प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए, 'इस प्रकार काम क्रोध आदि छहों शत्रुओं का परित्याग कर देना चाहिए, अपने तथा दूसरे सब के साथ सदैव साम, दान आदि उपायों को प्रयोग में लाना चाहिए। सदा सन्धि, और विग्रह आदि की बातों का चिन्तन करते हुए समय बिताना चाहिए। क्षण भर सुख के लिये अवकाश नहीं देना चाहिए।' उन्हीं मन्त्री रूपी बगुलों के द्वारा आपके समीप से चोरी करके प्राप्त किये हुए धन का वेश्याओं के घरों में उपयोग किया जाता है। ये बेचारे कौन हैं? ये वे ही हैं जो मन्त्रणा देने में अत्यन्त कुशल और शास्त्रों के रचयिता हैं। इनमें शुक्र, आंगिरस,विशालाक्षि, बाहुदन्तिपुत्र और पराशर आदि प्रमुख हैं, क्या इन लोगों ने काम क्रोध आदि छहों शत्रुओं को जीत लिया था? अथवा क्या इन लोगों ने शास्त्रों के अनुकूल मार्ग का अनुसरण किया था।[1]

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्र, प्रभाव और उत्साह इन तीन राज्यशक्तियों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है और राज्य की उन्नति में इन तीन शक्तियों के महत्त्व पर विशेष बल दिया है—

'जिस राजा के पास बुद्धि तथा शास्त्ररूपी नेत्र हैं वह अल्प प्रयत्न से ही मन्त्र का विधिवत् अनुष्ठान कर सकता है, उत्साह, प्रभाव, साम तथा औपनिषदिक उपायों द्वारा शत्रुओं को अपने अधीन कर सकता है। इसी प्रकार उत्साह, प्रभाव और मन्त्र तीनों शक्तियाँ उत्तरोत्तर बलवान हैं अर्थात् उत्तरोत्तर शक्ति से सम्पन्न, राजा पूर्व पूर्व शक्ति से सम्पन्न राजा को वश में कर सकता है।'

तद्विरुद्धवृत्तिरवशेन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्योविनश्यति -वही, १.६.५।
तस्मादरिषड्वर्गत्यागेन्द्रियजयकुर्वीत।—वही, १.७.१।

१. येऽप्युपदिशन्ति 'एवमिन्द्रियाणि जेतव्यानि, एवमरिषड्वर्गस्त्याज्यः सामादिरुपायवर्गः स्वेषु परेषु चाजस्रं प्रयोज्यः, सन्धिविग्रहचिन्तयैव नेयः कालः, स्वल्पोऽपि सुखस्यावकाशो देयः इति। तैरप्येभिर्मन्त्रिबकैर्युष्मत्तश्चौर्यार्जितं धनं दासीगृहेष्वेव भुज्यते। के चैते वराकाः। येऽपि मन्त्रकर्कशास्तन्त्रकर्तारः शुक्रांगिरसविशालाक्षबाहुदन्तिपुत्रपराशर-प्रभृतयस्तैः किमरिषड्वर्गो जितः कृतं वा तैः शास्त्रानुष्ठानम्। तैरपि हि...।'—दशकुमारचरित-अ० उ०, पृ० १६-१७।

आचार्य दण्डी ने भी राज्य की इन शक्तियों का वर्णन किया है :—'राज्य तीन शक्तियों के अधीन होता है। ये शक्तियाँ—मन्त्र, प्रभाव और उत्साह हैं। ये तीनों परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होकर कार्य करती हैं। मन्त्र में कर्तव्य कर्म का ज्ञान, प्रभाव से कार्यों में प्रवृत्ति और उत्साह शक्ति से कार्यसिद्धि होती है। सहाय, साधन, उपाय, देश-काल का विभाग और विपत्ति का प्रतीकार ये पाँच अंग कहे जाते हैं। ये ही अंग नीति रूपी वृक्ष के मूल हैं। कोष और दण्ड का प्रभाव उक्त वृक्ष का स्कन्ध है। साम, दान, दण्ड और भेद ये चारों गुण उसकी शाखायें हैं। स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना आदि (७२) उसके पात्र हैं। सन्धि, विग्रह, यान, द्वैध और समाश्रय आदि उस वृक्ष के किसलय हैं प्रभाव मन्त्र और उत्साह शक्तियाँ तथा इनकी सिद्धियाँ इस नीति रूप वृक्ष के पुष्प और फल हैं। यह नीतिरूपी वृक्ष विजिगीषु राजा का सदैव उपकार करता है।'[१]

अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के उन्नीसवें अध्याय में प्रथम सूत्र से लेकर २६ वें सूत्र तक राजा के कार्यव्यापार का सांगोपांग वर्णन है। दशकुमारचरित[२] में भी राजा की दिनचर्या के सन्दर्भ में तदनुरूप वर्णन प्राप्त होता है।

कालिदास

महाकवि कालिदास की सर्वातिशायिनी प्रतिभा एवं अपूर्व काव्य कला के कारण ही उन्हें 'कविकुलगुरु' की उपाधि से भूषित किया गया है। आदि कवि वाल्मीकि और व्यास को ऋषियों की कोटि में माना जाता है उनकी प्रतिभा अलौकिक थी, उनकी दृष्टि दिव्य थी, उनका दर्शन स्वच्छ और नित्य था। अपनी दिव्य दृष्टि, सहज काव्य-प्रतिभा एवं क्रान्तदर्शिता के मंजुल विरुद के लिए वे जितने ही अनुकरणीय हैं, अपने दर्शन-जन्य दिव्य भावों की मनोरम अभिव्यक्ति के लिए उतने ही अविस्मरणीय भी हैं। आदि कवि की रचना का लालित्य, उदात्त भावों का परिष्कार, रसों की रम्य योजना, छन्दों का अमन्द प्रवाह और भाषा की सरलता आदि

---

१. राज्यं नाम शक्तित्रयात्तम्, शक्तयश्च मन्त्रप्रभावोत्साहाः परस्परानुगृहीताः कृत्येषुक्रमन्ते। मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानाम्, प्रभावेण प्रारम्भः, उत्साहेन निर्वहणम्। अतः पंचांगमन्त्रमूलः, द्विरूपप्रभावस्कन्धः, चतुर्गुणोत्साहविटपः, द्विसप्ततिप्रकृतिः पत्रः, षड्गुणकिसलयः, शक्तिसिद्धिपुष्पफलश्च, नययवनस्पतिर्नेतुरुपकरोति। —दशकुमारचरित, अष्टम उच्छ्वास, पृ० ५२।

२. अष्टम उच्छ्वास, पृ० ११.१६।

सभी अनुपम हैं। समूचे विश्व-साहित्य में अपने भावों की निर्मलता, भाषा की सरलता और रसपेशल वर्णन की दृष्टि से आदि कवि की कृति अद्वितीय है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का आधाभाग इस महाकाव्य से अनुप्राणित है। प्रत्येक युग के कवि और कथाकार, आचार्य और नाटककार इस महाग्रन्थ (वाल्मीकिय रामायण) से प्रेरित और अनुप्राणित हुए हैं। कालिदास और भवभूति प्रभृति कवियों की रचनाओं में इस ग्रन्थ का पुष्कल प्रभाव है। रामायण में यदि भावपक्ष का प्रसार है तो कालिदास की रचनाओं में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों का मनोरम समन्वय दर्शनीय है।

डा० हजारीप्राद द्विवेदी ने श्रीयुत ए० वेंकट सुब्बइया के कलाविषयक मत को प्रकट करते हुये लिखा है कि—'कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमें थोड़ी सी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला है, उचकना, कूदना, तलवार चलाना, और थोड़ा चढ़ना भी एक कला है, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, विन्दुमती, प्रहेलिका भी कला है...रत्न और मणियों को पहचानना घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छागमेष और कुक्कुट का लक्षण जानना चिड़ियों की बोली के शुभाशुभ का ज्ञान करना भी कला है, तित्तिर बटेर का लड़ाना, तोता मैना का पढ़ाना, जुआ खेलना भी कला है।'[१]

'कला वही श्रेष्ठ है जो मनुष्य को अपने में ही सीमित न रखकर परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर देती है। कला का लक्ष्य कला कभी नहीं है उसका लक्ष्य है आत्मस्वरूप का साक्षात्कार या परम तत्त्व की ओर उन्मुखीकरण...भारतवर्ष के उत्तम कवियों, कलाकारों और सहृदयों के मन में यह आदर्श बराबर काम करता रहा है। इसकी जो भोग में विश्रान्ति है वह ठीक नहीं है। वह कला बन्धन है, पर जिसका इशारा परमतत्त्व की ओर है वही कला कला है—

विश्रान्तिर्याऽस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥'[२]

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद। पृ० १६-१७।

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ११ में उद्‌धृत॥

अभिज्ञानशाकुन्तल

कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल और दण्डी के दशकुमारचरित में भाव-साम्य यद्वा उक्ति-साम्य के एकाधिक स्थल उपलब्ध होते हैं। प्राचीन काव्यों, नाटकों और कथाकृतियों से प्रतीत होता है कि मृगया मनोविनोद का एक उत्तम साधन था। कादम्बरी में वन्यजनों की मृगया का बड़ा ही रोचक वर्णन हुआ है। कालिदास ने दुष्यन्त की मृगया का वर्णन किया है और उसे सेनापति के मुख से राजा के लिए अत्यन्त उपयोगी कहलाया है। निरन्तर ऊँचे नीचे भयंकर स्थानों में घूमते घूमते आखेट के निन्दक विदूषक के विरोध करने पर भी सेनापति ने राजा दुष्यन्त से कहना आरम्भ किया—'मृगया से चर्बी कम हो जाती है, उदर कृश हो जाता है, शरीर हल्का और फुर्तीला हो जाता है, पशुओं के भय और क्रोध की अभिसूचक आकृतियों का ज्ञान हो जाता है, चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाते रहने से हाथ अभ्यस्त हो जाते हैं और वह धनुषधारियों के लिए बहुत बड़ा उत्कर्ष है। व्यर्थ ही लोग मृगया को व्यसन कहते हैं और उसकी निन्दा करते हैं, इस प्रकार का मनोविनोद और कहाँ सुलभ हो सकता है।'[१]

दशकुमारचरित में राजा अनन्तवर्मा के सेवक विहारभद्र ने भी मृगया को उपकारिणी सिद्ध किया है। दोनों ही स्थलों के मृगया-वर्णन में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। विहारभद्र ने राजा से कहा—'हे देव, मृगया जितनी उपकारिणी होती है उतना कुछ और नहीं। मृगया में व्यायाम होता है जिससे शरीर पुष्ट हो जाता है, शरीर के पुष्ट होने पर आपत्तिकाल में आत्मरक्षा होती है, जाँघों में पैदल रास्ता तय करने की शक्ति आती है। कफ की कमी हो जाने से शरीर रोगरहित हो जाता है जिससे जठराग्नि उद्दीप्त रहती है। चर्बी के कम हो जाने से अंगों में स्थिरता और स्फूर्ति आती है। शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, भूख, प्यास आदि सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। पशुओं की चित्तवृत्ति का, उनकी चेष्टाओं का ज्ञान होता है। मृग, भैंसे तथा अन्य पशुओं का वध करने से खेत के अन्न की रक्षा होती है। भेड़िये और व्याघ्रादि वन्य पशुओं के वध कर देने से स्थल मार्ग निष्कण्टक हो जाता है,

१. मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः, सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले, मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥—कालिदास-अभिज्ञानशाकुन्तल, २.५।

पर्वत और वन प्रदेश में विचरण करते रहने से विविध प्रकार के स्थानों के अवलोकन का अवसर मिलता है जिससे यह भी ज्ञान होता है कि कौनसा स्थल किस कार्य के लिए उपयुक्त है, वन्य पशुओं के मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। मृगंया से उत्साह शक्ति की वृद्धि होने से शत्रुओं में भ्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार मृगया में बहुत गुण हैं।'[१]

दक्षिणभुजा का फड़कना मंगलमय कार्य का सूचक माना जाता है। निमित्तों में विश्वास की परम्परा संस्कृत कवियों में प्रायः अक्षुण्णरीति से चली आयी है। रथ्सहित तपोवन में प्रवेश करने पर वहाँ की सुषमा और शान्ति से प्रभावित राजा दुष्यन्त रथ से उतर कर चारों ओर देख कर विचार करने लगते हैं कि:—

'यह शान्त तपोवन-भूमि है और मेरी दक्षिण भुजा फड़क रही है। यहाँ इसका (स्त्री प्राप्ति का) फल क्यां होगा? अथवा (हो भी सकता है) होनहार के लिये द्वार (उपाय) सर्वत्र हो जाते हैं।[२] अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अंक में भी दुष्यन्त ने कहा है—'मनोरथाय नाशंसे किं बाहो ! स्पन्दसे वृथा।' 'विक्रमोर्वशीय' में भी इसी भाव की घोतक 'अयमास्पन्दितेर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः' पंक्ति आयी है। ज्योतिष शास्त्र में कहा गया है 'दक्षिण भुजा का स्पन्दन वर अथवा स्त्रीलाभ का सूचक होता है।'[३]

रघुवंश में कालिदास ने कहा है—'रावण ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर राम की उस दक्षिण भुजा में बाण मारा जो फड़कती हुई यह शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीता की प्राप्ति में कुछ भी विलम्ब नहीं है—

---

१. 'देव, यथा मृगया ह्यौपकारिकी न तथान्यत्। अत्र हि व्यायामोत्कर्षादापत्सूपकर्ता दीर्घाध्वलंघनक्षमो जंघाजवः, कफापचयादारोग्यैकमूलमाशयाग्निदीप्तिः, मेदोपकर्षादंगानां स्थैर्यकार्कश्यातिलाघवादीनि, शीतोष्णवातवर्षक्षुत्पिपासासहत्वम्, सत्वानामवस्थान्तरेषु चित्तचेष्टितज्ञानम्, हरिणगवलगवयादिवधेन सस्यलोपप्रतिक्रिया, वृकव्याघ्रादिधातेन स्थलपथशल्यशोधनम् इति बहुतमा गुणाः।—दशकुमारचरित - अष्टम उ०, पृ० २३-२४.

२. (परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य निमित्तं सूचयन्)—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥—कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तल, ९.१४।

३. वामेतरकरस्पन्दो वरस्त्रीलाभसूचकः।

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि।

निचरवानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥—रघुवंश, १२.९० ।

पुनः रघुवंश के षष्ठ सर्ग में भी कालिदास ने शुभसूचक दक्षिण भुजा के फड़कने की बात कही है। इन्दुमती सभी राजाओं को छोड़कर जब वह रघु के पुत्र अज के समक्ष आकर उपस्थित हुई उस समय अज व्याकुल होने लगे कि यह मुझे अपने पति रूप में स्वीकार करेगी अथवा नहीं? उसी समय भुजबन्ध के समीप उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगी जिससे उनका संशय दूर हो गया:—

'तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत्।

वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥

—६.६८ ।

दण्डी को भी इस प्रकार के निमित्तों में विश्वास था। महाटवी में वृक्ष की छाया में शयन कर के उठे हुये प्रमति ने अपूर्व सुख का अनुभव किया। उसकी समस्त इंद्रियाँ आह्लादित हो गयीं, अन्तरात्मा पुलकित हो गयी, रोम प्रतिलोम विशेष रूप से हर्षान्वित हो गये। कुमार ने कहा—मेरी दक्षिण भुजा फड़कने लगी ऐसा क्यों? अर्थात् यहाँ निर्जन महावन में अंगनाप्राप्ति के सूचक इस दक्षिण बाहु का स्फुरण क्यों हो रहा है? ऐसा सोचते हुए धीरे-धीरे आँखों को खोल कर ऊपर की ओर देखा तो चन्द्र के सदृश श्वेत वस्त्र वाला वितान दिखलाई पड़ा। इसके पश्चात् बाईं ओर दृष्टि डाली तो विचित्र और उज्ज्वल विछौने पर विश्वस्त होकर शयन करती हुई किसी अंगना को देखा।[१] इस प्रकार अन्त में, अभिज्ञान शाकुन्तल और दशकुमारचरित दोनों ही कृतियों में दुष्यन्त और प्रमति की दक्षिणबाहु के स्पन्दन का पर्यवसान अंगना-प्राप्ति में होता है।

आश्रम में अनूप लावण्य से युक्त, शुद्धान्तदुर्लभ शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य से मुग्ध हुये दुष्यन्त की दशा के अनुरूप ही नवमालिका में दत्तचित्त हुए

१. पर्यस्फुरन्मे दक्षिणभुजः। 'कथं न्विदम्' इति मन्दमन्दमुन्मिषन्नुपर्यच्छचन्द्रातपच्छेदकल्पं शुक्लांशुकवितानमेक्षिषि। वामतश्चलितदृष्टिः समया सौधभित्तिं चित्रास्तरणशयिनमतिविश्रब्धप्रसुप्तमंगनाजनमलक्षयम्।—दशकुमारचरित, पंचम उ०, पृ० ३४७-३४८।

दशकुमारचरित में प्रमति की दशा है । शकुन्तला में अनुरक्त आर्य चित्त वाले राजा दुष्यन्त सद्यः अपने भावों को प्रकट करने लगते हैं—

'जब मेरा आर्य (विशुद्ध) या श्रेष्ठ मन इसमें अभिलषित हो रहा है तो निश्चय ही यह क्षत्रिय के विवाह करने योग्य है । क्योंकि सन्देहास्पद वस्तुओं में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं ।[१] अनुच्छिष्टयौवना, इन्दुवदना नवमालिका के अप्रतिम लावण्य से द्रवीभूत चित्त वाले प्रमति के द्वारा उसके प्रति कहे हुए शब्द उपर्युक्त भाव के अनुकूल ही प्रतीत होते हैं—

'शिष्ट जनों की मर्यादा का अतिक्रमण न करने वाले मेरे इस श्रेष्ठ चित्त की आसक्ति इस बाला (नवमालिका) में हो रही है...(अतएव यह मेरे द्वारा उपभोग करने योग्य है— ऐसा अर्थ व्यंजित हो रहा है ।) इस प्रकार दोनों ही कवियों के उपर्युक्त स्थलों में भावसाम्य की छटा सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है ।[२]

राजा दुष्यन्त और विदूषक के पारस्परिक वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि वह अपने और शकुन्तला के पूर्व समागम को पूर्ण रूप से भूल जाता है । बुद्धि भ्रमित हो जाती है और वह विदूषक से कहना आरम्भ कर देता है कि—

'मित्र ! शकुन्तला से जो मेरा मिलन हुआ था वह स्वप्न था, या इन्द्रजाल (जादू) था, या मेरी बुद्धि का ही भ्रम था, या मेरे किसी पुण्य का उतना ही फल था ? कुछ समझ में नहीं आता । वह मिलनसुख तो अब चला गया । उससे पुनर्मिलन की सभी अभिलाषाओं को नदी के तट के प्रपात के समान ही व्यर्थ समझो[३] ।

इसी भाव की द्योतक पंक्तियाँ प्रमति और नवमालिका के परस्पर वियुक्त हो जाने पर दशकुमारचरित में भी उपलब्ध होती हैं । नवमालिका के अन्तःपुर में उसका अनूप दर्शन होने के पश्चात् सुप्तावस्था में ही प्रमति पुनः तारावली द्वारा अपने पूर्व स्थल महावन में वृक्ष के नीचे पत्रशय्या पर पहुँचा दिया जाता है । वहाँ सो कर उठने के पश्चात् प्रमति की भी मति भ्रमित हो गयी । उसे उस रूपवती

---

१. असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ॥—अभिज्ञानशाकुन्तल, १.१९ ।

२. 'अस्ति च अनतिक्रान्तशिष्टमर्यादचेतसो ममास्यामासक्तिः ।'—दशकुमारचरित-पंचम उ०, पृ० ३५३ ।

३. राजा-वयस्य । स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथ नाम तटप्रपाताः ॥—अ० शा० ६.१० ।

रमणी का मिलन तथा अन्तः पुर की अद्वितीय शोभा का पौनः पुन्येन संस्मरण होने लगा। उसके मन में चिन्ता हुई कि—

(मेरा और नवमालिका का) यह सम्मिलन क्या स्वप्न था, या मैं प्रतारित किया गया या दैवी अथवा आसुरी (राक्षसी) माया थी ? जो भी हो, सो हो। जब तक मैं इस रहस्य का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लूँगा तब तक भूमिशयन का परित्याग नहीं करूँगा। जब तक यहाँ की देवी इस रहस्य को नहीं प्रकट करेंगी तब तक जीवन भर यहीं रहूँगा ऐसा मैने निश्चय कर लिया।'[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि पति से वियुक्त होने पर कुल का व्रतपालन करनेवाली वंशानुरूप आचरण करने वाली पतिव्रता महिलायें अपने केशों को बाँधती नहीं थीं। केशों का बाँधना उनके लिए निषिद्ध था। दुष्यन्त से अलग होने पर शकुन्तला को 'एकवेणीधरा' कहा गया है—

'ततः प्रविशति एकवेणीधरा शकुन्तला।'

(अ०शा० सप्तम अंक)

अरे ! यह तो वही देवी शकुन्तला है। इसने मलिन दो वस्त्र धारण किया है। नियम का पालन करते-करते इसका मुख सूख गया है। इसने एक वेणी (चोटी) वरण किया है। इन सब लक्षणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वियोग में बहुत दिनों से व्रत का पालन करती चली आ रही है—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ॥

—अ० शा० ७।२१।

दशकुमारचरित में भी शापवशात् अपने पति से वियुक्त कुल के अनुकूल व्रत का निर्वाह करने वाली तथा नीलांशुकचीर से निर्मित चूलिका को धारण करने वाली कामपाल की प्रिया तारावती को भी 'एकवेणीभूता' कहा गया है। प्रमति के अपने तथा नवमालिका के मिलन के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा कर लेने

---

१. प्रबुद्धस्य च सैव में महाटवी, तदेव तरुतलम्, स एव पत्रास्तरो ममाभूत। विभावरी च व्यभासीत्। अभूच्च में मनसि किमयं स्वप्नः, किं विप्रलम्भो वा, किमियमासुरी दैवी वा कापि माया। यद्भावि तद्भवतु।—नाहमिदं तत्त्वतो नावबुध्य अतिष्ठम्॥ —दशकुमारचरित, पंचम उ०, पृ० ३५७।

के पश्चात् तथा उक्त वृक्ष की छाया में उसी पत्रशय्या पर ही स्थित उसने देखा कि थोड़े ही समय के पश्चात् 'भगवान् सूर्य की किरणों द्वारा परितप्त कमलों की माला के समान क्लान्त और क्षीण शरीर वाली एक अंगना दिखाई पड़ी जिसके उत्तरीय वस्त्र जीर्ण थे, निरलक्तक होने से जिसके अधर रागशून्य थे, उष्ण निःश्वासों की वायु से पीड़ित और किञ्चित् लाल अधर धूमवर्ण के होकर विरहानल को प्रकट कर रहे थे, जो अपने वंश के अनुरूप चरित्र की रक्षा करती हुई बन्धन विभ्रम के एकवेणी व्रत का पालन करती हुई नील वस्त्र की बनी हुई चोली को धारण किये हुए पतिव्रता की ध्वजा के सदृश प्रतीत हो रही थी ।[१]

दण्डी ने उक्त नवमालिका के लिए 'नीलांशुकचीरचूलिकापरिवृत्ता' विशेषणपद का प्रयोग किया है । द्वितीय उच्छ्वास में कुमारी अम्बालिका के लिए प्रयुक्त विशेषण पदों में 'अतिश्लिष्टचीनांशुकान्तरीयम्' इस विशेषण का भी प्रयोग हुआ है (जिस अम्बालिका की शरीर के अधोभाग में चीनांशुक, चीन का रेशमी वस्त्र) शोभित हो रहा है...इत्यादिः—

दण्डी के पूर्व कालिदास ने भी चीनांशुक शब्द का प्रयोग किया है । शकुन्तला में आसक्त चित्त वाले दुष्यन्त की नगर में वापस लौट कर जाने की उत्कण्ठा समाप्त हो जाती है और वे तपोवन के समीप ही रहने के लिए निश्चय करते हैं और अन्त में विचार करने लगते हैं कि—

प्रतिकूल हवा चलने पर ध्वजा का दण्ड तो (बलात्) आगे की ओर बढ़ता है किन्तु उस ध्वजा का चीन देशीय रेशमी वस्त्र पीछे की ओर उड़ता रहता है, उसी प्रकार मेरा शरीर अनिच्छा से आगे की ओर बढ़ रहा है किन्तु मेरा चञ्चल चित्त पीछे (शकुन्तला) की ओर ही दौड़ता हैः—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।

चीनांशुकमिव केतोःप्रतिवातं नीयमानस्य ॥ अ० शा० १.३१ ।

इस प्रकार दोनों ही कवियों के शब्दसाम्य के और भी स्थल कालिदास की कृतियों और दशकुमारचरित में दृष्टिगोचर होते हैं । कालिदास ने 'प्रत्यादेश' शब्द

१. 'अथाविर्भूय कापि रविकराभितप्तकुवलयदामतान्तांगयष्टिः, क्लिष्टनिवसनोत्तरीया... कुलचारित्रबन्धनपाशविभ्रमेणैकवेणीभूतेन केशपाशेननीलांशुकचीरचूलिकापरिवृत्ता पतिव्रतापताकेव संचरन्ती...।—दशकुमारचरित

का प्रयोग कई बार किया है। दण्डी ने भी 'प्रत्यादेश' शब्द का प्रयोग तो किया ही है साथ ही एक ही शब्द को अनेक बार प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति दण्डी में भी पायी जाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अंक में एकाधिक बार 'प्रत्यादेश' शब्द का प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम, शकुन्तला के विरह में राजा दुष्यन्त को उद्विग्न देख कर कंचुकी ने राजा के सौंदर्य की प्रशंसा की है—'जो स्वभावतः सुन्दर होते हैं उनकी रमणीयता (सुख-दुःख) सभी अवस्थाओं में एक समान बनी रहती है। शकुन्तला के विरह में उन्मना होने पर भी महाराज दुष्यन्त का दर्शनं कितना प्रिय लग रहा है—

'केवल बायें हाथ के सोने के एक ही वलय के अतिरिक्त उन्होंने विशिष्ट प्रकार के आभूषणों का पहनना छोड़ दिया है, निरन्तर आहें भरने से उनका गुलाबी अधर और भी लाल हो गया है...इत्यादिः—

'प्रत्यादिष्टविशिष्टमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं,

विभ्रत्कांचनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः'।

—अ० शा० ६.६।

आगे चलकर सानुमती ने राजा को देख कर कहा—

यद्यपि इन्होंने शकुन्तला को अस्वीकार कर उसको अपमानित किया है तथापि शकुन्तला का इनके लिये तड़पना उचित ही है—

स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।

—अ० शा०, (षष्ठ अंक) राजा दुष्यन्त के विदूषक के प्रति ये वचन हैं—

'जब मैंने उसका (शकुन्तला का) परित्याग किया था उस समय तुम मेरे साथ नहीं थे और उसके पूर्व भी कभी तुमने उसकी चर्चा नहीं की—

'सभवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम।'

—अ० शा०, षष्ठ अंक। पुनः विदूषक के प्रति दुष्यन्त के कहे हुए शब्द हैं—

मित्र ! जब मैंने उस (शकुन्तला) का परित्याग कर दिया तो उसने अपने बंधुजनों के पीछे-पीछे चलने के लिए पैर उठाया ही था की पिता कण्व के सदृश शार्ङ्गरव ने उसे डाट कर कहा कि तुम यहीं रहो...इत्यादि—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता

स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदतिगुरुशिष्ये गुरुसमे ।

—वही, अ० शा० ९. ६.९ ।

शकुन्तला के विरह में अपना दुःख प्रकट करते हुए जब दुष्यन्त सानुमती से यह कहते हैं कि—मित्र स्वप्न में भी उससे समागम नहीं हो पाता, उस समय सानुमती उसका प्रत्युत्तर देती हुई कहती है—

शकुन्तला का परित्याग कर हम लोगों के हृदय पर आपने जो दुःख की एक चोट पहुँचायी थी उसे आज दूर कर दिया—

सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः ।

—वही षष्ठ अंक

उत्तरमेध तथा विक्रमोर्वशीय में भी 'प्रत्यादेश' शब्द का अनेकशः प्रयोग हुआ है—अपनी प्रियतमा के प्रति सन्देश प्रेषित करते हुए यक्ष ने मेघ से कहा है—'जब तुम मेरी प्रियतमा के समीप पहुँचोगे तब उस मृगनयनी की वह बायीं आँख फड़क उठेगी जिस पर उसके अपने केश फैले हुए होंगे, अंजन न लगाने से जो रूखी हो गयी होंगी तथा मधु का परित्याग कर देने से जिसका भ्रूविलास विस्मृत सा हो गया होगा—

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं

प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।

—उत्तरमेघ । ३७ ।

'याः तपोविशेषशंकितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्वि-ताया श्रीगौर्याः अलंकारः सर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी...

(द्रष्टव्य विक्रमोर्वशीय का आरम्भ)

दण्डी ने नवमालिका को 'प्रत्यादेश इव श्रियः' कहा है ।

'तस्य दुहिता प्रत्यादेश इव श्रियः, प्राणा इव कुसुमधन्वनः सौकुमार्यविडम्बितनवमालिका, नवमालिका नाम कन्यका।'

—पंचम उच्छ्वास, पृ० ३७२.३७३

महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के सौकुमार्य की उपमा नवमालिका से दी है। शकुन्तला को निम्नलिखित पंक्ति में नवमालिका के सदृश सुकुमार (मृद्वी) कहा गया है। तपोवन में पुष्पों एवं पौधों को सींचने में तत्पर देखकर अनुसूया के ये वचन हैं—

'हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणेनियुक्ता।' (प्रथम अंक)

कविवर दण्डी ने भी उक्त कन्यका नवमालिका के सौकुमार्य को उपमान नवमालिका (नवीन चमेली के पुष्प) के सौकुमार्य से उपमित किया है। सुकुमारता में वह कन्या (नवमालिका) नवमालिका पुष्प से भी बढ़ कर है—

'सौकुमार्यविडम्बितनवमालिका, नवमालिकानाम कन्यका'

—दशकुमारचरित, पं० उ०, पृ० ३७३।

कतिपय मौलिक सत्यों के प्रतिपादन में भी दण्डी कालिदास से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। कालिदास के अनुसार भवितव्यता अत्यन्त बलवती होती है।[१] परकलत्र व्यवहार सर्वथा अनुचित होता है[२] (उस प्रकार की) विशिष्ट आकृतियाँ गुणों के विरुद्ध नहीं होतीं,[३] जो स्वभाव से ही सुन्दर होता है उसका सौन्दर्य सुख तथा दुःख सभी अवस्थाओं मे एक समान हुआ करता है।[४] दण्डी के अनुसार 'विधि के विधान को भला कौन मेट सकता है,[५] अत्यन्त निपुण भी पुरुष ब्रह्मा की

१. अथवा भवितव्यता खलु बलवती। -अ० शा०, षष्ठ अंक।
२. अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः। -वही, सप्तम अंक
३. विश्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। -वही, चतुर्थ अंक।
४. अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। -अ० शा०, षष्ठ अंक।
५. कोऽतिवर्तते दैवम्।—दशकुमारचरित, द्वि० उ० पृ० १९३।

लिखी हुई रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सकता।[१] ऐसी आकृतियाँ स्वभाव से भी विपरीत नहीं होती अर्थात् भली होती हैं।[२]

आश्रम में शकुन्तला की रूप-सम्पत्ति का विधिवत् अवलोकन करने के अनन्तर दुष्यन्त विचारमग्न हो जाते हैं कि—'मानुषी महिलाओं में ऐसे अनूप रूप की उत्पत्ति भला कैसे हो सकती है—पृथ्वी तल से विद्युत की चंचल प्रभा कभी नहीं निकलती—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥- अ० शा० १.२२।

महाकवि दण्डी ने भी कालिदास के सदृश ही ऐसे मनोरमस्थलों के संकेत में यथार्थ एवं सुरुचिपूर्ण परिकल्पनायें की हैं। अन्तः पुर में शयन करती हुई नवमालिका के अप्रतिम लावण्य को देख कर प्रमति संदेह करने लगता है कि यह रूपवती अंगना देवयोषित् है या मानुषी—'चन्द्रमा की किरणों के समान रस्सियों द्वारा निर्मित हिंडोले से गिरने के कारण अचेतनावस्था को प्राप्त अप्सराओं के सदृश सुख से शयन करने वाली ये सुन्दरियाँ कौन हैं? क्या यह कमल से युक्त हाथ वाली लक्ष्मी तो नही है?[३] इत्यादि।

अन्त में प्रमति उसके कतिपय लक्षणों से निश्चय कर लेता है कि यह देवयोषा नहीं है, मानुषी ही है—

'न तावदेषा देवयोषा, यतो मन्दमन्दमिन्दुकिरणैः संवाह्यमाना कमलिनीव सङ्कुचति। भग्नवृन्तच्युतरसविन्दुशवलितं पाकपाण्डुचूतफलमिवोद्भिन्नस्वेद-रेखं गण्डस्थलमालक्ष्यते...वाससी च परिभोगानुरूपं धूसरिमाणमादर्शयतः, तदेषा मानुषी एव।'—दशकुमारचरित, पृ० ३५२।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि दुष्यन्त और प्रमति दोनों ही पात्रों में क्रमशः शकुन्तला और नवमालिका को देखकर देवयोषा और मानुषी का संदेह उत्पन्न

---

१. न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्।—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० २१९।

२. सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम्।—दशकुमारचरित, षष्ठ उ०, पृ० ४२१।

३. एष च को नु शीतरश्मिकिरणरज्जुदोलापरिभ्रष्ट मूर्छित इवाप्सरोगणः स्वैरसुप्तः सुन्दरीजनः, का चेयं देवीवारविन्दहस्ता शारदशशाङ्कमण्डला-मलदुकूलोत्तरच्छदमधिशेते शयनतलम्।—वही, पञ्चम उच्छ्वास, पृ० ३५१।

होता है । इस प्रकार कालिदास और दण्डी की कृतियों में भावसाम्य आदि के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं ।

रघुवंश

महाकवि कालिदास ने इस महाकाव्य के सोलहवें सर्ग में (१६.१९-२९) अयोध्या की दारुण दीनावस्था का सांगोपांग वर्णन किया है । शक्तिशाली राजा के अभाव में समृद्ध नागरिकों की जो दयनीय दशा होती है कवि ने उसका अत्यन्त हृदयग्राही चित्र खींचा है और अन्त में सम्राट् की आज्ञा से कारीगरों की जो दयनीय दशा होती है कवि ने प्रचुर उपकरणों से उस-दुर्दशाग्रस्त नगरी को इस प्रकार सुन्दर एवं अभिनव रूप प्रदान किया जिस प्रकार निदाघग्लपित (गर्मी से संतप्त) धरित्री को पर्याप्त जलवृष्टि के द्वारा मेघसमूह ।[१] कविवर दण्डी ने दशकुमारचरित (षष्ठ उच्छ्वास) में त्रिगर्त नामके जनपद की भी दारुण दीनावस्था का बड़ा ही हृदयविदारी चित्र प्रस्तुत किया है । कालिदास ने कुश को इन्द्र के समान तथा उनके द्वारा नियुक्त शिल्पियों को मेघसमूह के रूप में प्रस्तुत किया है । रघुवंश में जिन भगवान् इन्द्र की आज्ञा से मेघसमूह के द्वारा निदाघग्लपित धरित्री की पर्याप्त जलवृष्टि से नया जीवन प्रदान करने की बात कही गयी है उन्हीं भगवान् इन्द्र की आज्ञा से १२ वर्ष तक लगातर जलवृष्टि न होने से दशकुमारचरित में त्रिगर्त नाम के जनपद की दुर्दशा का सजीव वर्णन लघुकाय कोमलकान्त पदावली में पुरस्कृत किया गया है । रघुवंश से स्पष्ट है कि कुश के समक्ष अयोध्या की अधिदेवता उपस्थित होती हैं और अयोध्या की दुर्दशा का वर्णन करती हैं—'स्वामी के न होने से मेरी निवास भूमि अयोध्या की असंख्य अट्टालिकाएँ, भग्न और जीर्ण तथा पतित हो चुकी हैं, उनके प्राचीर गिर गए हैं, दिनान्तकालीन प्रचण्ड वायुवेग से छिन्नभिन्न हुए मेघ पटल की भाँति वे श्रीविहीन हो चुके हैं । रात्रि के समय नगर के जिन राजपथों पर निर्भय विचरण करने वाली अभिसारिकाओं के नूपुर-शिंजन का स्वर कर्णगोचर होता था वे ही राजपथ आज श्रृगालिकाओं के विकट नाद से भयंकर हो उठे हैं । नगर की जिन बावलियों का निर्मल जल, जलक्रीड़ा में रत सुन्दरियों के कराग्रों से मृदंग के समान मधुरध्वनि से मुखरित होता था वह वन्य महिषों की सींगों से आहत होकर मलिन किया जाता है । मृदंग के ताल पर नाचने में अभ्यस्त सुवर्णयष्टि पर विश्राम

---

१. तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥—रघुवंश १६.३८ ।

करने वाले क्रीड़ा-मयूर अब जंगली हो चुके हैं। उनके सुकोमल बर्हभार दावाग्नि से दग्ध हो चुके हैं। अट्टालिकाओं के जिन सोपानमार्गों में रमणियों के सराग-पद संचरण करते थे उन पर खून से सने हुए पैरों वाले व्याघ्र विचरण करते हैं, पद्मवन में अवतीर्ण हुए राजकीय हाथी मृणालनालों द्वारा करेणुओं की संवर्धना करते थे, आज सिंहों से आक्रान्त हैं। सौधस्तम्भों पर निर्मल स्त्री-मूर्तियों का रंग उड़ गया है और उन पर सर्पों की लटकती हुई केंचुल ही उत्तरीय का कार्य कर रही हैं। महलों के धवल प्राचीर श्यामवर्ण के हो गए हैं, श्रीहीन हो गये हैं, दीवालों में तृणावलियाँ दृष्टिगत होती हैं, चन्द्रमा की किरणों से वे पूर्ववत् उद्भासित नहीं होती हैं। विलासिनियाँ जिन उद्यानलताओं से अत्यन्त सदय भाव से पुष्प चयन किया करती थीं उन्हीं को वानरों ने छिन्न-भिन्न कर दिया है, अट्टालिकाओं के गवाक्ष रात में न तो मांगल्य प्रदीप से और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुख-कान्ति से प्रकाशित होते हैं, मानों उनकी लज्जा ढँकने के लिए मकड़ियों ने उन पर जाल तान दिया है। नदियों के सैकतों पर पूजन-सामग्री का अभाव हो गया है, स्नान की चहल-पहल समाप्त हो गयी, उपान्त देश के वेतसलताकुंज सूने पड़ गये हैं।[1] दशकुमारचरित में वर्णित त्रिगर्त नामक जनपद की दशा इस प्रकार है—

---

१. विशीर्णतल्पाट्टशतोनिवेशः पर्यस्तशालप्रभुणाविना में।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्य दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥—रघुवंश १३.१९।
निशासुभास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणामं।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः संवाह्यते राजपथः शिवाभिः॥ -वही, १६.१२
आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्धिकाणाम् ॥-रघुवंश, १६.१३।
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम् ॥—वही, १६,१४॥
सोपानमार्गेषु च येषुरामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥—वही, १६.१५
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—वही, १६.१६।
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥ —१६.१७
कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः॥ – वहीं, १६-१८।

'त्रिगर्त नाम का एक नगर था। उसमें धनक, धान्यक, धन्यक तीन धनाढ्य सगे भाई रहते थे। उनके जीवन काल में इन्द्र ने बारह वर्षों तक निरन्तर वृष्टि नही की। धान की खेती क्षीण हो गयी। सभी औषधियाँ निष्फल हो गयीं। वृक्ष फल-फूल शून्य हो गए। मेघ जलहीन हो गये। नदियों का प्रवाह क्षीण हो गया।सरोवर में केवल पंक ही शेष रह गये। झरनों का बहना बन्द हो गया। कन्द मूल फल आदि लुप्त हो गये। कथायें हीन हो गयीं, कल्याणोत्सव क्रियायें समाप्त हो गयीं। चोरों की संख्या में वृद्धि हो गयी। प्रजा प्रजा का ही मांस भक्षण करने लगी। मनुष्यों के मुण्ड बलाका पंक्ति के तुल्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगे। बुभुक्षित कौओं का समूह इधर-उधर दौड़ने लगा, नगर, ग्राम और छोटे-छोटे ग्राम भी शून्य हो गये। उपर्युक्त तीनों गृहपतियों (सगे भाइयों) ने घर की संपूर्ण सामग्री समाप्त कर लेने के पश्चात् भेड़, बकरी, महिषों, गायों, दास दासियों; अपनी सन्तान बड़े एवं मझले भाई की स्त्रियों तक को खा लिया। अन्त में, छोटे भाई की स्त्री को कल खाएँगे ऐसा निश्चय करने पर धन्यक रात्रि में ही अपनी स्त्री सहित नगर का परित्याग कर बाहर चला गया।'[१]

इस प्रकार दोनों ही कवियों के दुर्दशाग्रस्त नगरों के वर्णन हृदय को स्पर्श करने की सामर्थ्य से ओत-प्रोत हैं।

मृगयावर्णन विषयक साम्य की चर्चा अभिज्ञानशाकुन्तल को लेकर हो चुकी है। रघुवंश में भी प्राप्त मृगयावर्णन से प्रभावित हुआ सा प्रतीत होता है। दोनों ही कवियों की वर्तमान कृतियों में मृगयागत गुणों और उसकी उपयोगिता का परिचय प्राप्त होता है—

'विष्णु के समान पराक्रमी, वसन्त ऋतु के समान प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर राजा दशरथ सुन्दर स्त्रियों के साथ वसन्त ऋतु के वैभव का आनन्द लेने के पश्चात् मृगया में अनुरक्त हुए। मृगया से बहुत लाभ होते हैं—उससे चलते हुए लक्ष्य को बेधने का अभ्यास हो जाता है, जीवों के भय और क्रोधादि भावों का ज्ञान हो जाता है, उसमें निरन्तर परिश्रम करते रहने से शरीर में स्फूर्ति आती है और शरीर सुगठित हो जाता है। इसलिए सचिव वर्ग से सम्मति लेकर वे

१. अस्ति त्रिगर्तो नाम जनपदः। तत्रासन्गृहिणस्त्रयः स्फीतसारधनाः सोदर्या धनकधान्यकधन्यकाख्याः। तेषुजीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः, क्षीणं सारं शस्यम्, औषध्यो बन्ध्याः_अपासरत्।-दशकुमारचरित, षष्ठ उ०, पृष्ठ ४०९-४११।

(दशरथ) आखेट के लिए चल पड़े—'अहेरी के वेश में अपने विपुल स्कन्ध पर धनुष धारण किये हुए महान् तेजस्वी महाराज दशरथ घोड़े पर चढ़ कर जिस समय चल पड़े उनके घोड़ों की टापों से उठी धूल से आकाश में वितान सा तन गया।'[१]

मेघदूत

मेघदूत संस्कृत के गीतिकाव्य साहित्य की एक अमूल्य निधि है। जिन काव्यों में महाकाव्य के सभी गुण या लक्षण नहीं होते उन्हें खण्डकाव्य या गीति-काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है।[२] मानव जीवन के एक ही पक्ष अथवा अन्तरात्मा के किसी एक ही पटल का चित्रण गीति-काव्य का प्रतिपाद्य विषय होता है। मेघदूत कालिदास की शैली की स्वाभाविकता, प्रासादिकता, पद्यों की रमणीयता एवं माधुर्यविलास का समुज्ज्वल प्रतीक है। सद्भावनाप्रसूत इस कमनीय कृति में महाकवि कालिदास की कल्पनाशक्ति एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करने में पूर्ण निखार को प्राप्त हुई है।

'मेघदूत' में पद्यगत कतिपय शब्दों और भावों का साम्य दशकुमारचरित में भी दिखलाई पड़ता है। 'प्रत्यादेश'[३] ही शब्द का प्रयोग जिसका वर्णन किया जा चुका है दण्डी ने भी यत्र तत्र यथावसर किया है। अलकापुरी के लिए प्रस्थान करते समय मेघ के प्रति यक्ष की उक्ति है— तुमने मेरा प्रिय कार्य स्वीकार कर लिया है या नहीं? इसे पूछने से यह न समझ लेना कि तुमसे हुँकारी भरवा लेने पर ही मै तुम्हें अपने कार्य के योग्य समझूँगा। (मैं जानता हूँ कि) जब चातक तुमसे जल की याचना करते हैं, उस समय विना उत्तर दिए ही उन्हें जल प्रदान करते हो। सज्जनों की रीति ही यही है कि याचना करने पर वे मुख से कुछ न कहकर कार्य को सम्पन्न करके ही उत्तर देते हैं—

---

१. अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः॥ -रघुवंश ९.४८।
परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिंगितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ॥-वही, ९.४९।
मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठ नियुक्तशरासनः।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता सवितानमिवाकरोत्॥ -वही, ९.५०।

२. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। -साहित्यदर्पण। ६.३३६।

३. 'प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्। -उत्तरमेघ। ३७।'

कच्चित्सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥

—उत्तरमेघ । ५१ ।

दशकुमारचरित में ढोंगी तपस्वी द्वारा संत्रस्त कलिंगराज कर्दन की कन्या कनकलेखा की दुर्दशा को देख कर तथा उसके प्राणों की रक्षा करने वाले मन्त्रगुप्त की किंकर के प्रति एक उक्ति है— हे मित्र ! सज्जनों द्वारा आचरित यही मार्ग है अर्थात् सज्जनों की यही रीति है की अणुमात्र के उपकार को भी वे महान् उपकार समझते हैं...अस्तु इस राजपुत्री को, जो यौवनभार से नम्र है, जो दुःखों को सहन करने में असमर्थ है, जो हवनकर्ता द्वारा क्लेशित की गयी है ऐसी राजकुमारी को उसके घर तक पहुँचा दो, इससे बढ़कर मेरे मन को आह्लादित करने वाला और कुछ भी नहीं है—

'सखे सैषा सज्जनाचरिता सरणिः, यदणीयसि कारणेऽनणीयानादरः संदृश्यते सैयं सन्नताङ्गयष्टिरक्लेशार्हा सत्यनेनाकृत्यकारिणात्यर्थक्लेशिता, तन्नयेनां निजनिलयम् । नान्यदितः किञ्चिदस्ति चित्ताराधनं नः इति' ॥

कालिदास और दण्डी की इन उपर्युक्त पंक्तियों में सज्जनों के स्वभाव और उनकी परोपकार-भावना की झाँकी द्रष्टव्य है ।

अपनी प्रियतमा की मधुस्मृति में मग्न, प्रियंगु की लता में उसकी शरीर, चकित हरिणी की आँखों में उसकी चितवन, चन्द्रमा में उसके मुख, मयूरपंखों में केश, नदी की वीचियों में उसकी भौहों के दर्शन करने वाले यक्ष की उक्ति है—'प्रणय के समय क्रुद्ध होने वाली, पत्थर की शिलापर धातुराग से तुम्हारा चित्र खींच कर जिस समय अपने को तुम्हारे चरणों पर गिरा हुआ चित्रित करने की कामना करता हूँ उस समय अश्रुओं से नेत्र परिपूर्ण हो जाते हैं, निष्ठुर काल चित्र में भी हम दोनों का समागम सहन नहीं करता ।'

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥

—उत्तर मेघदूत । ४७ ॥

दशकुमारचरित में, अन्तःपुर में शयन करती हुई अम्बालिका के वर्णन में भी अन्तः पुर में भीतर प्रविष्ट हो जाने पर अपहार वर्मा द्वारा उस राजकुमारी का चित्र खींचकर उसके चरणों पर अपने को बद्धाञ्जलि रूप में चित्रित करने का उल्लेख मिलता है—

'वहीं खूँटी पर लटकती हुई रंगीन चिकनी लाह से रंजित एक काष्ठ की पट्टी को उतार कर तूलिका द्वारा मैंने शयनकरती हुई उस राजपुत्री का चित्र खींचा और अपने को बद्धांजलि रूप में उसके चरणों पर चित्रित कर एक आर्या भी लिख दिया:—'नागदत्तलग्न...चरणलग्न्मालिखमार्यां चैताम्—

त्वामयमाबद्धाञ्जलि दासजनस्तमिममर्थमर्थयते ।

स्वपिहि मयासह सुरतव्यतिकररिवन्नैव मा मैवम् ॥

—द्वितीय उच्छ्वास- पृ० २४२

भूतनाथ भगवान् शंकर के लिए कालिदास ने 'त्र्यम्बक' शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग दण्डी ने भी दशकुमारचरित में किया है । कैलाश पर्वत का वर्णन करते समय मेघ के प्रति शापजन्य क्लेश में व्यथित यक्ष के ये वचन हैं—'वहाँ से ऊपर उठ कर तुम उस कैलाश पर्वत पर पहुँचोगे जिसकी चोटियों के जोड़ रावण की भुजाओं द्वारा प्रकम्पित कर दिये गये थे, जिसमें देववनितायें अपना मुख देखा करती हैं और जिसकी कुमुद के सदृश उज्ज्वल चोटियाँ आकाश में इस प्रकार फैली हुई हैं मानों प्रतिदिन एकत्र किया हुआ शिवजी का अट्टहास हो'—

गत्वाचोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलाशस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।

शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः रवं,
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥

—पूर्व मेध- । ५८ ।

दशकुमारचरित पंचम उच्छ्वास में किसी राक्षसस्वरूपा प्रतिकृति के शापवशात् प्रवासजन्य दुःखातिशय के कारण एक वर्ष को सहस्त्रवर्षों के सदृश

व्यतीत करने वाली तारावली के मुख से प्रमति के प्रति ये शब्दं हैं—'गतरात्रि में श्रावस्ती नाम की नगरी में देवदेव त्र्यम्बक महादेव जी के मंदिर में महोत्सव के सुख का अनुभव करके, उत्सव में विभिन्न प्रदेशों से आये हुए बन्धुजनों के दर्शन से कृतकृत्य एवं शाप से मुक्त होकर मैं पतिदेव कामपाल के समीप जाने की इच्छा कर रही थी'...'अतीतायां तु यामिन्यां देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य श्रावस्त्यामुत्सवसमाजमनुभूय बन्धुजनं च स्थानस्थानेभ्य: सन्निपातितमभिसमीक्ष्य मुक्तशापा पत्यु: पार्श्वमभिसरामीति प्रस्थितायामेव मयि,... ॥

—दशकुमारचरित- पृ० ३६०-३६९ ।

चतुर्भाणी

'चतुर्भाणी' चार प्राचीन भाणों का संग्रह है जिसमें शूद्रककृत 'पद्मप्राभृतक' ईश्वरदत्त प्रणीत 'धूर्तविटसंवाद', 'वररुचि कृत उभयाभिसारिका' और श्यामिलक विरचित 'पादताडितक' की सरल एवं स्वाभाविक बोलचाल की भाषा में कमनीय कथा का सुरुचिपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो न केवल प्राचीन भारतीय समाज की दशा का स्वरूप ही प्रस्तुत करते हैं वरन् यथार्थ साहित्यिक गुणों से भी ओतप्रोत हैं। साहित्यिक गुणों की दृष्टि से चतुर्भाणी प्राचीन संस्कृत साहित्य की अनमोल उपलब्धि है जिसमें मानव जीवन के विविध अंगों का सर्वांगपूर्ण चित्रण हुआ है।

यद्यपि इन भाणों का विषय सामान्यत: नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है और कहीं अश्लील भी है, फिर भी यह माना जा सकेगा कि इनमें वास्तविक साहित्यिक गुण है। उनमें सहज परिहास है और ठेठ भारतीय ढंग का हल्का व्यंग्य भी है जिनकी तुलना बेनजानसन या मोलिए से करने में भी डर नहीं। उनकी भाषा तो संस्कृत भाषा का निचोड़ा हुआ अमृत है। इनमें बढ़िया स्वाभाविक और सरल बोलचाल की संस्कृत का नमूना है जिसमें मामूली बातों और अश्लील गप्पाष्ठक का व्यंग्यपूर्ण वर्णन है।"[१]

दशकुमारचरित भी शिष्ट परिहास और व्यंग्य तथा विनोद से परिपूर्ण एक ऐसी ही श्लाघनीय रचना है जिसमें जीवन और जगत् के विविध रहस्यपूर्ण विषयों का ललित पदावली में विशद विवेचन किया गया है। जीवन के नानाविध विषयों के मार्मिक पक्षों के सफल चित्रण में महाकवि दण्डी सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं।

---

१. जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी- एफ० डब्ल्यू० टामस १९२४, पृ० १३५ ।

अलौकिक प्रतिभासम्पन्न, वाल्मीकि और व्यास, भास तथा कालिदास प्रभृति महाकवियों की अमरकृतियों में वर्णित लोकजीवन की बाँकी झाँकी तो सहृदयों के हृदय को तरंगित करती ही है, साथ ही वात्स्यायन के कामसूत्र, शूद्रक के मृच्छकटिक बुधभट्ट, के वृहत्कथाश्लोकसंग्रह, बाणभट्ट के हर्षचरित तथा कादम्बरी और दण्डी के दशकुमारचरित तथा इन भाणों में उपलब्ध लोकचित्रण का स्वरूप प्राचीन भारतीय संस्कृति का पूर्ण परिचायक तत्त्व है। गुप्तकालीन संस्कृति और समाज का सजीव चित्र प्रस्तुत करने में उपर्युक्त रचनाएँ अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुई हैं। विशेषरूप से इन ग्रन्थों में ही भारतीय लोक-जीवन का जीता-जागता यथार्थ चित्र देखने को मिलता है। वस्तुतः वेश-संस्कृति की वास्तविकता के आधाररूप में मुख्यरूप से ऐसी ही रचनायें स्वीकार की गयी हैं। प्रकृत भाणों में प्रमुख रूप से वेश्याओं और उनके प्रेमी कामुकों के घनिष्ट सम्बन्ध का सांगोपांग वर्णन किया गया है। वेश्याओं के शृंगार, नखरे, मान, मानभंग, लीला, खेलकूद, कामशास्त्र कौशल, कामुक प्रेमियों को दुहना, कुट्टनियों की करामातें, मद्यपान-गोष्ठी, प्रेम, दूती-प्रेषण द्वारा प्रियजनों में संदेश का आदान-प्रदान, वियुक्त प्रेमियों एवं प्रेयसी वारांगनाओं की विरह-कातरता आदि का यहाँ अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन है। इनके अतिरिक्त इनमें नगर, प्रकृति, द्यूत, मद्यपान, वेष-भूषा, वस्त्राभूषण, भोजन, उपवन-यात्रा, कन्दुकक्रीड़ा, नृत्य, संगीत, वीणावादन, प्रसाधन, यक्षपूजा, हवा, प्रपात और अग्निप्रवेश द्वारा प्राणोत्सर्ग (धूर्तविटसंवाद-पृ० ११५), राजकर्मचारी, न्यायालय, (पादताडितक-पृ० १६३, २१३-२१४) राज्य व्यवस्था और देवालयों आदि का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। दशकुमारचरित भी प्रायः इन सभी विषयों के वर्णन से परिपूर्ण है।

'पद्मप्राभृतक' में प्रियंगुष्टिका की कन्दुकक्रीडा का बड़ा ही मनोरम वर्णन हुआ है। भांडीरसेना की पुत्री कुमुद्वती से मिलकर आगे बढ़ने पर विट को आभूषणों की झंकार सुनायी पड़ी और वह खुले मार्ग से उपवन में प्रविष्ट होकर पक्षियों की मुखर ध्वनि में मिला हुआ-सा शब्द सुनते ही कहने लगा—'ठीक, इस वृक्षवाटिका का द्वार खुला हुआ है। तो मैं देखूँ। (देखकर:) हा-हा, क्या खूब? यहाँ तो नयनोत्सव प्रत्यक्ष है। यह पांचालदासी की पुत्री प्रियंगुष्टिका है। इसके जघनभाग के भर जाने से इसमें यौवनोचित ठसक आ गई है। यौवन का नया राज्य इसे ललचा रहा है। अनेक विलास, हाव, भाव और दाक्षिण्य से युक्त यह अपनी प्रिय सखियों से घिरी हुई गेंद खेल रही है। यह—

मूँग के सदृश लाल अंगुलियों वाले हाथ से मैनसिली रंग की गेंद पकड़े हुए, नीचे ऊँचे लचकती हुई उस कदम्बलता की भाँति शोभित हो रही है जो अपने पल्लवों की टोंक से किसी पुष्प को टोला मार रही हो। इसका दर्शन अनमोल लाभ है। सन्तुष्ट जन भी अमृत से कभी तृप्त नहीं होता। (समीप में पहुँचकर) प्रियंगुष्टिके! क्यों तू गेंद खेलने के बहाने सखियों के नृत्य-कौशल को भी मात कर रही है। किंचित् मुस्कराने मात्र से उत्तर देकर वह खेलती ही चली जा रही है। उसकी दासियाँ गेंद का उछालना गिन रही हैं। अनुमान होता है कि उसने सखियों के साथ बाजी लगायी है। अहो! बाजी के कारण इसमें कितना उत्साह भर गया है। आज तो संयोग से ही मुझे यह दृश्य देखने का अवसर मिला है जिसमें इसका नीचे ऊँचे होना, घूमना, उछलना, पीछे हटना, भागना आदि विविध प्रकार का अंग सञ्चालन सब भाँति सुन्दर है। किं बहुना, घूमने, पीछे हटने और कूदने के समय इसके फूले हुए वस्त्रों के भीतर प्रवेश के लिए उत्सुक वायु भी कामुकता से इसका अनुगमन कर रहा है मुझे भय है कि मुट्ठी में आ जाने वाली और यौवन के भार से लदे हुए, स्तनों से झुकी हुई स्वभाव से पतली इसकी कमर उतर न जाय। अतएव इसकी उपेक्षा करना संभव नहीं (इससे बातचीत करूँ) अरी, यौवन में उन्मत्त तू अपनी सुकुमारता के विरुद्ध यह क्या कर रही है? ठहर,ठहर। मैं तुम्हीं से कह रहा हूँ इसका उल्लास तो बढ़ता ही जाता है। अहो मैं तो यही चाहता हूँ—

अरी चपला, गेंद के पीछे तू बिलकुल पागल बन गयी है। तेरे कानों के कुण्डल जोर से हिल रहे हैं। दोनों भुजायें चमचमा रही हैं। बिखरी हुई अलकों में खिलें हुए फूल टपक रहे हैं। तेरी करधनी चक्कर लगाने से ऊपर उछलती और वेग की अधिकता से चमकती और क्षुब्ध होती है। पीन स्तनों के भार से झुकी हुई तेरी कमर सकुशल रहे।

पूरे सौ हो गये, इसलिए यह रुक गई। वासु, प्रियंगुष्टिके, सखियों से बाजी जीतने पर बधाई। क्या कहती है— 'आर्य का स्वागत विजय का अर्द्ध स्वीकार कीजिए।' वासु, तुझे देख लेना ही मेरे लिए अमूल्यलाभ है। हमें स्मरण रखना मैं चला। घूमकर...

(६) अये! अयमिदानीं दक्षिणेन वृक्षवाटिकां भूषणप्रणादात् (७) सम्भ्रान्त विहगसङ्कुलः शब्द इव श्रूयते। (८) भवतु। (९) अपावृतद्वारेयं वृक्षवाटिका। (१०) यावदवलोकयामि। (११) विलोकय। (१२) ही ही नयनोत्सवः खल्विह

वर्तते । (१३) तथा हि—पाञ्चालदास्या दुहिता प्रियङ्गुष्टिकानाम...(१५) नानाविलासभावहावदाक्षिण्यसमुदिता सखीजनपरिवृता कन्दुकक्रीडामनुभवति । (१६) येषा—

३०- (अ) प्रवाललोलाङ्गुलिना करेण

(आ) मानःशिलं कन्दुकमुद्वहन्ती ।

(इ) स्वपल्लवाग्राभिहतैकपुष्पा

नतोन्नता नीपलतेवभाति ॥

(१) काममस्याः सन्दर्शनमेवानर्घो लाभः । (२) भवतु । (३) सन्तुष्टस्यापि जनस्य न त्वमृते पर्याप्तिरस्ति । (४) अतोऽभिभाषिस्ये तावदेनाम् । (५) उपगम्य (६) वासु प्रियङ्गुष्टिके किमिदं कन्दुकक्रीडाव्याजेन नृत्तकौशलं प्रत्यादिश्यते सखीजनस्य (७) कथं स्मितमात्रंदत्तप्रतिवचना क्रीडत्येव । (८) आ यथा कन्दुकोत्पातान् गणयन्त्यस्याः परिचारिकाः (९) शङ्के पणितमनया सखीभिः सहोपनिबद्धमिति । (१०) अहो पणितप्रीतिः । (११) सर्वथा नतोन्नतावर्तनोत्पतनापसर्पणप्रधावनचित्रप्रचारमनोहरम् । (१२) यदृच्छया दृश्यमासादितं खल्वस्माभिः । (१३) किं बहुना । (१४) शङ्के परिवर्तननिवर्तनोद्वर्तनपर्याध्मातवसनान्तरप्रवेशकुतूहलो (१५) वायुरप्येनामभिकामोऽनुभ्रमतीति (१६) यत्सप्त्यं स्वभावदुर्बलत्वादेकपाणिग्राह्यस्य यौवनपीठपयोधरभारनमितस्य (१७) विभेम्यहमस्या मध्यविसंवादनस्य (१८) न द्रक्ष्याम्येनामुपेक्षितुम् (१९) अभिभाषिष्येतावत् । (२०) अयि यौवनोन्मत्ते स्वसौकुमार्यविरुद्धः खल्वयमारम्भः क्रियते । (२१) विरम विरम तावत् (२२) अये त्वां खलु ब्रवीमि । (२३) कथमुपारोहत्येवास्याः प्रहर्षः । हन्त इदानीमाशास्ये—

प्रेंखोलत्कुण्डलाया बलवदनिभृतैकन्दुकोन्मादितायाः

चञ्चद्बाहुद्वयायाः प्रविकचविसृतोद्गीर्णपुष्पालकायाः ।

आवर्तोद्भ्रान्तवेगप्रणयविलसितक्षुब्धकाञ्चीगुणायाः

मध्यस्यावल्गमानस्तनभरनमितस्यास्य ते क्षेममस्तु ॥

दशकुमारचरित[1] में राजकुमारी कन्दुकावती की कन्दुक-क्रीडा का विशद

---

१. षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ३८८-३९७

वर्णन हुआ है जिसकी चर्चा 'वस्तुवर्णन' वाले अध्याय में उत्सवों के वर्णन-प्रसंग में की गयी है। दोनों ही कृतियों में प्रियंगुष्टिका और कन्दुकावती की विविधगतियों के साथ कन्दुकक्रीडा का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन वर्णनों में कवि की सहृदयता तथा वर्णन-सामर्थ्य की स्वाभाविकता के बीज अन्तर्निहित हैं। यदि प्रियंगुष्टिका की कन्दुकक्रीडा के दर्शन से विट अपने नेत्रों को सफल समझता है, अनर्घ लाभ समझता है तो कन्दुकावती की कन्दुकक्रीडा के दर्शन से मित्रगुप्त और कोशदास भी अपने नेत्रों को सफल मानते हैं। दोनों ही कृतियों में उपलब्ध कन्दुकक्रीडा का वर्णन जितना ही विस्तृत और सर्वांगपूर्ण है इनमें भाषा की सरसता और शैली की गरिमा आदि गुणों के कारण उतनी ही सजीवता और प्रभावोत्पादकता भी विद्यमान है।

वैशिक जीवन का जो चारुतम और हृद्य रूप इन भाणों में प्रस्फुटित हुआ है उससे मिलता-जुलता वैशिक जीवन का चित्र मृच्छकटिक और दशकुमारचरित में भी दर्शनीय है। 'पद्मप्राभृतक' में वेश को काम का आवेश, बदमाशों का उपदेश, माया का कोश, ठगी का अड्डा और गरीबों के लिए निषिद्ध कहा गया है।[1] घूर्त विट संवाद' में वेश का विशद चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उसमें सुन्दर अधखुली आँखों से अवलोकन, मधुर और स्मितिपूर्णवार्ता, भारी नितम्बों से घिरा हुआ अर्धासंन, स्नेहपूर्ण नखरे आदि सभी बातें वेश के शिष्टाचार के विशेषज्ञ को विना वेश्याप्रेम में मग्न हुए ही सुलभ हो सकती हैं।[2] पाटलिपुत्र के वेश में पहुँचकर विट ने वहाँ का जो आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है प्राय: उसी प्रकार का यत्किञ्चित वर्णन दशकुमारचरित में भी मिलता है। वेश्यामाता के अधिकार और वेश्याओं के कर्तव्य निरूपण में वैशिक जीवन की झाँकी द्रष्टव्य है।[3]

---

१. हन्त भोः सुरतसर्वातिथिसन्निवेशं वेशमनुप्राप्तः योऽयम्— कामावेशः केतवस्योपदेशो, मायाकोशो वंचनासन्निवेशः। निर्द्व्याणामप्रसिद्धप्रवेशो रम्यक्लेशः सुप्रवेशोऽस्तुवेशः॥ —पद्मप्राभृतक् पृं० ३९।

२. ततो वेशमेव यास्यामः। तत्र हि—कान्तान्यर्धनिरीक्षितानि मधुरा हासोपदंशाः कथाः पीनश्रेणिनिरुद्धशेषमतुलस्पर्शं तदर्धासनम्। स्नेहव्यतिकरान् करव्यतिकरांस्तांश्च रम्यान् गुणान् वेश्याभ्यः प्रणयादृतेऽपि लभते ज्ञातोपचारोजनः॥ —धूर्तविट संवाद, पृ० ६८-६९।

३. दशकुमारचरित-द्वितीय उच्छ्वास, पृ० १५७-१६४ तथा २२२-२२३।

शूद्रक

मृच्छकटिक

शूद्रक विरचित मृच्छकटिक एक प्रकरण है जिसकी कथावस्तु कवि कल्पित है । नायक का नाम चारुदत्त है जो धीरप्रशान्त है । इसका अंगी रस शृंगार है । सभी प्रकरणों में प्राय: दश अंग होते हैं और नाटक की ही भाँति अंक संख्या भी निर्दिष्ट होती है । दशरूपक के अनुसार प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित तथा लोक संश्रयाश्रित होता है अर्थात् वह राजा आदि की कथा न होकर मध्यम वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ॥ -दशरूपक ३.३९ ।

उज्जयिनी नगरी में द्विजश्रेष्ठ 'चारुदत्त' थे जिनके गुणों से अनुरक्त वसन्त की शोभा के सदृश वसन्तसेना नाम की गणिका भी थी । 'उन्हीं दोनों के श्रेष्ठ सुरतसम्बन्ध, नीति-प्रचार, तात्कालिक अधिकारियों के दुर्व्यवहार, दुष्टों के स्वभाव तथा भवितव्यता के प्राबल्य आदि इन विविध विषयों का महाकवि शूद्रक ने काव्यशैली में सुन्दर वर्णन किया है । इस महाकवि ने तत्कालीन समाज का सर्वांगपूर्ण चित्र [शोभन अथवा अशोभन] कविता— कामिनी के रमणीयांचल में प्रांजलरूपेण बुद्धिचातुर्य से नियोजित करके अपनी अपूर्व कवित्वशक्ति तथा व्यापक लोकानुभूति का परिचय प्रस्तुत किया है । इस प्रकरण में शूद्रक ने उज्जयिनी के मध्यवर्ग के समाज की दैनन्दिन दिनचर्या को रूपक का आधार बना कर इसे अत्यधिक स्वाभाविकता प्रदान कर दी है । मृच्छकटिक संस्कृत का एक मात्र यथार्थवादी रूपक माना जाता है । कालिदास और भवभूति में हमें शब्द और भावना का उदात्त वातावरण उपलब्ध होता है जबकि मृच्छकटिक में हमें जीवन और जगत् की कठोर वास्तविकता के दर्शन होते हैं । यहाँ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की कतिपय पंक्तियों की ओर पुन: ध्यान आकर्षित होता है—'गुप्त युग की स्वर्ण संस्कृति का एक अतीव उज्ज्वल पक्ष कला, साहित्य और धर्म के रूप में था पर उस समय में भी हाड़चाम के मानव इस लोक में थे जिनके जीवन की निर्बलताओं ने मृच्छकटिक और दशकुमारचरित जैसे ग्रन्थों को ऊपर उछाला ।'[1]

---

१. शृंगारहाट की भूमिका-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ।

वस्तुतः मृच्छकटिक और दशकुमारचरित दोनों ही रचनाएँ कवि की यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं। दोनों ही कृतियों की कथावस्तु कवि-कल्पनाप्रसूत है जिनमें लोक-जीवन की वास्तविक झाँकी देखने को मिलती है। संस्कृत का कवि जनता के सुख दुःखों में रमता है। जनता के ह्रास और पतन में, उसके संयोग और वियोग के क्षणों में कवि तादात्म्य की अनुभूति करता है। शास्त्राभ्यास से भूषित प्रतिभा तो कवि का सर्वस्वभूत है ही इसके अतिरिक्त लोकजीवन की वाह्य परिस्थितियाँ भी कवि की कृति के प्रतिपाद्य में अपना अप्रतिम योगदान देती हैं। विविध बन्धनों के भीतर रहकर संस्कृत कवि ने एक अपूर्व संयम का अभ्यास किया है, अपने आप को विस्मृत करके सहज ही सर्वसाधारण का प्रतिनिधि हो सका है और याथार्थ्य एवं वास्तविकता को कठोर विषमता के भीतर एक शाश्वत सत्य को प्राधान्य दे सका है। एक ओर संसार की विषम परिस्थितियाँ, उसका निविड़बन्धन और दूसरी ओर आत्मा की बन्धनहीन व्यापकता इन दोनों का सामंजस्य संस्कृत कविता को एक अपूर्व माधुर्य से मण्डित करने में समर्थ हो सका है। संस्कृत कवि की श्रद्धा और उसकी सच्ची निष्ठा भी उसकी काव्य-सम्पत्ति की चारुता में अपना विशेष स्थान रखती है। शास्त्राभ्यास के साथ जहाँ प्रतिभा का मणिकांचन योग होता है वहाँ तो संस्कृत का कवि अतुलनीय है किन्तु लोकजीवन को कदापि भुलाया नहीं जा सकता। 'वहाँ हम प्रेम और वियोग में तड़पते हुए सच्चे हृदयों का वर्णन पाते हैं। भाई से विच्छिन्न बहन की करुण कथा, सौत के, ननद के और सास के अकारण निक्षिप्त वाक्यबाणों से विद्ध बहू की मर्म कहानी; साहूकार जमींदार और महाजन के सताये गरीबों की करुण पुकार; आन पर कुर्बान हो जाने वाले विस्मृत वीरों की वीर्य-गाथा; अपहार्यमाणा सती का वीरत्वपूर्ण आत्मघात, नयी जवानी के प्रेम के घात-प्रतिघात; प्रियतम के मिलन-विरह और मातृप्रेम के अकृत्रिम भाव लोकगीतों में भरे पड़े हैं। जन्म से लेकर मरण तक के काल में और सोहागशयन से लेकर रणक्षेत्र तक फैले हुए विशाल स्थान में सर्वत्र इन गानों का गमन है। यही हिन्दी भाषा की वास्तविक विभूति है।'[१]

जीवन की कठोर वास्तविकता द्यूत-क्रीडा, चौर्यकर्म, झंझावात, प्रवहण विपर्यय कर्णकटु कलह इत्यादि विषयों का विशद वर्णन, घटनाचक्र की गत्यात्मकता अर्थात् घटनाओं की सघनता तथा उनका त्वरापूर्ण घात-प्रतिघात और सबसे

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३०।

बढ़कर चरित्रचित्रण की यथार्थता एवं स्वाभाविकता आदि मृच्छकटिक की लोकप्रियता के लिए उत्तरदायी हैं। अपनी कथावस्तु की नवीनता एवं सजीवता के लिए मृच्छकटिक विदेशों में भी प्रतिष्ठित हो सका है। समाज के विभिन्न स्तरों के पात्रों की इसमें अवतारणा की गयी है। उनके वर्णन बड़े ही सजीव तथा चटकीले बन पड़े हैं। आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा का यथार्थ गुम्फन तथा उपर्युक्त प्राय: सभी विषयों का जो सरस वर्णन हमें मृच्छकटिक में मिलता है उन सबका पुष्कल प्रभाव दशकुमारचरित में भी परिलक्षित होता है। मृच्छकटिक में लोकजीवन की प्राय: जिन अद्‌भुत घटनाओं से; समाज के जिन शिष्ट एवं अशिष्ट क्रियाकलापों से, विधि से आहत हुए व्यथित हृदयों के जिन दुर्विपाकों से, प्रणयिजनों के प्रेम के घात-प्रतिघात एवं उदात्त भावनाओं की शीतल लहरियों से, राजनीति, कूटनीति और अर्थनीति के जिन आदर्शों से, शर्विलक आदि पात्रों की जिन अद्‌भुत चेष्टाओं से, हास्य, व्यंग्य एवं विदग्धतापूर्ण सदूक्तियों आदि से सहृदय पाठकों का चित्त आर्द्र एवं विस्मित होता है दशकुमारचरित भी प्राय: ऐसे ही विविध विषयों के सफल चित्रण एवं घटनाओं के घात-प्रतिघात से ओत-प्रोत है। लोकचित्रण-प्रधान रचनाओं में लौकिक सुख के हेतुभूत पदार्थों की उपलब्धि ही पात्रों के सुख का चरम प्रतीत होता है। तभी तो चारुदत्त ने शर्विलक से इस प्रकार यह कहा कि—क्या इससे भी अधिक मेरे लिए कुछ प्रिय है? मेरा चरित्र शुद्ध (निष्कलंक) रह गया, चरणों पर गिरे हुए शत्रु को भी मैंने मुक्त कर दिया, शत्रुओं को समूल विनष्ट करके राजा 'आर्यक' पृथिवी का शास. कर रहे हैं, मेरी प्रिया (वसन्तसेना) पुन: मुझे प्राप्त हुई और आप जैसे मेरे मित्र 'आर्यक' को मिल गये इससे बढ़कर अब और क्या अवशिष्ट है जिसके लिए मैं आपसे निवेदन करूँ।[१] शत्रुओं पर विजय, अंगनाओं की प्राप्ति, मनोविनोद की सृष्टि, कामनाओं की तुष्टि मधुभावों की वृष्टि, तर्कपूर्ण युक्तियों से त्रूटियों की पुष्टि और मित्रों से पुनर्मिलन आदि विषयों की कथा दशकुमारचरित में भी उपलब्ध होती है।

---

१. लब्धा चारित्र्यशुद्धिश्चरणनिपतित: शत्रुरप्येषमुक्त:
प्रोत्खातारातिमूल: प्रियसुहृदचलामार्यक: शास्ति राजा।
प्राप्ता भूय: प्रियेयं, प्रियसुहृदि भवान् संगतो मे वयस्यो,
लभ्यं किञ्चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम्॥
—शूद्रक, मृच्छकटिक-१०.५८॥

मृच्छकटिक और दशकुमारचरित में वर्णित सामाजिक और राजनीतिक आदि अवस्थाओं की दृष्टि से दोनों ही कृतियों में पर्याप्त साम्य है। मृच्छकटिक में उज्जयिनी जैसी समृद्ध नगरी का सांगोपांग वर्णन है जो धन धान्य और वैभव से सम्पन्न थी। भारत के विभिन्न प्रान्तों से लोग वहाँ जीविका के लिए आते थे। संवाहक स्वयं पाटलिपुत्र से आया था। स्थलव्यापार तथा समुद्र व्यापार दोनों समृद्ध दशा में थे। अनेक करोड़पति, सेठ, साहूकार उस समय विद्यमान थे। चारुदत्त भी उन्हीं में से एक था। वसन्तसेना के समान धनी गणिकायें थीं। निम्नकोटि के भी प्राणियों का समाज में अभाव नहीं था। द्यूतक्रीड़ा पर सरकार का पूर्ण अधिकार होता था। राज्य की ओर से द्यूत को वैधानिक मान्यता प्राप्त थी। सरकार को इन स्थलों से नियमित रूप से द्यूतकर मिलता था। संगीत और चित्रकला जैसी ललित कलाओं का पर्याप्त समादर होता था।

मृच्छकटिक में गणिका वसन्तसेना की समृद्धि का वर्णन समाज में गणिकाओं के सम्मान का द्योतक है। वसन्तसेना गणिका थी, वेश्या नहीं। संभवतः उस काल में वारांगनाओं के दो वर्ग थे। गणिकायें नृत्यगीतादि के द्वारा जीविकोपार्जन करती थीं, वेश्यायें रूप यौवन के द्वारा।[१] गणिकायें अपने व्यवसाय का परित्याग करके कुलबधुएँ भी बन सकती थीं। मृच्छकटिक में दो-दो ब्राह्मणों का गणिकाओं से विवाह कराया गया है (चारुदत्त और वसन्तसेना तथा शर्विलक और मदनिका)।

वर्णव्यवस्था विद्यमान थी। गोकाम्या और ब्राह्मणकाम्या सर्वथा अनतिक्रमणीय थी। शूद्रों को वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं था। न्यायालय के प्रसंग में कायस्थसरपास्पदम् का भी प्रयोग हुआ है। लोगों का व्यवसाय जातिभिन्न भी होता था। ब्राह्मण चारुदत्त एक वणिक् का व्यवसाय करता था। चन्दनक जन्मना चर्मकार था किन्तु कर्मणा एक सिपाही था। वर्णाश्रम धर्म का बोलबाला था देवी देवताओं की पद-पद पर दुहाई दी जाती थी। बौद्ध धर्म भी विद्यमान था। बौद्धभिक्षुओं का चारित्रिक पतन नहीं हुआ था किन्तु वे सशंक दृष्टि से देखे जाते थे। काषायवस्त्र, सादा भोजन, विहार, स्त्री-भय, दण्ड-कुण्डिका (जलपात्र) भाजन आदि की चर्चा मृच्छकटिक में उपलब्ध होती है।

---

१. आभिरभ्यर्थितावेश्यारूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥—दशरूपक में उद्धृत, तृतीय प्रकाश।

वैदिक ब्राह्मण धर्म ही राजधर्म था। इसी काल में शैवों तथा शाक्तों का भी अभ्युत्थान होने लग गया था। नान्दी पाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक का रचयिता स्वयं शैव था। दासप्रथा विद्यमान थी। धन देकर दास खरीदे जा सकते थे। संवाहक एक ऐसा ही अर्थ-क्रीत दास था। धन के विनिमय में अथवा बिना धन ग्रहण किए भी दासों को मुक्त कर दिया जाता था। राजा को भी दासता से मुक्त करने का अधिकार था।

मृच्छकटिक में विभिन्न प्रकार के शकुन तथा अपशकुनों की भी चर्चा हुई है भुज स्पन्दन, नेत्रस्फुरण, बौद्धभिक्षुदर्शन, काकवाशित, सर्पदर्शन, सूर्यग्रहण और ज्योतिष के शुभाशुभ फल का लोग ध्यान रखते थे।

शासन प्रबन्ध सुव्यवस्थित नहीं था। चोरों से रक्षा करने के लिए रात्रि में सिपाहियों के पहरा देने का प्रबन्ध रहता था। उनकी चौकियाँ भी बनी थीं। सड़कों पर प्रकाश का प्रबन्ध तो था किन्तु इस विषय में उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह नहीं किया जाता था। जुआरियों और मद्यपान करने वालों की कभी कभी राजमार्ग में लड़ाई भी हो जाती थी जिसके औचित्य और अनौचित्य का निर्णय राजा स्वयं करता था। न्यायाधीश की राज्य की ओर से नियुक्ति होती थी। न्यायाधीश की सहायता के लिए श्रेष्ठी और कायस्थ होते थे। न्यायालय में सभी लोगों की पहुँच होती थी। न्यायाधीश की इच्छा से ही गवाहों की पेशियाँ होती थीं। अपराधी के अपराध सिद्ध होने पर न्यायाधीश उस अपराध के दण्ड की घोषणा भी करता था। अपराधी स्वयं अपना अपराध स्वीकार करता था। न्यायाधीश का निर्णय अनुरोध या संस्तुति के रूप में राजा के पास जाता था। राजा का ही निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। राजा न्यायाधीश के निर्णय को बदल भी सकता था। अपराधी को अपना अपराध स्वीकार न करने पर कोड़े की चोट के लिए अपनी पीठ को ठोस रखना पड़ता था। अपराधी का जुलूस भी निकाला जाता था। अपराधी का प्राणहरण तलवार द्वारा, आरों के द्वारा अथवा कुत्तों के द्वारा किया जाता था। चाण्डाल फाँसी ही नहीं देते थे अपितु उन्हें फाँसी देने की विधि में भी परिवर्तन करने का अधिकार था।

दशकुमारचरित सभी कुमारों के विभिन्न प्रदेशों में पर्यटन की कथा है जिसमें उनके अद्‌भुत क्रियाकलापों का रोमांचकारी वर्णन किया गया है। मृच्छकटिक की भाँति स्थल-व्यापार तथा समुद्र व्यापार की सूचना इससे भी प्राप्त होती

है। उस समय के सेठ-साहूकार भली भाँति सम्पन्न थे। समाज में वेश्याओं का सम्मान था। सामान्य कोटि के प्राणियों से लेकर राजे महाराजे तथा वेश्यायें भी उत्सव आदि में भाग लेती थीं। द्यूतक्रीडा, कुक्कुट युद्ध, उद्यान यात्रा, कन्दुकक्रीडा, उत्सव गोष्ठियों का आयोजन, मृगया, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि मनोविनोद के साधन थे। छल, कपट, प्रवंचना, चौर्य-कर्म, वेश्यागामित्व, पापाचरण, मिथ्याभाषण, अविवेकपूर्ण कलह आदि भी निन्दित कर्म और दुर्व्यसनों में भी आसक्त जनों का अभाव नहीं था।

समाज में सुख और शान्ति के लिए राज्य की ओर से राजपुरुषों की व्यवस्था रहती थी तथापि चौर्य[१] एवं धूर्ततापूर्ण अन्य भी कार्य निःसंकोच भाव से सम्पन्न होते थे। अभिसारिकायें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर रात्रि में निर्भय अभिसरण करती थीं,[२] सिपाहियों का रात में पहरा रहता था। रात्रि में अम्बालिका के अन्तःपुर में चोरी करने की भावना से प्रविष्ट होकर पुनः वापस लौटने पर अपहारवर्मा राजमार्ग में राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिया जाता है, और अपने चातुर्य तथा धूर्ततापूर्ण उपायों से अपनी रक्षा भी कर लेता है।[३]

दास प्रथा की स्थिति थी। धन देकर दास खरीद लिए जाते थे और अनुकूल व्यवहार न करने पर उन्हें सेवा से मुक्त कर दिया जाता था। षष्ठ उच्छ्वास में रत्नवती द्वारा एक दासी के खरीदने, उससे अपना कार्य पूरा करने तथा अन्त में उसे अपमानित करके उसका परित्याग कर देने की चर्चा हुई है—'रत्नवती ने मार्ग में एक दासी को द्रव्य से खरीद लिया और उसी से अपना पाथेय भोजनादि सामग्री ढुलवाती हुई आखेटकपुर में पहुँची। वहाँ पहुँचकर वाणिज्य निपुण बलभद्र ने अल्प मूलधन से पर्याप्त धन पैदा कर लिया। उस नगर का अग्रगण्य भी बन बैठा। धन की अधिकता के कारण परिजन भी अधिक हो गये। इस स्थिति में पहले खरीदी हुई दासी को रत्नवती ने 'तुम कोई कार्य नहीं करती हो, प्रत्यक्ष वस्तु की

१. दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० १८७-१८८।
२. वही, पृ० १८९।
३. 'नृपतिपथे च समागत्य रक्षिकपुरुषैरगृह्ये। अचिन्तयं च-अलमस्मि जवेनापसर्तुमनापृष्ट एवेभिः। एषापुनर्वराकी गृह्येत। तदिदमत्र प्राप्तरूपम्'इति तानेवचपलमभिपत्य तं निशाशेषमनयम्॥—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० २४३-२४६।

चोरी करती हो, अप्रिय बोलती हो' इत्यादि इन परुष वाक्यों से उसे बहुत पीड़ित किया:—

'रत्नवती तु मार्गे कांचित्पण्यदासीं संगृह्य तयोह्यमानपाथेयाद्युपस्कराखेट-कपुरमगमत्। अमुत्र च व्यवहारकुशलो बलभद्रः स्वल्पेनैव मूलेन महद्धनमुपार्ज-यत्। पौराग्रगण्यश्चासीत्। परिजनश्च भूयानर्थवशात्समाजगाम। ततस्तां प्रथमदासीम्' न कर्म करोषि, दृष्टं मुष्णासि, अप्रियं ब्रवीषि' इति परुषमुक्त्वा बह्वताडयत्।

—दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्‌वास, पृ० ४३७-४३८।

मृच्छकटिक की भाँति भुजस्पन्दन, नेत्रस्फुरण, सर्पदर्शन ज्योतिष के शुभा-शुभफल आदि निमित्तों की चर्चा यहाँ भी उपलब्ध होती है।

नगर की सुरक्षा का भार राजा के ऊपर निर्भर होता था। अपराधी अपना अपराध स्वीकार भी करते थे और अवसर देख कर मनगढ़न्त उपायों से आत्मरक्षा भी कर लेते थे। अपहारवर्मा एक ऐसा ही अपराधी था। राजवाहन ने अपना अपराध स्वयं स्वीकार कर लिया था। निर्दोष धन्यक को भी प्राणदण्ड की राजाज्ञा हुई थी। अपराधी को ऐसे दण्ड राजा द्वारा ही दिए जाते थे। अपराधी का प्राणान्त तलवारों से सिर काट कर, हाथियों से कुचलवा कर, आँखें निकलवा कर, दोनों हाथ पीछे की ओर बाँधकर फाँसी आदि से किया जाता था।

यत्र-तत्र उपर्युक्त दोनों ही कृतियों में शब्दसाम्य एवं भावसाम्य के भी एकाधिक स्थल उपलब्ध होते हैं। प्रदोषवेला में अपने प्रियतम के समागम की कामना से घर से निकली हुई वसन्तसेना के प्रति विट की एक उक्ति है-'वसन्त सेने, यद्यपि प्रदोष के इस घने अन्धकार में मेघ गर्भित विद्युत् की भाँति तुम दिखाई नहीं देती हो, तथापि मालाओं की गन्ध तथा आभूषणों का शब्द तुम्हें सूचित कर देगा':—

कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यते त्वं सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।

त्वां सूचयिष्यति तुमाल्यसमुद्भवोऽयं गान्धश्चभीरु! मुखराणि चनूपुराणि॥

—शूद्रक, मृच्छकटिक १.३५।

यहाँ वसन्त सेना को घने अन्धकार मे, मेघगर्भित 'सौदामिनी' से उपमित किया गया है। अन्तः पुर में निःशंक शयन करती हुई राजकुमारी अम्बालिका को भी 'सौदामिनी' से ही उपमित किया गया है—'शरत्कालीन मेघों के उत्संग में शयन

करने वाली विद्युत् के समान उस राजकन्या को मैंने (अपहारवर्मा) देखा—'शरदम्भोधरोत्सङ्गशायिनीमिव सौदामिनीं राजकन्यामपश्यम् ।'

—दशकुमारचरित् पृ० २४१

पुनः वसन्तसेना के प्रति विट की ही उक्ति है जहाँ उसने वसन्त सेना को 'नगर देवी' के सदृश कहा है—'तारों आदि से जटिल रशना को कटि प्रदेश में धारण करती हुई, अपने मुख की आभा से 'मनसिल' के चूर्ण को भी तिरस्कृत करती हुई, अनोखे ढंग से त्रस्त हुई 'नगरदेवी' के सदृश क्यों चली जा रही हो (बार-बार पूछने पर भी भय का कारण प्रकट नहीं करती हो ?):—

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्तीताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनः शिलेन त्रस्तादभुतं नगरदैवतवत्प्रयासि ।।

—शुद्रक-मृच्छकटिक १.२७ ।

महाकवि दण्डी ने भी रात्रि में एकाकिनी विचरण करने वाली युवती को 'नगरदेवी' से उपमित किया है—नगर में किसी एक लोभी सेठ के घर में सेंध लगा कर चोरी करने के अनन्तर राजमार्ग में आने पर घोर अन्धकार से परिपूर्ण अर्द्धरात्रि के समय अपने प्रियतम के समीप जाने वाली एक युवती के विषय में अपहारवर्मा की उक्ति है—'इसके पश्चात् वह नगर में चोरी करने के कारण रुष्ट हुई नगर की अधिष्ठात्री देवी के सदृश निःसंवाध वेला में घर से निकल कर मेरे समीप विविध आभूषणों से अलंकृत एक युवती प्रकट हुई'—

'अथासौ नगरदेवतेव नगरमोषरोषिता निः संवाद्यवेलायां
निःसृता सन्निकृष्टा काचिदुन्मिषद्भूषण युवतिराविरासीत् ।

कासि वासु, क्व यासि' इति सदयमुक्ता त्रासगद्गदमगादीत्—

—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० १८९ ।

मृच्छकटिक में द्यूतक्रीडा तथा चौर्य आदि का अत्यन्त सजीव वर्णन हुआ है जो हास्य एवं व्यंग्य से ओत-प्रोत है । द्यूतक्रीडा में संवाहक और माथुर के क्रियाकलाप, उनके परस्पर वार्तालाप और छीना-झपटी के चारुतम रूप परिस्थिति के अनुरूप यथार्थ एवं स्वाभाविक हैं । माथुर के द्वारा विजित अपने धन के लिए बहुशः पीडित संवाहक की करुणामयी पुकारः—'आर्यो रक्षा करो, रक्षा करो' को

सुनकर मानों उसे सावधान करते हुए ही दर्दुरक की युक्तिपूर्ण उक्तियाँ कवि की दूरदर्शिता एवं व्यापक लोकानुभूति का परिचय प्रस्तुत करती हैं:—'अरे ! जुआ पुरुष का विना सिंहासन का राज्य है ।

यह किसी के द्वारा पराभव (तिरस्कार) की गणना नहीं करता । नित्य धन लेता तथा देता रहता है । यह तो राजा के सदृश आय को ही देखता है तथा बड़े-बड़े वैभवशालियों के द्वारा भी उपासनीय है । और भी-

द्रव्य जुए से ही प्राप्त किया है, मित्र कलत्र भी जुए से ही प्राप्त हुए हैं लेन, देन भी जुए से ही किया है और सब कुछ जुए से ही नष्ट हो गया है । और भी-

'त्रेता (जुए में प्रसिद्ध 'तीया') से सर्वस्व हारा हुआ, 'पावर' जूआ के कारण कृश शरीर, 'नर्दित' (नक्का) से मार्ग दिखाया जाता हुआ तथा 'कट' ('पूरा') के प्रभाव से गिरता-पड़ता हुआ मै जा रहा हूँ (अर्थात्, तीया, दूआ और नक्का के चक्कर में पड़कर मैं सर्वश:) विनष्ट हो चुका हूँ तथापि द्यूत लालसा इस निन्दनीय कर्म को छोड़ना नहीं चाहती:—

भो: । द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ।
न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यम-
र्थजातम् । नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते
जनेन ॥

—शूद्रक, मृच्छकटिक २.७

अपि च-

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव, दारा मित्रं द्यूतेनैव ।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव, सर्वनष्टं द्यूतेनैव ॥

—वही, २.८ ।

अपि च-

त्रेताहृतसर्वस्व: पावरपतनाच्च शोषितशरीर: ।
नर्दितदर्शितमार्ग:, कटेन विनिपातितो यामि ॥

—वही, २.९ ।

दशकुमारचरित में भी द्यूतक्रीड़ा का दो स्थलों पर[१] वर्णन हुआ है । यद्यपि द्यूत दुर्व्यसन है जिसके दुष्परिणाम की चर्चा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य में भूरिशः हुई है तथापि अनन्त वर्मा के सेवक विहारभद्र ने द्यूत के गुणों की व्याख्या की है ।

भट्टिकाव्य

भट्टिकाव्य भी दण्डी के पहले की रचना है जिसमें राम-कथा का विस्तृत वर्णन किया गया है । कविवर भट्टि ने अपने इस महाकाव्य में जिन निमित्तों (शकुनों) की चर्चा की है, प्रकृति आदि के चित्रण में जिन उपमानों की परिकल्पनायें की हैं, यत्र-तत्र उन्होंने भ्रान्तिमान् की जो मनोरम छटा प्रदर्शित की है, राजनीति की जिन कतिपय युक्तियों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है, मानव-जीवन में जिन मौलिक सत्यों की उपादेयता का निरूपण किया है, जिन धार्मिक एवं आस्तिक विचारों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, शत्रुओं पर विजय पाने की जिस नीति और रीति की उत्कृष्टता का रोचक वर्णन किया है— सन्धि, विग्रह आदि षाड्गुण्य की महत्ता का जो मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है, व्याकरणात्मक सुष्ठु प्रयोगों का जो अनुपम आदर्श संवर्धित किया है, प्रभात, संन्ध्या, रजनी, अशोक, वन एवं ऋतुओं आदि—प्रकृति सुन्दरी के विविध अंगों का जो वैदुष्यपूर्ण चित्रण पुरस्कृत किया है, राक्षसियों की जिन स्मरकेलियों का उल्लेख किया है; युद्ध के तुमुल कोलाहल का जो निदर्शन प्रस्तुत किया है मूलतः व्याकरण का ग्रन्थ होते हुए भी इसे शृंगार, वीर, करुण और हास्य आदि रस-पेशल वर्णनों से अनुप्राणित कर साहित्य के मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटना की स्मृति के संरक्षण का जो आदर्श प्रतिष्ठित किया है, जिन राजोचित गुणों और आदर्शों का समुन्नयन किया है, जिन यथार्थ, स्वाभाविक एवं क्रमिक घटनाओं का मनोरम चित्रण किया है, किं बहुना, काव्यगत सकलप्रयोजनमौलिभूत रसास्वादपुरस्सर कृत्याकृत्य प्रवृत्ति-निवृत्ति-उपदेश द्वारा पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के मूलभूत सर्वसम्मत उपायों का प्रदर्शन किया है उन सबका दशकुमारचरित में भी यदि बहुशः नहीं तो किसी न किसी रूप में इंगित अवश्य प्राप्त होता है ।

---

१. द्रष्टव्य-दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० १८४-१८७ तथा अष्टम उच्छ्वास, पृ० २४-२५ ।

भट्टि ने प्रथम सर्ग में भगवान् राम के प्रयाणकाल में शुभशकुनों की चर्चा की है-राम के चल देने पर विप्रों ने उच्चस्वर से आशीर्वचन का उच्चारण किया, बाजे बजने लगे, अभिमत फल की सूचना देने वाली राम की दक्षिण बाहु फड़क उठी, वृक्षों पर पक्षी अनुकूल कूजन करने लगे—

अथ जगदुरनीचैराशिषस्तस्य विप्रास्-
तुमुल-कल-निनादं तूर्यमाजघ्नुरन्ये ।
अभिमतफलशंसी चारु पुस्फोर बाहुस्-
तरुषुचुकुवुरुच्चैः पक्षिणश्चानुकूलाः ।

—भट्टि काव्य १.२७

दण्डी ने भी दशकुमारचरित में शुभसूचक दक्षिणबाहु के स्पन्दन की चर्चा की है—घने अन्धकार से परिपूर्ण रात्रि के समय वन में एकाकी शयन करने वाले प्रमति ने अपूर्व शयन-सुख का अनुभव किया । अन्त में उसने कहा—मेरी दक्षिण भुजा फड़कने लगी । मैंने सोचा यह कैसा भुजस्पन्दन ? ऐसा विचार करते हुए जब ऊपर की ओर देखा तो चन्द्र के समान स्वच्छ वस्त्रों वाला वितान दिखाई पड़ा—

'पर्यस्फुरन्मे दक्षिणभुजः । 'कथंन्विदम्' इतिमन्दमन्दमुन्मिषन्नुपर्यच्छ-चन्द्रातपच्छेदकल्पं शुक्लांशुकवितानमेक्षिषि ॥

—दशकुमारचरित, पृ० ३४०-३४८ ।

प्रातः काल सूर्योदय के वर्णन में कविवर भट्टि का कथन है कि- दुस्तर कीचड़ रूपी अन्धकार में परिप्लुत तथा विनष्ट विभाग वाले जगत् को उदित होते हुए सूर्य ने अपनी किरण रूप रस्सियों को प्रसारित करके मानों ऊपर निकाल लियाः—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुम् ।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्येज्जहारेव ततो विवस्वान् ॥

—भट्टिकाव्य ११.२०

प्रस्तुत श्लोक में अन्धकार को पंक एवं सूर्य की किरणों को रज्जु के रूप में कल्पित किया गया है ।

सन्ध्यावर्णन के सन्दर्भ में महाकवि दण्डी की उक्ति हैः—

'अशुष्यच्च ज्योतिष्मतः प्रभामयं सरः। प्रासरच्च तिमिरमयः कर्दमः।'

—दशकुमारचरित, तृ० उ०, पृ० २७७।

'भगवान् भास्कर का प्रभामय सरोवर सूख गया। अन्धकार रूपी कीचड़ ही अवशिष्ट रह जाता है उसी प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार भी सर्वत्र फैल जाता है।

इसके अतिरिक्त दण्डी ने भी एकाधिक स्थलों पर चन्द्रकिरणों को रस्सी से उपमित किया है—' चन्द्रमा की रश्मिरूपी रस्सियों से निर्मित पालने से गिरी हुई तथा मूर्छित अप्सराओं के सदृश विश्रब्ध होकर शयन करने वाली ये सुन्दरियाँ कौन हैं ? :—

एष च को नु शीतरश्मिकिरणरज्जुदोलापरिभ्रष्ट—
मूर्छित इवाप्सरोगणः स्वैरसुप्तः सुन्दरीजन॥

—दशकुमारचरित् पृ० ३५१।

पुनः ग्रन्थ के प्रथम उच्छ्वास में दण्डी के ये शब्द हैं—'उस राजकुमार (राजवाहन) के चरण युगल रजत की शृंखला से इस प्रकार बंधे हुए थे मानों कमल के भ्रम से अपनी किरण रूपी रस्सी से चन्द्रमा ने परिवद्ध कर दिया हो':—

'अथ तस्य राजकुमारस्य कमलमूढ़शशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव रजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत्।'

—दशकुमारचरित, पृ० १३२

इस प्रकार स्पष्ट है कि उभयत्र अंधकार के लिए पंक (कर्दम) और किरणों के लिए रज्जु पदों का प्रयोग हुआ है।

एक प्रमत्त भ्रमर में भ्रान्तिमान का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए महाकवि भट्टि कहते हैं कि:— 'नील कमल के लोभ से किसी कामिनी के नेत्रों की ओर आपाततः झुकता हुआ तथा कामिनी द्वारा हाथ से निवारित किये जाने पर उसके हाथ में रक्तकमल की भ्रान्तिवाला भ्रमर उस कामिनी के करतल को ही डस लेता है:—

'अक्ष्णोः पतन्नीलसरोजलोभाद्भृङ्गः करेणाल्पधियानिरस्तः।

ददंश ताम्राम्बुरुहाभिसन्धिस्तृष्णातुरः पाणितलेऽपिधृष्णुः ।।'

—भट्टिकाव्य ११.३६ ।

यहाँ भ्रमर को नायिका के नेत्रों में नीलकमल तथा उसके हाथ में रक्तकमल की भ्रान्ति का प्रदर्शन किया गया है । इसी प्रकार दशकुमारचरित के प्रथम उच्छ्वास में कलहंस को सुरसुन्दरी के मुख में नलिन (कमल) तथा चन्द्रमा को राजकुमार के चरणों में भी कमल की भ्रान्ति प्रदर्शित की गयी है—

'इस प्रकार मुझ सुरसुन्दरी (सुरतमंजरी) के आकाश में विचरण करते समय (श्वेत) कमल के लोभ से मुग्ध तथा मेरे मुख पर आपात करने से , अनन्तर सहसा उसका निवारण करते समय मेरे गले की हारयष्टि विगलित होकर जल में स्नान करने वाले महर्षि मार्कण्डेय के मस्तक पर पड़ीः—

अहमस्मि सोमरश्मिसम्भवा सुरतमञ्जरी नाम सुरसुन्दरी । तस्याः में नभसि

नलिनलुब्धमुग्धकलहंसानुबद्धवक्त्रायास्तन्निवारणलोभविच्छिन्नविग-लिताहारयष्टिर्यदृच्छया जातु हेमवते मन्दोदके मग्नोन्मग्नस्य महर्षेर्मार्कण्डेयस्य मस्तके...अपतत् ॥

—दशकुमारचरित, पृ० १४३ ।

'अथ तस्य राजकुमारस्य कमलमूढशशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव रजत शृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत् ॥'

—दशकुमारचरित, पृ० १३२ ।

भट्टिकाव्य में रावण को राम के साथ सन्धि करने के लिए नानाविध युक्तियों का उपस्थापन करते हुए विभीषण ने अत्यन्त गम्भीर राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना प्रस्तुत की है । राजनीति का वैदुष्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए विभीषण ने कहा है कि—'जो विजिगीषु वृद्धि, क्षय, तथा स्थान आदि के विषय में प्रवृत्त अपनी तथा शत्रु की वृत्ति का निरन्तर ध्यान रखता हुआ सन्धि आदि गुणों में सदैव सचेष्ट रहता है, चञ्चल भी लक्ष्मी उसका परित्याग नहीं करती—

वृद्धिक्षयस्थानगतामजस्रं वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षमाणः ।
घटेत सन्ध्यादिषु यो गुणेषु लक्ष्मीर्नतं मुञ्चति चञ्चलापि ॥

—भट्टिकाव्य, १२.२६ ।

दशकुमारचरित में भी महाकवि दण्डी ने राजनीति के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। अष्टम उच्छ्वास में अनन्तवर्मा के वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित ने विजिगीषु के लिए परमापेक्षित सभी विद्याओं का सम्यक् ज्ञान रखते हुए दण्डनीति की महत्ता पर विशेष बल दिया है और विजिगीषु को उसे (दण्डनीति को) ही लोकयात्रा का मूल सिद्ध किया है। इन्द्रियजय, षाड्गुण्योपयोग, सामादि उपायों में प्रवृत्ति तथा सन्धि विग्रह यान आदि के द्वारा ही जीवन यापन करना चाहिए[1] शास्त्र रूपी दीपक के प्रकाश से निर्धारित किए हुए मार्ग का अनुसरण करने से लोकयात्रा सुखकर होती है, शास्त्र दिव्यदृष्टि के सदृश होता है जो अतीत एवं अनागत तक के सभी पदार्थों या विषयों का दिग्दर्शन कराता है उससे विहीन विजिगीषु सुन्दर एवं विशाल नेत्रों के होते हुए भी अन्धे के सदृश होता है। क्योंकि उसके अभाव में उसकी कृत्याकृत्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति की सामर्थ्य जाती रहती है। अतएव सभी वाह्य विद्याओं का परित्यागकर दण्डनीति का अध्ययन और उसके उपयोग से सुलभ शक्तियों एवं सिद्धियों से ओतप्रोत होने पर ही उदधिपर्यन्त धरित्री का शासन कार्य सुगम होता है।[2] नीति रूपी वृक्ष (अपने सभी अंगों सहित) विजिगीषु का निरन्तर उपकार करने वाला होता है।[3]

परिस्थिति विशेष में शीर्ष-घ्राण, प्रेम और वात्सल्य का निर्देशक तत्त्व माना जाता है। भट्टिकाव्य में एकाधिक स्थलों पर इस विषय का संकेत मिलता है—'इन्द्रजित् का वध करने के अनन्तर राम ने लक्ष्मण के शीर्ष प्रदेश को सूँघा' जिससे उनका लक्ष्मण के प्रति स्नेहातिशय सुव्यक्त होता है—

'पर्यष्वजत सौमित्रिं मूर्ध्न्यजिघ्रच्च राघवः।'

—भट्टिकाव्य १७.४७।

इसी प्रकार स्नेहातिशय अथवा वात्सल्य की अभिव्यक्ति के द्योतक शीर्षघ्राण के कई स्थल दशकुमारचरित में भी उपलब्ध होते हैं। तृतीय उच्छ्वास में दण्डी की एक उक्ति है— 'उस वृद्धा ने रुदन करते हुए बार-बार (उपहार वर्मा

१. दशकुमारचित, अष्टम उच्छ्वास, पृ० १६।

२. वही, अ० उ०, पृ० ६७।

३. 'नयवनस्पतिर्नेतुरुपकरोति ॥– वही, पृ० ५२।

का) आलिंगन किया, शिर का आघ्राण करके स्तनों से दूध टपकाती हुई बोली-हे वत्स, दीर्घायु हो । तुम्हारा कल्याण हो । आज भगवान् ब्रह्मदेव प्रसन्न हुये.....

सा तु वृद्धा सरुदितं परिष्वज्य मुहुः शिरस्युपाघ्राय प्रस्नुतस्तनी सगद्गदमगदत्—वत्स चिरंजीव । भद्रं तव । प्रसन्नो च भगवान्विधिः

—दशकुमारचरित, पृ० २५९

पुत्र को देख कर रुदन, आलिंगन एवं बार-बार उसके शीर्षघ्राण तथा स्तनों से दूध टपकाने आदि से यहाँ वृद्धा माता का अपने पुत्र के प्रति स्नेहातिशय व्यक्त होता है । इसी प्रकार चतुर्थ एवं पंचम उच्छ्वास में भी ऐसे स्थल हैं जहाँ चुम्बन, आलिंगन, शीर्षघ्राण आदि के द्वारा हृदयगत उदात्त भावों की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है । बाल्यकाल से ही अपने पुत्र अर्थपाल से वियुक्त क़ान्तिमती चिरकाल के अनन्तर पुनर्मिलन के अवसर पर अपना सर्वस्व अर्पण करके भी कृतकृत्य न हो सकी ।' पति का पुनर्दर्शन करती हुई प्रहृष्ट मन से उनके चरणों को प्रणाम करती हुई अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें देखा । अनन्तर स्तनों से दूध टपकाती हुई उसने मेरा बार-बार आलिगन किया तथा हर्षाश्रुओं से गद्गद होकर बोली—हे पुत्र ! क्यों इस प्रकार तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करते हो, जबकि जन्म लेते ही इस पापाचारिणी के द्वारा परित्यक्त कर दिये गये थे ।...बिना ऐसी भाग्यशालिनी के मेरे सदृश अल्पपुण्यवाले व्यक्ति तुम्हारे अव्यक्त, मधुर भाषणरूपी सुधा का पान नहीं कर सकते । 'यहाँ आओ, आलिंगन दो इस प्रकार बार-बार उसने मेरा शिर सूंघा और अपने अंक में बैठाती हुई, तारावली की निन्दा करती हुई, मेरा पौनःपुन्येन आलिंगन करती हुई, शरीर को प्रकम्पित करती हुई क्षणभर के लिए अपनी अनिर्वचनीय आकृति दिखाई:—

हृष्टतया पत्युः पादयोः पर्यश्रुमुखी प्रणिपत्य मां च मुहुर्मुहुः प्रस्नुतस्तनी परिष्वज्य सहर्षवाष्पगद्गदमगदत्—पुत्र । योऽसि जातमात्रः पापयामया परित्यक्तः स किमर्थमेवं मामतिनिर्घृणामनुगृह्णासि ।...नहि तादृशाद्भाग्यराशेर्विना मादृशो जनोऽल्पपुण्यस्तवार्हति कलप्रलापामृतानि कर्णाभ्यां पातुम् । एहि, परिष्वजस्व' इति भूयोभूयः शिरसि जिघ्रन्त्यङ्कमारोपयन्ती, तारावलीं गर्हन्त्यालिङ्गयन्त्यश्रुभिर-भिषिञ्चती चोत्कम्पिताङ्गयष्टिरन्यादृशीव क्षणमजनिष्ट ।

—दशकुमारचरित, पृ० ३३३-३३४ ।

पुन: पंचम उच्छ्वास में तारावली का भी अपने अतिशय प्रिय सुत प्रमति के प्रति प्रकट किया गया वात्सल्य उसके स्नेह का द्योतक है—प्रमति की उक्ति है—

'मुझे नतमस्तक होता हुआ देखकर उस मान्य महिला ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी भुजलताओं से उठा कर, पुत्र के सदृश मेरा आलिंगन करके, मेरे शीर्ष प्रदेश को सूंघ कर, अपने स्तनों से दूध टपकाती हुई, वात्सल्य भाव को प्रकट करती हुई, शीतल अश्रुओं से परिपूर्ण नेत्रोंवाली, स्नेह से गद्गद होकर बोली।'

'सीमन्तिनी प्रणिपतन्तं मां प्रहर्षोत्कम्पितेन भुजलताद्वयेनोत्थाप्य पुत्रवत्परिष्वज्य शिरस्युपाघ्राय...स्नेहगदगदं व्याहार्षीत् ॥

—दशकुमारचरित, पृ० ३५९।

प्रमति की एक और उक्ति से उक्त भाव की पुष्टि होती है:—

'अब मैं आपके पिता (कामपाल) के चरणों के समीप जाती हूँ' ऐसा कहकर वह महिला बार-बार मेरा आलिंगन करके, मेरे शीर्ष का आघ्राण करके मेरे कपोलों को चूम कर स्नेह से विह्वल होकर चली गयी:—

'एषा चाहं पितुस्ते पादमूलं प्रत्युपसर्पेयम्' इति प्राञ्जलि मां भूयोभूय: परिष्वज्य शिरस्युपाघ्राय कपोलयोश्चुम्बित्वा स्नेहविह्वला गतासीत् ॥

—दशकुमारचरित, पृ० ३६४।

प्रकृत प्रबन्ध काव्य में जैसा कि भट्टि ने स्वयं निर्देश किया है, उनका प्रमुख उद्देश्य व्याकरण के विशुद्ध प्रयोगों का प्रदर्शन ही है—

दीपतुल्य: प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते ॥

—भट्टिकाव्य २२.३३।

वैयाकरण के लिए यह प्रबन्ध दीपक; किन्तु शब्द-लक्षण शून्य व्यक्ति के लिए अन्धे के हाथ में विद्यमान दर्पण के सदृश है। भट्टि को विद्वज्जन प्रिय है व्याकरण से अनभिज्ञ उनके लिए हेय हैं—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सव: सुधियामलम्।
हता: दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ॥

—भट्टिकाव्य २२.३४।

वैयाकरण एवं विद्वानों का आदर करने वाले भट्टि के प्रबन्ध में कोरे व्याकरण का ही शुष्क उपदेश न होकर और मस्तिष्क पक्ष को ही पर्याप्त सामग्री प्रदान करने वाला न होकर इसमें हृदय पक्ष के लिए उत्तरदायी उदात्त एवं सुकोमल भावों की रमणीय अभिव्यक्ति द्वारा कवि की अपूर्व कवित्व-शक्ति प्रस्फुटित हुई है जिसके अभाव में काव्य की उत्पत्ति ही नहीं होती वह शक्ति (कवित्व बीज रूप संस्कार विशेष) भी भट्टि में विद्यमान है । महाकवि भट्टि का व्याकरणपक्ष जितना सबल और संतुलित है कवित्व या हृदय पक्ष उससे कम नहीं है—

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम् ।
निरासभृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम् ॥

—भट्टिकाव्य २.६ ।

प्रभातकालीन समीर से प्रकम्पित आकृतिवाली कमलिनी प्रणयकुपिता नायिका के सदृश कुमुद्वती के पराग से रंजित भ्रमर को अपने समीप आने से रोकती है, मानिनी सुन्दरी अपने प्रिय का अन्य नायिकाकृत संसर्ग सहन नहीं करती । इसके अतिरिक्त 'सज्जनों का नित्यकर्म आपत्ति में भी लुप्त नहीं होता—महतां हि क्रिया नित्या छिद्रेनैवावसीदति ।—भ० का० ६.२४ ।

महान् पुरुष परोपकार के लिए ही होते हैं—

'भवति महान् हि परार्थ एव सर्वः ।'

—भट्टिकाव्य, १०.६७ ।

महिमा विपत्ति के अभाव में नहीं होती—

'न भवति महिमा विना विपत्तेः ।'—वही, १०.६३ ।

इत्यादि मौलिक सत्यों के प्रतिपादन में भी कवि के हृदय की व्यापकता और भावुकता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है ।

ग्रन्थ के आदि में ही कवि ने राजोचित जिन गुणों का उल्लेख किया है दण्डी ने भी राजाओं के लिए उपयोगी उन गुणों की ओर यावच्छक्य संकेत किया है । राजा दशरथ के लिए भट्टि की उक्ति है—'उन्होंने वेदों का सम्यक् अध्ययन किया था, देवताओं का यजन किया था, पितरों को संतुष्ट किया था, बन्धुजनों का सदैव दान, मान आदि के द्वारा सम्मान किया था, काम क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य

पर विजय प्राप्त किया था, शत्रुओं का समूल विनाश किया था।'[१] इस प्रकार एक चक्रवर्ती राजा के समस्त गुण उनमें विद्यमान थे। दशकुमारचरित (अष्टम उच्छ्वास) में भी राजोचित गुणों की चारु चर्चा विस्तार से की गई है।

विस्तारभय से अब इतना ही कहना यथार्थ प्रतीत होता है कि दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती इन उपर्युक्त सभी महाकवियों (वात्स्यायन से लेकर भाण-प्रणेताओं एवं शूद्रक तक) की रचनाओं का पर्याप्त अनुशीलन किया था और इन विविध विषयों के मार्मिक चित्रण में कवि की व्यापक काव्यानुभूति का सर्वत्र पुट विद्यमान है। दण्डी की मूल प्रेरणा की आधारभूत उपर्युक्त रचनाएँ अपने निखिल प्रभापुञ्ज का जो भी आलोक प्रदान कर सकीं प्राय: उसी के परिवेश में विविध भावों एवं घटनाओं के मार्मिक एवं सुकुमार चित्रण द्वारा कवि ने मानों शब्द निर्मित मानव-हृदय ही प्रस्तुत किया है। यों तो दण्डी की व्युत्पत्ति और प्रतिभा की द्योतक उनकी और भी कृतियाँ संस्कृत साहित्य में अनुपम हैं तथापि प्रकृत रचना शृंगारप्रधान होकर भी कवि के काव्यकला-कौशल का उत्तमोत्तम निदर्शन है।

१. सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनपारीत्सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्तनीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥—भट्टिकाव्य १.२।

षष्ठ अध्याय

रसाभिव्यक्ति

'रस' ही काव्य की आत्मा है । रसानुभूति या भावानुभूति ही काव्यानन्द का प्रधान रूप है । रसानुभूति ही सत्काव्यों के सेवन का फल है । कुछ लोगों के अनुसार 'सत्काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं में वैदग्ध्य की प्राप्ति होती है, अध्येता में कीर्ति एवं प्रीति का सन्निवेश होता है[1] किन्तु दशरूपककार ने आनन्द का निष्यन्दन करने वाले रूपकों का फल जिन्होंने व्युत्पत्ति मात्र स्वीकार किया है उन्हें अल्पबुद्धि की संज्ञा प्रदान की है । इतिहास आदि के अध्ययन से प्राप्त होने वाले लौकिक ज्ञान की तरह जो व्युत्पत्तिमात्र को ही काव्य या नाटक का फल स्वीकार करता है वह रसास्वाद से पराङ्मुख होता है । यहाँ रसास्वाद रूप परम प्रयोजन का तिरस्कार करने वाले विद्वान् को नमस्कार किया गया है ।[2] दशरूपककार के इस प्रकार के विवेचन से स्वसंवेद्य, परमानन्द रूप रसास्वाद ही रूपकों के अनुशीलन का फल है ।

'जो स्वप्न में भी अपने शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता और न ही लौकिक व्यवहार में आ सकता है किन्तु शब्दों द्वारा कहे हुए, हृदय के साथ संवाद रखने के कारण सुन्दर विभावानुभावों के अनुकूल, पूर्वविनिविष्ट जो रत्यादि वासना उसके उद्बुद्ध होने से मनोहर जो अपनी बुद्धि (संवित्) का आनन्दमय चर्वणाव्यापार उसके द्वारा रसनीय रूप है वही रस कहा जाता है—वह केवल काव्य में ही दिखाई पड़ने वाली रसध्वनि है, वह केवल ध्वनि रूप ही है और वही मुख्य रूप से काव्य की

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

२. आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ —दशरूपक, १.६

आत्मा है ।'[१] काव्यात्म रूप में रस की इस प्रकार की मान्यता आचार्य आनन्दवर्धन से पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यों की गम्भीर और सूक्ष्मतम, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक साहित्य-साधना का परिणाम है । इसके पूर्व भरत के पश्चात् रस सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा । आरम्भ से लेकर रुद्रट के समय तक ईसा की पहली दूसरी शती से ८ वीं शती के अन्त तक के आचार्यों ने रस की अपेक्षा काव्य के सन्दर्भ में अलंकार, गुण, रीति आदि पर अधिक बल दिया जिनमें भामह, दण्डी, वामन, उद्‌भट और रुद्रट प्रमुख हैं । 'यद्यपि इन सभी आचार्यों में से प्रत्येक के रसविरोध में मात्रा का भेद है फिर भी समग्ररूप में इन सभी का दृष्टिकोण प्रतिकूल ही था ।[२]

आचार्य भामह की साहित्यशास्त्र सम्बन्धी प्रेरणायें चमत्कृतिजन्य थीं और इसका मूल, काव्य में पदार्थों के वक्र या अतिशय कथन में था । वक्रोक्ति को भामह ने काव्य का प्राण माना है और 'उसी को वाणी का अलंकार भी कहा है ।'[३] अतिशयोक्ति को उन्होंने लोकातिक्रान्त वचन कहा है ।[४] साथ ही दोनों में अभेद भी प्रदर्शित किया है ।[५] भामह की सम्मति में वक्रोक्ति ही काव्य की रमणीयता का आधार है । वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार की सत्ता ही नही हो सकती । वक्रोक्ति के अभाव के कारण ही हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को भामह ने अलंकार रूप में स्वीकार ही नहीं किया । [६] अलंकार ही, भामह के अनुसार काव्य का सर्वस्व है । अभूषणों

---

१. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो नलौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दरविभावानुभाव समुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्व-संविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः,स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति,स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति ॥'—आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक-लोचन, प्रथम उद्योत ।

२. रस सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र,पृ० १८ ।

३. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः । भामह-काव्यालंकार,१.३६ ।

४. निमित्तता वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ भामह-काव्यालंकार,२.८१ ।

५. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना ॥ भामह-काव्यालंकार २.८५ ।

६. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ भामह- काव्यालंकार २.८६ ।

से रहित सुन्दर भी स्त्री जिस प्रकार शोभित नहीं होती उसी प्रकार अलंकार विहीन सुन्दर भी शब्दार्थ सुशोभित नहीं होते ।[१]

भामह की इस प्रकार की अतिशय अलंकारप्रियता से रस के प्रति उनकी उपेक्षा प्रतीत होती है ।

भामह के 'काव्यालंकार' में रस का तीन प्रसंगों में उल्लेख है । महाकाव्य के प्रसंग में,[२] रसवद्, प्रेयस् और ऊर्जस्विन् अलंकारों के प्रसंग में,[३] काव्यमाहात्म्य के प्रसंग में ।[४] रसवद् अलंकार के प्रसंग में भामह ने रसों का विशेष वर्णन नहीं किया । केवल शृंगार रस का एक उदाहरण प्रस्तुत करके विषय को समाप्त सा कर दिया है । शृंगार के उदाहरण से भी रस का पूर्ण स्वरूप वस्तुतः प्रस्फुटित नहीं हुआ है । वहाँ केवल विभाव का वर्णन है । 'देवी' आलम्बन है और 'राजदण्डधारण किए हुए' और 'अतिरोहित' आलम्बन के ये दो विशेषण उद्दीपन प्रतीत होते हैं । विभाव के अतिरिक्त रस के अन्य अवयवों का अभाव होने से रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है ।

अतः स्पष्ट है कि भामह के मन में काव्य के भावसमृद्धि एवं रस के प्रति उतना आदरभाव नहीं प्रतीत होता जितना शब्दार्थ की वक्रता के प्रति ।

आचार्य दण्डी की प्रवृत्ति भामह की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण एवं रसोन्मुख प्रतीत होती है । रसों के पृथक्, विस्तृत विवेचन न प्रस्तुत करने का यह अभिप्राय नहीं सिद्ध होता कि दण्डी रस-मर्म से अनभिज्ञ थे, या रस की प्रक्रिया से अपरिचित

---

१. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥ भामह-१.१३ ।

२. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । का० आ० १.११३ ।

३. रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा ।
देवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता ॥ का० अ० १.६ ।
प्रेयोगृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा ।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ॥
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥ का० अ० १.५ ।
ऊर्जस्विकर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः ।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ॥ का० अ० १.७ ।

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥ का० अ० ५.३ ।

थे। 'सिद्धान्ततः तो भामह तथा अन्य ध्वनि-पूर्व आचार्यों की भाँति दण्डी ने भी शब्दार्थ में ही काव्य का मूल सौंदर्य माना है और अलंकार को सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य का पर्याय मानते हुए रस का रसवद् अलंकार के ही अन्तर्गत वर्णन किया है किन्तु स्वभावतः पदलालित्य- रसिक दण्डी के मन में रस के प्रति अधिक आदर था। भामह ने जहाँ रसवद् अलंकार के प्रसंग में केवल शृंगार रस का एक अपुष्ट उदाहरण देकर रस विषय को चलता कर दिया है वहाँ दण्डी ने आठ रसों का रुचिपूर्वक वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि समास शैली के कारण उन्होंने विभिन्न रसों के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का पृथक् विवेचन नहीं किया— केवल स्थायी की ही रसपरिणति रस सिद्धान्त का मूल आधार है और दूसरे इसलिए भी कि उनके उदाहरणों में विभाव, अनुभाव आदि के अत्यन्त स्पष्ट चित्रण द्वारा रसपरिपाक प्रस्तुत किया गया है—दण्डी का रस वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी अपूर्ण नहीं है। शृंगारमूलक रसवद् अलंकार के प्रसंग में प्रस्तुत उदाहरण—

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम्।

सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि॥

—काव्यादर्श, २.२८०

प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।

रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः॥

—काव्यादर्श, २.२८१।

इस का विश्लेषण करने पर रसविवेचन से सम्बद्ध कई सुस्पष्ट तथ्य उपलब्ध होते हैं। दण्डी रस के मर्म एवं स्वरूप से पूर्णतया अवगत हैं। उपर्युक्त श्लोक में रस-सामग्री सर्वथा परिपूर्ण है। उदयन आश्रय हैं, वासवदत्ता आलम्बन, उदयन के हर्षोद्गार अनुभाव और हर्ष, विस्मय आदि संचारी हैं—इसमें परिपुष्ट रति स्थायीभाव का शृंगार रस में परिपाक हो जाता है।[1]

'काव्यादर्श' में अन्य और भी स्थल ऐसे हैं जो कि इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि दण्डी को रस के आस्वाद्य रूप की सच्ची अनुभूति थी। रस का विशद

१. रस सिद्धान्त-डा० नगेन्द्र, पृ० २०।

विवेचन न होने से यह अनुमान युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि दण्डी रस की प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे ।

माधुर्य गुण के विवेचन में कतिपय ऐसे स्थल[१] हैं जो दण्डी की रस-विषयक वृत्ति के पूर्ण परिचायक हैं ।

मधुर का अर्थ रसमय स्वीकार किया जाता है । शब्द तथा अर्थ दोनों में रस विद्यमान होता है जिससे सहृदय उसी प्रकार आनन्दित हो उठते हैं जैसे मधु से भ्रमर । सरस शब्द जिसके श्रवण से सहृदयों का चित्त नाद-साम्य के चमत्कार का अनुभव करे वह सानुप्रास पदावली रसमयी कही जाती है । अर्थ की सरसता का मूलाधार दण्डी की दृष्टि में अग्राम्यता हैं । अग्राम्यता अर्थात् परिष्कृत भावाभिव्यक्ति रस के लिए उत्तरदायी होती है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दण्डी का कवि-हृदय सभी मार्मिक स्थलों की पहचान में पूर्णतया समर्थ था । इस तथ्य का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था कि श्रुत्यनुप्रासादि से युक्त ललित पदावली शृंगारादि रसों के आस्वाद में योगदान कर उसकी अभिवृद्धि करती है । भरतसम्मत रससिद्धान्त के मर्म का दण्डी को पूर्ण ज्ञान था । दशकुमारचरित में भी सानुप्रासपदावली दृष्टिगत होती है । ललित पदविन्यास से कृति ओतप्रोत है । प्रायः सभी रसों का यथावसर सन्निवेश एवं भावों की मनोरम व्यंजना दशकुमारचरित में उपलब्ध होती है ।

आचार्यों ने रस के चार अवयव स्वीकार किए हैं:- १-स्थायी भाव, २-विभाव, ३-अनुभाव और ४-व्यभिचारी या संचारी भाव । 'विरोधी या अवरोधी भाव जिसे तिरोहित करने में असमर्थ हों तथा रस रूप आनन्दांकुर का जो मूलभूत है वही स्थायी भाव कहा जाता है ।'[२] मानवहृदय में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वासना रूप में विद्यमान सामग्री की प्राप्ति होने पर रसरूप को प्राप्त होने वाले रत्यादि भावों

---

१. मधुरं रसविद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्तिधीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥- दण्डी, काव्यादर्श, १.५१
यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ -दण्डी, काव्यादर्श, १.५२

२. विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आनन्दांकुरकन्दोऽसौभावः स्थायीति संज्ञितः ॥ इति ॥
-काव्यप्रकाश-वामनाचार्य की टीका में, ११२

को ही स्थायी भाव की संज्ञा प्रदान की जाती है । जिसका अवलम्ब लेकर रत्यादि भावों का आविर्भाव होता है वे ललना आदि आलम्बन पद से अभिहित होते हैं, उन रत्यादि भावों की उत्पत्ति होने पर उन्हें उद्दीप्त करने वाले चन्द्रोदयादि उद्दीपन पद से अभिहित होते हैं रत्यादिजन्य कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से नाना प्रकार के कटाक्ष, भुजोत्क्षेप एवं काकूक्ति प्रभृति आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव हैं । रत्यादि भावों की झटिति प्रतीति कराने में जो सहायक होते हैं वे निर्वेदादि सहकारी कहे जाते हैं ।

'विभावन आदि व्यापार की योग्यता होने से इनकी विभावादि संज्ञा होती है । वासनारूप से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हृदयस्थ रत्यादि स्थायी भावों को जो आस्वादयोग्य बनाते हैं वे विभाव कहे जाते हैं । रत्यादि स्थायी भावों को जो अनुभव का विषय बनाने में समर्थ हों वे अनुभाव तथा रत्यादि स्थायी भावों को जो शरीर में संचार करते हैं यद्वा उन भावों की बार-बार जो अभिव्यंजना कराते हैं, व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं ।'[१] काव्य में जिस पात्र के हृदय में रति आदि भाव की व्यंजना होती है वह पात्र उस भाव का 'आश्रय' कहा जाता है । रस की प्रक्रिया में आलम्बन का विशेष महत्त्व होता है । यह सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार का हो सकता है । आलम्बन का सफल व उत्कृष्ट चित्रण रसानुभूति का आधार है ।

शृंगार रस

दशकुमारचरित का अङ्गी रस शृंगार है । रति प्रमुख भाव है । इसके अतिरिक्त भय, क्रोध, उत्साह, विस्मय, शोक, हास आदि भावों की मनोरम अभिव्यक्ति भयानक, रौद्र, वीर, अद्भुत, करुण, एवं हास्य के रूप में यथावसर परिणत हुई है । आचार्यों ने श्रव्य अथवा दृश्य-काव्य में एक रस अङ्गी या प्रधान

---

१. विभावादि संज्ञा च विभावादि व्यापारयोगात् । तद्यथा । वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनः विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्ति 'इति विभावाः । रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति, अनुभवविषयी कुर्वन्तीति' अनुभावाः । सर्वांगव्यापितया रत्यादीन् स्थायिनः कायेचारयन्ति संचारयन्तीति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयन्तीति वा व्यभिचारिणः । विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः । स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ । ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् । उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः ।

मानकर शेष रसों को गौण स्थान प्रदान किया है । क्रोध का प्रचण्ड ताण्डव, वात्सल्य की सरस धारा एवं उत्साह की दिव्य झाँकी तथा रति की मनोरम अभिव्यंजना दशकुमारचरित में विशेष रूप से हृदयावर्जक है । अद्भुत एवं विस्मय के सम्बन्ध में यहाँ जितना ही कहा जाए, कम है । दण्डी का दशकुमारचरित विस्मयजनक घटनाओं के वन से ओतप्रोत होने के कारण सहृदयों के विशदीभूत मनोमुकुर को निरन्तर आह्लादित करने में सर्वथा क्षम है ।

शृंगार रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का यथोचित वर्णन हुआ है । काव्यों में वर्णित प्रेम के कुछ नियत प्रकारों के अनुकूल ही प्रेम का स्वरूप दशकुमारचरित में देखने को मिलता है । प्राय: गान्धर्व-विवाह के सन्दर्भ में ही वर्णित प्रेम का स्वरूप दशकुमारचरित में उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त गुणश्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से नायक-नायिका के हृदय में उत्पन्न होने वाले प्रेम का भी रूप यहाँ कवि की लेखनी का अविषय नहीं हुआ है ।

गान्धर्व विवाह के प्रेम का स्वरूप यह होता है कि नायिका और नायक का अकस्मात् सम्मिलन होता है, दोनों में अनुराग उत्पन्न होता है फिर, प्राप्ति की आशा से बेचैनी बढ़ती है और इस प्रकार के प्रेम की कथा विवाहपर्यन्त ही सीमित स्वीकार की जाती है । विवाह के पश्चात् उसकी कोई चर्चा नहीं ।

दूसरे प्रकार के प्रेम में प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है । दशकुमारचरित में प्रमति और नवमालिका उपहारवर्मा और कल्पसुन्दरी, कलहकण्टक और नितम्बवती का प्रेम इसी प्रकार का है । यहाँ स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन प्राप्ति के लिए यत्न आदि का सुन्दरतम सांगोपांग वर्णन हुआ है । दशकुमारचरित में राम-सीता-सदृश विशुद्ध प्रेम का प्राय: अभाव सा ही प्रतीत होता है । शेष, मान्य प्रेम के स्वरूपों की झाँकी यहाँ अवश्य मिलती है ।

'दशकुमारचरित' का आरम्भ (मूल भाग प्रथम उच्छ्‌वास से अष्टम उच्छ्‌वास तक) अवन्तिसुन्दरी के अन्त:पुर वर्णन से होता है । इस स्थल पर सर्वप्रथम संभोग शृंगार के सर्वांगपूर्ण चित्रण में महाकवि दण्डी की सहृदयता तथा मौलिक प्रतिभा का अभूतपूर्व परिचय प्राप्त होता है ।

अपने प्रियतम के मुख से चौदहों भुवनों के वृत्तान्त के श्रवण से कृतकृत्य अवन्तिसुन्दरी पति के पादपद्मपरिचर्या का फल परिपक्व समझती है। अपनी श्रोत्रवृत्ति को चरितार्थ समझती है। प्रत्युपकार की भव्य भावना से विह्वल

अवन्तिसुन्दरी अपना सर्वस्व अर्पण कर देने में कुछ भी बचा नहीं रखती और अन्त में 'मेरे समीप ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आप की न हो'[१] ऐसा कहते हुए पुनः स्मरकेलि में रत होती है और इस प्रकार के चित्रण में कवि की अखण्ड कवित्वशक्ति एवं सहज रागात्मिका वृत्ति की दिव्य झाँकी सहृदयों के हृदयपक्ष का सरस विषय है। शृंगार-प्रधान काव्य के प्रणयन में ही काव्य-जगत् की सरसता स्वीकार की जाती है और इसी के अभाव में काव्यसृष्टि का सर्वस्व आनन्दशून्य होता है।[२]

अवन्तिसुन्दरी ने श्रावण मास के साथ वर्षाऋतु की भाँति अपने गुरुपयोधरों को राजवाहन के हृदय से लगा दिया...प्रेमातिरेक से अनुरक्त एवं आबद्ध दृष्टि होकर राजवाहन को देखती हुई...भावावेश के कारण अधीर होकर कदम्ब के मुकुल के सदृश रक्तवर्ण के अधरों का चुम्बन किया।'[३]

यहाँ शृंगार रस के अनुरूप सभी अवयवों का सांगोपांगवर्णन है। अवन्तिसुन्दरी आश्रय है। आलम्बन है राजवाहन, अन्तःपुर का परिवेश एवं राजवाहन के कदम्ब मुकुलसदृश रक्तवर्ण के अधरों की सहज रक्तिमा उद्दीपन और अवन्तिसुन्दरी का चक्षुरुल्लास तथा उसी के द्वारा राजवाहन के अधरों का चुम्बन आदि अनुभाव हैं। हर्ष, विस्मय, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इनमें परिपुष्ट रति स्थायी भाव है। 'श्रुत्वा तु भुवनवृत्तान्त' से लेकर अधीरमाचुचुम्ब तक अनुभावों के साथ सात्विक भावों के भी सुष्ठु नियोजन में कवि की लोकोत्तर कवित्वशक्ति का शालीनतम सन्देश प्रस्तुत है।

इसके अतिरिक्त अपहार वर्मा एवं रागमञ्जरी की शृंगारिक चेष्टाओं में, अपहार वर्मा द्वारा राजकुमारी अम्बालिका (द्वि० उ०), उपहारवर्मा व कल्पसुन्दरी के दर्शन में आलम्बन एवं उद्दीपन की (अन्तःपुर के परिवेश) मनोरम अभिव्यक्ति

---

१. अभवदीयं हि नैव किंचिन्मत्सम्बद्धम्। - दशकुमारचरित- प्र० उ०, पृ० १३०।

२. शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।

३. अम्बुजासनास्तनतटोपभुक्तमुरःस्थलं चेदमालिङ्गयितुम्' इति प्रियोरसि प्रावृडिव नभस्युपास्तीर्णगुरुपयोधरमण्डला प्रौढकन्दलीकुड्मलमिवरूढरागरूषितं चक्षुरुल्लासयन्ती बर्हिवर्हावलीर्विडम्बयता कुसुमचन्द्रकशारेण मधुकरकुलव्याकुलेन केशकलापेन स्फुरदरुणकिरणकेसरकरालं कदम्बमुकुलमिव कान्तस्याधरमणिमधीरमाचुचुम्ब॥' दशकुमारचरित-प्र० उ० का आरम्भ, पृ० १३०-३१।

में प्रमति और नवमालिका (पंचम उच्छ्वास) मित्रगुप्त तथा कन्दुकावती (षष्ठ उ०) मन्त्रगुप्त व कनकलेखा के अपूर्व समागम में श्रृंगार रस की छटा दर्शनीय है। तृतीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा का कल्पसुन्दरी द्वारा चित्र-दर्शन पुन: उसकी प्राप्ति के लिए बेचैनी (औत्सुक्य) की अभिवृद्धि तथा बृद्धा माता द्वारा व्यथितहृदया अनंगविह्वला कल्पसुन्दरी की मधुरस्मृति जन्य प्राप्ति के लिए मर्यादित यत्न निश्चित रूप से सहृदयों को कुरेदने वाला है। इस प्रसंग में आलम्बन (कल्पसुन्दरी) तथा उद्दीपन (सन्ध्यासुन्दरी का मनोरम चित्र, अन्त: पुर का परिवेश, क्रीडोद्यान, बकुलवृक्षों तथा चम्पकवृक्ष की रमणीय पंक्तियों से परिवृत्त मार्ग, चक्रवाकदम्पति के दयनीय किन्तु मधुर शब्दों का श्रवण, पुन:) अशोक, पाटल एवं आम्रवृक्षों की मनोहर राजियों से शोभित तथा अत्यन्त गहन एवं रत्नजटित वेदी से युक्त माधवीलतामण्डप आदि का भव्य वर्णन कवि की लोकोत्तरवर्णनाशक्ति के पूर्ण परिचायक हैं। माधवील-तामण्डप के एक भाग में लाल अशोकवृक्षों की लताओं से परिगत तथा नूतन किसलयों और पुष्पों के मुकुलों से पुलकित से होते हुए सुन्दर कपाटों से युक्त गर्भगृह की रम्य योजना तथा उसके भीतर तोसक, तकिया आदि से सुसज्जित कुसुमशयन और रतिक्रीड़ा के समस्त उपकरणों से अलंकृत गर्भगृह के अनुपम सौन्दर्य की रमणीय अभिव्यक्ति किसी प्रतिभाशाली ही कवि-हृदय की वह अखण्ड निधि है जिसकी वास्तविक पहचान किसी सहृदय धनवान् को ही हो सकती है। ऐसे रम्य स्थल पर पहुँच कर तथा समयानुकूल कल्पसुन्दरी के आगमन काल में उसके धीर किन्तु गम्भीर चरण-ध्वनि के सूक्ष्म वर्णन में तथा चरणध्वनि के श्रवण के अनन्तर अशोकवृक्षों की आड़ में अपनी देह लता को छिपा कर उपहारवर्मा द्वारा कल्पसुन्दरी की मनोभवदशा की परीक्षा में कवि के मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी सुकोमल भावों की छटा सहृदयों की मन: प्रीति का विषय होने में समर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि दण्डी में हृदयहीनता तथा श्रृंगार रस के सभी अंगों के यथोचित वर्णन के सामर्थ्य के अभाव की शंका नहीं की जा सकती।

अपनी अपूर्व लावण्य सम्पत्ति से रति और कामदेव को भी तिरस्कृत करने वाली सर्वांगसुन्दरी कल्पसुन्दरी के वर्णन में कवि की सहज रागात्मिकावृत्ति का शालीनतम रूप दृष्टिगत होता है। मदनपीड़िता कल्पसुन्दरी का दर्शन होते ही उपहारवर्मा का हृदय-सिन्धु उमड़ पड़ता है—'हे सुन्दरि, मेरे ऊपर कृपा कीजिए।

मेरे जीवनोपायभूत अपने कटाक्षों के विक्षेपों द्वारा, कामदेवरूपी सर्प के द्वारा काटे हुए मुझे जिलाइए। इस प्रकार कहते हुए उसने उसका आलिंगन किया। अनंग राग से जिसके विशाल नेत्र मनोहर प्रतीत हो रहे थे उस कल्पसुन्दरी के साथ उपहारवर्मा ने रमण किया। रमण समाप्ति के अनन्तर वह रमणी अपने लाल-लाल तिरछे नेत्रों से देखने लगी। कपोल प्रदेश रोमांच होने से पसीने की बूंदों से व्याप्त हो गया। वह अस्फुट ध्वनि में बोलने लगी, अपने अरुण दन्तपंक्ति तथा नाखूनों के (नोंच, कचोट आदि) रति-व्यापारों से उपहारवर्मा को विभूषित करने लगी। रति व्यापार से शिथिल शरीर वाली तथा क्लेशित उस सुन्दरी को उसने देखा...[१]

कुछ समय के पश्चात् उपहारवर्मा ने पुनः कहना प्रारम्भ किया—चिरकाल से परिचित जनों की तरह अत्यन्त गुप्त रीति से विश्वस्त होकर के कुछ क्षणों तक हम दोनों वहाँ बैठे रहे। पुनः मैंने गरम और लम्बी स्वांस ली और दैन्य दृष्टि के साथ, चकित होकर भुजाओं को फैलाकर उस (कल्पसुन्दरी) का शिथिलता और धीरता के साथ आलिंगन किया और धीरे से चुम्बन भी किया।

यहाँ भी रानी कल्पसुन्दरी आलम्बन, एवं तथाकथित कल्पसुन्दरी का रमणीय अन्तपुर, वहाँ के क्रीडोद्यान आदि उद्दीपन हैं। हर्ष और औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव तथा नायक के द्वारा भुजोत्क्षेप, चुम्बन आदि अनुभाव एवं रति स्थायी भाव का सफल चित्रण हुआ है जिसका पूर्ण परिपाक श्रृंगार रस में होता है।

विप्रलम्भ श्रृंगार

संभोग श्रृंगार की तरह साहित्य में विप्रलम्भ का भी महत्त्व कम नहीं है। श्रृंगार रस के दोनों (संभोग और विप्रलम्भ) पक्षों के सफल चित्रण में कवि की उदात्त वृत्ति तथा काव्यकौशल का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। 'दशकुमारचरित' में जिस प्रकार का विशद विवेचन संभोग श्रृंगार का उपलब्ध होता है उस प्रकार का विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन नहीं हो पाया है।

---

१. तत्रसीद सुन्दरि! जीवय मां जीवनौषधिभिरिवापाङ्गैरनङ्गभुजङ्गदष्टम् इत्याश्लिष्टवान्। अरीरमं चानङ्गरागपेशलविशाललोचनाम् अवसितार्थां चारक्तवलितेक्षणामीषत्स्वेदरेखोद्भेदजर्जरितकपोलमूलामनर्गलकलकलप्रलापिनी-मरुणदशनकररुहार्पणव्यतिकरामत्यर्थपरिश्लथाङ्गीमार्तामिव लक्षयित्वा...। —दशकुमारचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृ० २५४।

विप्रलम्भ शृंगार काव्य में पाँच प्रकार का माना गया है[१] इन पाँच प्रकारों में से दशकुमारचरित में दो ही एक प्रकार के विप्रलम्भ शृंगार का दर्शन होता है।

राजकुमार राजवाहन एवं अवन्तिसुन्दरी का वियोग शापहेतुक ही कहा जा सकता है। राजकुमारी अवन्तिसुन्दरि के अन्तःपुर में उसके साथ शयन करते हुए राजवाहन के पैरों को बँधा हुआ देख कर चण्डवर्मा ने उसके हाथ को पकड़ कर बाहर खींच लिया। 'स्वभाव से ही धीर तथा सभी पुरुषार्थो के अधिष्ठान राजवाहन ने सहिष्णुता को ही एकमात्र उपाय समझ कर इस दुःखपूर्ण घटना को दैवी आपत्ति समझ कर प्राणों का परित्याग करने के लिए उद्यत प्राणप्रिया प्रियतमा अवन्तिसुन्दरी को भलीभाँति सान्त्वना देते हुए कहा कि—' प्रिये, हंसगामिनी, उस हंस कथा का स्मरण करो। दो मास पर्यन्त इस वियोगजन्य दुःख को सहन करो ऐसा कह कर राजवाहन ने अपने को शत्रु के हाथों में सौंप दिया।'[२]

दो माह की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् जब राजवाहन को चण्डपोत नाम के हाथी द्वारा राजद्वार पर कुचलवा देने की राजाज्ञा हुई और जिस समय उसके वध की तैयारी हुई उसके पैरों में बँधी हुई चाँदी की शृंखला मूर्त रूप में प्रकट हुई। उसने 'समस्त स्वविषयक वृत्तान्त सुनाते हुए अपने को सोमरश्मिसंभवा सुरत-मञ्जरी नाम की सुरसुन्दरी बतलाया।

जल में स्नान करते समय महर्षि मार्कण्डेय के शापवश उस (सुरतमञ्जरी) की यह दशा हुई थी कि उस चाँदी की शृंखला रूप में दो मास तक राजवाहन के पद- बंधन रूप में रहने के पश्चात् पुनः अपने वास्तविक स्वरूप प्राप्ति का वचन था। दो माह की अवधि के अनन्तर उसके शापमय जीवन का अन्त होता है और राजवाहन भी तत्क्षण बन्धनमुक्त हो जाता है। 'प्रत्युपकार के बदले में उस

---

१. 'अपरस्तु'-अभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास, शापहेतुक इति पंचविधः-मम्मट- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

२. स तु स्वभावधीरः सर्वपौरुषातिभूमिः सहिष्णुतैकप्रतिक्रियां दैवीमेव तामापदमवधार्य 'स्मर तस्या हंसगामिनि, हंसकथायाः। सहस्व वासु मासद्वयम्' इति, प्राणपरित्याग-रागिणीं प्राणसमां समाश्वास्यारिवश्यतामयासीत्।'—दशकुमारचरित-प्र० उ०, पृ० १३६।

सुरसुन्दरी से राजवाहन ने अपनी प्रियतमा को समस्त वृत्तान्त सुना देने के पश्चात् उसे आश्वासन एवं धैर्य प्रदान करने का आदेश दिया ।'[१]

इस प्रकार दो मास की अवधि का राजवाहन एवं अवन्तिसुन्दरी का वियोग विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । पूर्वपीठिका से ऐसा पता चलता है कि उपवन में विहार करते समय, जिसके दोनों पैर अकारण ही बाँध दिए गए थे उसी हंस के शाप के कारण राजवाहन को प्रिया वियुक्त होना पड़ा । चूँकि पूर्वपीठिका दण्डी की कृति नहीं है इसलिए उस अंश में उल्लिखित हंस के शाप-जन्य वियोग-दुःख की हमें कल्पना करना उचित नहीं प्रतीत होता किन्तु इतना तो अवश्य है कि दण्डी का 'दशकुमारचरित' का वह अंश जो नष्ट हुआ स्वीकार किया जाता है जिसके स्थान पर पूर्वपीठिका जोड़ी गई है उस कथा के अंश में ऐसा कोई प्रसंग अवश्य वर्णित रहा होगा जिसका सम्बन्ध हंसकथा से हो सकता है क्योंकि तभी तो 'दशकुमारचरित' के मूल अंश में 'स्मर हंसगामिनि हंसकथायाः' ऐसा उल्लेख मिलता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजवाहन को पत्नी-वियुक्त होने का यह क्लेश शापजन्य ही था ।

शापहेतुक वियोग की कथा अतिप्राचीन प्रतीत होती है । मेघदूत में कुवेर के शापवशात् पत्नीवियुक्त यक्षराज की विरहदशा, अभिज्ञानशाकुन्तल में ऋषि दुर्वासा के शापवश पतिवियुक्ता व्यथितहृदया शकुन्तला, की मार्मिक दीनदशा, आदि का उल्लेख संस्कृत साहित्य में संस्कृतानुरागियों की दृष्टि से ओझल नहीं है ।

इस प्रकार 'दशकुमारचरित' में महाकवि दण्डी की प्रतिभा एवं कल्पना-शक्ति के मणिकांचन संयोग ने शापहेतुक विप्रलम्भ का उज्ज्वल निदर्शन प्रस्तुतकर विषय को रुचिकर एवं कथा-प्रवाह को सजीव बना दिया है । ऐसे ही स्थलों के सुमधुर संकेत में कवि की कल्पना एवं कवित्वशक्ति विशेष रूप से मुखरित हुई है ।

पुनः तृतीय उच्छ्वास में विरह हेतुक विप्रलम्भ का उदाहरण उपलब्ध होता है । वृद्धा माता से उपहारवर्मा द्वारा प्रेषित उसके चित्र को देख कर उसकी प्राप्ति

---

१. 'किं तव करणीयम्' इति प्रणिपतन्तीं 'वार्तयानया मत्प्राणसमां समाश्वासय' इति व्यादिश्य विससर्ज । —दशकुमारचरित प्र० उ०, पृ० १४६-४७ ।

के लिए बेचैन कल्पसुन्दरी अपना शरीर, हृदय और जीवन तक अर्पण करने के लिए उद्यत हो जाती है। पुनः वृद्धा माता द्वारा अनंगपीड़िता कल्पसुन्दरी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति की सूचना पाकर और उसके अन्तः पुर के मार्गों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् उपहारवर्मा उसके (कल्पसुन्दरी) समागम के लिए सन्देश भेज कर अन्त में एक दिन सायंकाल अन्तः पुर में पहुँचा। वहाँ पहुँच कर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित एवं रति-क्रीड़ा के समस्त उपकरणों से अलंकृत पुष्पशय्या को देखा। अत्यल्प समय में ही कल्पसुन्दरी की मन्द गम्भीर चरणध्वनि को सुनकर उपहारवर्मा अन्तः पुर के पार्श्वभाग में अशोकवृक्ष की ओट में छिप कर खड़ा हो गया। पुष्पशय्या के समीप आकर वहाँ उपहारवर्मा को न देख कर मदनवशीभूता कल्पसुन्दरी अत्यन्त पीड़ित हुई। उस समय अत्यल्प काल का भी वियोग उसके लिए असह्य हो गया। 'उन्मत्तावस्था को प्राप्त राजहंसी के सदृश कण्ठस्वर से सुन्दर अस्फुट वाणी में कहने लगी—हन्त ! मैं निश्चित रूप से प्रतारित हुई। अब जीवित रहने का कोई उपाय नहीं प्रतीत होता है (अपने हृदय को सम्बोधित करती हुई कहने लगी) हे हृदय ! तुमने इस अकरणीय कार्य में करणीय कार्य के सदृश निश्चय करके मुझे प्रवृत्त कराया और उसके असम्भव होने पर मुझे क्यों सन्तप्त कर रहे हो ? हे भगवन् पंचबाण ! आपका मैने कौन सा अपराध किया है जो मुझे इस प्रकार सन्तप्त कर रहे हो और भस्म नहीं करते हो ?'[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रियतम के विरह में उसके समागम के लिए मदनपीडिता कल्पसुन्दरी को एक भी क्षण व्यतीत करना कितना दुष्कर प्रतीत होता है। वह अपना सर्वस्व भूल जाती है। चारों ओर सूना ही दिखाई पड़ता है। अन्त में कोई भी उपाय न देख कर उन्मत्त होकर कामदेव की आराधना में तत्पर हो जाती हैं। कल्पसुन्दरी की अत्यन्त शोचनीय दशा तथा इस प्रकार के अनुभाव प्रदर्शन की सफलता में कवि की लोकेतर सहृदयता तथा सहज काव्यप्रतिभा का संकेत प्राप्त होता है।

---

१. 'व्यसृजच्च मत्तराजहंसीव कण्ठरागवल्गुगद्गदां गिरम्।' व्यक्तमस्मि विप्रलव्धा। नास्त्युपायः प्राणितुम्। अयि हृदय, किमिदमकार्यं कार्यवदध्यवसायतदसम्भवेन किमेवमुत्ताम्यसि। भगवन्पञ्चवाण, कस्तवापराधः कृतो मया यदेवं दहसि; न च भस्मीकरोषि' इति।—दशकुमारचरित, तृ० उ०, पृ० २८२।

रौद्र रस

'दशकुमारचरित' में कोपादि भावों की भी यथावसर व्यंजना हुई है। सर्वप्रथम प्रथम उच्छ्वास में जिस समय अपने अन्तः पुर में राजवाहन के साथ शयन करती हुई अवन्तिसुन्दरी उसके दोनों पैरों को शृंखलाबद्ध देख कर चीख उठती है और उसकी चीत्कार सुनकर कुछ भी करने में असमर्थ परिजन वर्ग ने चण्डवर्मा को इस वृत्तान्त से अवगत कराया, उसी समय क्रुद्ध होकर आते ही चण्डवर्मा ने अग्नि उगलती हुई सी अपनी लाल आँखों से वहाँ की स्थिति का अवलोकन किया। आवेश में आकर चण्डवर्मा कहने लगा कि अपने रूप पर गर्व करने वाला, कलाभिमानी, परवंचना के अनेक ढंग रचकर मूढ़ परिजनों की दृष्टि में अपने को देवता सदृश मानने वाला, गुप्त रीति से पापाचरण करने वाला, स्वभाव से ही चञ्चल और अपने को ब्राह्मण कहने वाला, पापाचरण करने वाली बालचंद्रिका के पति पुष्पोद्भव वणिक् का मित्र क्या यही है जिसके कारण मेरा छोटा भाई मार डाला गया।

यह पापिनी अवन्तिसुन्दरी हम जैसे पुरुष सिंहों की अवमानना करने वाली कैसे इस दुष्ट से प्रेम करती है। आज ही यह कुलकलंकिनी अपने पति को शूली पर लटकता हुआ देखेगी 'इस प्रकार धमकी देता हुआ अपनी भीषण भ्रुकुटियों से ललाट को दूषित करता हुआ काल के सदृश आगे बढ़ा और लोह के समान अपने कठोर बाहुदण्डों से राजवाहन का हाथ पकड़ कर झटका देते हुए वेग से अपनी ओर खींच लिया।'[१]

यहाँ राजकुमार राजवाहन आलम्बन विभाव, सेवकों द्वारा राजवाहन का अन्तः पुरशयन एवं वहाँ का परिवेश आदि उद्दीपन विभाव हैं। आश्रय चण्डवर्मा

---

१. सोऽपि कोपादागत्य निर्दहन्निव दहनगर्भयादृशा निशाम्योत्पन्नप्रत्यभिज्ञः'कथं स एवैष मदनुजमरणनिमित्तभूतायाः पापाया बालचन्द्रिकायाः पत्युरत्यभिनिविष्टवित्तदर्पस्य वैदेशिकवणिक्पुत्रस्य पुष्पोद्भवस्य मित्रं रूपमत्तः कलाभिमानी नैकविधविप्रलम्भोपायपाटवावर्जितमूढपौरजनमिथ्यारोपितवितथदेवतानुभावः कपटधर्म- कञ्चुको निगूढपापशीलश्चपलो ब्राह्मणब्रुवः। कतमिवैनमनुरक्ता मादृशेष्वपि पुरुषसिंहेषु सावमाना पापेयमवन्तिसुन्दरी। पश्यतु पतिमद्यैव शूला- वतंसितमियमनार्यशीला कुलपांसनी' इति निर्भर्त्सयन्भीषणभ्रुकुटिदूषितललाटः काल इव काललौहदण्डकर्कशेन बाहुदण्डेनावलम्ब्य हस्ताम्बुजे रेखाम्बुजरथाङ्गलाञ्छने राजपुत्रं सरभसमाचकर्ष।'—दशकुमारचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० १३४-१३५।

के आँखों का लाल होना, क्रोध के कारण राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी को डाँटना, फटकारना और राजवाहन की बाहुओं को पकड़ कर अन्तःपुर से बाहर खींच ले आना आदि अनुभाव हैं। कोप स्थायी भाव, आवेग, ईर्ष्या, उग्रता और गर्व आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर इस प्रकार रौद्र रसरूपता को प्राप्त होता है। इस प्रसंग में अनुभावों की छटा विशेष रूप से दर्शनीय है।

कैलास पर्वत पर तपश्चर्या करने वाले दर्पसार की आज्ञा से किसी वेगगामी दूत ने आकर चण्डवर्मा को निवेदित किया कि 'अयि मूढ, किमस्ति कन्यान्तःपुरदूषकेऽपि कश्चित्कृपावसरः,' मूर्ख, क्या राजकन्यान्तःपुर को दूषित करने के पश्चात् भी कोई दयादृष्टि प्रदर्शित करने का अवसर रह जाता है?

'सुनते ही क्रोध में आकर चण्डवर्मा ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि प्रातःकाल ही कन्यान्तःपुर को दूषित करने वाला, दुष्टात्मा राजवाहन द्वार पर उपस्थित किया जाए, मातंगपति गजराज भी सुन्दर अलंकारादि से सुसज्जित कर वहीं लाया जाए। विवाहादि कार्य समाप्त होते ही उस अनार्य को हाथी से कुचलवा कर समाप्त कर दूँगा।'[१]

यहाँ भी राजा चण्डवर्मा के कोप रूप स्थायीभाव का राजवाहन ही आलम्बन एवं दर्पसार के सन्देश का सेवकों द्वारा कथन तथा अन्तः पुर की मर्यादा का अतिक्रमण आदि उद्दीपन, राजवाहन को राजभवनद्वार पर उपस्थित करने तथा मातंगपति को भी ले आने का सेवकों को आदेशादि का संभाषण करना अनुभाव हैं आवेग, गर्व आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट क्रोध भाव का रौद्र रस में परिपाक हो जाता है।

अद्भुत रस

दशकुमारचरित अद्भुत रस सुसम्पन्नता का समुज्ज्वल निदर्शन कहा जा सकता है। कुछ लोगों की दृष्टि में अद्भुत ही दशकुमारचरित का अंगी रस है। सम्पूर्ण द्वितीय उच्छ्वास उपहारवर्मा का चरित अद्भुत घटनाओं से भरा हुआ है।

---

१. तच्चाकर्ण्य' प्रातरेव राजभवनद्वारे स च दुरात्मा कन्यान्तः पुरदूषकः सन्निधापयितव्यः। चण्डपोतश्च मातङ्गपतिरुचितकल्पनोपपन्नस्तत्रैव समुपस्थापनीयः। कृतविवाहकृत्यश्चोत्थायाहमेव तमनार्यशीलं तस्य हस्तिनः कृत्वा...।'—दशकुमारचरित, प्र० उ०, पृ० १४१।

दण्डी की कौतुकप्रियता एवं अद्भुत के प्रति निष्ठा का उज्ज्वल प्रतीक द्वितीय उच्छ्वास कहा जा सकता है । न केवल द्वितीय उच्छ्वास किन्तु प्राय: सभी कुमारों के जीवनचरित में वर्णित घटना-चक्र अद्भुत का कमनीय कुंज प्रस्तुत करता है जिसमें सर्वात्मना विहार करने वाले सहृदय पाठकों का चित्त इतना रमता है कि पुन: उससे पराङ्मुख हो कर अन्यत्र कहीं भी चित्त की एकाग्रता को अवसर ही नहीं प्राप्त होता है । विविध शास्त्रों के अखण्ड ज्ञान कोष ने दण्डी को वह शक्ति प्रदान किया जिससे समन्वित उनका यह गद्य काव्य अद्यावधि अपनी मौलिकता और कथाप्रसंगों की अविरल धारा एवं सजीवता के लिए अद्वितीय है । दण्डी का कवि-हृदय हमें सीमा में भी असीम के दर्शन कराता है, अत्यन्त असम्भव कार्य को भी मूर्तिमान सत्य के रूप में उपस्थित कर इन्द्रियग्राह्य बना देता है । कला का यही पूर्ण कौशल है । अंगपुरी की अवतंसभूता वारयुवती काममंजरी द्वारा महर्षि मरीचि की वञ्चना में, उसके द्वारा महर्षि की सेवा में देवपूजन के निमित्त समस्त उपकरणों को एकत्र कर उनके सम्मुख धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपदेशप्रद अद्भुत चर्चा में, महर्षि मरीचि की दीनदशा को सुनने के अनन्तर न केवल काममंजरी को ही अपितु सम्पूर्ण नगर को धनहीन करने में क्षम अपहारवर्मा के बुद्धि वैभव में काममंजरी को अपना सर्वस्व लुटा देने वाले वसुपालित (विरूपक) की आत्मव्यथा के श्रवण से उसे धैर्य प्रदान कर नगर में धन की नश्वरता का उपदेश देकर धनलोलुपों को सन्मार्गी बनाकर विरूपक का समस्त धन वापस करा देने की अपहार वर्मा की चौर्य- चातुरी में दण्डी की अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय प्राप्त होता है ।[1]

अपहारवर्मा जैसे सिद्धहस्त चोर में भी उदारता के लक्षण तथा उनका क्रियात्मक भी रूप देखकर हृदय का विस्मय से आक्रान्त होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है ।

नगर में चोरी के समस्त उपकरणों सहित चोरी करने के अनन्तर बाहर आने पर काले बादलों से परिपूर्ण अत्यन्त अंधकारमय रात्रि में राजमार्ग में किसी व्यथित-

---

१. श्रुत्वा चेतदनुकम्पमानोऽब्रवम्-'भद्र'क्षमस्व। कंचित्कालमत्रैव निवस। निजेनत्युद्युम्नेनासावेव वेश्या यथा त्वां योजयिष्यति तथा यतिष्ये। सन्त्यूपायास्तादृशाः 'इत्याश्वास्य तमनूत्थितोऽहम्' नगरमाविशन्नेव चोपलभ्य लोकवादाल्लुब्धसमृद्धपूर्णं पुरमित्यर्थानां नश्वरत्वं च प्रदर्श्य प्रकृतिस्थानमून्विधास्यन्कर्णीसुतप्रहिते पथि मतिमकरवम् ।—दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास पृ० १८३ ।

हृदया युवती स्त्री की आर्थिक एवं शारीरिक सुरक्षा कर उसे प्राणदान देने तथा मार्ग में नागरिकों के झुण्ड को देख कर सर्प काटने के व्याज से अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर उसके अपने अभीष्ट की सिद्धि में हमें अद्‌भुत की भव्य झाँकी देखने को मिलती है। मुद्रा, तन्त्र-मन्त्र, ध्यान आदि उपायों को भी असिद्ध कर देने वाला अपहारवर्मा कितनी पटुता एवं नैपुण्य से नगरवासियों को ठग कर कार्य-सिद्धि में आगे बढ़ता है। वह निश्चित रूप से चित्त को विस्मित करने वाला है। 'इसे सर्प ने नही काल ने काट लिया है, इसलिए अब यह चल बसा, इसके सभी अंग शिथिल एवं श्याम हो गए हैं। आँखें अवरुद्ध हो गई हैं। शरीर की गर्मी न रही। देवि ! अब शोक मत करो, प्रातःकाल हम लोग इसे जला देंगे। विधि के विधान का अतिक्रमण करने में कौन समर्थ है ? इस प्रकार कह कर नागरिकों के झुण्ड के चले जाने के अनन्तर मैं भी उठा और कन्या को उसके अपने प्रियतम उदारक के समीप उपस्थित करके उसके सभी आभूषणों को भाण्ड- सहित प्रदान कर दिया।'[१] यहाँ अपहारवर्मा ने अपने जिस अखण्डबुद्धिवैभव का परिचय प्रस्तुत किया है उसका उज्ज्वल निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है।

उदारक को अपहारवर्मा के चरित के विषय में आश्चर्य होता है कि ऐसा आचरण कभी किसी चोर ने नहीं किया है। लज्जा, हर्ष और संभ्रम के साथ वह कहने लगा—' आर्य तुम्हीं ने इस निशा में मेरी प्रिया को प्रदान किया है। मेरी वाणी का तूने अपहरण कर लिया है। कूछ सूझता ही नहीं कि मैं किस प्रकार तुम्हारे इस अद्‌भुत कार्य की प्रशसा करूँ। निश्चय ही तुम्हारा स्वभाव अद्‌भुत प्रतीत होता है। यह तो निश्चित ही है कि किसी चोर ने ऐसा कभी नहीं कियां है। क्यों कि अन्य चोरों के सदृश तुम में लोभादि दुर्गुण नहीं हैं। तुमने आज जो सौजन्य प्रकट किया है तुम्हारे पूर्वकृत्य उसके अनुकूल नहीं हैं।...तू ने अपने सत्कार्य से

१. अशयिषि चाहं भावितविषविक्रियः। तेषु कश्चिन्नरेन्द्राभिमानी मां निर्वर्ण्य मुद्रातन्त्रमन्त्रध्यानादिभिश्चोपक्रम्याकृतार्थः, 'गत एवायं कालदष्टः। तथाहि स्तब्धश्श्यावमङ्गम्, रुद्धा दृष्टिः, शान्त एवोष्मा। शुचालं वासु, श्वोग्निसात्करिष्यामः। कोऽतिवर्तते दैवम्, इति सहेतरैः प्रायात्। उत्थितश्चाहमुदारकाय तां नीत्वाब्रवम्—अहमस्मि कोऽपि तस्करः। त्वद्गतेनैव चेतसा सहायभूतेन त्वामिमामभिसरन्तीमन्तरोपलभ्य कृपया त्वत्समीपमनैषम्। भूषणमिदमस्याः' इत्यंशुपटलपाटितध्वान्तजालं तदप्यर्पितवान्।—दशकुमारचरित पृ० १९२।

इस दास को खरीद लिया है, यदि यह भी कहूँ तो तुम्हारी बुद्धि की निन्दा होगी।'[१] (क्योंकि कोई भी विवेकी पुरुष उत्कृष्ट वस्तु के द्वारा निकृष्ट वस्तु को नहीं खरीदता है।)

अपहारवर्मा का चरित निश्चित रूप से आश्चर्यजनक है। चोर होकर के भी रमणी और आभूषण आदि उदारक को प्रदान करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल ही प्रतीत होता है। जिस धन की चोरी के लिये उसने कर्णीसुतविहित पथ का अनुसरण किया ऐसे धन की सहसा प्राप्ति होने पर उसे वापस कर देना विस्मय का विषय अवश्य है।

इसी प्रकार की कवि ने अनेक अन्य भी आश्चर्यपूर्ण परिकल्पनाएँ की हैं।

नगर में जितने भी धूर्त धनिकों का समूह था सब को निर्धन कर दिया। 'इस नगर में जितने धूर्त धनिक समुदाय थे उनके धन को इस रीति से अपहरण करा दिया कि उनके हाथों में एक खर्परमात्र अवशिष्ट रह गया। मेरे द्वारा दिये हुये अपने ही धन को वे सभी उन याचकों के यहाँ माँगने लगे, जिन्हें मैंने समृद्ध कर दिया था। परम प्रवीण मनुष्य भी विधि की लिखित रेखा का अतिक्रमण करने में असमर्थ होते हैं।'[२]

सम्पूर्ण द्वितीय उच्छ्वास इस प्रकार की अनेक आश्चर्यपूर्ण घटनाओं से ओत-प्रोत है।

चतुर्थ उच्छ्वास में अर्थपाल द्वारा सर्प की प्राप्ति तथा उसी की सहायता से सभी पुरवासियों को धोखे में डाल कर अपने माता-पिता को कारागार से मुक्त करने की विधि में कवि की कल्पना कितनी अद्‌भुत है। अर्थपाल के पिता की आँखें

१. उदारकस्तु तदादाय सलज्जं च सहर्षं च ससंभ्रमं च मामभाषत—'आर्य' त्वयैवेयमस्यां निशि प्रिया मे दत्ता। वाक्पुनर्ममापहृता। तथा हि न जाने वक्तुं त्वत्कर्मैतदद्‌भुतमिति। ननु ते स्वशीलमद्‌भुतवत्प्रतिभाति। नैवमन्येनापि कृतपूर्वमिति प्रतिनियतैव वस्तुशक्तिः। न हि त्वय्यन्यदीया लोभादयः। त्वयाद्य साधुतोन्मीलितेति तत्प्रायस्त्वत्पूर्वावदानेभ्यो न रोचते। त्वयामुना सुकृतेन क्रीतोऽयं दासजन इत्यसारमतिगरीयसा क्रीणासीति स ते प्रज्ञाधिक्षेपः। द० कु० च० १९३-९५।

२. अस्मिंश्च पुरे लुब्धसमृद्धवर्गस्तथा मुषितो यथा कपालपाणिः स्वैरेव धनैर्मद्विश्राणितैः समृद्धीकृतस्यार्थिवर्गस्य गृहेषु भिक्षार्थमभ्रमत्। न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्।—दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० २१९।

निकाल कर उसे प्राणदण्ड की राजाज्ञा हो चुकी थी । किन्तु अपनी बुद्धि की निपुणता से उसने अपने माता-पिता दोनों के प्राणों की रक्षा की । 'इस वृत्त को सुन लेने के पश्चात् कोलाहल आरम्भ होते ही मैंने अपने पिता (कामपाल) के ऊपर विशालफन वाले सर्प को गिरा दिया । (वृक्ष से) उतर कर मैने दर्शकों की भीड़ में क्रुद्ध नाग के द्वारा दंशित पिता को अपने मन्त्रौषधि के प्रभाव से उसी समय स्तम्भित कर दिया । मेरे पिता मृतक तुल्य पृथिवी पर गिर पड़े और इस प्रकार मैने कहना भी आरम्भ कर दिया कि अवश्य कामपाल ने अपराध किया है और उसका प्रतिफल भी ईश्वर के द्वारा उसे मिल गया । राजा ने तो इसे नेत्र-विहीन करने की आज्ञा दी थी किन्तु देव ने इसके प्राणों को ही हर लिया ।'...उस भयंकर सर्प ने चाण्डाल को भी डस लिया और जब सर्प के भय से सभी भाग गये तों रास्ता प्राप्त कर वह सर्प भी भाग गया । इसके पश्चात् मेरी माता जिन्हें पूर्णभद्र द्वारा समस्त वृत्तान्त ज्ञात हो गया था ऐसे कष्ट के समय में भी आकुल नहीं हुईं और अपने कुल परिजनों के साथ मन्द-मन्द गति से आकर पिता के सिर को अपनी गोद में रख कर बैठ गयी[१] ।

इन पंक्तियों से भी स्पष्ट होता है कि अर्थपाल द्वारा किये हुए समस्त कार्य आश्चर्यपूर्ण हैं। इसके अद्‌भुत कार्यों की कल्पना करने पर प्रत्येक सहृदय सामाजिक को अद्‌भुत रसानुभूति होती है ।

पुन: छठें उच्छ्वास में गोमिनी जैसी सती नारी के द्वारा मुट्ठी भर धान्य से न केवल अतिथि (शक्ति कुमार) को पूर्णरूपेण तुष्ट करने की सामर्थ्य में अपितु उसकी विलक्षण पाक-क्रिया के कौशल में. पर्वत के ऊपर मित्रगुप्त द्वारा किसी ब्रह्म राक्षस से वार्तालाप के अनन्तर सहसा अपनी प्रियतमा कन्दुकावती की प्राप्ति में, सप्तम उच्छ्वास में[२] मन्त्रगुप्त द्वारा अपनी प्रिया कनकलेखा की उपलब्धि के लिए किये गये आश्चर्यपूर्ण यत्न एवं उपाय-भगवान् शंकर के नृत्य के रंगस्थल में उत्पन्न एक जीर्ण वृक्ष के तने के कोटर से प्राप्त जटा-समूह को सिर पर धारण कर फटे-पुराने

१. 'श्रुत्वैतद्बद्धकलकले महाजने पितुरङ्के प्रदीप्तशिरसमाशीविषं व्यक्षिपम् । अहं च भीतो नामावप्लुत्य तत्रैव जनादनुलीनः क्रुद्धव्यालदष्टस्य तातस्य विहितजीवरक्षो विषं क्षणादस्तम्भयम् । अपतच्चैष भूमौ मृतकल्पः । प्रालपं च 'सत्यमिदं राजावमानिनं दैवो दण्ड एव स्पृशतीति । यदयमक्षिभ्यां विनावनिपेनचिकीर्षितः प्राणैरेव वियोजितो विधिना'इति । मदुक्तं च_दर्वीकरस्तु तमपि चण्डालं दृष्ट्वा रूढत्रासद्रुतलोकदत्तमार्गः प्राद्रवत् । अथ मदम्बा.... धीरमागत्य_।'—दशकुमारचरित, पृ० ३३०-३३१ ।

२. द्रष्टव्य—दशकुमारचरित, पृ० ४७४, ४७५-७६ ।

वस्त्रों से शरीर को आच्छादित करके नानाप्रकार की अद्‌भुत क्रियाओं के द्वारा दर्शकों को मुग्ध कर के नगर में पहुँच कर समुद्र के तुल्य सरोवर-तट पर कुटी का निर्माण कर वहीं रहते हुए अन्त में उसकी अपनी अभीष्ट सिद्धि में अद्‌भुत की छटा दर्शनीय है। सभी गुणों एवं शक्ति का आधिक्य होने पर भी अहंकार की कणिका भी उसमें न होने से सामाजिक को आश्चर्यानुभूति होती है।

बीभत्स

दशकुमारचरित के षष्ठ उच्छ्वास में अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष के कुप्रभाव से धनक, धान्यक और धन्यक नाम के गृहपतियों की चारुचर्चा में बीभत्स की झलक मिलती है। यद्यपि बीभत्स का सांगोपांग वर्णन जैसा होना चाहिए उसका रूप यहाँ अप्राप्त है तथापि दुर्भिक्ष से आहत इन गृहपतियों की स्थिति के अवलोकन से जुगुप्सा का भाव व्यंजित होता है—'त्रिगर्त नाम का एक जनपद है। वहाँ अत्यन्त धनाढ्य तीन सगे भाई रहते थे। जिनके नाम धनक धान्यक और धन्यक थे। उनके जीवन काल में इन्द्र ने बारह वर्ष तक निरन्तर वृष्टि नहीं की। धान की खेती छीण हो गई, औषधियाँ निष्फल हो गयीं...प्रजा-प्रजा की ही मांस खाने लगी, मनुष्यों के मुण्ड बलाकापंक्ति के सदृश इधर-उधर पड़े हुये दृष्टिगोचर होने लगे।'

उन तीनों गृहपतियों ने अपने घरों में संचय की हुई अन्न राशि को खा लिया, तदनन्तर भेड़ बकरी बकरों को खा डाला, भैंसों गायों, दास दासियों, बच्चे-बच्चियों और बड़े भाई की स्त्री व मझले भाई की भी स्त्री को खा लेने के अनन्तर 'अब छोटे भाई की स्त्री को कल खाएँगे' ऐसा निश्चय किया।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्रसंग में, कवि ने कथा-प्रवाह की गति में अनावश्यक विस्तार के भय से बीभत्स का एक अत्यल्प संकेत प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के वर्णन से विदित होता है कि खाने वालों ने क्रमशः रक्तपान, हड्डी और मांस-भक्षण आदि क्रम से यथाविधि किया होगा। जहाँ केवल विभावों के द्वारा ही

---

१. अस्ति त्रिगर्तो नाम जनपदः। तत्रासन्गृहिणस्त्रयः स्फीतसारधनाः सोदर्या धनकधान्यकधन्यकाख्याः। तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः, क्षीणसारं शस्यम्, ओषध्यो वन्ध्याः...अन्योन्यमभक्षयन्प्रजा। पर्यलुठन्नितस्ततो बलाका- पण्डुराणि नरशिरःकपालानि...। त एते गृहपतयः सर्वधान्यनिचयमुपयुज्ययाजाविकं गवलगणं गवां यूथं दासीदासजनमपत्यानि ज्येष्ठमध्यमभार्ये च क्रमेण भक्षयित्वा 'कनिष्ठभार्या धूमिनी श्वो भक्षणीया' इति समकल्पयन्।—दशकुमारचरित, पृ० ४०९-११।

रसानुभूति होती है, आश्रय आदि की चेष्टाओं का कोई विशेष महत्त्व परिलक्षित नहीं होता।

भयानक

भयानक रस की भी प्रतीति दशकुमारचरित में कई स्थलों पर होती है। प्रथम उच्छ्वास में अवन्तिसुन्दरी का राजवाहन के पैरों को जंजीर से जकड़ा हुआ देख कर पुनः भयभीत होकर चीखना आदि भय का संचार करते हैं। अन्तःपुर में शयन करने के पश्चात् उठे राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी जाग कर देखते हैं कि, 'कमल के भ्रम से चन्द्रमा की किरणों के समान चाँदी की शृंखला से उस (राजकुमार) के पैर बँधे हुए हैं। अपने प्रियतम को इस प्रकार बँधा हुआ देखकर यह क्या है' ऐसा कहकर अत्यन्त भय से विह्वल होकर मुक्तकण्ठ से राजकन्या रोने लगी जिससे उस कन्या का अन्तःपुर व्याकुल हो उठा और इस प्रकार शोर होने लगा जैसे आग लग गयी हो अथवा पिशाचों की विशाल सेना ने आक्रान्त कर लिया हो... ।'[१]

यहाँ राजवाहन आलम्बन, शृंखला से पैरों की जकड़न आदि उद्दीपन और राजकुमारी का चीत्कार, रुदन आदि अनुभाव हैं। त्रास, शंका और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। भय स्थायी भाव है। अवन्तिसुन्दरी आश्रय है। सामाजिक को भयप्रकृतिक भयानक रस की अनुभूति होती है। चतुर्थ, पञ्चम एवं सप्तम उच्छ्वास में भी भयानक रस की प्रतीति के स्थल हैं। भूमि में सुरंग निर्माण करता हुआ अर्थपाल कन्याओं से परिपूर्ण ऐसे रम्य स्थल पर पहुँचा जो पृथिवी के स्वर्ग के तुल्य प्रदेश था देखते ही वे सुन्दरियाँ भय से पीड़ित हो गयीं। वहाँ अपने लावण्य से चन्द्रलेखा के सदृश पाताल के अन्धकार को दूर करने वाली, शरीरधारिणी मानो देवी विश्वंभरा, तथा असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए अवतीर्ण पार्वती के सदृश...अग्नि में तपायी हुई कनक निर्मित पुत्तलिका के सदृश अवदातकान्ति वाली कन्यका मलय समीर से कम्पित होने वाली चन्दनलता की तरह मेरे दर्शन से भयभीत होकर काँपने लगी। ऐसा होने पर उस अंगना समूह में जिसके केश श्वेत हो गए थे और आकृति से जो पुष्पित काशयष्टि के समान थी मेरे चरणों पर गिरकर त्रास

---

१. अथ तस्य राजकुमारस्य कमलमूढशशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव रजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत्। उपलभ्यैव च 'किमेतत्' इत्यतिपरित्रासविह्वला मुक्तकण्ठमाचक्रन्द राजकन्या। येन च तत्सकलमेव कन्यान्तःपुरमग्निपरीतमिव पिशाचोपहतमिव .... बभूव।—दशकुमारचरित, प्र० उ०, पृ० १३२।

और दैन्य से परिपूर्ण वचन कहा—'अनन्य शरणवाली हम सभी स्त्रीसमुदाय को आप अभय दान दें। क्या आप देवपुत्र कार्तिकेय हैं जो कि असुरों के साथ युद्ध की तृष्णा से रसातल में प्रविष्ट होने की इच्छा करते हैं, आज्ञा दें, आप कौन हैं, किस कारण से यहाँ आये हुए हैं।'[१]

यहाँ अर्थपाल आलम्बन, रसातल का अन्धकारमय निर्जन प्रदेश उद्दीपन, नारीमण्डल का चन्दनलता की तरह प्रकम्पन, त्रास एवं दैन्यभरे शब्दों का सम्भाषण आदि अनुभाव और त्रास दैन्य, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं। भय स्थायी भाव है। नारी मण्डल आश्रय हैं। भयमूलक भयानक रस व्यंजित होता है।

पंचम तथा सप्तम उच्छ्वास में भी क्रमशः-शिवजी के नीले कण्ठ के समान रात्रि से व्याप्त घोर अन्धकारमय विशाल गुफाओं वाले तथा हिंस्रपशुमण्डल के गमनागमन से अत्यन्त भीषण महावन में अकेले शयन करने वाले प्रमति की चेष्टाओं तथा प्रमति द्वारा कालरात्रि के केशकलाप के सदृश अन्धकार हो जाने पर श्मशान भूमि से थोड़ी ही दूर पर मनुष्यों की हड्डियों के टुकड़ों से निर्मित अलंकारों को शरीर में धारण किये हुये किसी विलक्षण पुरुष के दर्शन में और उसके हवनादि क्रिया-कलापों तथा उसी पुरुष के किंकर द्वारा कन्यागृह से बुलाई गई कलिंगराज की कन्या कनकलेखा के सभय करुणक्रन्दन में भय का भाव व्यंजित होता है।

वीर रस

वीर रस की भी प्रतीति कराने में यथावसर दण्डी की लेखनी रुकना नहीं जानती।

सप्तम उच्छ्वास में कलिंगराज कर्दन की कन्या कनकलेखा का प्राणान्त करने वाले किसी भयंकर पुरुष की निर्ममता एवं सर्वथा अनौचित्यपूर्ण व्यवहार से विदीर्ण हृदय वाला, अपने पराक्रम तथा शक्ति की शालीनता का पुष्ट परिचय

---

१. 'गता च सा भूमिस्वर्गकल्पमनल्पकन्यकाजनं कमप्युद्देशम्। अव्यथिष्ट च दृष्ट्वैव स मां नारीजनः। तत्र काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना, विग्रहिणीव देवी विश्वंभरा, हरगृहिणीवासुरविजयायावतीर्णा निष्टप्तकनकपुत्रिकेवावदातकान्तिः कन्यका, चन्दनलतेव मलयमारुतेन, मद्दर्शनेनोदकम्पत। तथाभूते च तस्मिन्नङ्गना-समाजे, कुसुमितेव काशयष्टिः, पाण्डुशिरसिजा स्थाविरा काचिच्चरणयोर्मे निपत्य त्रासदीनमब्रूत—दीयतामभयदानमस्मा अनन्यशरणाय स्त्रीजनाय। किमसि देवकुमारो कस्यहेतोरागतोऽसि। इति —दशकुमारचरित, पृ० ३३७-३९।'

प्रस्तुत करने में सोत्साह मन्त्रगुप्त भयभीत होकर पीछे हटना नहीं जानता। कुमारी कनक लेखा के करुण क्रन्दन से प्रभावित सहसा प्रमति से उत्साह का स्रोत उमड़ पड़ता है। अन्त में उस कन्या को उस निर्मम पुरुष से अभयदान देकर उसके प्राणों की रक्षा करना उसने अपना धर्म समझा जिससे उसका धर्मवीरत्व भी व्यक्त होता है। 'किंकर द्वारा जब वह कन्या कनकलेखा उस अधम के सामने उपस्थित की गयी तो वह भयभीत होकर आँसुओ को गिराती हुई रूंधे कण्ठ से और अत्यन्त उद्वेग से आक्रान्त हृदय होकर हा ! तात, हा ! जननि ! कहते हुये रोने लगी। उस कन्या के मस्तक पर अलंकार के रूप में धारण की हुई माला म्लान हो गयी, बन्धन शिथिल हो गये। इसके पश्चात् उस हवनकर्ता ने उसके केशों को पकड़कर पत्थर पर तेज की हुई तलवार से उस कन्या के सिर को ज्यों ही काटने की चेष्टा की त्यों ही शीघ्र मैंने उसके हाथ से तलवार छीन कर जटाजाल सहित उसके सिर को काट कर समीप में ही स्थित एक जीर्ण वृक्ष के कोटर मे फेंक दिया।'[1]

यहाँ आलम्बन-भयंकर पुरुष (हवनकर्ता), उद्दीपन कन्या का करुणक्रन्दन आदि, अनुभाव—उसके हाथ से तलवार का छीनना और सिर काटना आदि और आवेग एवं श्रम आदि व्यभिचारी भाव है। आश्रय है मन्त्रगुप्त एवं उत्साह स्थायी भाव है। इस प्रकार वीर रस के सभी अवयवों का वर्णन यहाँ हुआ है।

इसके अतिरिक्त प्रथम उच्छ्वास में राजवाहन द्वारा प्रशंसित अपहारवर्मा द्वारा चण्डवर्मा के वध तथा अन्य साहसपूर्ण कार्यों के वर्णन,[2] तथा चतुर्थ उच्छ्वास[3]

---

१. स च तथाकार्षीत्। ततश्चैनां त्रासेनालघीयसास्रजजरेण च कण्ठेन रणरणिकागृहीतेन च हृदयेन 'हा तात', 'हा जननि' इति क्रन्दन्तीं कीर्णग्लानशेखरस्रजि शीर्णनहने शिरसिजानां सञ्चये निगृह्यासिना शिलाशितेन शिरश्चिकर्तिषयाचेष्टत। झटिति चाच्छिद्य तस्य हस्तात्तं शस्त्रिकां तया निकृत्य तस्य तच्छिरः सजटाजालम्, निकटस्थस्य कस्यचिज्जीर्णसालस्य स्कन्धरन्ध्रे न्यदधाम॥—दशकुमारचरित, पृ० ४५९।

२. तस्मिन्नेव क्षणान्तरे 'हतो हतश्चण्डवर्मा सिंहवर्मदुहितुरम्बालिकायाः पाणिस्पर्शरागप्रसारिते बाहुदण्ड एव बलवदवलम्ब्य सरभसमाकृष्य केनापि रंहसोत्तमेन राजभवनमभ्यवर्तत।—दशकुमारचरित, पृ० १४७-४८। कः स महापुरुषो येनैतन्मानुषमात्रदुष्करं महत्कर्मानुष्ठितम्। आगच्छतु मयासहेमं मत्तहस्तिनमारोहतु। अभयं मदुपकण्ठवर्तिनो देवदानवैरपि विगृह्णानस्य' इति।

३. वध्ये च मयि मत्तहस्ती मृत्युविजयो नामहिंसाविहारी मण्डलितहस्तकाण्डं समभ्यधावत्। अभिपत्य च मया निर्भयेन निर्भर्त्सितः भीतवन्न्यवर्तिष्ट। —दशकुमारचरित, पृ० ३०८-३०९।

में पूर्णभद्र द्वारा मृत्यु विजय नाम के हाथी को परास्त करने के प्रसंग में भी उत्साह भाव की व्यञ्जनाएँ हुई हैं।

हास्य रस

दशकुमारचरित में हास्य रस को भी यथावसर स्थान प्रदान कर कवि ने वर्ण्य विषय को रुचिकर एवं ग्राह्य बनाया है। कथा-प्रवाह की निर्मल धारा में निरन्तर प्रवाहित होने वाले सहृदय पाठकों के चित्तों का हास विस्मय आदि मधुर भावों की अभिव्यञ्जना द्वारा अनुरंजन करने में कवि के विषय-निरूपण की सफलता निहित होती है। राजकुमारी कन्दुकावती की प्रिय सखी चन्द्रसेना जैसी कोश दास की अभिलषिता प्रणयिनी के सम्बन्ध में मित्रगुप्त की उक्ति प्रत्येक सहृदय पाठक की हृदयकली को विकसित करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। मन्मथशरशल्य पीड़ित कोशदास एवं उसकी प्रियतमा चन्द्रसेना के प्रणय में विघ्न उपस्थित करने वाले राजा तुंगधन्वा के पुत्र भीमधन्वा को लक्ष्य में रखकर मित्रगुप्त का कथन कितना सरस है इसका अनुमान सहृदय ही कर सकते हैं—

'सायंकाल चन्द्रसेना ने आकर मुझे प्रणाम किया और एकान्त में अपने पति के कंधे से कंधा मिला कर प्रेमपूर्वक बैठ गई। प्रसन्नता से कोशदास ने कहा,' हे विशालाक्षि यावज्जीवन मुझे अपना प्रेम-पात्र बनाये रखना।' मैंने हँस कर कहा—'हे मित्र! ऐसी आशंका ही क्यों करनी चाहिए। एक प्रकार का अंजन (मेरे समीप) है उस अंजन से रंजित होने पर यह चन्द्रसेना राजपुत्र को वानरी के सदृश दिखाई देगी जिससे विरक्त होकर राजकुमार अवश्य ही इसे त्याग देगा। उसने मुझसे कहा—' आर्य! यह जन आपकी आज्ञाकारिणी अत्यन्त अनुगृहीत है कि आप इसी जन्म में मानुषी देह से मुझे वानरी के रूप में परिणत करना चाहते हैं। अस्तु रहने दीजिए। अन्य उपायों से भी हम लोगों का अभीष्ट (कार्य) सिद्ध हो जायगा।'[१]

---

१. सायं चोपसृत्य चन्द्रसेना रहसि मां प्रणिपत्य पत्युरंसमंसेन प्रणयपेशलमाघट्टयन्त्युपाविशत्। आचष्ट च हृष्टः कोशदासः—भूयासमेवं यावदायुरायताक्षि, त्वत्प्रसादस्य पात्रम्। मया तु सस्मितमभिहितम्—सखे, किमेतदाशास्यम्। अस्ति किंचिदंजनम्। अनया तदक्तनेत्रया राजसूनुरुपस्थितो वानरीमिवैनां द्रक्ष्यति' इति। तया तु स्मेरयास्मिकथितः—
'सोऽयमार्येणाज्ञाकरो जनोऽत्यर्थमनुगृहीतः, यदस्मिन्नेव जन्मनि मानुषं वपुरपनीय वानरी करिष्यते। तदास्तामिदम्। अन्यथापि सिद्धं नः समीहितम्।'

यहाँ केवल विभाव के द्वारा ही सहृदयों को रस की प्रतीति हो जाती है ।

प्रथम उच्छ्वास में काममंजरी और महर्षि मरीचि के क्रिया-कलाप भी सर्वथा हास से परिपूर्ण हैं । काममंजरी में आसक्त महर्षि मरीचि ने अपने नियत धर्म एवं नियमों का परित्याग कर दिया और अन्त में उसकी चातुरी से आहत मुनि महाराज की आँखें खुल गयीं, बुद्धि सुस्थिर हो गयी, राजभवनों विलासिनियों की संगति में रहकर उनके सान्निध्य में प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य सुख की अभिलाषा सर्वथा निराशा में परिणत हो गयी, अर्थ और काम की वार्ता से अनभिज्ञ उन अर्थ और काम के स्वरूपों, परिवार तथा फल का स्वप्न देखने वाले महामुनि पुन: उस काममंजरी द्वारा वंचित होकर अपने आश्रम में लौट आये ।' उस (काममंजरी) के ये वचन सुन कर देवबल से, उस वेश्या की पटुता से अथवा अंपनी बुद्धिहीनता से अपने नियमों को त्यागकर उसमें आसक्त हो गए । इसके पश्चात् उन मूढात्मा मुनि को रथ पर बिठा कर के उत्कृष्ट सौन्दर्यसम्पन्न राजवीथी से चल कर अपने नगर के भवन में ले गई । उसी दिन यह घोषणा हुई 'कलकामोत्सव मनाया जायगा' । दूसरे दिन महर्षिमरीचि ने स्नान करके सुगन्धित तेल लगाया, उत्तम माला को धारण किया और कामी जनों की तरह वेष धारण किया । अपने तप, अनुष्ठान आदि वृत्त से पराङ्मुख होकर क्षणमात्र भी उस काममंजरी का वियोग सहन करने में असमर्थ हो गये । इसी समय वह वेश्या समृद्धिसम्पन्न राजमार्ग से उन्हें सैकड़ों युवतियों से घिरे हुये राजा के समीप किसी उपवन में ले गयी । उसे देख तथा हँस कर राजा ने कहा—भद्रे, भगवान् मरीचि के साथ बैठो, ऐसा आदेश मिलते ही भावभंगी के साथ प्रणाम कर के मन्द मुसकान के साथ बैठ गयी । वहाँ कोई उत्तमांगना वद्धांजलि होकर राजा को प्रणाम करके बोली— देव, इस (काममंजरी) ने मुझे जीत लिया । आज से मैं इसकी दासी हो गयी । इसी समय हर्ष और विस्मयमूलक कोलाहल होने लगा । राजा ने प्रसन्न होकर अत्यन्त अमूल्य रत्न, अलंकारादि तथा राजोचित वस्त्रादि देकर काममंजरी को पुरस्कृत किया । श्रेष्ठ वारांगनाओं और नागरिकों द्वारा प्रशंसा की जाती हुई काममंजरी अपने भवन तक आकर उन ऋषि से बोली—'भगवन्, यह मैं आपसे हाथ जोड़ती हूँ, यह दास आपका अत्यन्त अनुगृहीत है । अब आप जाकर अपना कार्य कीजिए ।' रागातिरेक के कारण, कठोर वचन सुन कर महर्षि मरीचि अशनि से आहत की भाँति बोले—प्रिये, यह क्या, ऐसी

उदासीनता कहाँ से आयी। मेरे प्रति तुम्हारा असाधारण अनुराग कहाँ चला गया। तब उसने हँसकर कहा—'भगवन्,[१] इत्यादि...।

प्रस्तुत प्रसंग में काममंजरी द्वारा मरीचि ऋषि की जो दशा हुई तथा उसके कपटपूर्ण आचरण से वशीभूत होकर अन्त में उनका तिरस्कारपूर्ण उपहास निश्चित रूप से सामाजिकों की हँसी या परिहास का विषय है। दशकुमारचरित में ऐसे और भी कतिपय रम्य स्थल हैं जहाँ अत्यन्त मनोरम और शिष्ट तथा मर्यादित हास्य का पुट विद्यमान है।

करुण रस

शोक भाव की भी यहाँ यत्र-तत्र व्यंजना हुई है। सप्तम उच्छ्वास में कलिंग राज की कन्या कनकलेखा का करुणक्रन्दन, असहायावस्था के कारण उसका निर्जन स्थान में आर्तस्वर में विलाप हृदय को द्रवीभूत करने वाला है। असहायावस्था के ऐसे ही क्षणों में किसी शोकाकुल मृदु हृदय की करुणामय पुकार सहृदयों के हृदय को सहसा तरंगित कर देती है। नैषधीयचरित में परहस्तगत व्यथितहृदय हंस की दीन दशा[२] यदि करुणोत्पादक है तो ठीक वही दशा यहाँ दशकुमारचरित में कन्या कनकलेखा की प्रतीत होती है। 'हा तात', 'हा जननि' इत्यादि शब्दों के द्वारा अपने माता-पिता का संस्मरण कर रुदन करती हुई कनकलेखा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है— मन्त्रगुप्त ने देखा कि कालरात्रि के केशसमूह के सदृश अन्धकार

---

१. 'निशम्यैतन्नियतिबलान्नु तत्पाटवान्नु स्वबुद्धिमान्द्यान्नु स्वनियममनादृत्य तस्यामसौ प्रासजत्। सा सुदूरं मूढात्मानं च तं प्रवहणेन नीत्वा पुरमुदारशोभया राजवीथ्या स्वभवनमनैषीत्। अभूच्च घोषणा 'श्वः कामोत्सवः' इति। उत्तरेद्युः स्नातानुलिप्तमारचितमञ्जुमालमारब्धकामिजनवृत्तं निवृत्तस्ववृत्ताभिलाषं क्षणमात्रे गतेऽपि तया विना दूयमानं तमृद्धिमता राजमार्गेणोत्सवसमाजं नीत्वा क्वचिदुपवनोद्देशे युवतिजनशतपरिवृतस्य राज्ञः सन्निधौ समासदत्स्मितमुखेन तेन 'भद्रे', भगवता सह निषीद' इत्यादिष्टा सविभ्रमं कृतप्रणामा सस्मितं न्यषीदत। तत्र काचिदुत्थाय_भगवन्, अयमञ्जलिः, चिरमनुगृहीतोऽयं दासजनः, स्वार्थ इदानीमनुष्ठेयः' इति। स तु_भगवन्_।—दशकुमारचरित, पृ० १७३-७६।

२. मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणारुणद्धि न॥
—श्री हर्ष नैषधीयचरित १.१३५.।

हो जाने पर किसी कुत्सित पापी पुरुष की आज्ञा के अनुसार किंकर द्वारा उसके सामने उपस्थित की गयी कन्या के अत्यन्त त्रास, उद्वेग और अवरुद्ध कण्ठ से आँसुओं को गिराती हुई हा तात ! हा जननि ! इस प्रकार क्रन्दन करती हुई रोने लगी । रोने के कारण उस कन्या के शिर पर अलंकार के समान धारण की हुई माला भी मलिन हो गयी, बन्धन शिथिल हो गए... ।

कन्या कनकलेखा के इस प्रकार के करुण-क्रन्दन[१] ने मन्त्र गुप्त को शोक से विह्वल कर दिया । शीघ्र ही उसने उस दुष्ट तपस्वी का वध कर के उस शोकविधुरा व्यथितहृदया के प्राणों की रक्षा की । यहाँ कुमारी कनकलेखा आश्रय है ।दुष्ट भयंकर तपस्वी- आलम्बन और अंधकारमय रात्रि का समय, निर्जन स्थानादि-उद्दीपन कन्या का करुण क्रन्दन, माला का मलिन होना, बन्धन का शिथिल होना आदि अनुभाव हैं । त्रास, विषाद, आदि व्यभिचारी हैं । शोक स्थायी भाव है । तन्मूलक करुण रस की यहाँ प्रतीति हो रही है

वात्सल्य

अपनी संतान या उसी कोटि के अन्य प्रिय सम्बन्धियों के प्रति स्नेह, वात्सल्य रूप में स्वीकार किया जाता है । दशकुमारचरित में वात्सल्य का कई स्थलों पर अत्यन्त मनोरम एवं सफल चित्रण हुआ है । वात्सल्य के मूल में भी रति-भाव की स्थिति होती है । अन्य रसों की भाँति वात्सल्य का भव्य रूप प्रस्तुत कर महाकवि दण्डी ने अपने प्रधान इतिवृत्त के सौष्ठव एवं कथाप्रसंगों की अनुकूलता में अद्भुत सामंजस्य की सृष्टि की है ।

तृतीय उच्छ्वास में उपहार वर्मा के प्रति वृद्धा माता का सच्चा स्नेह, चतुर्थ उच्छ्वास में स्निग्धहृदया शोकविधुरा माता कान्तिमती की हर्षाश्रु एवं स्नेहमयी वाणी में अपनी कृतज्ञता तथा मृदु भावों की मनोरम अभिव्यक्ति, पंचम उच्छ्वास में पति-परायणा, विरह विधुरा, निरुद्धकण्ठी तारावली के शोक किन्तु हर्ष से युक्त स्नेह से गदगद वचन तथा अपने पुत्र का बार-बार आलिंगन, चुम्बन आदि वात्सल्य के पूर्ण द्योतक हैं । यहाँ वात्सल्य के सभी स्थल प्राय: एक समान प्रतीत होते हैं ।

---

१. स च तथाकार्षीत । ततश्चैनां त्रासेनालघीयसास्रजजरिण च कण्ठेन रणरणिकागृहीतेन च हृदयेन 'हा तात', 'हा जननि' इति क्रन्दन्तीं कीर्णग्लानशेखरस्रजि शीर्णनहने' शिरशिजानां सञ्चये निगृह्यासिना शिलाशितेन...। —दशकुमारचरित, सप्तम उच्छ्वास, पृ० ४६० ।

उपहारवर्मा के इस प्रकार के कथन से कि—

'माता-पिता भी मुझे नहीं जानते हैं

तो अन्य के विषय में क्या कहूँ।

इसलिये उपाय से ही इस कार्य को

सम्पन्न करूँगा।'—

सुनते ही वृद्धा माता ने रोते हुए बार-बार आलिंगन किया, मेरा मस्तक सूँघने लगी और स्तनों से दूध टपकाती हुई बोली, हे वत्स ! दीर्घायु हो ! तुम्हारा कल्याण हो। आज भगवान्, ब्रह्मदेव प्रसन्न हुए। आज से ही प्रहारवर्मा के अधीन विदेहपुरी का राज्य हुआ। क्योंकि आपके प्रलम्बमान दीर्घ और मांसल बाहु प्रहारवर्मा को इस शोक-सिन्धु से पार करने के लिए साक्षात् आविर्भूत हो गये। 'अहो ! देवी प्रियंवदा का सौभाग्य है' इस प्रकार हर्ष पुलकित होती हुई उसने स्नान भोजनादि से मेरा सत्कार किया।[१]

इन पंक्तियों में अपने पुत्र के प्रति माता का सच्चा वात्सल्य टपकता हुआ दिखाई देता है। वात्सल्यमूलक हर्ष यहाँ संचारी भाव है।

पुनः कान्तिमती की कृतज्ञता तथा स्नेह भावों की अभिव्यक्ति में भी वात्सल्यमूलक 'हर्ष' तथा 'वितर्क' आदि संचारी भावों की स्थिति दर्शनीय है—

हर्षित होकर आँखों में आँसू भरकर अपने पति के चरणों को प्रणाम करके, स्तनों से दूध टपकाती हुई मेरी माता ने बार-बार मेरा आलिंगन किया तथा हर्षाश्रुओं से गद्गद होकर बोली—'हे पुत्र ! जिस पापिनि ने, जन्म लेते ही तुम्हारा परित्याग कर दिया था उस निष्करुण पर क्यों इस प्रकार की दया करते हो ? अथवा तुम्हारा पिता कामपाल निरपराध है इन्हें काल के मुख से बचा लेना ही उपयुक्त है। तारावली भी निश्चित रूप से निष्ठुर है जिसने भगवान् कुबेर द्वारा तुम्हारा पूर्ण परिचय प्राप्त कर के भी मुझे न अर्पित कर अपने ही सदृश योग्य धात्री वसुमती

१. सा तु वृद्धा सरुदितं परिष्वज्य मुहुः शिरस्युपाघ्राय प्रस्नुतस्तनी सगद्गदमगदत्-वत्स, चिरञ्जीव। भद्रं तव। प्रसन्नोऽद्य भगवान्विधिः। अद्यैव प्रहारवर्माण्यधि विदेहा जाताः, यतः प्रलम्बमानपीनबाहुर्भवानपारमेतच्छोकसागरमद्योत्तारयितुं स्थितः अहो, महद्भागधेयं देव्याः प्रियंवदायाः' इति हर्षनिर्भरा स्नानभोजनादिना मामुपाचरत्। —दशकुमारचरित- पृ० २५९-६०।

को तुम्हें अर्पण किया। ऐसी भाग्यराशि के विना मेरे सदृश अल्पपुण्य वाले व्यक्ति तुम्हारे अव्यक्त मधुर वचनामृत का पान कानों से नहीं कर सकते। यहाँ आओ आलिंगन दो, इस प्रकार कहकर पुनः पुनः मेरे शिर को सूँघते हुए, मुझे अपने अंक में बैठाती हुई, तारावली की निन्दा करती हुई,मेरा' आलिंगन करती हुई, अश्रुओं से अभिसिंचित करती हुई तथा अपने शरीर को प्रकम्पित करती हुई क्षणभर उसने अपनी एक अपूर्व आकृति दिखाई।'[१]

पञ्चम उच्छ्वास में भी तारावली का अपने पुत्र के प्रति स्नेह कितना स्वाभाविक एवं मार्मिक है कि पुत्र की प्राप्ति के अनन्तर अश्रुधारा नेत्रों में रुकती नहीं, स्नेह से गद्गद कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, स्तनों से दुग्ध टपकने लगता है। दण्डी के दशकुमारचरित के ऐसे स्थल वात्सल्य के उत्तम निदर्शन हैं। अत्यन्त कृशवदना तारावली का दर्शन होते ही उसको प्रणाम करने के लिए उद्यत 'प्रमति को, हर्ष से कम्पित होने वाली भुजा रूपी लताओं से उसने उठाकर पुत्र की तरह उसका आलिंगन किया, वात्सल्य प्रीति के कारण, स्तनों से दूध को टपकाती हुई तथा आँसू बहाती हुई निरुद्ध कण्ठवाली उसने स्नेह से गद्गदवाणी में प्रमति से कहा - 'हे वत्स !... वही मै तुम्हारी जननी तारावली हूँ। इसके पश्चात् पूर्ण वृत्तान्त को प्रमति से कहकर पुनः तारावली ने उसका आलिंगन किया, शिर को सूँघ कर, कपोलों का चुम्बन कर स्नेह से विह्वल होकर (पति के समीप) चली गई।'[२]

---

१. हृष्टतमा पत्युः पादयोः पर्यश्रुमुखी प्रणिपत्य मां च मुहुर्मुहुः प्रस्नुतस्तनी परिष्वज्य सहर्षवाष्पगद्गदमगदत्—'पुत्र, योऽसि जातमात्रः पापया मया परित्यक्तः स किमर्थमेवं मामतिनिर्घृणामनुगृह्णासि। अथवैष निरपराध एव ते जनयिता। युक्तमस्य प्रत्यानयनमन्तकाननात्। क्रूरा खलु तारावली या त्वामुपलभ्यापि तत्त्वतः कुवेरादसमर्प्य मह्यमर्पितवती देव्यै वसुमत्यै सैव वा सदृशकारिणी। नहि तादृशाद्भाग्यराशेर्विना मादृशो जनोऽल्पपुण्यस्तवार्हति कलप्रलापामृतानि कर्णाभ्यां पातुम्। एहि, परिष्वजस्व'इति भूयोभूयः शिरसि जिध्रन्त्यङ्कमारोपयन्ती, तारावलीं गर्हयन्त्यालिङ्गयन्त्यश्रुभिरभिषिञ्चती...क्षणमजनिष्ट।—दशकुमारचरित, पृ० ३३३-३३४।

२. 'प्रणिपतन्तं मां प्रहर्षोत्कम्पितेन भुजलताद्वयेनोत्थाप्य पुत्रवत्परिष्वज्य शिरस्युपाघ्राय वात्सल्यमिव स्तनयुगलेन स्तन्यच्छलात्प्रक्षरन्ती, शिशिरेणाश्रुणा निरुद्धकण्ठी स्नेहगद्गदं व्याहार्षीत्...वत्स...साहमस्मि वो जननी।'—दशकुमारचरित, पृ० ३५९-६०। एवमिदं वृत्तम्। ...इति प्राञ्जलिं मां भूयोभूयः परिष्वज्य शिरसि उपाघ्राय...स्नेहविह्वला गतासीत्। —द० कु० च०, पृ० ३६४।

इन पंक्तियों में भी वात्सल्यमूलक हर्ष, औत्सुक्यादि भव्य भावों की छटा सराहनीय है ।

रसाभास

संभोग के प्रसंग में कविवर दण्डी ने अनंगविह्वल कामुकजनों की विविध शृंगारिक चेष्टाओं (दशाओं) का अत्यन्त मनोरम चित्र उपस्थित किया है । प्रथम उच्छ्वास में ही कामुक दर्पसार की काम दशा का वर्णन करते हुए कवि ने शृंखलारूप में परिणत सुरतमंजरी से कहलाया है कि—

'दूसरे दिन चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना आकाश में फैल जाने पर दर्पसार विकल होकर कपटवेश में अपनी अभिलषित प्रियतमा अवन्तिसुन्दरी से मिलने के लिए इन्द्रभवन के सदृश रमणीय उसके अन्तःपुर में गया । वहाँ सुरतखेद से प्रसुप्त तुम्हारे (राजवाहन के) अंक में उसे देखकर...तथा अपनी कामना की तृप्ति में तुम्हें विघ्न समझकर क्रुद्ध हुआ और सानन्द शयन करते हुए दोनों को देखकर चाँदी की शृंखला से तुम्हारे दोनों पैरों को बाँध दिया और क्रोध के आवेश में शीघ्र ही वहाँ से भाग गया ।'[१]

यहाँ निर्मल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण रात्रि आदि उद्दीपन विभाव, अवन्तिसुन्दरी आलम्बन विभाव, तथा अभिलषित प्रियतमा की प्राप्ति के लिए अन्तःपुर में प्रवेश एवं राजवाहन के चरणों को जंजीर में बाँधना इत्यादि अनुभाव और ईर्ष्या, आवेग एवं औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायीभाव का शृंगार रस में परिपाक हो जाता है । किन्तु ऐसे स्थलों को रस का उदाहरण न मान कर रसाभास ही कहना यथार्थ होगा । क्योंकि आचार्यों ने रति आदि भावों के अनुभयनिष्ठ एवं प्रतिनायकनिष्ठ होने पर उसे रसाभास की संज्ञा प्रदान की है । अनौचित्यप्रवर्तन ही रसाभास का कारण होता है । अस्तु, यहाँ अवन्तिसुन्दरी में रतिभाव राजवाहन के प्रति तथा राजवाहन में अवन्तिसुन्दरी के प्रति रतिभाव होने से तो समीचीन एवं रसानुकूल ही ज्ञात होता है किन्तु कपटवेशधारी दर्पसार का अनौचित्यपूर्ण प्रवर्तन

---

१. अन्यदा तु वियति व्यवदायमानचन्द्रिके मनोरथप्रियतमामवन्तिसुन्दरीं दिदृक्षुरवशेन्द्रियस्तदिन्द्रमन्दिरद्युति कुमारीपुरमुपासरत् । अन्तरितश्च तिरस्करिण्या विद्यया स च तां तदा त्वदंकापाश्रयां सुरतखेदसुप्तगात्रीं...सरोषरभसमपासरत् । —दशकुमारचरित-प्रथम उच्छ्वास, पृ० १४५-४६ ।

तथा नायिका की रति अनुभयनिष्ठ होने से यहाँ शृंगाररसाभास ही मानना सम्यक् प्रतीत होता है ।

भाव

देवादिविषयक रति[१] को आचार्यों ने भाव नाम से अभिहित किया है । यहाँ प्रमति के चरित में महाटवी के किसी वृक्ष की छाया में सायंकाल शयन करने के पूर्व प्रमति के द्वारा की गई देवस्तुति को भाव की संज्ञा प्रदान की जा सकती है । 'प्रमति ने प्रणाम करके विज्ञापित किया—हे देव ! मैं आप राजवाहन का अन्वेषण करने के लिये सभी दिशाओं में भ्रमण करता हुआ गगनस्पर्शी, विन्ध्य पर्वत के समीपवर्ती किसी वृक्ष के नीचे, पश्चिमदिशारूपी कामिनी को भूषित करने वाले नूतनकिसलयों के सदृश आकृति वाले भगवान् सूर्य के अस्तोन्मुख होने अर्थात् सायंकाल हो जाने पर एक छोटे सरोवर में आचमन कर तथा संध्यावन्दनादि करके अंधकार से सभी ऊँचे और निम्न स्थानों के समीकृत हो जाने पर, पृथिवीतल पर कहीं अन्यत्र जाने में असमर्थ होकर शयन करने की इच्छावाला मैं किसलयों से शय्या का निर्माण करके तथा अपने दोनों हाथों को सिर पर अंजलिरूप में रखकर (प्रार्थना की) कि, जो देवता इस वृक्ष पर निवास करते हों वे ही इस हिंस्र पशुओं के संचरण से भयंकर तथा शिवजी के नीले कण्ठ के सदृश रात्रि के अन्धकार से व्याप्त विशालगुफाओं वाले इस महावन में, मेरी रक्षा करें' ऐसा कह कर बायें हाथ के ऊपर मस्तक रखकर सो गया ।[२]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रमति द्वारा सम्पादित सन्ध्यावन्दनादि तथा शयन करने के पूर्व हाथ जोड़कर देवस्तुति को भाव कहा जा सकता है ।

---

१. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावःप्रोक्तः_ ।—मम्मट-काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास । रतिरितिसकलस्थायिभावोपलक्षणम् । आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादि-विषयाः । —का० प्र०, च० उ० ।

२. सोऽपि प्रणम्य विज्ञापयामास । 'देव, देवस्यान्वेषणाय दिक्षु भ्रमन्नभ्रंकषस्यापि विन्ध्यपार्श्वरूढस्य वनस्पतेरधः, परिणतपतंगबालपल्लवावतंसिते पश्चिमदिगङ्गनामुखे पल्वलाम्भस्युपस्पृश्योपास्य संध्याम्, तमः समीकृतेषु निम्नोन्नतेषु, गन्तुमक्षमः क्षमातले किसलयैरूपरचय्य शय्यां शिशयिषमाणः, शिरसिकुर्वन्नञ्जलिम्', यास्मिन्वनस्पतौ वसति देवता सैव मे शरणमस्तु शरारुचक्रचारभीषणायां शर्वगलश्याम_ प्रसुप्तस्य' इत्युपधाय वामभुजमशयिषि ।—दशकुमारचरित-पंचम उ०, पृ० ३४६ ।

भावोदय

प्रथम उच्छ्वास में राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी तथा राजवाहन के प्रणय की सूचना पाकर दर्पसार का सन्देशवचन भावोदय ही कहा जा सकता है—

'किमस्ति कन्यान्तः पुरदूषकेऽपि कश्चित् कृपावसरः [क्या कन्या का अन्तः पुर दूषित करने वाले के लिये भी कृपा का अवसर शेष रह जाता है] से लेकर अविलम्बितमेव तस्य कामोन्मत्तस्य चित्रवधवार्ताप्रेषणेन श्रवणोत्सवोऽस्माकं विधेयः । सा च दुष्टकन्या_चारके निरोद्धव्या 'इति तक की पंक्तियाँ निश्चित रूप से दर्पसार के क्रोधभाव की द्योतक हैं ।'

पुनः, धनमित्र नाम से ख्यातिप्राप्त अपहारवर्मा द्वारा,कर्णिकार कुसुम के सदृश गौरवर्ण वाले राजकुमार राजवाहन के सहसा दर्शन-जन्य हर्ष एवं आनन्द में भावोदय की भव्य झाँकी मिलती है ।[१]

भावसन्धि

चतुर्थ उच्छ्वास में राजाचण्डसिंह के प्रासाद में पहुँचकर उसकी तलवार को कामपाल द्वारा उठा लेने पर राजा के त्रास एवं दैन्य से पूर्ण कथन में भय एवं शोक भावों की सन्धि दृष्टिगत होती है । राजा अत्यन्त भयभीत होकर मुझसे प्रणाम करके बोला—मैं स्वयं ही मूर्ख हूँ । मैंने ही आपका अपराध किया है । क्योंकि कन्या के साथ सम्पर्क रखने वाले आप पर मैंने पागल के सदृश क्रोधाभिभूत होकर अतिक्रान्तमर्यादावोले की तरह मैंने व्यवहार किया है (वध की आज्ञा सुनायी है) । उसे भूल जाइए । आज से यह कान्तिमती कन्या, मेरा सम्पूर्ण राज्य तथा जीवन आपके अधीन है ।'[२] राजा के इस प्रकार के भय एवं शोक से अनुप्राणित कथन में उक्त 'भय' और 'शोक' भाव की सन्धि प्रतीत होती है ।

---

१. 'अयमेव स देवराजवाहनः' इति प्राञ्जलिः प्रणम्याषहारवर्मणि निविष्टदृष्टिराचष्ट_हृष्टस्तु व्याजहारापहारवर्मा देव, दृष्टिदानेनानुगृह्यतामयमाज्ञाकरः। सोऽप्यहमेव ह्यमुना रुपेण धनमित्राख्यया चान्तरितो मन्तव्यः।—दशकुमारचरित- प्र० उ०,पृ० १५१-५२ ।

२. सोऽतिभीतो मामभिप्रणम्याह—अहमेव मूढोपराद्धः यस्तव दुहितृ-संसर्गानुग्राहिणो_भवदधीनम्' इत्यवादीत् ।—दशकुमारचरित, चतुर्थ उ०, पृ० ३१९-२० ।

भावशबलता

षष्ठ उच्छ्वास में मित्रगुप्त द्वारा कन्दुकावती के प्रथम दर्शन में वितर्क, औत्सुक्य, शंका, वृत्ति, स्मृति, चिन्ता आदि भावों की शबलता द्रष्टव्य है। 'मैंने विशाल रत्नासन पर बैठी हुई रक्ताघर विम्बोष्ठी, राजकुमारी कन्दुकावती को प्रथम बार ही देखा है। देखते ही वह मेरे मन में बस गयी। मैं साश्चर्य सोचने लगा क्या यह लक्ष्मी है? नहि, नहि। उन लक्ष्मी के हाथ में तो कमल हैं, इसके तो हाथ ही कमल हैं। वे पूजनीया लक्ष्मी तथा मान्या राजलक्ष्मी यथा क्रम भगवान् विष्णु और पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा उपभुक्त हैं। किन्तु यह राजकुमारी तो किसी के द्वारा भी उपभुक्त नहीं है। इसके सभी अंग अनिन्द्य हैं और यह अभिनवा, अनुपभुक्त नवयौवना है' मैं इस प्रकार तर्क-वितर्क कर ही रहा था कि वह निर्दोष अवययों वाली अपने हस्तपल्लवों के अग्रभाग से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए...भगवती को प्रणाम किया।'[१]

यहाँ कन्दुकावती का प्रथम बार अवलोकन करते ही मित्रगुप्त के मन में अनेक भावों का उदय होने लगा। इस प्रकार शंका, औत्सुक्य, स्मृति, वितर्क आदि उपर्युक्त भावों की शबलता दर्शनीय है।

इसके अतिरिक्त सप्तम उच्छ्वास में भी रात्रि के समय किसी दास और दासी की उक्तियों में शंका, असूया, विषाद, त्रास, दैन्य, चिन्ता आदि भावों की शबलता देखी जा सकती है—'कौन ऐसा दुष्ट तपस्वी है जो हम लोगों के रमण के समय भी ऐसी आज्ञायें दिया करता है कि 'इस जन को अप्रतिवद्ध प्रेम से वशीभूत करो' ऐसी आज्ञा द्वारा हमें रमणकाल में तंग करता है। हाय! ऐसा कोई नहीं, जो इस कुत्सित पापी विषवैद्य को अपनी अनन्त शक्ति से इसकी कार्यसिद्धि में विघ्न उपस्थित करता।' इस प्रकार की दैन्यपूर्ण वार्ता दास और दासी में हो रही थी।[२]

---

१. 'महति रत्नरङ्गपीठे स्थितां प्रथमं ताम्रोष्ठीमपश्यम्। अतिष्ठच्च सा सद्य एव मम हृदये...। चित्रीयाविष्टचित्तश्चाचिन्तयम्—' किमियं लक्ष्मीः। नहि नहि तस्याः किल हस्ते विन्यस्तं कमलम्, अस्यास्तु हस्त एव कमलम्। अभुक्तपूर्वा चासौ पुरातनेन पुंसा पूर्वराजैश्च, अस्याः पुनरनवद्यमयातयामं च यौवनम्' इति चिन्तयत्येव मयि सानघसर्वगात्री...भगवतीमभिवन्द्य...इति।—दशकुमारचरित, पृ० ३८८-३९०।

२. 'कथं खलेनानेन दग्धसिद्धेन रिरंसाकाले निदेशं दित्सता जन एष रागेणानर्गलेनार्दित इत्थं खलीकृतः। क्रियेतास्याणकनरेन्द्रस्यकेनचिदनन्तशक्तिना सिद्ध्यन्तरायः इति किंकरस्य किंकर्याश्चातिकातरं रटितम्।'—दशकुमारचरित, पृ० ४५७-७८।

भाव शबलता का एक उत्तम निदर्शन तृतीयोच्छ्वास में भी कल्पसुन्दरी की उक्ति में दर्शनीय है कल्पसुन्दरी ने वृद्धा तापसी से कहना आरम्भ किया—

'यह (विकटवर्मा) अत्यन्त निष्ठुर, पितृद्रोही शरीर के अनुपयुक्त अवयवों वाला, रतिलीला में अकुशल, शौर्योन्मादी आत्मश्लाघी और असत्यवादी है। मुझे ऐसा पति नहीं रुचता। विशेष रूप से आजकल यह मेरा पति, मेरी आत्मीया तथा समीपवर्तिनी पुष्करिका का अनादर कर मेरी समृद्धि से ईर्ष्या करने वाली, स्वरूपानभिज्ञा रमयन्तिका नर्तकी का, मेरे द्वारा पुत्रवत् सींचकर संवर्धित की गयी चम्पकलता के पुष्पों का चयनकर के शृंगार किया करता है...तो मैं किस प्रकार उसकी अपेक्षा करूँ। यदि यह कहा जाए की परलोक के भय से डरूँ तो इस लोक के दु:खों से परलोक का भय भी व्यवधानीभूत हो जाता है। कामदेव के बाणों के आधारभूत अन्तःकरण वाली अबलाओं को दु:खदायी पति की सहवास-जन्य व्यथाएँ असह्य होती हैं। अतएव इस चित्रगुप्त पुरुष के साथ उपवन के माधवीलतामण्डप में आज तुम मेरा संयोग करा दो।'[१]

उपर्युक्त इन पंक्तियों में ईर्ष्या, शंका, असूया, श्रम, घृणा, वितर्क, विषाद दैन्य एवं औत्सुक्यादि भावों की शबलता दृष्टिगोचर होती है।

सच कहा जाए तो दशकुमारचरित में रस के मूलभूत विभावादि तत्त्वों का सन्निवेश दण्डी की अद्भुत लेखनी की सबसे बड़ी विशेषता है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का सौन्दर्य तथा भाषा के पदलालित्य के मणिकांचन संयोग ने ग्रन्थ को उक्त नवों रसों से अनुप्राणित कर दण्डी को अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध किया है। इसीलिए दशकुमारचरित को सहृदयों के चित्तानुरंजन का यदि एकस्थ रूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यंजना में दण्डी अद्वितीय हैं। शब्द-लाघव दण्डी की कलात्मक अभिरुचि का पूर्ण परिचायक

---

१. अयं च निष्ठुरः पितृद्रोही नात्युत्पन्नसंस्थानः कामोपचारेष्वलब्धवैचक्षण्यः कलासु काव्यनाटकादिषु मन्दाभिनिवेशः शौर्योन्मादी...अनृतवादी चास्थानवर्षी। नातिरोचते मे एष भर्ता। विशेषतश्चैषु दिवसेषु यदयमुद्याने मदन्तरङ्गभूता पुष्करिकां...सुमनोभिरलमकार्षीत्।...तत्किमित्यपेक्ष्यते। परलोकभयं चैहिकेन दुःखेनान्तरितम्। अविषह्यं हि योषितामनङ्गशरनिषङ्गीभूतचेतसामनिष्टजनसंवास-यन्त्रणादुःखम्। अतोऽमुनापुरुषेण ममाद्योद्याने माधवीगृहे समागमय। —दशकुमारचरित, पृ० २६९-७१।

तत्त्व है । अद्भुत एवं शृंगार इन दोनों रसों की व्यञ्जना में कविकल्पना नित्य नूतन चित्रों की सृष्टि करने में सर्वथा क्षम है । नादसौन्दर्य और सुकुमारवर्णविन्यास के द्वारा दण्डी की रसमयी रुचिर रचनाओं के सम्बन्ध में 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' ऐसी उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है । पञ्चम एवं सप्तम उच्छ्वास के आदि में—विभावों का सुन्दरवर्णन, वसन्त वर्णन,[१] कन्दुकावती की भाव-भंगिमाओं (षष्ठ उच्छ्वास), कनकलेखा की आंगिक चेष्टाओं (सप्तम उच्छ्वास) में अनुभावों की मनोरम झाँकी विशेषरूप से चित्त को आह्लादित करती है । अस्तु स्पष्ट है कि रस एवं भावों की रमणीय अभिव्यक्ति दशकुमारचरित में हुई है । रस ही काव्य की आत्मा है । उसके अभाव में काव्य का स्वरूप निस्सार प्रतीत होता है । प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख है कि 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' । आनन्दवर्धनाचार्य ने भी सभी काव्यों के विषय में लिखा है—'कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः ।

अभिनवगुप्त ने भी अपना रसविषयक मत इस प्रकार प्रकट किया है—'स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव, न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति', 'रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तेन रस वस्तुतः आत्मा... ।'

---

१. द्रष्टव्य-दशकुमारचरित, पृ० ४६९-४७० ।

सप्तम अध्याय

वस्तु-वर्णन

कवि का हृदय न केवल विविध भावों का असाधारण सङ्गम होता है अपितु उसका हृदय अत्यन्त व्यापक होता है, सहृदयों की मनःप्रीति का मूल स्रोत एवं उनमें मृदु भावों का सञ्चार का केन्द्र भी होता है। जितना ही व्यापक उसका हृदय होता है तदनुरूप उसके काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण हुआ करता है। काव्य जगत् के अत्यन्त गूढ़ विषयों की सरल एवं समुचित अभिव्यक्ति में, विविध मौलिक सत्यों के प्रतिपादन एवं प्राकृतिक उपकरणों के यथार्थ चित्रण में, काल्पनिक उपादानों को भी मूर्त रूप प्रदान करने की विलक्षण शक्ति में, प्रकृति के रम्य तथा मनोरम, जड़ अथवा चेतन पदार्थों के मानवीकरण में, मानव जीवन की अत्यन्त नगण्य एवं कुत्सित भी वस्तुओं को अपनी तीव्र निरीक्षणा शक्ति के मंजुल विरुद के आधार पर चित्ताकर्षक रूप प्रदान कर रमणीयार्थ की प्रतीति कराने में उसकी कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

समस्त चराचर जगत् कवि की निर्मिति का विषय होता है। 'न ऐसा कोई शब्द है न अर्थ, न शिल्प, न क्रिया जो काव्य का अंग न हो, कवि का भार [उत्तरदायित्व] महान् होता है।'[१] कवि की भावना से अनुप्राणित सभी पदार्थ कवि की कृति में पूर्णरूपेण परिपोष पाते हैं। 'रम्य अथवा घृणित, उदार अथवा नीच, उग्र या प्रसन्न, गम्भीर या विकृत, किसी भी प्रकार की ऐसी कोई वस्तु जगत् में नहीं है जो कवि की भावना से भावित होने पर वह रस तथा भाव की उत्तम कोटि तक न पहुँच सके।'[२]

---

१. न स शब्दो न तद्वाक्यं न तच्छिल्पं न साक्रिया।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥—भामह-काव्यालंकार ५।४

२. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापिनीच,
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं,

कपि लोकोत्तरवर्णना निपुण होता है । उसकी कृति किसी न किसी युग का प्रतिनिधित्व करती है । यदि कवि की कृति कल्पनाशक्ति एवं प्रतिभा के मणि-काञ्चनसंयोग से भूषित हुई तो उसकी कृति निश्चय ही न केवल सहृदयों की मनः प्रीति का विषय होती है, न केवल यशो-लाभ, अर्थ और व्यवहार-ज्ञान तथा अमङ्गल के विनाश और अलौकिक आनन्दोपलब्धि आदि के लिए ही होती है अपितु पाषाणतुल्य नीरस जगत् की रसमयता सरस्वती के परम तत्त्व का आधार होती है ।

विद्वानों की 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' उक्ति के अनुसार किसी भी कार्य में जिज्ञासुओं की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं हुआ करती । काव्य एवं नाटकादि के अध्ययन एवं दर्शन से उत्पन्न होने वाला अलौकिक आनन्द ही सहृदयों की मनःप्रीति का विषय होता है और वही काव्य का परम प्रयोजन भी हो सकता है । चूँकि साहित्य, संगीत और कला से विहीन मानव पुच्छ और विषाण-विहीन साक्षात् पशु होता है, अतएव मानव हृदय पशु की कोटि से परे होकर विविध भावों का आश्रय होता है । उसके हृदय में वासना रूप से विद्यमान रति, हास, शोक आदि सभी भाव अनुकूल सामग्री अथवा वातावरण के उपस्थित होते ही जागृत होते हैं । उस स्थिति में पाठक की मनोवृत्तियाँ कवि के वर्णनीय विषय से तन्मय हो जाती हैं और कवि-हृदय के साथ उसके हृदय का संवाद होने लगता है । जिस अर्थ के साथ हृदय का संवाद होता है उसकी भावना ही रसोद्भव है और वह भाव सम्पूर्ण शरीर को, शुष्क काष्ठ को अग्नि के तुल्य आक्रान्त कर लेता है ।[१] मानव हृदय प्रकृति के विविध उपकरणों को ही नहीं अपितु निखिल निसर्ग के जीते-जागते चारुचित्र को तन्मय देखने लगता है । इस दशा में प्रकृति, कभी काव्य अथवा नाटक के पात्र विशेष या कवि के भाव के आलम्बन रूप में कभी उद्दीपन रूप में आदर्शगत होती है । इत्थंभूत प्रकृति के विविध उपादानों—प्रातः, सन्ध्या, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, सरित्, सरोवर, वन, उपवन, सागर, निर्झर एवं पर्वत आदि का, काव्य में रमणीयार्थ की अभिव्यक्ति के लिये कवि यथावसर वर्णन किया करता है ।

तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥—दशरूपक, ४८५ ।

१. योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥
—आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत, पृ०

कवि का उत्तरदायित्व अपनी कृति की लोकप्रियता तथा सर्वविध सफलता में निहित होता है जिसका मूल उसका संवेदनशील एवं भावपूर्ण हृदय होता है। प्राकृतिक उपकरणों के भावात्मक अवलोकन में उसकी दृष्टि उत्तरदायी होती है। रम्या रजनी के अंक में प्रोद्भासित होने वाले, शरत्कालीन चारुचन्द्रिका- चर्चित निर्मल सरित् के सैकत-पुलिनों में, सघन उपवन की विटपावलियों के कोमल किसलय पुंजों पर अपनी स्वर्णिम रश्मियों को विकीर्ण करने वाले बालपतंग के दिव्यालोक में, लता निकुंजो से परिपूर्ण रम्योद्यान को दिवस के अवसान में अभिनव स्वरूप प्रदान करने वाले सहज रक्तिम रश्मियों की रक्तिमा या लालिमा से ओत-प्रोत पूर्ण चन्द्र के अमल परिहास में, निशीथ की निस्तब्ध नीरवता में पर्वत की तलहटियों में प्रवाहित होने वाले निर्झरों के कल-कल निनाद में, क्रीड़ा पर्वत पर चूड़ियों की झनकार से मत्त मयूरों के मनोरम नृत्य में, क्रौंच-निनाद से वनस्थली की शस्यराशि के अचानक कम्पन में, मनोरम सुमन समूहों की शाश्वत पंक्तियों के पूर्ण विकास में, मधु-लोभी मिलिन्दों के मधुमय गुञ्जन में, विश्वाभिराम अभिनव मेघमण्डल के मध्य में दीप्त दामिनी की मंजुल रेखा अथवा उसके चकाचौंध में, ऋतुओं के आगमन तथा सौंदर्य-सम्पत्ति से उल्लसित उसकी तरुणाई में, गगनचुम्बी हिमशृंगों और हृदय को कुरेदने वाली आम्रमंजरियों के स्वाद से कषायित प्रातःकालीन कलकण्ठों के कमनीय कलरव में कवि अथवा मानवमात्र की सहज रागात्मिका वृत्ति रमती है और उसके अनुपम सौंदर्य से आकृष्ट हृदय का उनके साथ स्वतः संवाद होने लगता है। प्रकृति की रमणीयता के इस प्रकार भावात्मक निरीक्षण में कवि का हृदय सर्वात्मना रम जाता है और उन प्राकृतिक उपादानों को मूर्त रूप प्रदान कर उनकी दिव्य झाँकी प्रस्तुत करने के लिए कवि बाध्य हो जाता है। अन्त में एक सफल कवि या कलाकार उन रमणीय उपकरणों का अपनी कृति में यथार्थ चित्रण करके ही विश्राम लेता है। इस प्रकार कवि उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और वक्रोक्ति आदि अलंकारों के आधार पर प्रस्तुत [यथार्थ] से हटकर अप्रस्तुत के विधान की भूमिका में आसीन होने पर प्रस्तुत से असम्बद्ध भावों की उद्भावना में उतना सफल नहीं होता जितना कि अप्रस्तुत की योजना की अपेक्षा प्रस्तुत के प्राधान्य में।

महाकाव्यों और नाटकों में वस्तु [प्रकृति] वर्णन का जो स्वरूप हमें दृष्टिगत होता है, बाणभट्ट और सुबन्धु प्रभृति महाकवियों की कृतियों में प्रकृति वर्णन में जिस शैली का आश्रय लिया गया है, दण्डी के दशकुमारचरित में उस शैली का

प्राय: अभाव है । यदि यह कहें कि महाकाव्यों और नाटकों में इतिवृत्त की उत्कृष्टता एवं याथार्थ्य के लिए कवि प्राकृतिक उपकरणों का खूब धूमधाम से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने में स्वतंत्र होता है और कथा-काव्यों अथवा आख्यान मूलक ग्रन्थों में मूल कथा में अवान्तर कथाओं के गुम्फन की ही प्रवृत्ति होने से तथाविध सविस्तर विवेचन आनुषंगिक या गौण हो सकता है, इसलिए इन ग्रन्थों में यदि महाकाव्यों के सदृश उन उपर्युक्त उपादानों के वर्णन का अभाव या गौण रूप से उदासीनतापूर्ण विवेचन उपलब्ध हो तो उससे कवि की कृति में चारुता के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती ।

वस्तुत: स्थिति इससे भिन्न है । बाणभट्ट की कृतियों—कादम्बरी और हर्षचरित जैसे कथाकाव्यों में ही उपवन, सरोवर, संध्या, प्रभात आदि विषयों का सुदीर्घ समस्त पदावली में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है जहाँ पाठक की सहज रागात्मिका वृत्ति रमती है । अतएव यह कहना सम्यक् प्रतीत होता है कि इन गद्य कृतियों में प्राकृतिक-वर्णन की छटा अत्यल्प नहीं है हाँ, इतना अवश्य है कि ऐसे स्थलों में कवि कभी-कभी वैदुष्य प्रदर्शन में पड़कर मूल कथानक से दूर चला जाता है ।

दशकुमारचरित में ऐसी स्थिति प्राय: नहीं है । यहाँ इतना तो अवश्य है कि प्रकृति के तथाविध तत्त्वों का सांगोपांग विस्तृत विवेचन गौण अवश्य है किन्तु इन स्थलों के यथावसर समुचित संकेत में कवि उदासीन नहीं प्रतीत होता । यहाँ एक कथा की पूर्णता व उसकी चारुता की अभिवृद्धि में अवान्तर कई कथाओं या वृत्तान्तों के गुम्फन की प्रवृत्ति होने से तथा, वर्ण्य विषय पर निरन्तर आबद्धदृष्टि होने के कारण कवि के वैदुष्य एवं कलात्मक वर्णनशक्ति के प्रदर्शन में प्रधान इतिवृत्त उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता । प्राकृतिक उपकरणों के भावात्मक पर्यवेक्षण में कवि दण्डी जहाँ अपनी स्वाभाविक रागात्मिका वृत्ति का परिचय देना चाहते हैं वहाँ इन स्थलों—सन्ध्या, प्रभात, रजनी, उद्यान, पर्वत, वसन्तादि का मनोरम चित्र सामने प्रस्तुत करने में चूकते नहीं हैं । उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता की कल्पना नहीं की जा सकती । ऐसे स्थल दण्डी की लेखनी का समाश्रय पाकर हृदय को स्पर्श करने की पूर्ण सामर्थ्य से ओत-प्रोत हैं, उसमें कवि की स्वत: अपनी वृत्तियाँ रमी हुई सी प्रतीत होती हैं ।

दण्डी का दशकुमारचरित आदि से अन्त तक उनकी मौलिक तथा रम्य काल्पनिक उद्भावनाओं से अनुप्राणित हुआ है। यहाँ वस्तुवर्णन के स्वरूप का पर्यवसान संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों की भाँति केवल पाण्डित्य प्रदर्शन में नहीं हुआ है अपितु उस वस्तु-वर्णन के अभिनव स्वरूप के प्रतिपादन के निम्नलिखित हेतु प्रतीत होते हैं—

१- सर्वप्रथम, सभी स्थलों का मर्म प्रायः आडम्बरहीन सरल शब्दों के माध्यम से ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की कवि की भावना,

२- कलात्मक प्रयास का अभाव,

३-लेखक बिना किसी संकोच के अपने पाठकों को अपने जीवन का अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेने के लिये आमंत्रित करता है। उसकी यह आत्मीयता जितनी सच्ची और सघन होगी उसकी कृति पाठकों के चित्त को उतनी ही ऋजुता और तीव्रता से प्रभावित करने में सफल होगी।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ दशकुमारचरित की रचना में दण्डी का उद्देश्य यही रहा है कि यह कृति सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य हो सके।

आख्यानग्रन्थ होने के कारण दशकुमारचरित में कोरे काल्पनिक इतिवृत्त, पौराणिक आख्यान, प्रतीकात्मक काल्पनिक आदि अनेक प्रकार की कहानियों का उपयोग किया गया है। इसलिए वर्णन-प्रधान या वर्णनात्मक कृतियों में जहाँ प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव-जीवन संबंधी किसी भी घटना का आडम्बरपूर्ण कलात्मक चित्रण हुआ करता है यदि उसके सदृश यहाँ वर्णन न हो तो कृति की लोकप्रियता का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

अस्तु यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि महाकाव्यों में वर्णनात्मक स्थलों में कवि की प्रायः आदर्शोन्मुख दृष्टि रहती है किन्तु कविवर दण्डी ने अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा यथार्थ प्रकृतितत्त्व को एक अभिनव स्वरूप प्रदान किया है। वस्तुओं के यथार्थ चित्रण के साथ ही आदर्शोन्मुखी दृष्टि से सम्बलित दोनों का मञ्जु एवं समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

दशकुमारचरित के वर्णनात्मक सन्दर्भों में पर्वत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि वर्णन बहुत विस्तृत नहीं है तथापि छठें उच्छ्वास मित्रगुप्त चरित में रमणीय पर्वत के यथार्थ चित्रण में कविवर दण्डी की भव्य वर्णनाशक्ति एवं विशद वैदुष्य-वृत्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। कथा-प्रवाह की अप्रतिहत गतिशीलता में एवं

वर्ण्य विषय मूल इतिवृत्त की तत्परता में सर्वात्मना दत्तचित्त होने के कारण दण्डी की लेखनी को इन प्रसंगों का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु जिन-जिन वस्तुओं में कवि की मनोवृत्ति रमी हुई प्रतीत होती है उनका चित्रण पाठकों की मनस्तृप्ति के लिए पर्याप्त है ।

राजा तुंगधन्वा के पुत्र भीमधन्वा की आज्ञा से राजपुरुषों द्वारा लौह-शृंखला -बद्ध दोनों हाथों सहित मित्रगुप्त समुद्र में फेंक दिया जाता है । दैववशात् काष्ठ के किसी टुकड़े की सहायता से समुद्र पार करते समय यवनों ने उसे बन्धन से मुक्त करके उसी लौह-शृंखला से भीमधन्वा को बन्दी बना लिया गया । मुक्त होने पर मित्रगुप्त एक द्वीप में पहुँचकर रमणीय पर्वत की शोभा से मुग्ध हो जाता है और उसका भव्य हृदय उस पर्वत की अनुपम सौंदर्य सम्पत्ति से विह्वल हो उठता है ।

उक्त पर्वत का नितम्ब भाग (मध्यदेश) अत्यन्त रमणीय है । उसकी उपत्यका पर्वतासन्नभूमि पाषाणवती तथा अत्यन्त मनोरम है । उसमें विद्यमान निर्झरों का जल अत्यन्त शीतल है । इन्दीवरों नील कमलों और अरविन्दों के मधुकणों से सुरभित एवं उन कमलों की आभा से विविधवर्णों वाला है । इन निर्झरों का जल अत्यन्त विशुद्ध है ।

प्राय: पर्वत वनस्थली से रिक्त नहीं होते । अत: उनका अलग से वर्णन न कर उनका भी स्वल्प संकेत कवि की लेखनी से अछूता नहीं है । इस पर्वत में विविध वर्ण वाले पुष्पों की मंजरियों से परिपूर्ण तथा अतिरम्या वृक्षावलियों से युक्त रमणीय वनस्थल भी हैं । ऐसी पर्वतीय शोभा का अवलोकन करती हुई मित्रगुप्त की आँखें तृप्त नहीं हुईं । अत: पुन: पुन: उसकी शोभा में आबद्ध दृष्टि वाले इस कुमार ने पर्वत के शिखर प्रदेश तक पहुँचकर किंजल्कों से धूसरित एक दिव्य सरोवर को देखा । उसमें स्नान करके मित्रगुप्त ने सुधा के सदृश मधुमय मृणालखण्डों का आस्वादन किया । तदनन्तर स्कन्ध प्रदेश में जलजविशेष को धारण किये हुए सरोवर के तटवर्ती भीमरूपधारी किसी ब्रह्म राक्षस से एक आर्यावृत्त में वार्तालाप आरम्भ हुआ ।[1]

---

१. 'तत्र चासीन्महाशैल: । सोऽहम्' अहो रमणीयोऽयं पर्वतनितम्बभाग:, कान्ततरेयं गन्धपाषाणवत्युपत्यका, शिशिरमिदमिन्दीवरारविन्दमकरंदविन्दुचन्द्रकोत्तरं गोत्रवारि, रम्योऽयमनेकवर्णकुसुममञ्जरीभरस्तरुवनाभोग: 'इत्यतृप्ततरयादृशा बहुबहु पश्यन्नलक्षिताध्यारूढक्षोणीधरशिखर: शोणीभूतमुत्प्रभाभि: प्रद्मरागसोपानशिलाभि: किमपि नालीकपरागधूसरं सर: समध्यगाम् । स्नातश्च कांश्चिदमृतस्वादून्विसभङ्गानास्वाद्य, असंलग्न

इसके अतिरिक्त हिमालय, कैलास, राजराजगिरि उदयगिरि प्रभृति पर्वतों का यथावसर कवि ने केवल यत्र-तत्र नाम मात्र लिया है, उनका विस्तार के साथ वर्णन कथाप्रवाह की तत्परता में गौण सा प्रतीत होता है।

'हिमवान् पर्वत के एक सरोवर में महर्षि मार्कण्डेय डुबकियाँ लगा कर स्नान कर रहे थे'[1]।

'क्रोधी चण्डवर्मा ने कैलास पर्वत पर तपस्या करते हुये दर्पसार के पास यह समस्त वृत्तान्त कहला भेजा।'[2]

इसी समय उदयाचलेन्द्र के पद्मरागमणि के शिखर सदृश एवं कल्पवृक्ष के स्वर्णपल्लव समूह के समान रक्तवर्ण का सूर्यमण्डल समुद्र से निकल आया।'[3]

अन्तःपुर वर्णन

दशकुमारचरित के प्रायः सभी वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षा अन्तःपुर वर्णन कवि की ललित पदावली से युक्त भाषा के चटुल चपल प्रवाह एवं भावगाम्भीर्य दोनों के मञ्जुल समन्वय के साथ व्युत्पत्ति एवं सूक्ष्मदर्शिता का पूर्ण परिचायक है।

अन्तःपुर का कुछ सामान्य परिचय प्रस्तुत करने के पश्चात् दशकुमारचरित में वर्णित अन्तः पुर का वर्णन प्रस्तुत किया जायेगा।

संस्कृत साहित्य में प्रायः अधिकांश कवियों ने अपनी कृतियों में अन्तःपुर का मनोरम चित्रण किया है। वात्स्यायन के कामसूत्र, भरत के नाट्यशास्त्र, वराह मिहिर की वृहत् संहिता प्रभृति प्रसिद्ध ऐहिकतापरक कृतियों में अन्तःपुर और वहिः प्रकोष्ठ आदि मनोविनोद के साधनों तथा रम्य स्थलों उद्यान, तडाग, बावली आदि

कल्हारस्तीरवर्तिना केनापि भीमरूपेण ब्रह्मराक्षसमेनाभिपत्य' कोऽसि, कुतस्त्योऽसि- एकयार्ययासीत्संलापः। —दशकुमारचरित-षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ४०६,४०७।

१. हैमवते मन्दोदके मग्नोन्मग्नस्य महर्षेर्मार्कण्डेयस्य मस्तके मणिकिरणद्विगुणितपलितमपतत्।—दशकुमारचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० १४३

२. स किल— चण्डवर्मा सर्वमिदमुदन्तजातं राजराजगिरौ तपस्यते दर्पसाराय सन्दिश्य–दशकुमारचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० १३७।

३. तावदेवोदगादुदधेरुदयाचलेन्द्रपद्मरागश्रृङ्गकल्पं कल्पद्रुमहेमपल्लवापीडपाटलं पतङ्गमण्डलम्।—दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० १९८।

का यथार्थ वर्णन उपलब्ध होता है। किन्तु ऐसे स्थलों का कल्पनातीत एवं रम्य चित्रण कल्पनाप्रधान काव्यों और आख्यायिकाओं में ही उपलब्ध होता है।

ईसवी सन् के आस-पास ऐतिहासिक जीवन को आनन्दमय बनाने वाले शांस्त्र लिखे गये। उनमें वात्स्यायन का कामसूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ से यह पूर्ण रूप से विदित होता है कि इसके पूर्व भी इस विषय से मिलता-जुलता बहुत बड़ा साहित्य उपलब्ध था। इस तथ्य का ज्ञान 'कामसूत्र के प्रारम्भिक अंश से ही हो जाता है जिसका विशद विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा।'

संक्षेप में—'प्रजापति के यहाँ प्रजाओं की सृष्टि करने के पश्चात् उनकी स्थिति के लिये धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्गों के साधन के लिये एक लाख अध्याय का कोई ग्रन्थ लिखा था। फिर प्रत्येक वर्ग पर मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नन्दी ने अलग-अलग ग्रन्थ लिखे। नन्दी का ग्रन्थ[१] सहस्त्र अध्यायों का था उसे औद्दालिक श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया औरं उसे भी वाभ्रव्य पांचाल ने और छोटा करके डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया जिसमें सात अधिकरण थे। वात्स्यायन का ग्रन्थ इनका सार है।'

वात्स्यायन द्वारा परिगणित कलाओं का लगभग एक-तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं, बाकी कुछ नायक नाँयिकाओं की विलासक्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनो-विनोद की साधक हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें दैनिक प्रयोजनों का पूरक कहा जा सकता है। अन्त: पुर के अतिरिक्त बहि: प्रकोष्ठ का भी वर्णन यहाँ दृष्टिगत होता है।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' प्राचीन भारतीय सुसंस्कृत लोकरुचि का उत्कृष्टतम ग्रन्थ है। तत्कालीन नृत्य, गीत, वाद्य, छन्द, अलंकार, वेष-भूषा का बहुत ही उत्तम और प्रामाणिक विवरण इसमें आदर्शगत होता है। यह ग्रन्थ एक विशाल विश्वकोष कहा जा सकता है।

'अन्त:पुर राजाओं और रईसों के मनोविनोद का केन्द्र था, सर्वविध सुकुमार कलाओं का सबसे बड़ा आश्रयदाता था।'

'पुरुषों की दुनियाँ उतनी निर्विघ्न नहीं होती थी। प्राय: वास्तविकता के कठोर आघात रोमांस के वातावरण को क्षुब्ध कर जाते थे। युद्ध विग्रह, दंगा-फसाद,

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५

व्यापार-हानि, चोर डाकुओं का उपद्रव, दूर-दूर देशों की यात्रा, लौटने में अनिश्चित विश्वास, ये और ऐसे ही अन्य अनेक उत्पात पुरुषों की बैठक को चंचल बनाते रहते थे। पर अन्त:पुर तक विक्षोभ की लहरियाँ बहुत कम पहुँच पाती थीं। शत्रु और मित्र दोनों ही उन दिनों अन्त: पुर की शान्ति का सम्मान करते थे।'[१]

'कामसूत्र'से यह भी पता चलता है कि घर के दो भाग होते थे। बाहरी प्रकोष्ठ पुरुषों के लिये और भीतरी प्रकोष्ठ अन्त:पुर की स्त्रियों के लिये।

भवभूति के 'मालती माधव', कालिदास के 'रघुवंश' और 'मेघदूत', शूद्रक के 'मृच्छकटिक', रामायण बालकाण्ड, ५ वाँ सर्ग, हर्ष की 'रत्नावली' अश्वघोष के 'बुद्धचरित', सुबन्धु की 'वासवदत्ता' श्री हर्ष के 'नैषधीयचरित', बाणभट्ट की 'कादम्बरी' दण्डी के 'दशकुमारचरित' प्रभृति प्रबन्धों में किसी न किसी रूप में अन्त:पुर अथवा उसके किसी विशिष्ट अंग का वर्णन अवश्य हुआ है।

संस्कृत के काव्यों में जिन अन्त:पुरों का वर्णन मिलता है वे साधारणत: बड़े-बड़े राजकुलों के या अत्यधिक सम्भ्रान्त लोगों के होते हैं इसीलिये संस्कृत का कवि इनका वर्णन बड़े ठाट-बाट से करता है। अन्त:पुर के भीतरी भाग की बनावट कैसी होती होगी इसका अनुमान भी हम काव्यों-नाटकों आदि से कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य के प्राय: सभी भव्य वर्णनों में अन्त:पुर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन उक्त ग्रन्थों से पता चलता है कि अन्त:पुर विविध प्रकार की रम्य वस्तुओं से अलंकृत रहा करता था। उद्यान, सरोवर, भित्ति-चित्र, हाथी दाँत से जटित शयन शैया, वीणा, विनोद के साथी पक्षी, कल्पवल्ली, कुमारी और वधू, लेखन सामग्री, मणिदीप, प्रस्तर लेख, भवन दीर्घिका, वृक्षवाटिका और क्रीड़ापर्वत, दोला [झूला] आदि से अन्त: पुर युक्त होता था।

वराहमिहिर की वृहत्-संहिता से पता चलता है कि राजप्रासाद नगरी के प्रधान राजपथों के दोनों ओर हुआ करते थे। अन्त:पुरिकाएँ ऊपरी तल्ले में रहा करती थीं क्योंकि ऊपरी हिस्सों में निर्मित गवाक्ष-मार्गो से किसी विशेष उत्सव आदि को देखने में उन्हें सौविध्य की अनुभूति होती थी। राजपथ की ओर गवाक्षों का होना आवश्यक समझा जाता था।

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद— हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५

'मालतीमाधव' में मालती द्वारा माधव को रथ-मार्ग पर देखने का वर्णन हुआ है। देखने वाला वातायन 'तुंग' होता था। अन्तः पुर की वधुएँ बाहर की ओर देख सकें तथा बाहर के लोग उन्हें न देख सकें ऐसी व्यवस्था रहती थी।

'मृच्छकटिक' तथा 'दशकुमारचरित' इन दोनों ही संस्कृत कृतियों में क्रमशः शर्विलक नामक चोर और कर्णी सुत-विहित पथ का अनुसरण करने वाले अपहारवर्मा का अन्तःपुर में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है। चारुदत्त के गृह में शर्विलक ने प्रवेश करने के पश्चात् साश्चर्य देखा कि रसिक नागरिक के गृह में कहीं मृदंग, कहीं दर्दुर, कहीं पणव, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। इन विविध प्रसाधनों से सुसज्जित गृह को देख कर शर्विलक के मन में किसी नाट्याचार्य के गृह की उद्भावना हुई, क्योंकि इन वस्तुओं की उपस्थिति एक ही साथ केवल दो स्थानों पर हो सकती थी- धनी नागरिक के बहिः प्रकोष्ठ में या उस नाट्याचार्य के गृह में जिसके लिए कला ही उसकी आजीविका बन चुकी हो। चोर को उक्त वस्तुओं के अवलोकन से गृह की वास्तविक स्थिति का परिज्ञान हो गया था कि वह धनी नागरिक का ही गृह था, नाट्याचार्य का भी तो हो ही सकता था।

'दशकुमारचरित' में कविवर दण्डी की भव्य वर्णनाशक्ति एवं तीव्रनिरीक्षण शक्ति का परिचायक अन्तःपुर का वर्णन इस रूप में प्रस्तुत किया गया है:—

सर्वप्रथम द्वितीय उच्छ्वास के अपहारवर्मा के चरित में राजकुमारी अम्बालिका का अन्तःपुर वर्णन इतना रसमय, सजीव और प्रभावोत्पादक है कि कर्णीसुत के द्वारा प्रतिपादित चौर्यवृत्ति का अनुसरण कर सर्वस्व चुरा लेने की इच्छावाला अपहारवर्मा अन्तःपुर की अति लोभनीय शोभा तथा अम्बालिका के पुण्यदर्शन से कृतकृत्य हो जाता है, अनंगराग से विह्वल उसके हृदय से चोरी की कामना समूल विनष्ट हो जाती है, उसका दूसरे के चित्त को चुराने वाला हृदय स्वतः किं कर्तव्यविमूढ़ होकर अनायास परवशता के तीव्र अंकुश से आक्रान्त हो जाता है, और धैर्य धारण कर वहीं आसीन हुआ अपहारवर्मा विचार विमर्श करने लगता है—कि 'यदि मैं यहाँ अन्तःपुर में शयन करती हुई सुनयना राजकुमारी अम्बालिका को न पा सका तो काम देव के वशीभूत हुआ मैं विनष्ट हो जाऊँगा। यदि मैं विना संकेत किये हुये इसका स्पर्श करूँ तो यह आर्त- स्वर में चिल्ला उठेगी और इस प्रकार मेरे मनोरथ ही विफल हो जायेंगे, मनोरथ के निष्फल होने पर मैं भी जीवित न रहूँगा।'[१] ऐसा

---

१. दृष्ट्वैव— अनङ्गरागश्चकितश्चोरयितव्यनिस्पृहस्तयैव तावच्चोर्यमाणहृदयः किं-

विचार कर उसने जिस विधि से अपने मनोरथ की सिद्धि में आगे कार्य में प्रवृत्त हुआ उसकी धैर्यवृत्ति और एक सुसंस्कृत शालीनता अभिव्यक्त होती है। सामाजिक मर्यादा तथा अन्तःपुर के सम्मान की मृदु भावना से ओत-प्रोत दण्डी की हृदय कली तथा बुद्धि के अतुल वैभव का अखिल साम्राज्य यहाँ स्वतः प्रस्फुटित हो जाता है।

अन्तःपुर में निःशंक शयन करती हुई राजकुमारी अम्बालिका को जगाना अनुचित समझ कर वहीं भीतर खूँटी पर टँगी हुई रंगीन चिकनी लाह से परिमार्जित एक काष्ठ को उतार लिया और जड़ाऊ कलमदान से कलम को निकाल कर उसी पट्टी पर उस राजपुत्री का ज्यों का त्यों चित्र खींचा और अपने को उसके पैरों के नीचे हाथ जोड़े हुये खींच दिया और साथ ही एक आर्यावृत्त भी लिख दिया,' यह सेवक अपहारवर्मा कृतांजलि होकर, आप से इसी निमित्त प्रार्थना करता है कि, सुरत के खेद से खिन्न होकर के मेरे पास शयन करें और विना सुरत के शयन न करें।'[१]

तत्पश्चात् सुवर्ण की पेटी से सुवासित पान और कर्पूर के चूर्ण को तथा कत्थे को खाकर महावर के रस के समान उस पान की पीक (थूंक) को चूने की दीवाल पर ऐसा थूंक कर रच दिया कि वहाँ चित्रगत चक्रवाक दम्पती प्रतीत होने लगे। इसके बाद अंगूठियों का आदान-प्रदान कर उस महल से अपहार वर्मा निकल कर चला गया।

इस प्रकार का कन्यान्तःपुर अपहार वर्मा के विविध भावों का आलम्बन है।

'नैषधीयचरित' में दमयन्ती के अन्तःपुर का जो वर्णन हुआ है वहाँ भी अन्तःपुर राजा नल के हर्ष—विषाद भावों का आलम्बन है। प्रथम बार आकृष्ट होकर नल कहे बिना विश्राम नहीं लेते हैं—'अहो, यह वह पुरी है जिसकी वीथियाँ दमयन्ती के मृदु चरणों के स्पर्श से कृतार्थ हुई हैं। इस प्रकार उत्कण्ठा से विकल राजा ने

कर्तव्यतामूढ़ः क्षणमतिष्ठम्। अतर्कयञ्च 'न चेदिमां मामलोचनामाप्नुयां न मृष्यति मां जीवितुं वसन्तबन्धुः। असंकेतितपरामृष्टा चेयमतिबाला व्यक्तमार्तस्वरेण निहन्यान्मे मनोरथम्। ततोऽहमेवाहन्येय। तदियमत्र प्रतिपत्तिः।'—दशकुमारचरित-दण्डी, द्वि० उ०, पृ० २४१।

१. त्वामयमाबद्धाञ्जलि दासजनस्तमिमर्थमर्थयते।
स्वपिहि मयासह सुरतव्यतिकरखिन्नैव मा मैवम्॥ —वही, पृ० २४२।

क्षण भर उस नगरी को सस्पृह देख कर देवों द्वारा अपने को खण्डित समझ कर एक लम्बा निःश्वास लिया।'[१]

यहाँ दशकुमारचरित में श्रृगालिका द्वारा बताये गये मार्ग से अन्तःपुर में अपहारवर्मा प्रविष्ट हुआ और कुछ चुरा कर वापस आने की कामना थी प्रविष्ट होकर उसने जिस कन्यान्तःपुर को देखा उसका वर्णन दण्डी की लेखनी को अमरता प्रदान कर सका। राजपुत्री अम्बालिका के इस अन्तःपुर वर्णन में उपमा, रूपक और ललित तथा कल्पनातीत उत्प्रेक्षाओं की योजना की गई है। जब तक संस्कृत के विद्वानों में सहृदयता बनी रहेगी तब तक इस प्रकार के यथार्थ और मनोरम चित्र के सौरभ से उनका हृदय आप्यायित होता रहेगा। वर्णन इस प्रकार है—

उसके (श्रृगालिका) द्वारा बताये हुये प्रदेश से कन्यान्तःपुर में पहुँचकर अपहारवर्मा ने देखा कि रत्नदीप प्रकाशित हो रहा है। अनेक प्रकार केलियों द्वारा उत्पन्न परिश्रम से शयन करते हुए परिजनों के बीच में बहुमूल्य रत्न हीरकादि से जटित सिंह के आकार वाले, हाँथी दाँत के पैरों वाले, हंस के समान श्वेत आस्तरण चाँदनी तकिया तोषक आदि से शोभित पुष्पों के किसलयों से परिव्याप्त पलंग के ऊपर दाहिने पैर के ऊपर बायें पैर का पिछला हिस्सा जिसमें थोड़ी मनोहर गुल्फों की टेहुने की सन्धि प्रकटित है। स्वल्प संकुचित एवं परस्पर सटे हुऐ जंघास्तम्भों से युक्त और थोड़े संकुचित कोमल दोनों घुटनों से युक्त, एवं कुछ संकुचित उरुदण्डों से परिव्याप्त तथा नितम्ब भाग के ऊपर एक शिथिल लता रूपी हस्त देखने में बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा है। पर्यङ्क के शिरोभाग में संकुचित करके धरा हुआ लता रूपी हाथ जिसकी हथेली उत्तान है जिसकी शरीर के अधोभाग में चीन देश के बारीक रेशमी वस्त्र अत्यन्त शोभित हैं, जिसका अत्यन्त क्षीण कुक्षि प्रदेश कुछ कम्पित हो रहा है, जिसके गले में सुवर्ण के तारों से गुथी हुई कुछ इधर उधर पड़ी हुई वक्राकार वाली पद्मरागमणि की माला शोभित हो रही है, जिसके कानों का आधा भाग दिखाई दे रहा है ऐसे सुन्दर कानों में जिसने कुण्डल धारण किये हैं, कान के ऊपरी भाग में रत्ननिर्मित कर्णिकाभूषण धारण किया है, जिसकी रश्मिजालों की आभा से विषम रूप से बाँधे गये किंचित् शिथिल भी हो गये हैं ऐसे केशकलापों की शोभा पीत वर्ण की दृष्टिगत हो रही है, प्रभापुंज से श्वेतरक्त ओष्ठविवर को दुर्लक्ष्य बना दिया है, अपने कपोल प्रदेश पर रखे हुए कर किसलयों

---

१. भैमीपदस्पर्शकृतार्थ रम्या-कुलस्ताम्। -सरैः क्षताशः॥ नैषध- ६.५।

से जिसने अपने कर्णावतंस के कृत्य को प्रकट कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कपोल संक्रांत कर किसलय ही कर्णपल्लव थे, जिसका ऊपरी कपोल प्रदेश ही मानो दर्पण हो उसी दर्पण के तल पर प्रतिबिम्बित अनेक वर्णों के चित्रवितान (उल्लोच) ही मानो पत्र हों, उसी के द्वारा उत्पन्न पत्राकार रूप में जो तिलक क्रिया ऐसी जिसने अपने नील कमल के सदृश नेत्र बन्द कर लिये हैं, जिसकी निश्चल भौंहें ध्वजा के सदृश हैं जिसके तिलक का चन्दन श्रमजनित रोमाञ्च से उत्पन्न स्वेदजल से आर्द्र होकर प्रवाहित होने लगता है, मुखचन्द्र के सम्मुख बाललता के समान चूर्णकुन्तल एवं अत्यन्त धवल आस्तरण के ऊपर एक करवट से प्रगाढ़ निद्रा में शयन करती हुई, अत्यन्त विस्फुरण के परिश्रम से निश्चल सी प्रतीत होती हुई, शरत्कालीन मेघ के उत्संग (गोद) में शयन करती हुई विद्युत के समान राजकुमारी को देखा।'[१]

राजकुमारी अम्बालिका के अतिरिक्ति प्रथम उच्छ्वास में अवन्तिसुन्दरी के अन्तःपुर का वर्णन यहाँ से बिलकुल भिन्न है। 'अवन्तिसुन्दरी, अन्तःपुर में शयन करते हुए राजवाहन को रजत-शृंखला से बँधे हुए दोनों पैरों को देख कर चिल्लाने

---

१. 'तदुपदर्शितविभागं चावगाह्य कन्यान्तःपुरं प्रज्वलत्सु मणिप्रदीपेषु नैकक्रीड़ाखेदसुप्तस्य परिजनस्य मध्ये महितमहार्घरत्नप्रसुप्तसिंहाकारदन्तपादे हंसतूलगर्भशय्योपधानशालिनि कुसुमलवच्छुरितपर्यन्ते पर्यङ्कतले दक्षिणपादपार्ष्ण्यधोभागानुवलितेतरचरणाग्रपृष्ठम्, ईषद्विवृतमधुरगुल्फसन्धिपरस्पराश्लिष्टजङ्घाकाण्डम् आकुञ्चितकोमलोभयजानु, किंचिद्वेल्लितोरुदण्डयुगलम्, अधिनितम्बस्रस्तमुक्तैकभुजलताग्रपेशलम्, अपाश्रयान्तनिमिताकुञ्चितेतरभुजलतोत्तानतलकरकिसलयम्, आभुग्नश्रोणिमण्डलम्, अतिश्लिष्टचीनांशुकान्तरीयम्, अनतिवलिततनुतरोदरम्, अतनुतरनिःश्वासारम्भकम्पमानकठोरकुचकुड्मलम्, अतिरश्चीनबन्धुरशिरोधरोद्देशदृश्यमाननिष्टप्ततपनीयसूत्रपर्यस्तपद्मरागरुचकम्, अर्धलक्ष्याधरकर्णपाशनिभृतकुण्डलम्, उपरिपरावृत्तश्रवणपाशरत्नकर्णिकाकिरणमञ्जरीपिञ्जरितविषमव्याविद्धाशिथिलशिखण्डबन्धम्, आत्मप्रभापटलदुर्लक्ष्यपाटलोत्तराधरविवरम्, गण्डस्थलीसंक्रान्तहस्तपल्लवदर्शितकर्णावतंसकृत्यम्, उपरिकपोलादर्शतलनिषक्तचित्रवितानपत्रजातजनितविशेषकक्रियम्, आमीलितलोचनेन्दीवरम्, अविभ्रान्तभ्रूपताकम्, उद्भिद्यमानश्रमजलपुलकभिन्नशिथिलचन्दनतिलकम्, आननेन्दुसम्मुखालकलतं च विश्रब्धप्रसुप्तामतिधवलोत्तरच्छदनिमग्नप्रायैकपार्श्वतया चिरविलसनखेदनिश्चलां शरदम्भोधरोत्सङ्गशायिनीमिव सौदामनीं राजकन्यामपश्यम्।' —दशकुमारचरित-द्वितीय उच्छ्वास, पृ० २३७-२४१।

लगती है। उसकी चीत्कार सुन कर पूरा अन्तःपुर व्याकुल हो उठा। इस प्रकार चारों ओर कोलाहल होने लगा कि जैसे आग लग गई हो अथवा पिशाचों की विशाल सेना ने आक्रमण कर दिया है। सभी भय से काँप रहे थे। सभी परिजनों और पुरजनों की अवस्था शोचनीय थी। कर्तव्य और अकर्त्तव्य का उस समय किसी को ध्यान ही न रह गया। राजकुमारी को कलंक से बचाने के लिये कोई उपाय नहीं समझ में आ रहा था। सभी गला फाड़-फाड़ कर शोर मचा रहे थे, उनके नेत्रों द्वारा प्रवाहित होने वाले आँसुओं की धारा से कपोल प्रदेश भीग गया था।

इस प्रकार कोलाहल अधिक बढ़ जाने पर अन्तर्वंशिकपुरुषों ने, 'क्या बात है?' 'क्यों शोर मच रहा है?' कहते हुए अन्तःपुर में प्रवेश किया और बंधन में बँधे हुए राजकुमार राजवाहन को देख कर किसी में उसे बन्धन से मुक्त करने की शक्ति न रही। अन्त में चण्डवर्मा को सारा वृत्तान्त सुनाया गया।

यह वृत्तान्त सुनते ही चण्डवर्मा क्रोधातुर हो कर अन्तःपुर में पहुँचा और उसने क्रोधाग्नि उगलती हुई लाल-लाल आँखों से समस्त परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया और कहने लगा—क्या यही वह दुष्ट है? जिसके कारण मेरा छोटा भाई मारा गया था? उस बनिये पुष्पोद्भव का मित्र बालचन्द्रिका का पति क्या यही है? जिसको धन पर बड़ा गर्व था? जो अपने को असाधारण कलाकार समझता था क्या यह वही है जिसने परवंचना के अनेक ढंग रचकर मूढ़ परिजनों की दृष्टि में अपने को देवता माना था, कपटी, धर्म का आडम्बर करके जनसाधारण को धोखा देने वाला; गुप्त रीति से पापाचरण करने वाला, स्वभाव का अत्यन्त चपल और अपने को ब्राह्मण कहने वाला, वह दुष्ट यही है?

यह पापिनी, अवन्तिसुन्दरी हम जैसे पुरुषसिंहों का अपमान करने वाली कैसे इस राजवाहन से प्रेम करती है? आज ही तो, कुल को कलंकित करने वाली यह अवन्तिसुन्दरी अपने प्रियतम को शूली पर लटकता हुआ देखेगी 'इस प्रकार धमकी देता हुआ अपनी भीषण भ्रुकुटियों से ललाट को दूषित करता हुआ काल के सदृश वह आगे बढ़ा और लोहे के सदृश बलशाली भुजाओं से राजकुमार का हाथ पकड़ कर झटका देते हुए अपनी ओर खींच लिया।

स्वभाव से ही धीर, सभी पुरुषार्थों की एकस्थ भूमि, सहिष्णुता के अतिरिक्त और कोई अपने बचने का उपाय न देख कर राजवाहन ने हंस की बातों का स्मरण

दिलाते हुये राजकुमारी को दो माह तक धैर्य धारण करने का आश्वासन देकर अपने को शत्रु के हाथ में सौंप दिया।'[१]

अवन्ति सुन्दरी के अन्तःपुर का वर्णन इस प्रकार समाप्त होता है, किंतु जहाँ अम्बालिका के अन्तःपुर वर्णन में कलात्मक विलासिता का पूर्ण विकसित और धवल चित्रण है, उसमें संयम है, शालीनता है, विवेक है और है सुन्दर की सुरक्षा और सामर्थ्य का भी अभाव नहीं; वहीं अवन्तिसुन्दरी के अन्तःपुरवर्णन में न वह शालीनता है न संयम न विवेक है न धैर्य न तो सुप्रतिष्ठित दृष्टि ही प्रतीत होती है और न तो सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा की उदार दृष्टि है न कौलीन्यगर्व।

महाकवि दण्डी ने दोनों ही स्थलों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है रुचिकर विशेषणपदों से लदी हुई, रसमय और सजीव भाषा अबाध एवं अप्रतिहत गति से अन्तःपुर का वर्णन करती हुई न तो थकना जानती है और न ही उससे उदासीन होना जानती है।

---

१. अथ तस्य राजकुमारस्य कमलमूढशशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिवरजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत्। उपलभ्यैव च 'किमेतत्' इत्यतिपरित्रासविह्वला मुक्तकण्ठमाचक्रन्द राजकन्या। येन च तत्सकलमेव कन्यान्तःपुरमग्निपरीतमिव पिशाचोपहतमिव वेपमानमनिरूप्यमाणतदात्वायत्ति विभागमगण्यमानरहस्यरक्षासमयमवनितलविप्रविध्यमानगात्रमाक्रन्दविदीर्यमाणकण्ठमश्रुस्रोतोऽवगुण्ठितकपोलतलमाकुली बभूव। तुमुले चास्मिन् समये नियन्त्रितप्रवेशाः 'किं किम्' इति सहसोपसृत्य विविशुरन्तर्वशिकपुरुषाः। ददृशुश्च तदवस्थं राजकुमारम्। तदनुभावनिरुद्धनिग्रहेच्छास्तु सद्य एव ते तमर्थं चण्डवर्मणे निवेदयाञ्चक्रुः। सोऽपि कोपादागत्यनिर्दहन्निव दहनगर्भया दृशा निशाम्योत्पन्नप्रत्यभिज्ञः 'कथं स एवैष मदनुजमरणनिमित्तभूतायाः पापाया बालचन्द्रिकायाः पत्युरत्यभिनिविष्टवित्तदर्पस्य वैदेशिकवणिक्पुत्रस्य पुष्पोद्भवस्य मित्रं रूपमत्तः कलाभिमानी नैकविधविप्रलम्भोपायपाटवावर्जितमूढपौरजनमिथ्यारोपितवितथदेवतानुभावः कपटधर्मकंचुको निगूढपापशीलश्चपलोब्राह्मणब्रुवः। कथमिवैनमनुरक्ता मादृशेष्वपि पुरुषसिंहेषु सावमाना पापेयमवन्तिसुन्दरी। पश्यतु पतिमद्यैव शूलावतंसितमियमनार्यशीला कुलपांसनी' इति निर्भर्त्सयन्भीषणभ्रुकुटिदूषितललाटः काल इव काललोहदण्डकर्कशेन बाहुदण्डेनावलम्ब्य हस्ताम्बुजे रेखाम्बुजरथाङ्गलाञ्छने राजपुत्रं सरभसमाचकर्ष। स तु स्वभावधीरः सर्वपौरुषातिभूमिः सहिष्णुतैकप्रतिक्रियां दैवीमेव तामापदमवधार्य 'स्मर तस्या हंसगामिनि, हंसकथायाः। सहस्व वासुमासद्वयम्' इति प्राणपरित्यागरागिणीं प्राणसमां समाश्वास्यारिवश्यतामयासीत्। —दशकुमारचरित- प्र० उ०, पृ० १३२-१३६।

तृतीय उच्छ्वास में उपहार वर्मा के चरित में राजकुमारी कल्पसुन्दरी के अन्तःपुर का वर्णन भी सहृदय पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाला है, यह भी रोमांचकारी कलात्मक चित्रण है। राजकुमारी के राजभवन में प्रविष्ट होकर उपहार वर्मा ने देखा कि 'वहाँ माधवी-लतामण्डप के एक भाग में एक गर्भगृह (अभ्यन्तर गृह) है जो अत्यन्त सान्द्र एवं प्रफुल्लित कुरबकवृक्षपंक्तियों की आड़ में ढका हुआ सा है जैसे आवरण से कोई स्थान ढका रहता है। उस गर्भागार के किवाण भूमि तक संलग्न लाल अशोक वृक्षों की लताओं से परिरम्भित एवं अभिनव पुष्पों के मुकुलों से पुलकित (रोमांचित) हैं तथा नवोद्‌गत पल्लवों के समुदाय से रक्तवर्ण के हो रहे हैं, ऐसे गर्भ गृह के किवाणों को खोल कर मैंने (उपहारवर्मा ने) प्रवेश किया।'

उस गर्भगृह में रमणीय तोषक और उपधान से सुसज्जित पुष्प-शय्या पड़ी है। कमलिनी के पत्तों के दोनों में चन्दन, पान, माला आदि रतिक्रीड़ा की वस्तुएँ रखी हुई हैं। हाथी दाँत से निर्मित पंखे भी रखे हुये हैं। सुगन्धित जल से परिपूर्ण जलपात्र कलश रखे हुए हैं ऐसे गर्भगृह में मैने प्रवेश करके क्षणभर विश्राम किया, इत्र आदि सुगन्धियों को सूँघा। इतने में धीर गम्भीर चरणध्वनि सुनाई पड़ी। चरणध्वनि के श्रवण से ही मैं उस गर्भागार से निकला और लाल अशोक के झुण्ड के बगल में अपनी देह रूपी लता को छिपा कर खड़ा हो गया।

वह सुन्दर भौंहों वाली कल्पसुन्दरी धीरे-धीरे उस गर्भागार में शीतलता की अभिलाषा से आई और उस संकेत स्थल में मुझे न देख कर अत्यन्त पीड़ित हुई। उन्मत्तावस्था को प्राप्त राजहंसी के सदृश कण्ठस्वर से सुन्दर अस्फुट वाणी में कहने लगी, हन्त ! मैं निश्चय ही स्पष्ट रीति से प्रतारित हुई, अब जीवित रहने का कोई साधन नहीं दिखाई पड़ता है। हे चित्त ! तू ने इस अकरणीय कृत्य में करणीय कृत्य के समान निश्चय करके मुझे प्रवृत्त कराया और उसके असम्भव होने पर मुझे क्यो संतप्त कर रहे हो। हे भगवन् ! हे पञ्चबाण ! आपका मैने कौन सा अपराध किया है, जो मुझे इस प्रकार संतप्त कर रहे हैं और भस्म नहीं कर रहे हैं।

कल्प सुन्दरी की ऐसी वेदनाओं को श्रवण करने के अनन्तर मैं (उपहारवर्मा) उस गर्भागार से प्रकट हो गया और प्रदीप संपुटक को समुद्घाटित करके उस कल्पसुन्दरी से वार्तालाप करना आरम्भ किया।'[१]

---

१. प्रविश्य चैकपार्श्वेफुल्लपुष्पनिरन्तरकुरण्टपोतपंक्तिभित्तिपरिगतं गर्भगृहम्, अवनि-

दोनों के वार्तालाप की चर्चा यहाँ विस्तारभय से न करके 'अंगना चित्रण' के प्रसंग में की जायगी।

भूमिगृह वर्णन

दशकुमारचरित के चतुर्थ उच्छ्वास में उपलब्ध भूमिगृह के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि प्रचीन समय में शत्रुओं के भय से राजमहलों की स्त्रियाँ और बालिकाएं सुरक्षा व सम्मान के लिये भूतलान्तर्गृह में निवास किया करती थीं। वहाँ उन बालिकाओं का सौंदर्य परपुरुष की दृष्टि के आघात से सुरक्षित रहता था। खान-पान की प्रचुर सामग्री की भी वहाँ समुचित व्यवस्था हुआ करती थी। नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद के प्रसाधनों का भी वहाँ अभाव नहीं था। मण्डपगृह, नृत्यशाला और क्रीडापर्वत आदि प्रमुख स्थानों की वहाँ स्थायी व्यवस्था हुआ करती थी।

प्रस्तुत गद्यांश से उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। राजा सिंहघोष को समाप्त करने की इच्छा से अर्थपाल ने सुरंग का खोदना आरम्भ किया और अन्त में वह एक ऐसे रमणीय स्थल पर पहुँचा जो अनेकों कन्याओं से परिपूर्ण पृथ्वी के सुवर्ण के तुल्य प्रदेश था। वे रमणियाँ देखते ही भय से पीड़ित हो गयीं। वहाँ एक ऐसी रमणी थी जो इन्द्रकला के सदृश अपने लावण्य से पाताल के अन्धकार को दूर करने वाली, साक्षात् मूर्तिमती पृथ्वी के समान, दैत्यों को पराजित करने के लिये उत्पन्न साक्षात् पार्वती के तुल्य, पातालावतीर्ण भगवान् कामदेव की पत्नी के तुल्य, अनेक दुश्चरित्र राजाओं के दर्शन न प्राप्त करूँ, इसी से मानों पृथ्वी के विवर में प्रविष्ट राजलक्ष्मी की मूर्ति के समान, अग्नि में तपाई हुई सुवर्ण की पुत्तली के समान

पतितारुणाशोकलतामयमभिनवकुसुमकोरकपुलकलाञ्छितं प्रत्यग्रप्रवालपटल- पाटलं कपाटमुद्घाट्य प्राविशम्। तत्रचासीत्स्वास्तीर्णं कुसुमशयनम् सुरतोपकरण-वस्तुगर्भाश्च कमलिनीपलाशसम्पुटाः दन्तमयस्तालवृन्तः, सुरभिसलिलभरितश्च भृङ्गारः। समुपविश्य मुहूर्तं विश्रान्तः परिमलमतिशयवन्तमाघ्रासिषम्। अश्रौषं च मन्दमन्दं पदशब्दम्। श्रुत्वैव सङ्केतगृहान्निर्गत्य रक्ताशोकस्कन्ध-पार्श्वव्यवहिताङ्गयष्टिः स्थितोऽस्मि। सा च सुभ्रूः सुषीमकामा शनैरुपेत्य तत्र मामदृष्ट्वा बलवदव्यथिष्ट। व्यसृजच्च मत्तराजहंसीवकण्ठरागवल्गुगद्गदां गिरम्—व्यक्तमस्मि विप्रलब्धा। नास्त्युपायः प्राणितुम्। अयि हृदय, किमिदमकार्यं कार्यवदध्यवसाय तदसम्भवेन किमेवमुत्ताम्यसि। भगवन् पञ्चबाण,कस्तवापराधः कृतो मया यदेवं दहसि, न च भस्मी करोषि' इति। अथाहम् आविर्भूय विवृतदीप- भाजनः भामिनि, ननु बह्वपराद्धं भवत्या—दशकुमारचरित,तृ० उ०, पृ० २८०-२८२।

उज्ज्वलकान्ति वाली थी। उपर्युक्त वेषधारिणी रमणी हमें देखते ही मलयानिल के झकोरों से कम्पित या स्पन्दित होने वाली चन्दनलता की तरह काँपने लगी।[१]

उस नारी मण्डल में से एक वृद्धा ने अर्थपाल से परिचय पूछा। कान्तिमती का पुत्र जान कर वृद्धा के मन में और भी स्नेह की अभिवृद्धि हुई। राजा चण्डसिंह की पुत्री कान्तिमती थी। इस प्रकार वह अर्थपाल का नाना सिद्ध हुआ। राजा चण्डसिंह ने उस कन्या का भार इस वृद्धा को सौंप कर उसे उसकी रक्षा करने का आदेश दिया। 'तदनन्तर कान्तिमती के दुर्वृत्तान्त से बालिकाओं को प्रकाशरूपेण बाहर रखने में मुझे डर लगता है। इसी कारण शत्रुगणों के भय से मेरे द्वारा बनवाया हुआ अत्यन्त विशाल (भूमिगृह) भूतलान्तर्गृह है। उस भूमि गृह के ऊपर एक कृत्रिम पर्वत है, उसे खोद कर उस गृह में प्रवेश करने पर वहाँ विविध प्रकार के मण्डपगृह और नाचघर देखने योग्य मिलेंगे। वहीं पर सपरिवार रह कर आप इस कुमारी का पालन उचित रीति से करें। समस्त भोग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में वहाँ उपस्थित हैं जो सौ वर्ष के अनन्तर भी समाप्त नहीं होंगी ऐसा कह कर राजा ने अपने वासगृह की दो अंगुल की दूरी पर बनी एक दीवाल पर से एक बीता मोटा पत्थर हटा दिया और उसी मार्ग से हमें यहाँ प्रविष्ट करा दिया। इस प्रकार यहाँ निवास करते १२ वर्ष बीत गये। यह कुमारी भी अब युवती हो गई है।...तुम्हारी माता कान्तिमती ने जब यह कुमारी माता के गर्भ में थी, उसी समय आपके साथ विवाह करने के लिए जुए में जीत लिया था। अब इस विषय में जो आप विचार करें वही उचित है।[२]

---

१. गता च सा भूमिस्वर्गकल्पमनल्पकन्यकाजनं कमप्युद्देशम्। अव्यथिष्ट च दृष्ट्वैव स मां नारीजनः। तत्र काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना, विग्रहिणीव देवी विश्वंभरा, हरगृहिणीवासुरविजयायावतीर्णा, पातालमागता गृहिणीव भगवतः कुसुमधन्वनः राजलक्ष्मीरिवानेकदुर्नृपदर्शनपरिहाराय महीविवरं प्रविष्टा, निष्टप्तकनकपुत्रिकेवावदातकान्तिः कन्यकाः चन्दनलतेव मलयमारुतेनमद्दर्शनेनोदकम्पत। —दशकुमारचरित- चतुर्थ उ०, पृ० ३३७-३८।

२. बिभेमि च कान्तिमतीवृत्तान्तादारभ्य कन्यकानां प्रकाशावस्थापनात्। अत इयमरातिव्यसनाय कारिते महतिभूमिगृहे कृत्रिमशैलगर्भोत्कीर्णनानामण्डपप्रेक्षगृहे प्रचुरपरिबर्हया भवत्या संवर्ध्यताम्। अस्त्यत्र भोग्यवस्तु वर्षशतेनाप्यक्षय्यम् 'इति। स तथोक्त्वा निजवासगृहस्य द्व्यङ्गुलभित्तावर्धपादं किष्कुविष्कम्भमुद्धृत्य तेनैव द्वारेण स्थानमिदमस्मानवीविशत्। इह च नो वसन्तीनां द्वादशसमाः समत्ययुः। इयं च वत्सा तरुणीभूता। न चाद्यापि स्मरति राजा। काममियं पितामहेन दर्पसाराय संकल्पिता।

सरोवर वर्णन

प्राचीन समय के किसी भी नगर का वर्णन देखने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बागबगीचों और सरोवरों के प्रति न केवल राजाओं और महापुरुषों का ही अपितु जन सामान्य का भी अनुराग था। महाकाव्यों, कथाओं और आख्यायिकाओं मे वर्णित सरोवरों की सहज शालीनता, उनके तटवर्ती सारस आदि पक्षियों की क्रेंकार-ध्वनि, कोकिल-कूज, सुरभित पुष्पों की परम रमणीय पंक्तियों में जल जन्तुओं के विहार, मधु लोभी भ्रमर समूह का कर्ण प्रिय गुञ्जन आदि से स्वतः अभिव्यक्त होती है जो कि किसी भी रसिक सहृदय की दृष्टि से ओझल नहीं है। बाणभट्ट विरचित 'कादम्बरी' का रम्य पम्पा सरोवर वर्णन सहृदयों के चित्त-चंचरीक को अपनी रमणीयता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की लहरियों से अद्यावधि मुग्ध किये हुये है।

पुनः 'उज्जयिनी के हर बाजार में, वापियाँ, कुएँ, मनोहर सरोवर आदि जलाशय थे जिनमें अनेक प्रकार के जलजन्तु बिहार कर रहे थे और लाल, नीले तथा श्वेत कमल खिल कर शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकार के हंस क्रीडा कर रहे थे। भवन दीर्घिकाओं के जल की सहायता से फव्वारे बने हुए थे। कहीं मदमत्तमयूर नाच रहे थे तो कहीं मद्विह्वला कोकिला कूक रही थी। गृहवाटिकाओं के पुष्पस्तवकों पर भ्रमरगण गुंजार कर रहे थे, सदाचारिणी कुलवधुएँ कहीं किनारे बैठ कर कहीं नीचे से और कहीं निकटवर्ती महलों के छज्जों से इस शोभा का आनन्द उठा रही थीं।'[१]

'दशकुमारचरित' में भी यत्र तत्र कतिपय स्थलों पर सरोवर वर्णन को अवसर मिला है। सप्तम उच्छ्वास में एक स्थान पर तालाब का संक्षिप्त वर्णन है।

'आन्ध्र देश के समीप में ही थोड़ी दूरी पर समुद्र के समान, कलहंसों के द्वारा विदलित कमलपत्रों के समुदायों से निःसृत किंजल्कों के टुकणों से चित्रित अनेक रंगवाला सारस पक्षियों की पंक्तियों को शिरोभूषण बनाये हुए एक तालाब पर मैं मन्त्रगुप्त पहुँचा और वहीं पर स्थित उद्यान में एक कुटी का निर्माण कर उसी

त्वदम्बया कान्तिमत्या चेयं गर्भस्थैव द्यूतजिता स्वमात्रा तवैव जायात्वेन समकल्प्यत। 'तदत्र प्राप्तरूपं चिन्त्यतां कुमारेणैव'। इति।—दशकुमारचरित-चतुर्थ उ०, पृ० ३४१-३४२।

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद-पृ० ४४।

में निवास करने लगा।...यह यती जो जीर्ण वन भूमि में सरोवर के किनारे कुशासन पर बैठा रहता है उसकी जिह्वापर उपनिषद् सहित वेद तथा शिक्षा, कल्प आदि नाचा करते हैं। जिस किसी को शास्त्र का ज्ञान न हो वह उस यती से ज्ञान अर्थ सहित प्राप्त करे।'[१]

'ऋषियों की शक्ति देखिये। इन्द्रियों से अजेय उस तपस्वी के पवित्र संस्कार द्वारा उस तालाब में, मैंने कमलदलतुल्य क्या, उससे भी अधिक दर्शनीय देह प्राप्त की जिस तालाब में कमलों के समीप रहने वाले प्रमुदित भौंरे कमलों की शोभा बढ़ा रहे हैं।'[२]

षष्ठ उच्छ्वास में भी सरोवर का वर्णन इस प्रकार है—

'अत: अपनी अतृप्ततर आँखों से मै बार-बार उसी पर्वतीय शोभा को देखता हुआ अविदित पर्वत के शिखर भाग पर चढ़ कर वहाँ पद्मरागमणि की शिलाओं की उत्कृष्ट प्रभा से रक्तीभूत तथा खिले हुए कमलों के पराग से धूसरित एक सरोवर के तट पर मैं पहुँचा। उसमें स्नान करके मैंने अमृत के सदृश मधुर मृणालखण्डों का आस्वादन किया। कन्धे पर कमल विशेष को धारण करने वाले, सरोवरतीरवर्ती भीमरूपधारी एक ब्रह्मराक्षस ने आकर मुझसे कहा—' तुम कौन हो, कहाँ से आये हो ? इस प्रकार उसने मुझे भयान्वित करते हुए पूछा। मैंने नि:शंक होकर उत्तर दिया— 'हे भद्र मैं ब्राह्मण हूँ...स्वेच्छा से मैंने इस सरोवर पर विश्रान्ति ली है।'[३]

---

१. 'तस्य नात्यासन्ने सलिलराशिसदृशस्य कलहंसगणदलितनलिनदलसंहतिगलित-किञ्जल्कशकलशारस्य सारसश्रेणिशेखरस्य सरसस्तीरकानने कृतनिकेतनः स्थितः शिष्यजनकथितचित्रचेष्टाकृष्टसकलनागरजनाभिसंधानदक्षः सन्दिशिदिशीत्यकीर्त्ये जनेन—'य एष जरदरण्यस्थलीसरस्तीरे स्थण्डिलशायी यतिस्तस्य किल सकलानि सरहस्यानि सषडङ्गानि च छन्दांसि रसनाग्रे सन्निहितानि अन्यानि च शास्त्राणि येन यानि न ज्ञायन्ते स तेषां तत्सकाशादर्थनिर्णयं करिष्यति।'—दशकुमारचरित-पृ० ४७४-७५।

२. 'दृश्यतां शक्तिरार्षी, यत्तस्य यतेरजेयस्येन्द्रियाणां संस्कारेण नीरजसा नीरजसान्निध्यशालिनि सहर्षालिनि सरसि सरसिजदलसन्निकाशच्छायस्याधिकतर-दर्शनीयस्याकारान्तरस्य सिद्धिरासीत्।'—दशकुमारचरित, पृ० ४९१।

३. इत्यतृप्ततरया दृशा बहुबहु पश्यन्नलक्षिताध्यारूढक्षोणीधरशिखरः शोणीभूतमुत्प्रभाभिः पद्मरागसोपानशिलाभिः किमपि नालीकपरागधूसरं सरः समध्यगाम्। स्नातश्च कांश्चिदमृतस्वादून्बिसभङ्गानास्वाद्य, अंसलग्नकह्लारस्तीरवर्तिना केनापि भीमरूपेण ब्रह्मराक्षसेनाभिपत्य 'कोऽसि,कुतस्त्योऽसि' इति निर्भर्त्सयताभ्यधीये। निर्भयेन च मया

उत्सव वर्णन

भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों में विश्वास, आशा और उत्साह का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रासंगिक चर्चा यहाँ विनोद की है । प्राचीन परम्परा इस तथ्य का पूर्ण प्रतीक है कि मानव-समाज सर्वदा से विनोदप्रिय है । राजा कवि-सभाओं का नियमित आयोजन करते थे । प्राय: सभी अवसरों पर काव्यालाप आदि से विनोद होते थे । वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओं ने इस विशाल परम्परा को चलाया था और प्राय: सभी प्रसिद्ध राजाओं ने इस परम्परा का पोषण किया है । भाषागत माधुर्य और काव्य की मर्यादा के संरक्षण में ही राजाओं के कठोर नियमों की इति-श्री होती थी ।

'सुना जाता है मगध में राजा शिशुनाग ने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्त: पुर में ट, ठ, ड, ढ, ऋ, ष, स, ह इन आठ वर्णों का कोई उच्चारण न करे, शूरसेन के राजा कुटिन्द ने भी कटु संयुक्त अक्षरों के उच्चारण का प्रतिषेघ कर दिया था । कुन्तल देश के राजा सातवाहन की आज्ञा थी कि उसके अन्त: पुर में केवल प्राकृत भाषा बोली जाए । उज्जयिनी में राजा साहसांक की आज्ञा थी कि उनके अन्त:पुर में केवल संस्कृत बोली जाय । कवियों का नाना भाव से सम्मान होता था ।'[१] संक्षेप में इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में राज-सभाओं में काव्यालाप का बहुत सम्मान था । विनोद के अन्य भी साधन थे । उद्यान-यात्रायें होती थीं । उत्सव मनाये जाते थे । जलक्रीडाएँ, कन्दुकक्रीडाएँ, मल्ल युद्ध, द्यूत क्रीडा, मृगया विनोद, वीणावादन होते थे । इस प्रकार मानसिक और बौद्धिक विकास का प्राधान्य था ।

पक्षियों और मानव के बीच प्रेम का नाता प्रधान था । अगर ऐसा न होता तो 'तपोनिरता पर्वतकन्या जब कड़ाके की सर्दी में जलवास करती होतीं तो दूर से एक दूसरे को पुकारने वाले चक्रवाक-दम्पति के प्रति अहैतुक कृपावती न हो जाती ।'[२]

सोऽभ्यधीयत- सौम्य, सोऽहमस्मि द्विजन्मा_यदृच्छयास्मिन्सरसि विश्रान्त:, भद्रं तव 'इति' ।—दशकुमारचरित, षष्ठ उ० पृ० ४०६-४०८ ।

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद-पृ० ११७ ।

२. कुमारसंभव ५.२६ कालिदास ।

'धान से लहराते हुये मृगांगनाओं से अध्युषित और क्रौंचपक्षी के मनोहर निनाद से मुखरित सीमान्तकेका के साथ मनुष्य के चित्त को इतना चञ्चल न कर सकते ।'[१]

'और न, ऐसी नदियाँ, जिनकी काञ्ची क्रौंचों की श्रेणी है, जिनका कलस्वन कलहंसों का निनाद है, जिनकी साड़ी जलधारा है, जिसके कर्णाभरण तीरद्रुम के पुष्प हैं, जिनका श्रोणीमण्डल जलस्थल का संगम है, जिनके उरस्थ उन्नत पुलिन हैं, जिनकी मुसकान हंस-श्रेणी है ऐसी नदियों के तट पर ही देवता रमण कर सकते हैं— यह बात ही मानव के मन में आ पाती ।'[२]

प्राचीन काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओं, कथाओं और भाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय, ऋतु सम्बन्धी उत्सवों को यथावसर मनाया करते थे जिनमें वसन्तोत्सव और कौमुदी महोत्सव विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं । पहला वसन्त ऋतु का और दूसरा शरद् ऋतु का उत्सव है । संस्कृत के प्राय: सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में इन उत्सवों के वर्णन में अपनी लेखनी अवश्य उठायी है ।

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में वसन्त का और उसके उत्सव का वर्णन अवश्य किया है । 'मेघदूत' उनका वर्षा ऋतु का काव्य कहा जा सकता है पर यक्ष-प्रिया के उद्यान का वर्णन वसन्तोत्सव से सूना नहीं है । प्रिया के चरणों के आघात के फूट उठने वाले अशोक और मुख की मदिरा से अभिसिंचित और विकसित होने वाले वकुल के बहाने वसन्तोत्सव कवि के स्मृति-पथ का अतिथि अवश्य बन जाता है । वात्स्यायन के कामसूत्र में यक्षरात्रि, कौमुदीजागर और सुवसन्तक इन ३ उत्सवों का उल्लेख है । कहीं कहीं लोगों ने सुवसन्तक का अर्थ

---

१. ऋतुसंहार ३ कालिदास ।

२. क्रौंचकाञ्चीकलायाश्च कलहंसकलस्वनाः ।
नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः ॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः संगमश्रोणिमण्डलः ।
पुलिनाभ्युन्नतोरस्याः हंसहासाश्चनिम्नना: ॥
वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सुच ।
—बृहत्संहिता-वराह मिहिर ५६-६६ प्राचीन भा० के क० वि० के पृ० ४८ पर उद्धृत ।

मदनोत्सव बताया है जिसका अत्यन्त सजीव और मनोरम चित्रण हर्ष की 'रत्नावली' में हुआ है ।

दोपहर के पश्चात् सारा नगर मदनोत्सव के अवसर पर पुरवासियों की करतल ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंग के मंजु घोष से मुखरित हो उठता था, नगरवासी मद-मत्त हो जाते थे । नगर की युवती स्त्रियाँ मधु पान से विह्वल होकर पुरुषों पर पिचकारी से जल की बौछार करने लगती थीं । ढेर का ढेर सुगंधित अबीर सभी दिशाओं में उड़ने से दिशाएँ रंगीन हो उठती थीं । जब नगरवासियों का आमोद अपनी पूर्णता को प्राप्त होता तो नगर के सभी राजपथ केशरमिश्रित अबीर से इस प्रकार भर उठते थे मानो उषा की छाया पड़ रही हो । लोगों के शरीर पर शोभित अलंकार और शिर पर धारण किये हुए अशोक के पुष्प इस लाल पीले सौंदर्य को और अधिक बढ़ा देते थे । ऐसा प्रतीत होता था कि सभी नगरवासी रंग में डुबो दिये गये थे ।[१]

राजकीय प्रासाद तथा अन्य समृद्धिशाली भवनों के आँगन निरन्तर फव्वारों से युक्त रहते थे जिससे अपनी-अपनी पिचकारी में जल भरने की होड़ सी लगी रहती थी । यहाँ पुर की वधुओं के लगातार आते रहने से उनके माँग के सिन्दूर और कपोल के अबीर झरते रहते थे । पूरा प्रांगण लाल कीचड़ से भर जाता था और कुट्टिम (फर्श) सिन्दूरमय हो जाता था[२] ।

'चतुर्भाणी' में 'पद्मप्राभृतक' के अन्तर्गत कन्दुक क्रीणा का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है । प्रियंगुष्टिका अपनी लाल लाल अंगुलियों से लाल रंग का कन्दुक उछाल रही थी । विट के उपहास करने पर भी वह अपनी क्रीडा में पूर्णतया रत थी । अपनी सखियों के साथ होड़ लगा कर वह गेंद खेल रही थी । नत, उन्नत, आवर्तन, उत्पतन, अपसर्पण, प्रधावन, परिवर्तन, निवर्तन, उद्वर्तन आदि गतियों से उसके वस्त्र

---

१. कीर्णैः पिष्टातकोघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमक्षोदगौरैः हेमालंकारभाभिरमरनमित शिखैःशेखरैः कैंकिरातैः ।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा, कौशाम्बीशातकुम्भद्रवखचित-जनेवैकपींताविभाति ॥—रत्नावजी-हर्ष १.११

२. धारायंत्रविमुक्तसन्ततपयःपूरप्लुते सर्वतः सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रोणे क्षणं प्रांगणे । उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत् सिन्दूररागारुणैः सैसरीक्रियते जनेन चरणन्यासे पुरः कुट्टिमम् ॥—रत्नावली- हर्ष- १.१२ ।

उड़ रहे थे, कुण्डल झूल रहे थे, बालों से फूल गिर रहे थे काञ्ची झनझना रही थी। पूरा सौ करके वह रुकी और इस तरह वह अपनी सखियों में विजयशील हुई।[1]

दामोदरगुप्तकृत 'कुट्टनीमतम्' श्लोक ३६९ में भी कन्दुक क्रीडा का वर्णन हुआ है।

महाकवि दण्डी विरचित 'दशकुमारचरित' के षष्ठ उच्छ्वास में कन्दुक-क्रीडा का बड़ा ही मनोरम और सजीव वर्णन हुआ है। वाराणसी के प्रमदवन में कामपूजा के लिये निकली हुई राजकुमारी कान्तिमती का अपनी सखियों के साथ गेंद खेलने का उल्लेख है।

अपने प्रासाद से बाहर निकल कर, वाराणसी नगरी के प्रमदवन में भगवान् विश्वनाथ की आराधना के लिए अपनी सखियों के साथ गेंद खेलती हुई काशीपति चण्डसिंह की कन्या कान्तिमती को मैंने देखा और रमण की इच्छा उत्पन्न हो गई। किसी रीति से उसका समागम हुआ।'[2]

कुमार मित्रगुप्त ने सुह्य प्रान्त के अन्तर्गत दामलिप्त नामक नगर के वाह्य उद्यान में एक महान् उत्सव को देखा। उत्सव गोष्ठी से दूर एकान्त स्थान में आसीन होकर बीन बजाते हुए युवक ने बताया कि देवी विन्ध्यवासिनी के प्रसाद से सुह्यपति तुंगधन्वा को एक पुत्र और एक कन्या हुई। देवी विन्ध्यवासिनी ने आदेश दिया था, हे तुंगधन्वा ! तुम्हें एक पुत्र होगा और एक कन्या होगी। वह पुत्र तुम्हारी उस

---

१. नानाविलासभावहावदाक्षिण्यसमुदिता सखीजनपरिवृता कन्दुकक्रीडामनुभवति येषा— प्रवाललोलाङ्गुलिना करेण मानः शिलं कन्दुकमुद्वहन्ती। स्वपल्लवाग्राभिहितैकपुष्पा नतोन्नता नीपलतेव भाति॥ काममस्याः संदर्शनमेवानर्घो लाभः। भवतु उपगम्य वासु प्रियङ्गुष्टिकेकिमिदं कन्दुकक्रीड़ाव्याजेननृत्तकौशलं प्रत्यादिश्यते सखीजनस्य। अहो पणितप्रीतिः सर्वथा नतोन्नतावर्तनोत्पतनापसर्पणप्रधावनचित्रप्रचारमनोहरं किं बहुना, शङ्के परिवर्तननिवर्तनोद्वर्तनपर्याध्मातवसनान्तरप्रवेशकुतूहलो वायुरप्येनामभिकामोऽनुभ्रमतीति हन्तइदानीं आशास्ये—प्रेङ्खोलत्कुण्डलाया बलवदनिभृते कन्दुकोन्मादितायाः चञ्चद्वाहुद्वयायाः प्रविकचविसृतोद्गीर्णपुष्पालकायाः। आवर्तोद्भ्रान्तवेगप्रणयविलसितक्षुब्धकाञ्चीगुणायाःमध्यस्यावल्गमानस्तनभरनमितस्यास्य ते क्षेममस्तु।३१। एषापूर्णशतमितिव्यवस्थिता। वासुप्रियङ्गुष्टिके पद्मप्राभृतक शूद्रक।

२. ' वाराणस्यां प्रमदवने मदनदमनाराधनाय निर्गत्य सह सखीभिः कन्दुकेनानुक्रीडमानां काशीभर्तुश्चण्डसिंहस्य कन्यां कान्तिमतीं नाम चकमे। कथमपि समगच्छे च।'—द० कु० चरित पृ० ३१२ चतुर्थ उ०।

पुत्री के पति का अनुजीवक होगा। वह पुत्री जीवन के सातवें वर्ष से विवाह की अवधि तक प्रत्येक कृतिका नक्षत्र में कन्दुकनृत्य से गुणवान् पति की प्राप्ति के लिए मेरी आराधना किया करेगी। वह पुत्री जिस युवक को चाहेगी उसी से उसका विवाह होना चाहिए। वह उत्सव 'कन्दुकोत्सव' नाम से (प्रसिद्ध) होगा।[1]

देवी विन्ध्यवासिनी की अनुकम्पा से कुछ ही दिनों के पश्चात् राजा तुंगधन्वा की स्त्री मेदिनी से एक पुत्र और एक पुत्री 'कन्दुकावती' उत्पन्न हुई। देवी जी की आज्ञा के अनुकूल राजकुमारी कन्दुकावती अपने नाना प्रकार के हावभाव विलास और दाक्षिण्य से उनकी आराधना के लिए 'कन्दुकोत्सव' को जिस रीति से सम्पन्न किया उसका वर्णन निश्चित रूप से प्रत्येक सहृदय के हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करने वाला है। अथ से इति तक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कन्दुकतन्त्रोक्त नियमों का अच्छा अभ्यास किया था। अपूर्वलावण्य सम्पत्ति से लसी हुई होने से वह और भी दर्शनीय थी। कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से मिश्रित कोमल पदावली के सन्निवेश से वर्णन में चार चाँद लगा दिया है—

मित्रगुप्त के मन में तो वह अपने प्रथम दर्शन से ही उसके मन में बस गई उसे सन्देह होने लगा कि 'क्या यह साक्षात् लक्ष्मी है ? नहीं उन लक्ष्मी जी के तो हाथों में कमल होते हैं, इस राजकुमारी के तो हाथ ही कमल हैं।पूजनीया लक्ष्मी जी तथा सम्मान्या राजलक्ष्मी यथाक्रम भगवान् विष्णु और पूर्व-वर्ती राजाओं से उपभुक्त है, किन्तु यह राजकुमारी तो सर्वथा अनुपभुक्त है, इसके अवयव अनिन्द्य हैं, नूतन अनुपभुक्त तारुण्यशालिनी है। मैं इस प्रकार तर्क वितर्क कर ही रहा था कि उस अनिन्द्य अवयवों वाली सर्वांगसुन्दरी ने अपने परिवर्तित करकिसलयों के अग्रभाग से पृथिवी को स्पर्श किया। इषच्चञ्चल तथा काले, वक्र बालों की चोटी से विलासपूर्वक अष्टभुजादेवी को प्रणाम करके रागातिशय से विभूषित नेत्रों वाली राजकुमारी ने कामदेव के सदृश कन्दुक को उठा लिया। पुन: विलास से शिथिल कन्दुक को भूमि पर गिरा दिया।ऊपर की ओर उछालते हुये गेंद को कुछ संकुचित अंगूठे तथा फैली हुई अंगुलियों वाले पुन: चञ्चल दृष्टियों से चिन्हित उस गेंद को

---

१. समुत्पत्स्यते तवैक पुत्रः,जनिष्यते चैका दुहिता। स तु तस्याः पाणिग्राहकमनुजीविष्यति। सा तु सप्तमाद्वर्षादारभ्याऽपरिणयनात् प्रतिमासं कृत्तिकासु कन्दुकनृत्येन गुणवद्-भर्तुलाभाय मां समाराधयतु। यं चाभिलषेत्सामुष्मै देया। स चोत्सवः कन्दुकोत्स-वनामास्तु इति ॥—दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास, मित्रगुप्त चरित पृ० ३८३।

भ्रमरों की श्रेणियों से युक्त पुष्पों के गुच्छे के सदृश बीच ही में पकड़ लिया, भूमि पर गिरने नहीं दिया।

कभी गेंद को ऊपर उछालती, कभी गति बीच में कम कर देती थी, कभी उसे नीचे पटकती थी, कभी उस कन्दुक पर धीरे-धीरे कराधात करती हुई कन्दुकतन्त्रोक्त 'चूर्णपद'[1] गति का प्रदर्शन करती थी। गेंद के निश्चल हो जाने पर कन्दुकावती उसे कठोर प्रहारों से ऊपर को उछाल देती थी, जब वश में आ जाता था तो उसे सरलता से बायें और दाहिने हाथों से ताडित कर पक्षी की तरह ऊपर की ओर उछाल दिया करती थी ऊपर की ओर उछलते हुए कन्दुक को बीच में ही पकड़ कर 'दशपदचंक्रमण गतिमार्ग[2] रूप गति का विधान करती थी। प्रत्येक दिशा में गेंद को उछालकर वह राजकुमारी अपनी ओर खींच लेती थी। इस प्रकार नाना विधियों से रमणीय कन्दुक क्रीड़ा करती हुई उस राजकुमारी ने क्रीडास्थल में आये हुए अनुरक्त दर्शकों द्वारा स्थल और सूक्ष्मरूपेण उच्चरित अपनी स्तुति को सुना। मैं मित्रगुप्त कोशदास के कंधे के आश्रय से खड़ा था, मुझे प्रतिक्षण विलास उत्पन्न हो रहा था, कपोल रोमांचित हो रहे थे और नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे। मेरे ऊपर कटाक्ष करते हुए प्रथमोत्पन्न कामदेवप्रेरित दृष्टि फेंकी, कटाक्षों के विक्षेप के पश्चात् टेढ़ी-मेढ़ी लता रूपी भृकुटियों द्वारा श्वासानिल के वेग से कम्पित और लीलापल्लव के समान धीरे-धीरे कंपाती हुई अवरप्रभापुञ्जों से मुखकमल की सुरभि को ग्रहण करने में अति चञ्चल भ्रमरसमूह को ताडित कर रही थी, चक्रा- कारगति के उछालने वाले कन्दुक को अविलम्ब प्रक्षेपित करती हुई और तत्काल ही मेरे दर्शन की कारणीभूता उत्पन्न लज्जा से विलज्जित होकर राजकुमारी मानो, कुसुम निर्मित सुरक्षित स्थान में प्रवेश करती हुई दिखा रही थी, पंचविन्दु पंचावर्तप्रहार गति से कन्दुक क्रीडा करती हुई वह राजकुमारी एक ही समय मे कामदेव के पाँचों कुसुमनिर्मित बाणों का, भयभीत होकर, प्रतीकार करती हुई प्रतीत होती थी 'गोमूत्रिका' नामक गति से कन्दुकक्रीडा करती हुई सरल और वक्रगति से राजकुमारी प्रगाढ़ प्रीति को झलकाती हुई, विद्युत को भी तिरस्कृत कर रही थी, पैरों में भूषित अलंकाररत्नों की ध्वनियों से ताल-लय का सम्पादन कर रही थी, रक्त

---

१. गत्यागत्योरानुलोक्यं न्यूनाधिक्य क्षेपणंतच्चूर्णपदम्-कन्दुकतंत्र द्रष्टव्य 'चतुर्भाणी'

२. दशपदं चक्रमणं गतिमार्गं विदुः। कन्दुकतन्त्र-भूमिका पृ० ४३ के फुटनोट में —डा० मोतीचन्द्र।

अधर कपट की हँसी से युक्त थे, कन्धे पर गिरे हुए केशकलापों को यथास्थान रख रही थी, रत्नजटित काञ्ची के दाने संचालित होने से बज रहे थे, वह राजकुमारी मनोहर, उन्नत एवं विशाल नितम्बस्थलों में लटकते हुए शुभ्र वस्त्रों से और भी मनोज्ञ दिखाई दे रही थी, अपनी भुजलता द्वारा, जो कभी फैलती थी, कभी सिमटती थी, कभी तिरछी होती थी, ललित कन्दुक को ताडित करती थी, कभी-कभी भुजपाशों को आनमित करती थी, ऊपर परिवर्तित करती थी, जिससे उसके नितम्बस्थल तक लटकने वाले केशकलापों से चञ्चल दिखायी रही थी।'[१]

राजपुत्री कन्दुकावती अपने कान के अलंकार को जिसमें सुवर्णपत्र लगे हुए थे उन्हें अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर यथास्थान सजा लेती थी जिससे उसकी क्रीडा

---

१. किमियं लक्ष्मीः। नहि नहि। तस्याः किल हस्ते विन्यस्तं कमलम्, अस्यास्तु हस्त एव कमलम्। अभुक्तपूर्वाचासौ पुरातनेन पुंसा पूर्वराजैश्च, अस्याः पुनरनवद्यमयातयामं च यौवनम् इति चिन्तयत्येव मयि, सानघसर्वगात्री व्यत्यस्तहस्तपल्लवाग्रस्पृष्टभूमिरालोलनीलकुटिलालका सविभ्रमं भगवतीमभिवन्द्य कन्दुकममन्दरागरूषिताक्षमनङ्गमिवालम्बत। लीलाशिथिलं च भूमौ मुक्तवती। मन्दोत्थितं च किञ्चिद्कुञ्चिताङ्गुष्ठेन प्रसृतकोमलाङ्गुलिना पाणिपल्लवेन समाहत्य हस्तपृष्ठेन चोन्नीय चटुलदृष्टिलाञ्छितं स्तबकमिव भ्रमरमालानुविद्धमवपतन्तमाकाश एवाग्रहीत्। अमुञ्चच्च। मध्यविलम्बितलये द्रुतलये च मृदुमृदु प्रहरन्ती तत्क्षणं चूर्णपदमदर्शयत्। प्रशान्तं च तं निर्दयप्रहारैरुदपातयत्। विपर्ययेण च प्राशमयत्। पक्षमृज्वागतं च वामदक्षिणाभ्यां कराभ्यां पर्यायेणाभिघ्नती शकुन्तमिवोदस्थापयत्। दूरोत्थितं च प्रपतन्तमाहत्य गीतामार्गमारचयत्। प्रतिदिशं च गमयित्वा प्रत्यागमयत्। एवमनेककरणमधुरं विहरन्ती रङ्गतस्य रक्तचेतसो जनस्य प्रतिक्षणमुच्चावचाः प्रशंसावाचः प्रतिगृह्णती, प्रतिक्षणारूढविभ्रमं कोशदासमंसेऽवलम्ब्य कण्टकितगण्डमुत्फुल्लेक्षणं च मय्यभिमुखीभूय तिष्ठति तत्प्रथमावतीर्णकन्दर्पकारितकटाक्षदृष्टिस्तदनुमार्गविलसितलीलाञ्चितभ्रूलता, श्वासानिलवेगान्दोलितैर्दन्तच्छदरश्मिजालैर्लीलापल्लवैरिव मुखकमलपरिमलग्रहणलोलानलिनस्ताडयन्ती, मण्डलभ्रमणेषुकन्दुकस्यातिशीघ्रप्रचारतयाविशन्तीव मद्दर्शनलज्जयापुष्पमयं पञ्जरम्, पञ्चविन्दुप्रसृतेषु पञ्चापि पञ्चबाणबाणान्युगपदिवाभिपततस्त्रासेनावघट्टयन्ती, गोमूत्रिकाप्रचारेषुघनदर्शितरागविभ्रमा विद्युल्लतामिव विडम्बयन्ती, भूषणमणिरणितदत्तलयसंवादिपादचारम्, आदेशास्मितप्रभानिषिक्तबिम्बाधरं, अंसस्रंसितप्रतिसमाहितशिखण्डभारम्, समाघट्टितक्वणितरलमेखलागुणम्, अञ्चितोत्थितपृथुनितम्बविलम्बितविचलदंशुकोज्ज्वलम्, आकुञ्चितप्रसृतवेल्लितभुजलताभिहतललितकन्दुकम्, आवर्जितबाहुपाशम्, उपरिपरिवर्तितत्रिकविलग्नलोलकुन्तलम्।

में विलम्ब नहीं होता था, बार-बार उस कन्दुक को उछाल कर बाहर-भीतर भ्रमित होने वाला कन्दुक बना रही थी, उसके देह का मध्य-भाग कभी दिखाई देता था, ऊपर और नीचे नमित और उन्नमित होने से उस राजकन्या की मोती की माला चंचलायमान हो रही थी, कपोलों पर चन्दनादि की पत्र रचनाएँ गेंद खेलने के कारण उत्पन्न हुए स्वेदजलकणों से भीग जाती थीं, किन्तु उसके कानों पर सजे हुए नूतन किसलयों की हवा से वे सूख भी जाती थीं, उसका एक करकिसलय उसके कुचों पर खिसके हुए अञ्चल को सम्भाल लेता था, वह कभी उठ कर, कभी खड़ी होकर, आँखें बन्द कर और पुनः खोल कर, कभी फूँककर कभी जाकर अति विचित्र प्रकार की क्रीड़ा करती थी । वह राजपुत्री कभी एक प्रकार के कभी अनेक प्रकार से, कभी पृथ्वी पर, कभी आकाश में एक ही गेंद के साथ खेल रही थी, कभी एक ही गेंद को अनेकों गेंद के समान लोगों को प्रतीति करा रही अपनी प्रिय सखी चन्द्रसेना तथा अन्य भी—सखियों के साथ अनेक रीति से उस राजकुमारी ने कन्दुकक्रीड़ायें की और तदनन्तर देवी जी की स्तुति करके मेरे सानुराग अन्तःकरण के साथ एवं अपने परिजन वर्ग के सहित वहाँ से मुख पीछे की ओर मोड़कर मुझे बार-बार अनुरागभरी दृष्टियों से देखती हुई अपने अन्तः पुर को चली गई ।[१]

अङ्गना-चित्रण

अङ्गनाओं के चित्रण की दृष्टि से महाकवि दण्डी विरचित 'दशकुमारचरित' का विशिष्ट स्थान है । प्रथम उच्छ्वास से लेकर अष्टम उच्छ्वास पर्यन्त प्रायः सभी कुमारों के सम्पर्क में आई हुई जिन अंगनाओं का चित्रण हुआ है वह निश्चित रूप से दण्डी की अद्भुतप्रियता और सूक्ष्मदर्शिता का बेजोड़ निदर्शन है । केवल कुछ

---

१. अवगलितकर्णपूरकनकपत्रप्रतिसमाधानशीघ्रतानतिक्रमितप्रकृतक्रीडनम्, असकृदुत्क्षिप्यमाणहस्तपादबाह्याभ्यन्तरभ्रान्तकन्दुकम्, अवनमनोन्नमननैरन्तर्यनष्टदृष्टमध्ययष्टिकम्, अवपतनोत्पतननिर्व्यवस्थमुक्ताहारम्, अङ्कुरितधर्मसलिलदूषितकपोलपत्रभङ्गशोषणाधिकृतश्रवणपल्लवानिलम्, आगलितस्तनतटांशुकनियमनव्यापृतैकपाणिपल्लवं च निषद्योत्थाय निमील्योन्मील्य स्थित्वा गत्वा चैवातिचित्रं पर्यक्रीडत राजकन्या। अभिहत्य भूतलाकाशयोरपि क्रीडान्तराणि दर्शनीयान्येकेनैव वानेकेनैव कन्दुकेनादर्शयत् । चन्द्रसेनादिभिश्च प्रियसखिभिः सह विहृत्य विहृतान्ते चाभिवन्द्य देवीं मनसा मे सानुरागेणेव परिजनेनानुगम्यमाना-मय्यपाङ्ग समर्पयन्ती-कुमारीपुरम् अगमत् । —दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ३८९-३९७ ।

ही स्थलों—अंगनाओं आदि के चित्रण के प्रसंग में ही—संस्कृत गद्य का नमूना सामने आ जाता है न कि सर्वत्र, इस प्रकार का आक्षेप दण्डी के सम्बन्ध में असमीचीन ही प्रतीत होता है । भाषा भावों की अनुगामिनी होती है, कवि का व्यक्तित्व भावुकता से ओतप्रोत होता है—अत: वस्तुओं के भावात्मक निरीक्षण में जिस स्तर तक कवि की भावना वृत्ति रमती है उस स्तर तक की भाषा का अप्रतिहत प्रवाह उसके पाण्डित्य और मौलिक प्रतिभा का पूर्ण परिचायक है । विषय-निरूपण की दृष्टि से यथावसर दण्डी कहीं समासाढ्य अलंकृत पदावली का प्रचुर प्रयोग करते हैं, तो कहीं छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा चुभती चोट करने में हिचकते भी नही हैं । इन सभी दृष्टियों से 'भाषा-शैली' वाले अध्याय में विचार प्रस्तुत किया जायेगा ।

यहाँ इतना ही कहना यथार्थ एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि अंगनाओं के चित्रण में कवि की वैदुष्यवृत्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सरस एवं गम्भीर है ।

प्रथम उच्छ्वास में अवन्तिसुन्दरी की पतिभक्ति एवं उसके आत्मसमर्पण में द्वितीय उच्छ्वास में, शयन करती हुई कुमारी अम्बालिका के अन्त:पुर एवं उसके अनिन्द्य अवयवों की सरल अभिव्यक्ति में, विरह-विधुरा, कमनीय कलेवरा, कल्पसुन्दरी के भावों की विह्वलता एवं सहसा धैर्यवृत्ति के परित्याग में, इन्दुकला की भाँति रसातल के अन्धकार को नष्ट करने में क्षम महीविवरप्रविष्टा, इन्दुवदना, सरसहृदया मणिकर्णिका के मलयमारूतान्दोलिता चन्दनलता के सदृश सहज प्रकम्पन और मञ्जु परिहास में, सौकुमार्य सम्पन्ना, अनुच्छिष्टयौवना, सुस्निग्धहृदया नवमालिका के प्रमतिद्वारा प्रथम दर्शन में, शोकविधुरा, कृशवदना, एकवेणीभूता, पतिव्रता तारावली के तरुण वात्सल्य में, कमनीयकान्तिसंयुक्ता, सर्वांगसुन्दरी, सानघसर्वगात्री कन्दुकावती की कन्दुकक्रीडा में, क्रूरता की साक्षात् मूर्ति, परवंचना की उज्ज्वलउदाहरणस्वरूपा नृशंसहृदया 'धूमिनी' के जघन्य क्रियाकलापों में, सर्वलक्षणोपेता, सती गेहिनी की उज्ज्वलमूर्ति (दिव्यमूर्ति) पतिप्राणा, पतिव्रता 'गोमिनी' की कुलांगनाजनोचित दया, दान, दाक्षिण्य और विनम्रता की मनोरम अभिव्यक्ति में, नितम्बवती जैसी नारी की दृढ़संकल्पशक्ति में, अन्वर्थनामा कलहकण्टक जैसे कामुक और लोलुप युवक द्वारा पतिपरायणा कुलवधू नितम्बवती के सतीत्व-ह्रास के सफल चित्रण में 'गागर में सागर' की उक्ति चरितार्थ होती है । ऐसे स्थलों में कवि की कल्पनाशक्ति का मर्यादित एवं विशद विस्तार दृष्टिगत होता है ।

'विना स्त्री के विशेषरूप से गुणवती स्त्री के विना सुख नहीं मिलता'[१] 'अंगनाओं को दुर्भाग्य से जीवित रहना मृत्यु के तुल्य है, विशेषरूप से कुलवधुओं के लिये'[२] 'वनिताओं के लिए केवल एक पति ही परमेश्वर है विशेषतः कुलीन स्त्रियों के लिये,'[३] 'यदि मैं पतिव्रता हूँ तो मेरी इस माला का प्रहार तुम्हारे लिये असि प्रहार हो जाय'[४] अहो ! पातिव्रत धर्म का माहात्म्य धन्य है, असिप्रहार ही उसके लिए मालाप्रहार हो गया,[५] 'इत्यादि कवि की सारगर्भित उक्तियाँ इस बात की स्पष्ट प्रतीक हैं कि नारीसुलभ धर्म और स्वभाव का कवि को कितना उत्कृष्ट ज्ञान था। कुलांगनाओं के क्या-क्या लक्षण होते हैं, उनके कर्त्तव्य क्या हैं, पुरुष के जीवन में उनकी क्या उपादेयता है ? इत्यादि बातों का सुस्पष्ट विवेचन विशेष रूप से हृदयावर्जक है ।'

संक्षेप में दो एक अंगनाओं का चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिसके अंग-प्रत्यंग के विशद विवेचन में कवि की लेखनी उदासीन होना जानती ही नहीं।

नवमालिका, जैसी अंगना के सर्वांगपूर्ण वर्णन में कवि की भव्य भावना वृत्ति का परिष्कृत रूप आदर्शगत होता है—महाटवी में वृक्ष के नीचे शयन करते हुए प्रमति ने स्वप्न में जिस रूप में नवमालिका को देखा उसका वर्णन निश्चित रूप से कितना रोमाञ्चकारी है इसका साक्ष्य सहृदयों का विशाल हृदय ही हो सकता है—

वर्णन इस प्रकार है—'बायीं ओर दृष्टि डाली तो चूने से धुली हुई दीवार के समीप रंगविरंगे उज्ज्वल बिछौने के ऊपर अत्यन्त विश्वस्त होकर शयन करती अङ्गना को देखा। दक्षिण की ओर देखा तो अंगना के स्तनों से वस्त्र खिसक गए हैं, अमृतफेन के टुकड़ों के समान अत्यन्त श्वेत शय्यापर शयन करती हुई, आदि वराह भगवान् विष्णु के दातों की रश्मियों की आभा से परिव्याप्त दुग्धसमुद्र की

१. नास्त्यदाराणामननुगुणदाराणां वा सुखं नाम।—दश० कु० च० पृ० ४१६।
२. दौर्भाग्यं नाम जीवन्मरणमेवाङ्गनानाम्, विशेषतश्च कुलवधूनाम्। वही, पृ० ४३१।
३. पतिरेकदैवतं वनितानाम्, विशेषतः कुलजानाम्। पृ० ४३४।
४. स एवायमसिप्रहारःपापीयसस्तव भवतु यद्यस्मि पतिव्रता।—दश० कु० च०, अष्टम उ०, पृ० ४१।
५. अहो ! माहात्म्यं पतिव्रतानाम्। असिप्रहार एव हि मालाप्रहारस्तस्मै जातः।—वही, पृ० ४३।

तरह अपने स्कन्ध से खिसके हुए दुकूलोत्तरीय को धारण किये हुए भय के सम्भ्रम से मूर्छित पृथ्वी के समान, अरुण अधर की आभा रूपी किसलयों को कंपाने वाली, अपने मुखकमल की सुगन्ध से युक्त निःश्वास-वायु से भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला से दग्ध हुये कामदेव के कणमात्र अवशिष्ट अंश को मानो प्रज्वलित करती हुई, कमल-कोश के भीतर प्रसुप्त भ्रमर से युक्त कमल के समान, निद्रा से परिव्याप्त होने के कारण सम्पुटित नयनरूप भ्रमर से युक्त मुखकमल को धारण करने वाली, इन्द्र के मदोन्मत्त ऐरावत हाथी के द्वारा तोड़कर त्यागी हुई नन्दनवन के कल्पवृक्ष की रत्नवल्लरी के सदृश आभावाली उस युवती (अंगना) को मैं (प्रमति) ने देखा'।[१]

इसके अतिरिक्त महाकवि दण्डी की कल्पनाशक्ति का वैभव निम्नलिखित पंक्तियों से और भी अभिव्यक्त हो जाता है। निद्रावस्था में ही प्रमति ने देखा कि—

'चन्द्रमा की किरण रूपी रस्सियों द्वारा विरचित हिंडोले (पालने) के ऊपर से गिरकर अचेतनावस्था को प्राप्त अप्सराओं के समान ये सुन्दरियाँ कौन हैं? अथवा कौन इस रीति से शरद्कालिक चन्द्रमण्डल के समान सफेद वस्त्र की चादर ओढ़े हुए इस शय्या पर सोया हुआ है।

न तो यह देवांगना है क्योंकि शनैः शनैः इन्दुकिरणों के द्वारा संसेव्यमान कमलिनी की तरह संकुचित होकर शयन करती हुई यह दिखाई दे रही है परन्तु देवगण सोते नहीं हैं, और पेड़ से गिरे हुए सरस और परिपक्व तथा पीले आम्रफल की तरह इसके कपोलप्रदेश स्वेदजल के विन्दुओं से युक्त हैं। अभिनव यौवन के कारण उद्भूत शरीर की दाहजनित उष्णता से स्तनतट मलिन प्रतीत हो रहे हैं, इसके

---

१. वामतश्चलितदृष्टिः समया सौधभित्तिं चित्रास्तरणशायिनमतिविश्रब्धप्रसुप्तमंगनाजनमलक्षयम्। दक्षिणतो दत्तचक्षुरागलितस्तनांशुकाम्, अमृतफेनपटलपाण्डुरशयनशायिनीम्, आदिवराहदंष्ट्रांशुजाललग्नाम् अंसस्रस्तदुग्धसागरदुकूलोत्तरीयाम् भयसाध्वसमूर्च्छितामिव धरणिम्, अरुणाधरकिरणबालकिसलयलास्यहेतुभिराननारविन्दपरिमलोद्वाहिभिर्निःश्वासमातरिश्वभिरीश्वरेक्षणदहनदग्धं स्फुलिङ्गशेषमनङ्गमिव संधुक्षयन्तीम्, अन्तःसुप्तषट्पदम्बुजमिव जातनिद्रमामीलितलोचनेन्दीवरमाननं दधानाम्, ऐरावतमदावलेपलूनापविद्धामिव नन्दनवनकल्पवृक्षरत्नवल्लरीं कामपि तरुणीमालोकयम्।'—दशकुमारचरित, पृ० ३४८-४९।

परिधानवस्त्र उपयोग में होने के कारण मलिन दिखाई दे रहे हैं। अत: यह अंगना मानुषी ही है, भाग्यवशात् अभी यह अनुच्छिष्टयौवना है क्योंकि अतिशय कोमलांगी होते हुए भी इसके अभी अवयव सुश्लिष्ट हैं, शरीर की कान्ति मनोरम होने पर भी पाण्डुवर्णी है, कामदेव की व्यथा से अनभिज्ञ होने के कारण इसका मुख उज्ज्वलराग रहित है। मूंगे की द्युति के समान इसके अधरमणि की कान्ति मनोरम है, अपूर्ण और कुछ-कुछ लाल इसके कपोलतल चम्पा की कली के सदृश कठोर हैं, अनंगबाण के प्रहार के भय से रहित होकर विश्वासपूर्वक सुन्दररीति से शयन करती है। इसका वक्ष:स्थल निर्भय तथा गाढालिंगनस्पर्शरहित है क्योंकि स्तन का अग्रभाग प्रसरित नहीं है। शिष्टजनों की मर्यादा का अनतिक्रमण करने वाली मेरे मन की आसक्ति इस बाला के ऊपर है।'[१]

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से शयन करती हुई नवमालिका प्रमति के रति, हर्ष, विषाद आदि भावों का आलम्बन है।

और भी देखिए—

श्रावस्ती नाम की नगरी है। उसके स्वामी धर्मपुत्र के समान धर्मवर्धन नाम के राजा हैं जिसकी पुत्री लक्ष्मी के सदृश है। कामदेव के प्राणों के समान प्रिया है जिसका नाम नवमालिका है जो अपने सौकुमार्य से नवमालिका लता को भी तिरस्कृत करने वाली है।'[२]

१. एष च को नु शीतरश्मिकिरणरज्जुदोलापरिभ्रष्टमूर्छित इवाप्सरोगण: स्वैरसुप्त: सुन्दरीजन: का चेयं देवीवारविन्दहस्ता शारदशशाङ्कमण्डलामलदुकूलोत्तरच्छदमधिशेते शयनतलम्। न तावदेषा देवयोषा यतो मन्दमन्दमिन्दुकिरणै: संवाह्यमाना कमलिनीव सङ्कुचति। भग्नवृन्तच्युतरसविन्दुशवलितं पाकपाण्डु चूतफलमिवोद्भिन्नस्वेदरेखं गण्डस्थलमालक्ष्यते, अभिनवयौवनविदाहनिर्भरोष्मणि कुचतटे वैवर्ण्यमुपैति वर्णकम्। वाससी च परिभोगानुरूपं धूसरिमाणमादर्शयत:, तदेषा मानुष्येव। दिष्ट्या चानुच्छिष्टयौवना, यत: सौकुमार्यमागता: सन्तोऽपि संहता इवावयवा:, प्रस्निग्धतमापि पाण्डुतानुविद्धेव देहच्छवि:, स्मरपीडानभिज्ञतया नातिविशदरागो मुखे, विद्रुमद्युतिरधरमणि: अनत्यापूर्णमारक्तमूलं चम्पककुड्मलदलमिव कठोरं कपोलतलम्, अनङ्गबाणपातमुक्ताशङ्कं च_ममास्यामासक्ति:।—दशकुमारचरित, पृ० ३५१-५४।
२. अस्ति हि श्रावस्तीनाम नगरी। तस्या: पतिरपर इव धर्मपुत्रो धर्मवर्धनो नाम राजा। तस्य दुहिता, प्रत्यादेश इव श्रिय: प्राणा इव कुसुमधन्वन:, सौकुमार्यविडम्बितनवमालिका, नवमालिका नाम कन्यका।—दश० कु० च०, पृ० ३७२-७३।

इतना ही नहीं, तारावली, मणिकर्णिका और गोमिनी प्रभृति अंगनाओं का भी चित्रण विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

तारावली

'इतने में ही, भगवान् सूर्य की रश्मियों द्वारा अभितप्त नीलकमलों की माला के सदृश क्लान्त और क्षीण देहवाली, अलक्तकराग से शून्य किञ्चित् लाल, उष्णनिःश्वास-वायु से म्लान कान्तिवाले ओष्ठों से पिंगल वर्ण के धूम से युक्त किञ्चित्रक्तश्याम विरहाग्नि को प्रकट करती हुई, निरन्तर अश्रुधारा के बहने से रुधिरमात्र शेष रह गया है जिसमें ऐसे लोहितवर्ण वाले नेत्र युगल को धारण करती हुई, वंशानुरूप चरित्र के सेवन के कारण बन्धनपाशविभ्रम से एक वेणीव्रत का पालन करती हुई, नीलांशुक द्वारा निर्मित कंचूलिका को धारण किए हुए पतिव्रता की ध्वजा के सदृश संचरण करती हुई, शरीर के अत्यन्त कृश होने पर भी देवताओं के प्रभाव से उज्ज्वल कान्तिवाली...मुझसे बोली।'[१]

मणिकर्णिका

राजा सिंहघोष को विनष्ट करने की अभिलाषा से सुरंग-निर्माण करते हुए अर्थपाल पृथ्वी के भीतर स्वर्ग के तुल्य रमणीय प्रदेश को देखा जो युवतियों से परिपूर्ण था। 'वहाँ कोई मणिकर्णिका नाम की एक रमणी थी जो अपने लावण्य से अन्धकार को इन्दुकला के समान दूर करने वाली थी, मानों साक्षात्-मूर्तिमती देवी विश्वम्भरा, दैत्यों को पराजित करने के लिये उत्पंन्न साक्षात् पार्वती के सदृश थी, पाताल में आई हुई भगवान् कामदेव की प्रिया मानो रति, अनेक दुष्ट राजाओं के दर्शन से बचने की इच्छा से महीविवरप्रविष्टा मानो राजलक्ष्मी थी। अग्नि में तपाई हुई सोने की पुतली के समान दिव्यकान्तिवाली वह रमणी मलयाचल पवन के झकोरों से प्रकम्पित होने वाली चन्दनलता के समान मेरे (अर्थपाल) दर्शन से काँपने

---

१. अथाविर्भूय कापि रविकराभितप्तकुवलयदामतान्ताङ्गयष्टिः क्लिष्टनिवसनोत्तरीया, निरलक्तकरूक्षपाटलेन निःश्वासोष्मजर्जरितत्विषा दन्तच्छदेन वमन्तीव कपिलधूमधूम्रं विरहानलम् अनवरतसलिलधाराविसर्जनाद्रुधिरावशेषामिव लोहिततरं द्वितयमक्ष्णो-रुद्वहन्ती, कुलचारित्रबन्धनपाशविभ्रमेणैकवेणीभूतेन केशपाशेन नीलांशुकचीरचूलिका-परिवृता परिवृतापताकेव सञ्चरन्ती, क्षामक्षामापि देवतानुभावादनतिक्षीणवर्णावकाशा सीमन्तिनी...व्याहार्षीत्।—दशकुमारचरित, पृ० ३५७-५९।

लगी।'[१] उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों से लसी हुई भाषा के माध्यम से कितने सरल शब्दों में मणिकर्णिका का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भी कवि की कल्पनाशक्ति और उसकी मौलिकप्रतिभा से उद्‌भूत किसी रमणी या अंगना का सरल वर्णन हृदय को कुरेदने वाला है।

कल्पसुन्दरी

कल्पसुन्दरी के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ उपहारवर्मा उसके आने के पूर्व अपने को छिपा कर वहीं बैठ गया था। अन्त में व्यथितहृदया कल्पसुन्दरी के दीनतापूर्ण वाक्यों को श्रवण करने के अनन्तर उपहारवर्मा गर्भागार से प्रकट होकर उससे कहना आरम्भ किया—'भामिनि ! तुम्हारे द्वारा कामदेव के अनेक अपराध किए गए हैं—सौंदर्यसम्पन्न तुम्हारी आकृति के द्वारा भगवान् कामदेव की प्राणस्वरूपा प्रिया रति तिरस्कृत की गई है, भ्रूकुटियों की लताओं से कामधनुष, काले एवं चमकीले केशकलापों से कामदेव की भ्रमरमाला वाली प्रत्यंचा, कटाक्षों के विक्षेप से कामदेव की कुसुम्भी पताका की कान्ति, सौरभसम्पन्न निःश्वास-वायु के द्वारा कामदेव का प्रथम मित्र मलयानिल, अत्यन्त मनोरम कण्ठध्वनि के द्वारा कोकिल, कोमल बाहुबल्लियों के द्वारा काम की पुष्पमयी पताका, दोनों स्तन कलशों के द्वारा काम के दिग्विजययात्रा के मंगलसूचक दोनों पूर्ण कलश, गम्भीर नाभिमण्डल द्वारा काम का क्रीडासरोवर, दोनों नितम्बों के द्वारा कामदेव के युद्ध का सुसज्जितरथ, दोनों जाँघों के द्वारा काम के भवन के रत्ननिर्मित तोरण के दोनों स्तम्भ, चरणतलों की आभा के द्वारा काम के विलासार्थ उसके कर्णपल्लव तिरस्कृत अथवा अनादृत किये गये हैं।'[२]

---

१. 'तत्र काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना, विग्रहिणीव देवी विश्वम्भरा, हरगृहिणीवासुरविजयायावतीर्णा, पातालमागता गृहिणीव भगवतः कुसुमधन्वनः, राजलक्ष्मीरिवानेकदुर्नृपदर्शनपरिहारायमहीविवरं प्रविष्टा, निष्टप्तकनकपुत्रिकेवावदातकान्तिः कन्यका, चन्दनलतेव मलयमारुतेन, मद्दर्शनेनोदकम्पत।' —दशकुमारचरित, चतुर्थ उ०, पृ० ३३७-३८।

२. 'भामिनि ! ननु बह्वपराद्धं भवत्या चित्तजन्मनो यदमुष्य जीवितभूता रतिराकृत्या कदर्थिता, धनुर्यष्टिर्भ्रूलताभ्याम्, भ्रमरमालामयी ज्या नीलालकद्युतिभिः, अस्त्राण्यपाङ्गवीक्षितवृष्टिभिः, महारजनध्वजपटांशुकं दन्तच्छदमयूखजालैः, प्रथमसुहृन्मलयमारुतः परिमलपटीयसा निःश्वासपवनेन, परभृतमतिमञ्जुलैः प्रलापैः पुष्पमयी पताका

कल्पसुन्दरी का इस प्रकार सर्वांगपूर्ण चित्र अतिशय रोमांचकारी है । उसके इस प्रकार के सुरुचिपूर्ण वर्णन से इस प्रकार का कथन भी समीचीन प्रतीत होता है कि उसकी पुलकित शरीर उस हरी-भरी क्यारी के सदृश है जहाँ उसके अंग-प्रत्यंग रूप नाना वर्ण के रम्य एवं सुरभित पुष्पपुंजो के पूर्ण विकास में सहृदय-दर्शक आबद्धदृष्टि होने से वंचित नहीं होते, उस अनुपम सौन्दर्य का लाभ उठाने में नेत्र जहाँ विफल नहीं होते ।

गोमिनी

भ्रमण करते हुए एक दिन शक्तिकुमार कावेरी नदी के दक्षिण भाग के एक नगर में उपमाता द्वारा प्रदर्शित एक कन्या देखी । उस कन्या की ओर आबद्धदृष्टि वाले शक्तिकुमार ने विचार किया—

'निश्चित रूप से इस कन्या के शरीरावयव न तो मोटे हैं, न दुर्लभ हैं, यह न तो अत्यन्त छोटी है न अत्यन्त बड़ी है, न विकटा है, शरीर का रंग भी स्वच्छ है, हाथ की अंगुलियों का तल प्रदेश लाल है, जिसमें यव, मत्स्य, कमल और कलश आदि पुण्यरेखाएँ हैं, चरण शिरारहित हैं और पुष्ट भी हैं और उसके गुल्मभाग सन्धिहीन और समान हैं । दोनों जाँघें गोपुच्छाकार हैं, ऊरु सुश्लिष्ट एवं मोटे हैं, घुटने दोनों दुर्लक्ष्य हैं, कटि के पीछे का भाग नितम्बभाग समान अंशों में विभक्त, सब ओर शोभायमान नितम्बस्थित कूपों से सुशोभित और चन्द्राकार रूप में है, नाभिमण्डल कुछ गम्भीर तथा सूक्ष्मतर है, उत्तरप्रदेश त्रिवलियों से अलंकृत है, समग्र वक्षस्थल को परिव्याप्त करने वाले और विस्तीर्णता से शोभित इसके दोनों स्तन हैं, लता रूपी भुजाएँ अवनत स्कन्ध प्रदेश की मनोहर सन्धि से निमग्न हैं जिनकी अंगुलियाँ सीधी, गोल और लालरंग की हैं, जिनके चिकने कोमल नख मणि के समान हैं, धन, धान्य और संतान को सूचित करनेवाली रेखायें हैं, ग्रीवा क्षीण तथा शंख के आकार वाली है, अधर गोल मध्यप्रदेश में विभक्त और लाल हैं, चिबुक अत्यन्त सुन्दर हैं, कपोल, अशिथिल और पुष्ट हैं, परस्पर मिली हुई वक्राकार तथा नीली और स्निग्ध भ्रूलताएँ हैं, बालतिल के पुष्प के समान नासिका है अत्यन्त कृष्ण,

---

भुजयष्टिभ्याम्, दिग्विजयारम्भपूर्णकुम्भमिथुनमुरोजकुम्भयुगलेन, क्रीडासरो नाभिमण्डलेन, संनाह्यरथः श्रोणिमण्डलेन, भवनरत्नतोरणस्तम्भयुगलमूरुयुगलेन, लीलाकर्णकिसलयं चरणतलप्रभाभिः ।'—दश० कु० च०, तृ० उ०, पृ० २८३-८४ ।

श्वेत और लाल तीन रंगों से उज्ज्वल मधुर, गम्भीर और मन्दगति से सुशोभित इसके विशाल नेत्र हैं, अर्ध चन्द्र के समान ललाट हैं, नीलकान्त मणि से मनोरम इसकी केशश्रेणी है, द्विगुणित, कुण्डलीकृत, ईषन्मलिन कमलों से सुशोभित एवं लम्बे दोनों कानों से परिपूर्ण मुखकमल है, कुछ वक्र तथा सान्द्र अपिंगल कान्ति से युक्त, दीर्घ और स्वभाव से ही स्निग्ध तथा नील द्युति वाले और सुरभित केशकलाप हैं ऐसी मनोरम आकृति शील के विपरीत नहीं होती अर्थात् स्वभाव से ही भली होती है।'[१]

इस प्रकार किसी अंगना का नखशिख वास्तविक वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सप्तम उच्छ्वास में कनकलेखा का वर्णन भी उत्कृष्टतम है।[२] सम्पूर्ण दशकुमारचरित में दण्डी ने जिस किसी भी अंगना का वर्णन किया है

---

१. 'अस्याः खलु कन्यकायाः सर्व एवावयवा नातिस्थूला, नातिकृशा, नातिह्रस्वा, नातिदीर्घा न विकटा मृजावन्तश्च रक्ततलाङ्गुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसन्धी मांसलावशिरालौ चाङ्घ्री, जङ्घे चानुपूर्ववृत्ते पीवरोरुग्रस्ते इव दुरुपलक्ष्ये जानुनी, सकृद्विभक्तश्चतरस्रः कुकुन्दरविभागशोभी रथाङ्गाकारसंस्थिश्च नितम्बभागः, तनुतरमीषन्निम्नं गम्भीरं नाभिमण्डलम्, बलित्रयेण चालंकृतमुदरम्, उरोभागव्यापिनावुन्मग्नचूचुकौ विशालारम्भशोभिनौ पयोघरौ, धनघान्यपुत्रभूयस्त्वचिह्नलेखालाञ्छिततले स्निग्धोदरकोमलनखमणी ऋज्वनुपूर्ववृत्तताम्राङ्गुली संनतांसदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्नपर्वसन्धी च बाहुलते, तन्वी कम्बुवृत्तबन्धुरा च कन्धरा, वृत्तमध्यविभक्तरागाधरम् असंक्षिप्तचारुचिबुकम्, आपूर्णकठिनगण्डमण्डलं संगतानुवक्रनीलस्निग्धभ्रूलतम्, अनतिप्रौढतिलकुसुमसदृशनासिकम्, अत्यसितधवलरक्तत्रिभागभासुरमधुरधीरसञ्चारमन्थरायतेक्षणम् इन्दुशकलसुन्दरललाटम् इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपङ्क्तिद्विगुणकुण्डलितम्लाननालीकनालललितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभङ्गुरो बहुलः पर्यन्तेऽप्यकपिलरुचिरायामवानेकैकनिसर्गसमः स्निग्धनीलोगन्धग्राही च मूर्धजकलापः। सेयमाकृतिर्न व्यभिचरतिशीलम्।' —दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ४१७-२१।

२. (अ) अथतदाकर्ण्य कर्णशेखरनिलीननीलनीरजायितां धीरतरलतारकां दृशं तिर्यक्किञ्चिदञ्चितां सञ्चारयन्ती, सलिलचरकेतनशरासनानतां चिल्लिकालतां कलकण्ठीकलान्यसृजत्। द० कु० च० पृ० ४६२-६४। (ब) तस्यहि कन्यारत्नस्य सकलकल्याणलक्षणैकराशेरधिगतिः क्षीरसागररशनालङ्कृताया गङ्गादिनदीसहस्रहारयष्टिराजिताया धराङ्गनाया एवासादनाय साघनम्। द० कु० च० पृ० ४७८।

उसका मर्म यह अभिव्यक्त करता है कि दण्डी के हृदय में नारी समाज के प्रति सम्मान और अनुराग की भावना थी । इसके विरुद्ध धूमिनी जैसी नृशंसहृदया नारी का यथार्थ चित्रण यद्यपि प्रस्तुत कथन का अपवाद हो सकता है तथापि यह कहा जा सकता है कि स्वभाव की विषमता भी इसका कारण है । अर्थात् सृष्टि कुलटा और क्रूरहृदया नारियों से रिक्त भी नहीं है ।

'गोमिनी' जैसी पतिपरायणा अंगना के विशद एवं वैदुष्यपूर्ण वर्णन से प्रतीत होता है कि गुणवती अंगना ही गार्हस्थ्य-जीवन के वास्तविक सुख का आधार है । अंगना ही संसार का सर्वश्रेष्ठ रत्न है ।

वराहमिहिर ने दृढ़ता के साथ कहा है, 'विधाता ने स्त्री के सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसार में नहीं बनाया है जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके । स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है, पुत्र-सुख है । इसलिए उन लोगों को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए जिनके लिए मान ही धन है । जो लोग वैराग्य का मान करके स्त्री की निन्दा किया करते हैं, इन गृहलक्ष्मियों के गुणों को भूल जाया करते हैं, मेरे मन का वितर्क यह है कि वे लोग दुर्जन हैं और उनकी बातें मुझे सद्भाव-प्रसूत नहीं जान पड़तीं । सच बताइए, स्त्रियों में कौन ऐसे दोष हैं जो पुरुषों में नहीं हैं ? पुरुषों की यह ढिठाई है कि उन्होंने उनकी निन्दा की है । मनु ने भी कहा है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणवती हैं... । स्त्री के रूप में हों या माता के रूप में, स्त्रियाँ ही पुरुषों के सुख का कारण हैं...दाम्पत्यगतव्रत के अतिक्रमण में पुरुषों को भी दोष होता है और स्त्री को भी, परन्तु स्त्रियाँ उस व्रत का जिस संयम और निष्ठा के साथ पालन करती हैं पुरुष वैसा नहीं करते । आश्चर्य है इन असाधु पुरुषों का आचरण जो सत्यव्रता स्त्रियों की निन्दा करते हुए 'उलटे चोर कोतवाल को डाटें' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं"[१]

अहो धार्ष्ट्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः ।
मुञ्चतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम् ॥

—वराहमिहिर-वृ० सं० ७४.१५

उपर्युक्त कथन 'गोमिनी' जैसी सत्यव्रता स्त्री के सम्बन्ध में पूर्णरूप से चरितार्थ होता है । दण्डी की पंक्तियों का यत्र-तत्र भाव वराहमिहिर तथा मनु के अनुकुल ही है । शक्तिकुमार की यह चिन्ता तथा उसके भाव कि—'नास्त्यदारा-

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद-हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७९ पर उद्धृत ।

णामननुगुणदाराणां वा सुखं नाम' (विना स्त्री के भी सुख नहीं होता, विना गुणवती स्त्री के भी नहीं होता) वराहमिहिर के साथ मिलते-जुलते हैं। सभी गोमिनीकृत आतिथ्य सत्कार एवं उसकी विधि निश्चय ही भारतीय संस्कृति का प्राण है, उसके द्वारा, अपने पति के वेश्यानुरक्त होने पर भी देवतावत् की गई परिचर्या तथा गृहात्मक समस्त कार्यभार का वहन'[१] निर्विवाद रूप से भारतीय आदर्श नारी के सच्चरित्र का ज्वलन्त निदर्शन कहा जा सकता है। उसके दाक्षिण्यादि गुणों पर मुग्ध होकर उसके पति ने सम्पूर्ण कुटुम्ब का भार उसको सौंप दिया, स्वत: भी उसी के अधीन होकर धर्म, अर्थ, काम आदि सुखों का आनन्द उठाने लगा।'[२]

इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय सुकुमारसाधना का सर्वोत्तम अन्त:पुर को केन्द्र करके ही प्रतिष्ठित हुआ है, समस्तमाधुर्य और मृदुत्व का उद्गम भी यहीं से हुआ हैं।

मृगया वर्णन

संस्कृत साहित्य इस तथ्य का पूर्ण साक्षी है कि मृगया भी भारतीय नागरिकों के विनोद का साधन था। बाणभट्ट की कादम्बरी में भी वन्य जनों की मृगया का वर्णन है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में राजा दुष्यन्त की मृगया का मनोहर वर्णन उपलब्ध होता है। मृगयागत गुणों का जो वर्णन हमें यहाँ मिलता है प्राय: वे ही गुण 'दशकुमारचरित' में भी गिनाये गये हैं। दोनों ही रचनाओं में मृगया को उपकारिकी सिद्ध किया गया है। शकुन्तला नाटक में कवि ने सेनापति के मुख से कहलवाया है—'लोग व्यर्थ ही मृगया को व्यसन कहा करते हैं इससे बढ़कर विनोद और क्या हो सकता है। राजा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक उपादेय विनोद है, शरीर की चर्बी कम हो जाती है, पेट खिंच कर कम हो जाता है, शरीर उत्थान के योग्य हो जाता है, पशुओं के भय और क्रोध आदि विकारों से युक्त चित्त के भावों का ज्ञान होता है, चंचल या भागते हुए लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास होता है और धनुर्धारियों का यही उत्कर्ष है।'[३]

---

१. पतिं च दैवतमिव मुक्ततन्द्रा पर्यचरत्। गृहकार्याणि चाहीनमन्वतिष्ठत्। द० कु० च० षष्ठ उ० पृ० ४२९।

२. 'तद्गुणवशीकृतश्च भर्ता सर्वमेव कुटुम्बं तदायत्तमेव कृत्वा तदेकाधीनजीवित-शरीरस्त्रिवर्गं निर्विवेश।'—दशकुमारचरित, षष्ठ उ०, पृ० ४३०।

३. मेदच्छेदकृशोदरं लघु भवति उत्थानयोग्यं वपु:, सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं

दशकुमारचरित में महाकवि दण्डी ने विहारभद्र को मृगया-गुणों का वर्णन करने का अवसर प्रदान किया है। विहारभद्र ने राजा चन्द्रपालित से, मृगया, द्यूत क्रीडा, उत्तमांगनोपभोग, मद्यपान आदि से प्राप्त होने वाले सुखों का सुस्पष्ट वर्णन किया है। उसने राजा को बताया कि 'देव, मृगया जितनी उपकारिणी होती है उतना और कुछ नहीं। मृगयागत व्यायाम के उत्कर्ष से शरीर पुष्ट होता है। आपत्ति के अवसर पर आत्म-रक्षा होती है। जाँघों में पैदल चलने की शक्ति आती है, कफ कभी उभड़ता ही नहीं, शरीर रोग से रहित रहता है, जठराग्नि उद्दीप्त होती है, चर्बी के कम होने के कारण अंगों में स्थिरता और हल्कापन का उदय होता है। शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, भूख, प्यास आदि सहन करने की अनुपम शक्ति का उद्‌भव होता है, सभी अवस्थाओं में पशुओं के मनोगत भावों का ज्ञान होता है, हरिण, भैंसा तथा गोसदृश पशुओं का वध करने से क्षेत्र के अन्न की सुरक्षा होती है, वृक (भेड़िया) और व्याध्र आदि हिंस्र पशुओं का वध करने से स्थलमार्ग निष्कंटक हो जाता है, शुद्ध हो जाता है, पर्वत और वन प्रदेश में विचरण करने से विविध प्रकार के स्थान देखने के लिए सुलभ होते हैं और निरर्थक स्थानों का सार्थकीकरण हो जाता है, सदैव आने-जाने से वन्य जन्तुओं के मन में शिकारी के प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाता है, उत्साह शक्ति में अभिवृद्धि होने से शत्रुओं में आतंक उत्पन्न करने के अनेक उपायों का ज्ञान होता है। इस प्रकार मृगया में बहुत से गुण हैं।'[१]

वस्तु वर्णन के अन्तर्गत कालवर्णन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सन्ध्या, प्रभात, रजनी, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा ऋतुओं का आह्लादकारी अनन्त वैभव निश्चय ही प्रकृति प्रेमी मानव मात्र तथा कवि के लिए अमन्दानन्द एवं उल्लास का केन्द्र कहा जा सकता है। तभी तो महाकवि कालिदास ने ऋतुओं को लेकर एक

भयक्रोधयोः। उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले, मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामिदृग् विनोदः कुतः॥—कालिदास-अभिज्ञानशाकुंतल २.५।

१. 'देव, यथा मृगया ह्यौपकारिकी न तथान्यत्। अत्र हि व्यायामोत्कर्षादापत्सूपकर्ता दीर्घाध्वलङ्घनक्षमो जङ्घाजवः, कफापचयादारोग्यैकमूलमाशयाग्निदीप्तिः, मेदोपकर्षादङ्गानां स्थैर्यकार्कश्यातिलाघवादीनि, शीतोष्णवातवर्षक्षुत्पिपासासहत्त्वम्, सत्त्वानामवस्थान्तरेषु चित्तचेष्टितज्ञानम्, हरिणगवलगवयादिवधेन सस्यलोपप्रतिक्रिया, वृकव्याघ्रादिघातेन स्थलपथशल्यशोधनम्, शैलाटवीप्रदेशानाम् विविधकर्मक्षमाणामालोचनम्, आटविकवर्गविश्रम्भणम्, उत्साहशक्तिसंधुक्षणेन प्रत्यनीकवित्रासनमिति बहुतमा गुणाः।'—दशकुमारचरित, आठवाँ उच्छ्वास, पृ० २३-२४।

स्वंतत्र ही रचना कर डाली। उनके और भी 'ऋतुसंहार' के अतिरिक्त काव्यों एवं नाटकों में कालवर्णन को स्थान मिला है। अकस्मात् जीवन-कानन में एक राकारजनी की छाया में मधुर वसंत के प्रवेश करते ही समग्रसृष्टि का कायापलट होने लगता है। मदनपूजा, कुसुमचयन, हिन्दोल-लीला आदि उल्लासपूर्ण उत्सवों से जनसामान्य का चित्त आह्लादित और आन्दोलित हो उठता है। महाकाव्यों में प्रस्तुत विषय का यथावसर सविस्तर वर्णन हुआ है। कादम्बरी, भट्टिकाव्य, मेघदूत इत्यादि सुप्रसिद्ध कृतियों में संध्या, प्रभात एवं ऋतुराज वसंत, शरद्, ग्रीष्म आदि का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। 'दशकुमारचरित' में भी यथावसर इन विषयों का वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक बन पड़ा है।

सन्ध्या-वर्णन

दशकुमारचरित के द्वितीय उच्छ्वास में काममंजरी द्वारा ठगे हुए महर्षि मरीचि और उपहारवर्मा के वार्तालाप के प्रसंग में प्रकृति के भावात्मक निरीक्षण में कवि की मौलिक उद्‌भावना का चमत्कार विशेषरूप से द्रष्टव्य है। महर्षि मरीचि की करुण कहानी सुन लेने के पश्चात् अपहारवर्मा को यह ज्ञात हुआ कि महर्षि मरीचि की दीन दशा का कारण उनका अज्ञान है।

महर्षि मरीचि के आत्मविषयक वृत्तान्त सुनाने के अन्त में सूर्यास्त हुआ, संध्या प्रस्फुटित हुई और कमलवन संकुचित हुआ। इस मौलिक सत्य के प्रतिपादन में कवि की कल्पनाशक्ति सर्वथा श्लाघ्य है। निम्नलिखित उत्प्रेक्षा में कवि की भावपूर्ण कल्पना का चमत्कार देखने योग्य है—

इसी समय उन तपस्वी जी के मन से निःसृत अज्ञानान्धकार के मानों स्पर्शभय से सूर्य भगवान् अस्त हो गए। उन्हीं ऋषि द्वारा परित्यक्त गणिकाविषयक अनुराग संध्या के रूप में परिणत हो गया। उनकी कथा के द्वारा मानों वैराग्य प्राप्त करके कमलवन संकुचित हो गए। तदनन्तर उन्हीं मुनिराज की आज्ञा से मैंने उनके साथ संध्या की और रात्रि में अनुरूप कथाओं का श्रवण करते हुए शयन कर रात्रि बिताया।"[१]

---

१. अथ तन्मनश्च्युततमः स्पर्शभियेवास्तं रविरगात्। ऋषिनुक्तश्च रागः सन्ध्यात्वेनास्फुरत्। तत्कथादत्तवैराग्याणीव कमलवनानि समकुचन्। अनुमतमुनिशासनस्त्वहममुनैव सहोपास्य सन्ध्यामनुरूपाभिः कथाभिस्तमनुशय्य नीतरात्रिः...। दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० १७७।

पुनः पंचम उच्छ्वास में राजकुमार राजवाहन के प्रति प्रमति की कितनी भावपूर्ण उक्ति है । राजवाहन के अन्वेषण में तत्पर प्रमति विन्ध्यपर्वत के सन्निकट एक वृक्ष के नीचे पहुँच कर सायंकाल का अनुपम दृश्य देखा वहीं शयन कर रात्रि बिताया, उसका वर्णन इस प्रकार है—

'उस समय अस्तोन्मुख भगवान् सूर्य नवीन किसलय रूप में पश्चिम दिशारूपी अंगना को भूषित कर रहे थे, ऐसे समय सायंकाल में एक जलाशय में आचमन करके मैंने सन्ध्या की । इतने में अन्धकार से सभी ऊँचे और नीचे स्थान समीकृत होने लगे, पृथ्वीतल पर उस स्थान से अन्यत्र जाना असम्भव हो गया । अतः वहीं पर किसलयों को एकत्र कर शैया का निर्माण कर शयन करने की इच्छावाला मै शिरपर अंजलिरूप में दोनों हाथों को रखकर 'इस वृक्ष के ऊपर जो देवता निवास करते हों वे हिंस्र पशुओं के संचरण से भयंकर, भगवान् शंकर के नीलकण्ठ के सदृश रात्रि से परिव्याप्त घोर अन्धकारमयविशाल गुफाओं वाले महावन में मुझ अकेले सोये हुए को शरण दें अर्थात् मेरी रक्षा करें ।' ऐसा कहकर बायें हाथ को तकिया बनाकर उसी के सहारे सो गया ।'

इसके पश्चात् क्षणभर में ही अवनितल के स्पर्श से शरीर के सभी अंग सुखी हो गए, सभी इन्द्रियाँ आह्लादित हो गईं, अन्तरात्मा पुलकित हो गई, शरीर के रोम-प्रतिरोम विशेषतः हर्षान्वित हो गये, उसी क्षण दाहिनी भुजा स्फुरित होने लगी ।'[१]

तृतीय उच्छ्वास में भी सूर्यास्त और चन्द्रोदय में कवि की उत्प्रेक्षा दर्शनीय है—अस्ताचल की चोटी के ऊपर से गिरने के कारण निकले हुए शोणित के समान जब सूर्यबिम्ब हो गया तथा जब पश्चिम समुद्र में सूर्य बिम्ब रूपी अंगारे के बुझने से उत्पन्न धूमपटल द्वारा आकाश परिव्याप्त हो गया और जब परस्त्री समागम में निपुण मैं आचार्य के सदृश अपनी गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करने का स्वभाव

---

१. _परिणतपतङ्गबालपल्लवावतंसिते पश्चिमदिगङ्गनामुखे पल्वलाम्भस्युपस्पृश्योपास्य सन्ध्याम्, तमःसमीकृतेषु निम्नोन्नतेषु, गन्तुमक्षमः क्षमातले किसलयैरूपरचय्यशय्यां शिशयिषमाणः, शिरसिकुर्वन्नञ्जलिम्, 'यास्मिन्वनस्पतौ वसति देवता सैव मे शरणमस्तु शरारुचक्रचारभीषणायां महाटव्यामेककस्य मे प्रसुप्तस्य' इत्युपधाय वामभुजमशयिषि । ततः क्षणादेवावतिदुर्लभेन स्पर्शेनासुखायिषत किमपि गात्राणि, आह्लादयिषतेन्द्रियाणि, अभ्यमनायिष्ट चान्तरात्मा विशेषतश्चहृषितास्तनूरूहाः पर्यस्फुरन्मे दक्षिणभुजः ।

रखने वाले ग्रहों में अग्रगण्य चन्द्रमा का अभ्युदय होते ही, मेरे दर्शन की इच्छा के पूर्व में ही प्राप्त कल्पसुन्दरी देवी के मुख-कमल से विस्मित चन्द्र-मण्डल से अभिवृद्ध तेजवाला तथा त्रिभुवन विजय की इच्छा से युक्त कामदेव के उद्यत होते ही मैंने यथोचित शय्या को स्वीकार किया।'[१]

यहाँ प्रकृति का मनोरम दृश्य, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि उपहारवर्मा के लिए उद्दीपन विभाव हैं कल्पसुन्दरी, कुमार के रति आदि भावों का आलम्बन है और आश्रय है अपहारवर्मा।

इसके आगे दूसरे दिन भी सायंकाल के प्रति उपहारवर्मा की मार्मिक उक्ति है भगवान् भास्कर का प्रकाशमान सरोवर सूखगया, अन्धकार रूपी कीचड़ आकाश में प्रसरित हो गया, चारों ओर अन्धकार फैल गया और उसी अन्धकार रूप कीचड़ से व्याप्त आकाश के रंगवाला नीला वस्त्र मैंने धारण किया।'[२]

पुनः सप्तम उच्छ्वास में मन्त्रगुप्तचरित में भी सन्ध्यावर्णन का स्वरूप कवि के भावपूर्ण हृदय का पूर्णपरिचायक है—

'तीन दिन व्यतीत हो जाने के पश्चात्, अस्ताचल के शिखर प्रदेश पर विद्यमान गुरु आदि धातुओं की प्रभा के समान कान्ति वाले, हिमालय की कन्या पार्वती की कदर्थना के अन्तरिक्ष रूप शिव की देह में संश्लिष्ट सन्ध्यारूपी अंगना के लाल चन्दनचर्चित (रंजित) एक स्तनकलश के सदृश दर्शनीय, अस्त होने वाले सूर्य के समय सायंकाल वह राजा आंध्रेश आया और मेरे भूमि पर रखे हुए चरण के नाखूनों की आभा से अपने मुकुट को आच्छादित करता हुआ बद्धाञ्जलि होकर बैठा।'[३]

---

१. -'अस्तगिरिकूटपातक्षुभितशोणित इव शोणीभवति भानुबिम्बे, पश्चिमाम्बुधिपयःपातनिर्वापितपतङ्गाङ्गारधूमसंभार इव भरिततमसि नभसि विजृम्भिते, परदारपरामर्शोन्मुखस्य ममाचार्यकमिव कर्तुमुत्थिते गुरुपरिग्रहश्लाघिनि ग्रहाग्रेसरे क्षपाकरे कल्पसुन्दरीवदनपुण्डरीकेणेव मद्दर्शनातिरागप्रथमोपनतेन स्मयमानेन चन्द्रमण्डलेन संधुक्षमाणतेजसि भुवनविजिगीषोद्यते देवे कुसुमधन्वनि, यथोचितं शयनीयमभजे।'—दशकुमारचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृ० २७२-७३।

२. अशुष्यच्चज्योतिष्मतःप्रभामयं सरः। प्रासरच्च तिमिरमयःकर्दमः। कार्दमिकनिवसनश्च दृढ़तरपरिकरः- तृ० उ०, पृ० २७७।

३. याते च दिनत्रये, अस्तगिरिशिखरगैरिकतटसाधारणच्छायतेजसि, अचलराजकन्यकाकदर्थनयान्तरिक्षाख्येन शङ्करशरीरेण संसृष्टायाः सन्ध्याङ्गनायाः रक्तचन्दनचर्चितैक-

सायं सन्ध्याओं के अतिरिक्त प्रभात सन्ध्याओं के भी रूपांकन में कवि की अनूठी कल्पनाएँ सर्वथा यथार्थ एवं मृदु भावों से ओतप्रोत हैं। कुमार मन्त्रगुप्त द्वारा भगवान् भास्कर की आराधना में सूर्य को जिन-जिन रूपों में कवि ने चित्रित किया है उनमें कवि की रम्य एवं कथा-प्रवाह के अप्रतिहत नियोजन में प्रकृति के इन रम्य क्षणों के आदर्शमय एवं यथार्थ चित्रण से महाकवि दण्डी का प्रतिपाद्य विषय औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाता। इसी लिए वर्णन अत्यन्त सरस और गम्भीर भी हैं।

राजा जयसिंह को परास्त करने की अभिलाषा से स्वहस्तनिर्मित सुरंग के द्वार के विधिपूर्वक बन्द कर लेने के पश्चात् प्रातःकाल मन्त्रगुप्त द्वारा सूर्य की आराधना होती थी। सूर्य के विविध रूपों के अंकन में भावों की व्यंजना दर्शनीय है।

'दिन के आदि में स्नानकर के विशुद्धशरीरवाला मैं मन्त्रगुप्त नक्षत्रसमूहरूपी मौक्तिकलता के अग्रग्रथित मुख्य मणि, रात्रि के अन्धकार रूपी मत्तगज को विदीर्ण करने वाले अद्वितीय सिंह, सुमेरु पर्वत के शिखररूपी नृत्यलीला के नर्तकस्वरूप, आकाशरूपी सागर की मेघरूपी तरंगों के लाँघने में मकर ग्राह, कार्य और अकार्य के द्रष्टा, सहस्रदीधिति, सहस्राक्ष की प्राचीदिशारूपी अंगना के अंगराग से लाल रश्मियों वाले सूर्य की रक्तकमलों द्वारा आराधना करके अपने निवासस्थान कुटी में चला जाता था'[१]। एतदतिरिक्त अन्य भी कतिपय स्थलों पर प्रभात-वर्णन का स्वरूप उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सन्निवेश से जितना यथार्थ एवं औचित्यपूर्ण है उतना ही वह कवि की रागात्मिका वृत्ति तथा प्रतिभा का द्योतक भी है। इन स्थलों पर कवि की पर्यवेक्षणशक्ति विशेषतः मुखरित हुई है।

स्तनकलशदर्शनीये दिनाधिनाथे, जनाधिनाथः स आगत्य जनस्यास्य धरणिन्यस्तचरणनखकिरणच्छादितकिरीटः कृताञ्जलिरतिष्ठत्।—सप्तम उ०, पृ० ४८१।

१. दिनादिस्नाननिर्णिक्तगात्रश्च नक्षत्रसंतानहारयष्ट्यग्रग्रथितरत्नम्, क्षणदान्धकारगन्धहस्तिदारणैककेसरिणम्, कनकशैलशृङ्गरङ्गलास्यलीलानटम्, गगनसागरघनतरङ्गराजिलङ्घनैकनक्रम्, कार्याकार्यसाक्षिणम्, सहस्रार्चिषं सहस्राक्षदिगङ्नाङ्गरागरागायितकिरणजालम्, रक्तनीरजाञ्जलिनाराध्य निजनिकेतनं न्यशिश्रियम्।
—दश० कु० च०, सप्तम उ०, पृ० ४८०।

तृतीय उच्छ्वास में कवि ने उपहारवर्मा के मुख से भी प्रभात का सन्देश दिलाया है—

'मैं इस प्रकार विचार कर रहा था कि महासमुद्र से आविर्भूत होते हुए भगवान् सूर्य के घोड़ों के नि:श्वासों से कम्पित रात्रि भय के कारण व्यतीत हो गई। समुद्र के भीतर निवास करने से मानों शीतल और मन्दप्रताप तेज वाले सूर्य का उदय हुआ। उठकर मैंने प्रात:काल की नित्यक्रिया की और फिर अपनी माता से कहा'[१]।

द्वितीय उच्छ्वास में अपहारवर्मा की उक्ति भी ध्यान देने योग्य है—इसी समय उदयगिरि के पद्मरागमणि के शिखर सदृश एवं कल्पवृक्ष के स्वर्णपल्लव-पुंजों की भाँति रक्तवर्ण का सूर्यमण्डल समुद्र से निकल आया और उठ कर हम दोनों ने मुँह धोकर प्रात: कालिक सभी कार्य सम्पन्न किया।'[२]

सप्तम उच्छ्वास में भी उपमादि अलंकारों से युक्त पदावली में सूर्योदय का स्वरूप उत्तम बन पड़ा है।[३]

ऋतु-वर्णन

संस्कृत साहित्य में ऋतुओं का वर्णन जितना सरल और सम्पन्न है उतना अन्य साहित्य में असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य कहा जा सकता है। भट्टिकाव्य का शरद् वर्णन, वर्षा वर्णन, रघुवंश और ऋतुसंहार का वसन्तवर्णन प्राय: सभी सहृदय आलोचकों को आह्लादित करने वाला है।

---

१. चिन्तयत्येवमयि महार्णवोन्मग्नमार्तण्डतुरंगमश्वासरयावधूतेव व्यावर्तत त्रियामा। समुद्रगर्भवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत्। उत्थायावसायितदिनमुखनियमविधिस्तां मे मातरमवादिषम्।—वही, पृ० २६०-६१।

२. तावदेवोदगादुदधेरुदयाचलेन्द्रपद्मरागशृङ्गकल्पं कल्पद्रुमहेमपल्लवापीडपाटलं पतङ्गमण्डलम्। उत्थाय च धौतवक्त्रौ प्रगेतनानि मङ्गलान्यनुष्ठायास्मत्कर्मतुमुलं...। —दशकुमारचरित, पृ० १९८-९९।

३. नीते च जनाक्षिलक्ष्यतां लाक्षारसदिग्धदिग्गजशिरः सदृक्षे, शक्रदिगङ्गना-रत्नादर्शेऽर्कचक्रे कृतकरणीयः किरणजालकरालरत्नराजिराजित- राजार्हासनाध्यासी...अगादिषम्।—वही, पृ० ४९०।

वसन्त फूलों का ऋतु है । इसीलिये अमरकोष में इसे पुष्पसमय कहा गया है । रक्तवर्ण के पलाश, कांचनार, मुक्ताफल के सदृश सिन्दुवार, कोमल शिरीष, दुग्धवत् श्वेतमल्लिका आदि पुष्पों से वनभूमि चित्र की भाँति मनोहर हो जाती है । पुष्पपल्लवों के भार से वृक्ष लद जाते हैं, कुसुमस्तवकों से पुष्पित मंजुल लताएँ मलयसमीर के झोंकों से लहराने लगती हैं, मदमत्तकोकिल और भ्रमर अकारण औत्सुक्य उत्पन्न कर लोकमानस को हिल्लोलित कर देते हैं, ऐसे समय में उत्कण्ठा का न होना ही अस्वाभाविक है । वन प्रदेश तक जब नृत्य और वाद्य से परिपूर्ण दृष्टिगत होते हैं ऐसा कौन प्राणी होगा जो मल्लिका का रस-पानकर मदमत्त भ्रमरियों के कलगान को और दक्षिणानिलरूपी शिक्षक से उपदिष्टा मञ्जुल लता की मंजरियों के नृत्यावलोकन से उत्कण्ठित न होता हो—

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां
विलसति कमनीयः काकलीसम्प्रदायः ।
इह नटति सलीलं मंजरी वञ्जुलस्य
प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार-३३३.८६

ऋतुराज वसन्त के आते ही समस्त चराचरजगत् में नव-जीवन का संचार होता है । महाकवि दण्डी ने भी 'दशकुमारचरित' में एक स्थल पर वसन्त-वैभव का रोमाञ्चकारी एवं सरस वर्णन प्रस्तुत किया है ।

वसन्त का आगम होते ही कलिंगराज अपनी रमणीया अंगनाओं, पुत्री एवं पुरवासियों के साथ समुद्र के तटवर्ती कानन में विहार की इच्छा के वशीभूत होकर पहुँचे । यहाँ का स्वाभाविक, सजीव एवं आह्लादकारी वसन्तवर्णन निश्चय ही दण्डी के प्रकृति-प्रेम और मृदुभावों का उज्ज्वल प्रतीक है ।

'इस प्रकार किसी दिन रमणीहीन पुरुषों के चित्त को क्लेशित करने वाला, मधुलोभी भ्रमर समूहों द्वारा निविड पुनांग वृक्षों को क्लान्त करने वाला, सुशोभिता वनभूमिरूपा नायिका के ललाट में विलास से तिलकुसुम धारण कराने वाला, ललित कामदेवरूपी राजा द्वारा अङ्गीकृत विकसित कर्णिकार वृक्षरूपी स्वर्णछत्र वाला, मलय पर्वत से आने वाले अनलसहयोगी पवनवेग द्वारा उत्पादित आम्रमंजरियों

पर विराजमान भ्रमरों वाला, कोकिलों की मधुर कूक से अनुरक्त रक्ताधरोष्ठियों के रतिसंग्राम के प्रथमप्रयास में अग्रगण्य स्वभाववाला, शालीनकन्याओं के अन्तःकरण में प्रेम उत्पन्न कर उन्हें लज्जारहित करने वाला, दर्दुरागिरितटवर्ती चन्दनवृक्षों से आश्लिष्ट होकर शीतलपवनरूपी आचार्य द्वारा विविध लताओं को नृत्यलीला का उपदेश करनेवाला वसन्त समय का समागम हुआ।'[१]

दुर्भिक्ष-वर्णन

कालवर्णन के सन्दर्भ में अकाल (दुर्भिक्ष) का यथार्थ वर्णन दण्डी की तीव्र निरीक्षणशक्ति का पूर्ण परिचायक है। अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष की वास्तविक झाँकी लघुकाय सशक्त पदावली में प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ उच्छ्वास में ब्रह्मराक्षस द्वारा मित्रगुप्त से पूछे गये प्रश्नों[२] के उत्तर प्रदान करने में दुर्भिक्ष-चित्रण जैसे अवान्तर प्रसंगों की चारु-चर्चा दण्डी की दूरदर्शिता तथा कथा के अन्तर्गत उप-कथाओं के सन्निवेश के नैपुण्य को अभिव्यक्त करती है। ऐसे स्वाभाविक तथा मार्मिक स्थलों के अवलोकन से प्रत्येक सहृदय के हृदय में शोक आदि विविध भावों का संचार होने लगता है।— दाँतों तले अंगुलियाँ दाबने की स्थिति आ जाती है। मित्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस के प्रथम प्रश्नोत्तर के उदाहरण में क्रूरहृदया धूमिनी की चर्चा के सन्दर्भ में अधोलिखित दुर्भिक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है—

त्रिगर्त नाम का एक नगर है। वहाँ अत्यन्त धनाढ्य धनक, धान्यक और धन्यक नाम के तीन सगे भाई थे। उनके जीवित रहने पर इन्द्र ने बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं किया। खेती क्षीण (नष्ट) हो गयी, ओषधियाँ वन्ध्या (निष्फल) हो गयीं, वृक्षों में फलफूल न रह गये, मेघ जलहीन हो गए, नदियों का प्रवाह क्षीण हो गया,

---

१. 'अथ कदाचिदायासितजायारहितचेतसि लालसालिलङ्घनग्लानघनकेसरे, राजदरण्यस्थलीललाटलीलायिततिलके, ललितानङ्गराजाङ्गीकृतनिनिद्रकर्णिकारकाञ्चनच्छत्रे, दक्षिणदहनसारथिरयाहतसहकारचञ्चरीककलिके, कालाण्डजकण्ठरागरक्तरक्ताधरारतिरणाग्रसंनाहशालिनि, शालीनकन्यकान्तःकरणसंक्रान्तरागलङ्घितलज्जे, दर्दुरगिरितटचन्दनाश्लेषशीतलानिलाचार्यदत्तनानालतानृत्यलीले काले, कलिङ्गराजः सहाङ्गनाजनेन...।'—दश० कु० च०, सप्तम उ०, पृ० ४६८-७०।

२. किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः। कः कामः संकल्पः किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा॥

सरोवरों में केवल पंक मात्र अवशिष्ट रह गया, झरनों का प्रवाह बन्द हो गया, कन्दमूल फल आदि की उत्पत्ति में कमी हो गई, कथाओं का पठन-पाठन समाप्त हो गया, कल्याणोत्सव क्रियाएँ विनष्ट हो गयीं, चोरों की वृद्धि हो गयी, प्रजा प्रजा का ही भक्षण करने लगी, नरशिरः कपाल बलाकापंक्ति के तुल्य इधर उधर पड़े हुए दृष्टिगत होने लगे, बुभुक्षित काकमण्डल इधर उधर दौड़ने लगा, नगर, गाँव, छोटेगाँव सभी शून्य दिखाई देने लगे।

उन तीनों गृहपतियों ने अपने गृह में संचित की हुई अन्नराशि को खा लेने के पश्चात् भेड़, बकरी, बकरों को खा लिया। पुनः भैंस, गाय, बछड़े, दास, दासियों, बच्चों और क्रम से बड़े भाई की पत्नी, मझले भाई की पत्नी को खा डाला। अब छोटे भाई की स्त्री को कल खायेंगे ऐसा निश्चय किया। किन्तु छोटे भाई ने अपनी स्त्री का भक्षण स्वीकार न कर वह उसी रात में अपनी स्त्री के साथ दूर भाग गया। रास्ते में जब उसे भूख-प्यास की अनुभूति होती थी तो धन्यक अपने मांस-रक्त द्वारा यथाक्रम उसकी क्षुत्पिपासा को शान्त करता था... ।[१]

इन विषयों के अतिरिक्त कवि की वर्तमान कृति में द्यूतक्रीडा, मद्यपान तथा कुक्कुट-युद्ध का भी यथार्थ किन्तु सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

द्यूतक्रीडा, मद्यपान और कुक्कुट-युद्ध आदि भी प्राचीन समय में मनोरंजन के साधन थे। द्यूतक्रीडा इत्यादि का रोमांचकारी वर्णन 'मृच्छकटिक' में भी हुआ है।

---

१. अस्ति त्रिगर्तो नाम जनपदः। तत्रासन्गृहिणस्त्रयः स्फीतसारधनाः सोदर्या धनकधान्यकधन्यकाख्याः। तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः— क्लीबा मेघाः, क्षीणस्रोतसः, स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निनिस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम्, अवहीनाः कथाः, गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन्प्रजाः, पर्यलुठन्नितस्ततो बलाकापाण्डुराणि नरशिरः कपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूतानि नगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि। त एते गृहपतयः सर्वधान्यनिचयमुपयुज्याजाविकं गवलगणं गवां यूथं दासीदासजनमपत्यानि ज्येष्ठमध्यमभार्ये च क्रमेण भक्षयित्वा 'कनिष्ठभार्या धूमिनी श्वो भक्षणीया' इति समकल्पयन्। अथ कनिष्ठो धन्यकः प्रियां स्वामत्तुमक्षमस्तया सह तस्यामेव निश्यपासरत्। मार्गक्लान्तां चोद्वहन् वनं जगाहे। स्वमांसासृगपनीतक्षुत्पिपासां तां नयन्नन्तरे...।—दशकुमारचरित, पृ० ४०९-११।

द्यूतक्रीडा

'दशकुमारचरित' (अष्टम उच्छ्वास) में द्यूतक्रीडा एवं मद्यपान की उपादेयता का वर्णन हुआ है—

विहारभद्र ने राजा चन्द्रपालित से कहा—देव, द्यूत क्रीडा से भी तृणवत् सभी वस्तुओं को त्यागने की सामर्थ्य आती है। जय और पराजय का कोई निश्चय नहीं रहता कि कब कौन पक्ष विजयी होगा और कब कौन पक्ष पराजित होगा। जुआ खेलने वाला जय और पराजय के हर्ष-विषाद से परे होता है। पौरुष में अभिवृद्धि करने वाले अमर्ष की उत्पत्ति होती है। जुए के पासे से हाथ की सफाई आदि अनुभव की कठिन बातों के ज्ञान से अनन्तबुद्धि-नैपुण्य की प्राप्ति होती है, एक ही विषय में मन के निरन्तर रत होने से चित्त की वैचित्र्यपूर्ण एकाग्रता की उपलब्धि होती है, उद्योग के सहायक कार्यों में लगन बढ़ती है, अत्यन्त कठोर स्वभाव वाले पुरुषों के संसर्ग से मन की प्रबलता या स्थिरता प्राप्त होती है, स्वाभिमान का भाव जागृत होता है और दैन्यरहित जीवन व्यतीत करने की आदत बन जाती है।[१]

इसके अतिरिक्त द्वितीय उच्छ्वास में भी पूर्ण तथा समृद्धिशाली होने की सूचना पाकर उपहारवर्मा ने धन की नश्वरता पर विशेष बल देते हुए, चौर्यशास्त्र के प्रवर्तक कर्णीसुत द्वारा विहित पथ पर चलने का संकल्प करके सर्वप्रथम जुआरियों की सभा में प्रवेश किया। 'उन लोगों का पच्चीसों प्रकार का द्यूत-क्रीड़ा-कौशल, गोटियों को रखने का स्थान, अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हाथ की सफाई, चातुर्य और उससे युक्त गर्व तथा आक्षेप से पूर्ण वाक्य, जीवन की आशा से आसक्तिशून्य होकर साहसपूर्ण कार्यों का सम्पादन, जुआ खेलने में प्रवृत्त कराने वाले (सभिक) का ज्ञान रखते हुए न्यायालय में जाकर विजयप्राप्त करना एवं प्रभावपूर्ण स्वार्थ-साधन के उपायों की जानकारी प्राप्त करना, बलवानों के साथ सान्त्वना देते हुए

---

१. द्यूतेऽपि द्रव्यराशेस्तृणवत्त्यागादनुपमानमाशयौदार्यम्, जयपराजयानवस्थानाद्धर्ष-विषादयोरविधेयत्वम्, पौरुषैकनिमित्तस्यामर्षस्य वृद्धिः, अक्षहस्त-भूम्यादिगोचराणामत्यन्तदुरुपलक्ष्याणां कूटकर्मणामुपलक्षणादनन्तबुद्धिनैपुण्यम्, एकविषयोपसंहाराच्चित्तस्यातिचित्रमैकाग्र्यम्, अध्यवसायसहचरेषु साहसेष्वरतिः, अतिकर्कशपुरुषप्रतिसंसर्गादनन्यधर्षणीयता मानावधारणं अकृपणं च शरीरवापनमिति।'—दशकुमारचरित, पृ० २४-२५।

दुर्बलों को डाँटना, ऊँचीनीची बातों से अपना पक्ष प्रबल करना, प्रलोभन देना, दाँव के विभिन्न भेद बताना, द्यूतक्रीडा में प्राप्त हुये द्रव्य का बटवारा करना, बीच-बीच में अशोभन शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले शोरगुल आदि, अनेक बातों का निरन्तर अनुभव करता हुआ मैं (उपहारवर्मा) तृप्त नहीं हुआ।'

एक बार एक धूर्त के प्रमादवश गोटी दे दिये जाने पर मैं हँस पड़ा। इस पर उसका प्रतिपक्षी धूर्त क्रोध से अपनी आखें लाल करके मुझे भस्म सा करता हुआ मेरी ओर देखकर रे छोकरे ! हँसी के बहाने मुझे जुआ खेलने की शिक्षा देता है। यह अशिक्षित खिलाड़ी अलग होकर बैठे, तू यदि अपने को अच्छा खिलाड़ी समझता है तो मैं तुम्हारे ही साथ खेलूँगा, ऐसा कहने पर द्यूताध्यक्ष की अनुमति प्राप्त होते ही खेल में संलग्न हो गया। मैंने खेल में सोलह हजार अंशर्फियाँ जीत लीं, उनमें से आधा द्यूताध्यक्ष को तथा सभ्य पुरुषों को देकर शेष आधा हिस्सा लेकर वहाँ से चल दिया।'[१]

दण्डी के द्यूतक्रीडा के इस प्रकार वर्णन से भी साहित्य-परम्परा का निर्वाह हुआ है। प्राचीन साहित्य के मनोविनोद में द्यूत का स्थान था। यह दो प्रकार का होता था। अक्षक्रीडा और प्राणिद्यूत। अक्षक्रीडा और प्राणिद्यूत दोनों ही व्यसन रूप में स्वीकार किये जाते हैं। मनु ने अट्ठारह[२] प्रकार के व्यसनों का उल्लेख किया है। इनमें दस कामज तथा आठ क्रोधज हैं। द्यूतक्रीडा का इतिहास अति प्राचीन है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३४ वें सूक्त में १० ऋचाएँ हैं जिनका विषय अक्षक्रीडा है। महाभारत भी इस तथ्य का पूर्ण साक्षी है कि द्यूत के दुष्परिणाम से उसमें भाग लेने वाले त्रस्त होते थे।

---

१. अनुप्रविश्य च द्यूतसभामक्षधूर्तैः समगंसि। तेषां च पंचविंशतिप्रकारासु सर्वासु द्यूताश्रयासु कलासु कौशलमक्षभूमिहस्तादिषु चात्यन्तदुरुपलक्ष्याणि कूटकर्माणि तन्मूलानि सावलेपान्यधिक्षेपवचनानि जीवितनिरपेक्षाणि संरम्भविचेष्टितानि सभिकप्रत्ययव्यवहारान्न्यायबलप्रतापप्रायानङ्गीकृतार्थसाधनक्षमान्बलिषु सान्त्वनानि दुर्बलेषु भर्त्सितानि पक्षरचनानैपुण्यमुच्चावचानि.... चान्यानि चानुभवन्न तृप्तिमध्यगच्छम्॥ —दशकुमारचरित, पृ० १८४-८६।

२. मनुस्मृति-७.४७-४८।

ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने महाभारत एवं याज्ञवल्क्य संहिता तथा पौराणिक कथाओं का सम्यक् अध्ययन कर उनका विशद ज्ञान प्राप्त किया था जिसका प्रभाव उनकी कृति (दशकुमारचरित) में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है ।

डा० हजारी प्रसाद जी ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि याज्ञवल्क्य संहिता के व्यवहाराध्याय में द्यूतसमाह्वय नाम का एक प्रकरण है । इसका विषय है द्यूत और समाह्वय । निर्जीव पाशादि से खेलने वाली क्रीडा को द्यूत कहते हैं । इसमें जिस द्यूत का वर्णन है उससे जाना जाता है कि द्यूत से जीते हुए पण में राजा का हिस्सा होता था और सभिक अर्थात् जुआ खेलने वाला धूर्त कितवों से रक्षा करने के लिए प्राप्य पण दिया करता था... । द्यूत सभा में चोरी न हो इसके लिए राजा की ओर से एक अध्यक्ष नियुक्त हुआ करता था । मेष, महिष, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बंद कर जो क्रीडा हुआ करती थी उसे, समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा करते थे ।[१]

द्यूत और समाह्वय इन दोनों ही विषयों का वर्णन दशकुमारचरित में प्राप्त होता है ।

मद्यपान

इसी प्रकार मद्यपान में भी विविध प्रकार के रोगों को दूर करने वाले मद्य का सेवन करने से स्पृहणीय अवस्था प्राप्त की जा सकती है, अलंकार के प्रकर्ष से अशेष समस्त दुःखों का निवारण हो जाता है, मदिरा से वासना उद्दीप्त होती है, जिससे अंगना के साथ सम्भोग करने की शक्ति तीव्र होती है, अपराधों को क्षमा करते रहने से मन का उद्वेग दूर हो जाता है, गुप्त बातों के सूचक एवं निरर्थक विवाद से भी विश्वास उत्पन्न करा देने की शक्ति आती है, राग-द्वेष दूर हो जाने के कारण आनन्द ही आनन्द दृष्टिगत होता है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि, का अनुभव, होता रहता है, सम्यक् विभाजन करके वस्तुओं के उपभोग से अपने मित्रों और सगे सम्बन्धियों में एकता बनी रहती है, शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, उत्कृष्ट कोटि के सुखों की तथा भय के कारण उत्पन्न होने वाला संकट टालते रहने से युद्ध-कौशल की प्राप्ति होती है ।[२]

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० १३९-४० ।

२. पानेऽपि नानाविधरोगभङ्गपटीयसामासवानामासेवनात्स्पृहणीयवयोव्यवस्थापनम्, अलङ्कारप्रकर्षादशेषदुःखतिरस्करणम्, अङ्गजरागदीपनादङ्गनोपभोगशक्ति-

कुक्कुट-युद्ध

दशकुमारचरित के पञ्चम उच्छ्वास में कुक्कुटों की लड़ाई की चर्चा हुई है। इसी सन्दर्भ में कवि ने दो एक मौलिक सत्यों का भी प्रतिपादन किया है— इन मूर्खों के विवाद करने से क्या लाभ ?[१] 'अवस्था के प्रतिकूल होने पर भी वृद्ध ने मेरे साथ मित्रता कर ली।'[२] मित्रता प्रायः सम ही के साथ सुनी जाती है।

कुक्कुटों की लड़ाई का भी मनोविनोद में महत्त्वपूर्ण स्थान था। लड़ाई के समय दोनों पक्ष की ओर भीड़ हुआ करती थी। चोचों और पंजों से इनकी लड़ाई होती है। सिंह को मात करने वाले इन मुर्गों के शब्द होते हैं। पूर्व देशीय कुक्कुट पश्चिम की अपेक्षा शक्तिशाली हुआ करते हैं ऐसा भी निर्देश किया गया है— कुमारी नबमालिका की प्राप्ति के लिए श्रावस्ती नगर की ओर अनंग को विह्वल होकर जाते हुए प्रमति ने देखा कि मार्ग में वणिकों के विशाल ग्राम में एक स्थान पर मुर्गों के युद्ध का कोलाहल हो रहा था। मैं भी वही पर पहुँच कर युद्ध देख कर मन्द-मन्द हँसने लगा। समीप में ही बैठे हुए किसी वृद्ध धूर्त ब्राह्मण ने धीरे से मुझसे हँसने का कारण पूछा। मैंने उत्तर दिया—'पूर्वदेशीय नारिकेल जाति के कुक्कुट के साथ पश्चिमदेशीय बलाका जाति के कुक्कुट का बिना विचार किये हुए युद्ध कराना समीचीन नहीं है क्योंकि पश्चिमदेशीय कुक्कुट पूर्वी की अपेक्षा अधिक बलवान एवं आकारसे भी बड़ा होता है। इसकी शिखा लाल होती है वह वृद्ध ब्राह्मण भी कुक्कुट युद्ध क्रिया से परिचित था इसलिए 'इन मूर्खों से विवाद करने से क्या लाभ? चुप रहो' इस प्रकार कह कर उसने अपने पान के डब्बे से कर्पूर से सुवासित पान निकाल कर मुझे देकर अनेक विचित्र कथाओं को कहता हुआ क्षण भर समय व्यतीत किया। परस्पर प्रहार करते हुए दोनों मुर्गे क्रुद्ध होकर अपनी चोंच व तीक्ष्ण पंजों से लड़े। उन कुक्कुटों की ध्वनि सिंहनाद को भी तिरस्कृत

सन्धुक्षणम्, अपराधप्रमार्जनान्मनःशल्योन्मार्जनम्, अश्राव्यशंसिभिरनर्गलप्रलापैर्विश्वासोपबृंहणम्, मत्सराननुवन्धादानन्दैकतानता, शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां सातत्येनानुभवः, संविभागशीलतया सुहृद्वर्गसंवर्गणम्, अनुपमानमङ्गलावण्यम्, अनुत्तराणि विलसितानि, भयार्तिहरणाच्च सांग्रामिकत्वमिति।'—दशकुमारचरित, पृ० २६, अ० उ०।

१. सोऽपि तज्ज्ञः 'किमज्ञैरभिर्व्युत्पादितैः तूष्णीमास्स्व।'

२. सोऽपि विटः...मयि वयोविरुद्धं सख्यमुपेत्य...।

करने वाली थी। इस प्रकार पंख फैलाकर वे लड़े। अन्त में पश्चिमदेशीय कुक्कुट पराजित हो गया।'

वह वृद्ध धूर्त भी अपने पक्ष के कुक्कुट के विजयी होने पर आनन्दित हुआ।[१]

---

१. 'मार्गे च महति निगमे नैगमानां ताम्रचूडयुद्धकोलाहलो महानासीत्। अहं च तत्र सन्निहितः किञ्चिदस्मेषि। सन्निधिनिषण्णस्तु मे वृद्धविटः कोऽपि ब्राह्मणः शनकैः स्मितहेतुमपृच्छत्। अब्रवं च—'कथमिव नारिकेलजातेः प्राच्यवाटकुक्कुटस्य प्रतीच्यवाटः पुरुषैरसमीक्ष्य बलाकाजातिस्ताम्रचूडो बलप्रमाणाधिकस्यैवं प्रतिविसृष्टः इति। सोऽपि तज्ज्ञः 'किमज्ञैरेभिर्व्युत्पादितैः। तूष्णीमास्स्व' इत्युपहस्तिकायास्ताम्बूलं कर्पूरसहितमुद्धृत्य मह्यं दत्वा चित्राः कथाः कथयन्क्षणमतिष्ठत्। प्रायुध्यत चातिसंरब्धमनुप्रहारप्रवृत्तस्वपक्षमुक्तकंठीरवरवं विहङ्गमद्वयम्। जितश्चासौ प्रतीच्यवाटकुक्कुटः। सोऽपि विटः स्ववाटकुक्कुटविजयहृष्टः...।—दशकुमारचरित, प० उ० ३६४-६६।

अष्टम अध्याय

अलङ्कार

अलङ्कार काव्यपुरुष के शोभाधायक तत्त्व हैं। अप्रतिम लावण्योपेता अंगना की शोभा की अभिवृद्धि में जो स्थान कटक, हारादि आभूषणों का होता है, कविताकामिनी के सौंदर्यातिशय्य में वही स्थान अनुप्रासोपमादि शब्दार्थालंकारों का स्वीकार किया जाता है। सर्वविधसौंदर्यसम्पन्ना सुन्दरी के स्वरूप में इन आभूषणों की अनुपस्थिति में जैसे किसी एक मुख्य प्रसाधन के अभाव की प्रतीति होती है इसी प्रकार सर्वलक्षणोपेता कविताकामिनी के स्वरूप का भी उपमादि अलंकारों के अभाव में अरुचिकर होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है।

'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकार:' इस सम्मान्य करणप्रधान व्युत्पत्ति[१] के द्वारा जो शब्द तथा अर्थ के उपस्कारक धर्म हैं उन्हें अलंकार कहते हैं।

कर्तरि अर्थ में 'अलंकरोति इति अलंकार:' अर्थात् जो अलंकृत करता है वह 'अलंकार' है। 'अलंकृति: अलंकार:' इस भावात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकरण ही अलंकार है।

उपलब्ध लक्षणग्रन्थों में भामह के काव्यालंकार से यह विदित होता है कि भामह ने वक्रोक्ति को ही 'अलंकार' का बीज स्वीकार किया है।[२]

आचार्य दण्डी ने 'काव्य के शोभाकारक धर्मों को ही 'अलंकार' की संज्ञा प्रदान की है।'[३]

---

१. करणव्युत्पत्यापुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.२

२. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति:॥ भामह- काव्यालंकार १.३६।

३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। दण्डी-काव्यादर्श २.१।

आचार्य वामन ने 'सौन्दर्य' को ही अलंकार माना है ।[१]

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के शोभाधायक धर्म को ही अलंकार की संज्ञा प्रदान की है ।[२]

आचार्य भामह से भी पूर्व, संस्कृत साहित्य में अलंकारों का निर्देश भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है । उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक—इन चार अलंकारों का भरतमुनि ने नाम लिया है[३] अलंकार शब्द का प्रयोग अति प्राचीन प्रतीत होता है । न केवल लौकिक संस्कृत साहित्य में ही अपितु वैदिक साहित्य में भी अलंकारों के वाचक शब्द इवादि का प्रयोग मिलता है । 'अलंकार' के प्रादुर्भाव का निश्चित समय तो अज्ञात ही है इतना अवश्य है कि वैदिक युग से अद्यावधि 'अलंकारों' का प्रयोग होता चला आ रहा है ।

यहाँ इस प्रकार का कथन भी समीचीन प्रतीत होता है कि प्राय: सभी शास्त्रों के विकास का यह क्रम रहा है कि पहले उनका स्वरूप अत्यल्प और संक्षिप्त रहता है अनन्तर नवीन शाखा-प्रशाखाओं, भेदप्रभेदों द्वारा उनका विस्तार हुआ करता है । इस प्रकार एक शास्त्रीय साहित्य विशाल और विस्तारपूर्ण हो जाता है । नदियों के प्रवाह के तुल्य शास्त्रों की स्थिति होती है । उद्‌भवस्थान में जैसे नदियों का प्रवाह बहुत मन्द होता है, समुद्र के समीप पहुँचते-पहुँचते उसका वेग और भी तीव्र हो जाता है । वस्तुत: शास्त्रों की भी यही स्थिति स्वीकार की जाती है ।

किसी शास्त्र का साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध वेदों से अवश्य होना चाहिए वही इसकी प्रामाणिकता और उपादेयता का मूल कारण माना जाता है । अन्यथा वे अवैदिक, अप्रामाणिक एवं उपेक्षा के विषय होते हैं । इस प्रकार किसी भी शास्त्र का वेदों से साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध उसकी उपादेयता और लोकप्रियता का परम प्रयोजक तत्त्व होता है ।

---

१. 'सौन्दर्यमलंकार:' । वामन-काव्यालंकार १.१.२ ।

२. तमर्थवलम्बन्ते..गुणा: स्मृता: ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ॥ ध्वन्यालोक-२.६ ।

३. उपमारूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलङ्कारस्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया: ॥ भरत-नाट्यशास्त्र १७.४३ ।

राजशेखर ने 'अलंकार' को, वेद के छः अंगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष, के साथ सातवाँ अंग माना है क्योंकि यह वेद के अर्थ-ज्ञान का साधन है। अलंकार-ज्ञान के अभाव में वेदार्थ का सम्यक् ज्ञान असम्भव है। इसी स्थल पर कवि ने श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक मन्त्र भी उद्धृत करते हुए सिद्ध किया है कि विना अलंकार-ज्ञान के वेदार्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'सुन्दर पंखों वाले, एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्रता रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं। उन दोनों में से एक स्वादयुक्त फलों को खाता है और दूसरा बिना कुछ खाए ही प्रकाशित होता है।'[१]

यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार द्वारा एक ही शरीर में रहने वाले जीवात्मा और परमात्मा, आलंकारिक भाषा में दो पक्षियों के रूप में अभिहित हुए हैं। वेद-मन्त्रों में ऐसे अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में उपमा,[२] रूपक,[३] अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने भी उपमा अलङ्कार की विवेचना करते हुए अनेक उपमालंकृत मन्त्रों के उद्धरण दिए हैं और उपमा के अनेक भेदों का भी वर्णन किया है।

निघण्टु के वैदिक उपमा के निर्देशक निपातों के उल्लेख के सन्दर्भ में महर्षि यास्क ने गार्ग्यकृत उपमालक्षण का निर्देश किया है।[४] उदाहरण में अनेक ऋचाएँ

---

१. 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्यौतिषं च अंगानि' इत्याचार्याः। 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगम्' इति यायावरीयः ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। राजशेखर-काव्यमीमांसा, अ० २, पृ० ६-७।

२. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीचि गर्तारुगिव सनये घनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥ ऋ० वे० १.१२४.७।

३. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥—कठोपनिषद् १.३.३।

४. अथात उपमा यत् अतत् तत्सदृशमितिगार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। निरुक्त ३.१३।

भी उद्धृत की हैं। भूतोपमा सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि उसके अनेक भेदों का भी वर्णन किया है।

पाणिनि ने उपमान, उपमेय आदि के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों का प्रणयन किया है।[१]

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि अलंकार सम्प्रदाय पर्याप्त प्राचीन है। प्राचीन प्रशस्तियाँ भी जो उपलब्ध हैं उनमें भी अलंकृत गद्य का अस्तित्व है। गिरनार में महाक्षत्रप रुद्रदामन का खुदवाया हुआ लेख है जिससे यह निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि सन् १५० ई० के पूर्व संस्कृत के सुन्दर अलंकृत गद्य-काव्य का अभाव नहीं था।

उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट होता है कि महाक्षत्रप स्फुटलघु-मधुर-चित्र-कान्त शब्द-समयोदारालंकृत गद्य-पद्य के मर्मज्ञ थे जिससे यह भी ज्ञान होता है कि न केवल अलंकृत गद्य का ही अपितु अलंकारशास्त्र का भी अस्तित्व था।

प्राचीन आलंकारिकों— भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने इस विषय पर गम्भीर एवं सूक्ष्म विचार किया है। गुणों और रस को मानते हुए भी उनका अन्तर्भाव अलंकारों में ही किया। आगे चलकर आचार्य आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त, महिमभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ, पं० राजजगन्नाथ, क्षेमेन्द्र आदि ने इस विषय पर पर्याप्त विचार करते हुए अलंकार शास्त्र को गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्रों के अन्तर्गत ले आने का पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्न किया। राजशेखर ने भी लौकिक तथा वैदिक, पौराणिक और दार्शनिक सभी दृष्टियों से इस शास्त्र की उपादेयता तथा प्रामाणिकता को सिद्ध करने का युक्तिपूर्ण प्रयास किया है।[२]

ग्रन्थ के आदि में भी काव्य के सम्बन्ध में इनका अलौकिक कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

'भगवान् श्रीकण्ठ (शिव) ने काव्य अथवा साहित्य विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य

---

१. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यांतृतीयान्यतरस्याम् ।२.३.७२।
उपमानानि सामान्यवचनैः २.१.५५।
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।२.१.५६।

२. काव्यमीमांसा-राजशेखर, द्वितीय अध्याय, पृ० ६-७।

स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों-ऋषियों को किया था। इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था जिसकी देवता भी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ सर्वसमयविद् और दिव्यदृष्टि वाले उस काव्यपुरुष को भू, भूव और स्वर्ग—त्रिलोकनिवासिनी प्रजा में काव्य-विद्या के प्रचार का उपदेश दिया। काव्य-पुरुष ने १८ भागों में विभक्त काव्य-विद्या का उपदेश सर्वप्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को किया। उनमें से एक-एक शिष्य ने उस काव्य विद्या के विशेषज्ञ के रूप में अपने-अपने विषय की पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-रचना की[१]।

सहस्राक्ष ने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण का प्रणयन किया। उक्तिगर्भ ने उक्ति-विषयक ग्रन्थ का, सुवर्ण नाम ने रीतिविषयक, प्रचेता ने अनुप्रास सम्बन्धी, यम ने यमक का, चित्रांगद ने चित्रकाव्य का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्त्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का (उपमा अलंकार का), पाराशर ने अतिशयोक्ति, उतथ्य ने अर्थश्लेष का कुवेर ने उभयालंकारिक (शब्दालंकार और अर्थालंकार) का, कामदेव ने वैनोदिक का, भरत ने नाट्य विषय का, नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण (वृहस्पति) ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का और कुचमार ने औपनिषदिक का स्वतन्त्र रूप से निर्माण किया।'[२]

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति ने भी अलंकार का लक्षण व उनके भेद-प्रभेद सहित वैदुष्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। मम्मट और विश्वनाथ की दृष्टि में अलंकार परम्परा सम्बन्ध से रस का उपकार करते हैं।[३]

---

१. वही, प्रथम अध्याय का आरम्भ।

२. तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्ण- नामः, आनुप्रासिकं प्रचेताः;यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकानिरूपनीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयांचक्रुः।—राजशेखर-काव्यमीमांसा-प्रथम अध्याय।

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेणजातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ मम्मट, काव्यप्रकाश ८.६७।
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते गदादिवत्॥ विश्वनाथ, सा० द० १०.१।

आचार्य मम्मट ने अलंकार लक्षण की कारिका की वृत्ति में विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है । कविता के अलंकार वे हुआ करते हैं जो कविता के वाचक और वाच्य शब्द और अर्थ रूप अंगों के सौन्दर्य की वृद्धि किया करते हैं जैसे हारादि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अङ्गों की । किन्तु अलंकारों से वाच्यवाचक रूप अङ्गों की सौन्दर्यवृद्धि तभी संभव है जब कविता का व्यक्तित्व— कविता का रसरूप आत्मतत्त्व सुन्दर हो क्योंकि आभूषणों से भी कण्ठ आदि अङ्गों की शोभा में तभी अभिवृद्धि सम्भव होती है जबकि उन्हें धारण करने वाली स्त्री सुन्दरी हो अन्यथा तो जैसे किसी कुरूप स्त्री के हारादि आभूषण देखने वालों के लिए दृष्टिवैचित्र्य से लगते हैं वैसे ही नीरस कविता के अनुप्रास आदि अलंकार पाठकों के लिए वैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं ।[१]

पण्डित राज जगन्नाथ ने अलंकार को काव्य के आत्मभूत व्यंग्य का रमणीयताप्रयोजक धर्म बताया है ।[२]

ध्वन्यालोक लोचन की टिप्पणी में गोस्वामी दामोदर द्वारा भी अलंकार की परिभाषा का परिष्कार प्रस्तुत किया गया है ।

'अलंकारत्वं च रसादि प्रतियोगिकभेदवत् व्यंग्यप्रतियोगिकभेदविशिष्ट-शब्दार्थान्यतरनिष्ठविषयितसम्बन्धावच्छिन्न चमत्कृतिजनकतावच्छेदकतावच्छेद-कत्वम् ।'

ध्वन्यालोक लोचन-'बालप्रिया टीका' टिप्पणी

पृष्ठ ८, १९४० चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी ।

अलंकारशास्त्र के इतिहास को देखने से विदित होता है कि आचार्य भामह से पूर्व इस शास्त्र का क्षेत्र संकुचित था । भरत तथा भामह के पूर्व कदाचित् अलंकारशास्त्र में विशेष प्रगति नहीं हुई थी । भामह ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि उनके पूर्व वाणी के केवल पाँच-अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक

१. येवाच्यवाचकलक्षणांगातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यंगानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽप्युपकारका हारादय इवालंकाराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।

२. काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। —पण्डितराज जगन्नाथ-रसगंगाधर।

तथा उपमा अलंकार ही उदाहृत हुए हैं ।[१] अलंकारों की विस्तृत सूची की उपलब्धि सर्वप्रथम भामह के ही काव्यालंकार में होती है । इसके पश्चात् दण्डी आदि आचार्यों के द्वारा अलंकारों का सुविस्तृत एवं विशद विवेचन हुआ है ।

अलंकारों के निरूपण में यत्र-तत्र प्राय: सभी आचार्यों में मतभेद भी उपलब्ध होता है । यत्र-तत्र भामह और दण्डी में अलंकारविषयक पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है । दण्डी ने अपने से पूर्व भरतादि आचार्यों द्वारा प्रदर्शित किए गए अलंकारों के बीच—संक्षिप्तरूप का सम्यक् प्रकारेण संस्कार करने में ही अपना परिश्रम सफल समझा है ।[२]

एक बात अलंकारों के सम्बन्ध में और भी ध्यान देने योग्य है कि उनका अलंकारत्व और रमणीयता प्रयोजकत्वगुण उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग अथवा सन्निवेश में निहित होता है । क्योंकि अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का और कोई कारण होता ही नहीं । अस्तु औचित्य ही काव्य के रसरूप आत्मतत्त्व का अनिवार्य गुण है । अलंकार की अलंकारता उनके उचित स्थान में विन्यस्त होने में होती है ।[३] अलंकार के अभाव में कुण्डलादि से अलंकृत भी शव-शरीर शोभित नहीं होता । इसी प्रकार अलंकार के अनौचित्य के कारण कटक आदि से अलंकृत भी यति-शरीर हास्यास्पद होता है ।'[४] सुन्दर, स्वस्थ और सजीव शरीर अलंकारों के सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रयोग की अपेक्षा रखता है । सुविशाल नेत्रों की शोभा अञ्जन से ही होती है, उन्नत पीन पयोधरों की शोभा मुक्ताहारों से ही होती है ।[५] अलंकार ही

---

१. अनुप्रासः स यमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः ॥ भामह - काव्यालंकार २.४ ।

२. किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।
तदेव प्रतिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥

३. उचितस्थानपविन्यासादलंकृतिरलङ्कृतिः ।—क्षेमेन्द्र-औचित्यविचार चर्चा, पृ० ६

४. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलङ्कार्यस्याभावात् । यति कटकादियुक्तं हास्यावहे भवति अलङ्कार्यस्य अनौचित्यात् ॥—ध्वन्यालोक-लो॰ द्वि० उ० ।

५. दीर्घापाङ्ग नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री
स्तुङ्गाभोगो प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः ।- भोजराजकृत स० क० म० १.२६ ।

काव्य का सर्वस्व है । आभूषणों से विहीन रमणीय भी स्त्री जैसे शोभित नहीं होती उसी प्रकार अलंकार रहित सुन्दर भी शब्द तथा अर्थ शोभा को प्राप्त नहीं होते ।[१]

आख्यानग्रन्थों में अलंकारों की दृष्टि से दण्डी का 'दशकुमारचरित' सुबन्धु की 'वासवदत्ता' तथा बाणभट्ट की 'कादम्बरी' से सर्वथा भिन्न है । न तो दण्डी प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध की रचना करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हुए से प्रतीत होते हैं और न ही बाणभट्ट की तरह श्लेष की शृंखला से उनकी गद्यरचना शृंखलित हुई है । इन अलंकारों के सन्निवेश में औचित्य का विशेष ध्यान दिया गया है । शब्दालंकारों में विशेषतः अनुप्रासों की ही औचित्यपूर्ण योजना की गई है । यमक तथा श्लेष को भी कतिपय स्थलों पर अवसर मिला है । अर्थालंकारों में सर्वत्र उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि मुख्य अलंकारों का ही प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है । ग्रन्थगत प्रायः सभी अलंकार स्वाभाविक तथा मनोरम अभिव्यक्ति के पोषक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं ।

शब्दालंकार

अनुप्रास

'समानवर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं ।'[२]

'वर्णों अर्थात् व्यञ्जनों के सादृश्य को अनुप्रास कहते हैं ।'[३]

दण्डी ने अनुप्रास का लक्षण इस प्रकार किया है—

'वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥'

—दण्डी-काव्यादर्श १.५५ ।

'पाद या पदों में समान वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं । वर्णों की आवृत्ति दो या तीन वर्णों के व्यवधान से अधिक व्यवधान होने पर अनुप्रास नहीं माना जा सकता । समीपस्थ वर्णों की आवृत्ति ही चमत्कारिणी होती है । दण्डी का अभिप्राय यह है कि एक बार अभी जिस वर्ण का उच्चारण किया गया उसके सुनने से जातसंस्कार जब तक विद्यमान है तब तक दूसरे तत्सम वर्ण का उच्चारण हो

---

१. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥—भामह-काव्यालंकार १.१३ ।

२. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।—भामह, काव्यालंकार २.५ ।

३. वर्णसाम्यमनुप्रासः ।—मम्मट-काव्यप्रकाश ९.१०४ ।

जाना चाहिए तभी अनुप्रास अलंकार होता है। उदाहरण भी दण्डी ने पादगत[1] एवं पदगत[2] दोनों ही (अनुप्रास) अलंकारों का दिया है और यह भी सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादित किया है कि अति दूरान्तरश्रुति[3] होने के कारण अनुप्रास की स्थिति नहीं होती।

जिस पदसमुदाय में समानकण्ठादिस्थानजन्य वर्णों का अव्यवहित श्रुति-उच्चारण किया गया हो उसको श्रुत्यनुप्रास कहते हैं, ऐसा ही पदसमुदाय रसव्यंजक होता है।[4] तथा जैसा कि अभी कहा जा चुका है पद एवं पादगत समीपस्थ एवं वर्णान्तर से अव्यवहित वर्णों की आवृत्ति में ही वृत्यनुप्रास मान्य होता है।

दण्डी के दशकुमारचरित में विशेषत: इन अनुप्रासों की छटा सर्वत्र उपलब्ध होती है। निम्नांकित पंक्तियाँ अनुप्रास का प्रशस्त निदर्शन प्रस्तुत करती हैं। विशेषत: दशकुमारचरित के सप्तम उच्छ्वास में जहाँ पवर्ग अक्षरों का प्रयोग नहीं है अनुप्रास-प्रचुरता दृष्टिगत होती है—

'सखे ! सैषा सज्जनाचरिता सरणि: यदणीयसि कारणेऽनणीयानादर: संदृश्यते।'—पा० उ०, पृ० ४६१-६२।

'नीलनीरदनिकरपीवरतमोनिविडितायां, राजवीथ्याम्', पृ० १८९

'प्रविश्य वेश्माभ्यन्तरमदभ्राभ्रनिर्घोष गम्भीरेण स्वरेण', पृ० १४८

'कार्याकार्यसाक्षिणं सहस्रार्चिषं सहस्राक्षदिगङ्गनाङ्गरागरागायितकिरणजालम्'—पृ० ४५०, स० उ०।

'इन्दुगभस्तिसम्भारभासुरं हंसदुकूलशयनम्,' पृ० ३५०, पं० उ०।

---

१. चन्द्र शरन्निशोत्तमे कुन्दस्तबकविभ्रमे। इन्द्रनीलनिभं लक्ष्यसंदधात्यलिनः श्रियम्।
—दण्डी, काव्यादर्श १.५६

२. चारुचान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्येतदम्बरे।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम्॥ १.५७

३. इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम्।
न तु रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति १.५८।

४. ययाकयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥—दण्डी, काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद-५२

'का चेयं देवीवारविन्दहस्ता शारदशशाङ्कमण्डलामलदुकूलोत्तरच्छदमधिशेतेशयनतलम्'- पं० उ०, पृ० ३५१ ।

'देव दैवानुग्रहेण यदि कश्चित् भाजनं भवति विभूतेः'- पृ० ८, अ० उ० ।

'रक्तनीराञ्जलिनाराध्य निंजनिकेतनं न्यशिश्रियम् ।' पृ० ४८० स० उ० ।

परिमलः पवनासुसारी...प्रावात्सीत् । कालाण्डजकण्ठरागरक्तरक्ताधरारतिरणाग्रसंनाहशालिनि, शालीनकन्यकान्तःकरणसंक्रान्तरागलङ्घितलज्जे..., तरलतरङ्गशीकरासारसङ्गशीतले सागरतीरकानने क्रीडारसजातासक्तिरासीत् ।- स० उ०, पृ० ४६९-७० ।

'चलितरक्षसि क्षरितनीहारे निजनिलयनिलीननिःशेषजनेनितान्तशीतेनिशीथे घनतरसालशाखान्तराल निह्लादिनेत्रनिंसीनीं निद्रांनिगृह्णन्', पृ० ४८७ ।

'चण्डतरदण्डिदण्डताडनत्रस्तजनदत्तान्तरालया राजवीथ्या' पृ० ४८९ ।

तथादिष्टे च हृष्टे क्षितीशे गते निशिनिशि निर्निशाकरार्चिषि नीरन्ध्रान्धकारकणनिकरनिगीर्णदशदिशि निद्रानिगडितनिखिलजनदृशि निर्गत्य जलतलनिलीनगाहनीयं नीरन्ध्रं कृच्छ्राच्छिद्रीकृतान्तरालम्'...पृ० ४७९, स० उ० ।

इसके अतिरिक्त और अनुप्रासयुक्त पदावली दशकुमारचरित में प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है जिससे शब्दालंकारों में दण्डी की अनुप्रासप्रियता व्यक्त होती है ।

जैसे 'संततगीतसङ्गीतसङ्गताङ्गनासहस्रशृङ्गारहेलानिरर्गलानङ्गसङ्घर्षहर्षितश्च...'पृ० ४७१ 'ततश्च तटस्खलितजलस्थगितजलजषण्ड चलितदण्डकण्टकाग्रदलितदेहराजहंसत्रासजर्जररसितसंदत्तकर्णस्य' (पृ० १४२) 'अहमस्मि सोमरश्मिसम्भवासुरतमञ्जरी नाम सुरसुन्दरी', पारग्रामिकान् प्रयोगान् प्रायः प्रायुङ्क्ते, अस्य मे प्राणापहारिणींपिपासां प्रतिकर्तुमुदंचिन्निह कूपे कोऽपि निष्फलोममैकशरणभूतः पतितः, प्राहसीच्च प्रीतिफुल्ललोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः, प्रमतिमेव पश्यन्प्रीतिस्मेरः प्रस्तूयतां तावदिदानीमात्मचरितम्,' तावदेवोदगादुदधेरुदयाचलेन्द्रपद्मरागशृङ्गकल्पं कल्पद्रुमहेमपल्लवापीडपाटलं पतङ्गमण्डलम्,' 'तामप्यचिरादयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति,' 'त्वमेवोन्मत्ता यानुन्मत्त इत्युन्मतं मुक्तवती', मद्दर्शनलज्जया पुष्पमयं पञ्जरं, पञ्चविन्दुप्रसृतेषु पञ्चापि पञ्चबाणबाणान्युगपदिवानिपततः', कलिंगराजस्य कर्दनस्य कन्यां कनकलेखां कन्यागृहादि-

हानय' इति, 'आर्य, कदर्यस्यास्य कदर्थवान्न कदाचिन्निद्रायाति नेत्रे,' इत्यादि इन मार्मिक प्रसंगों में मर्यादित अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। ऐसे श्रवणसुखद एवं ललितपदविन्यास में 'दण्डिनः पदलालित्यम्' उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है।

यमक

महाकवि दण्डी के दशकुमारचरित में अनुप्रास की तरह यमक का प्रचुर प्रयोग अनुपलब्ध सा ही है। शब्दालंकारों में अनुप्रास ही दण्डी का प्रिय अलंकार प्रतीत होता है। भोजराज ने भी श्रुत्यनुप्रास की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[१] काव्यादर्श में जितना विस्तृत स्वरूप यमक का प्रस्तुत किया गया है उतना उसका यहाँ प्रयोग नहीं हुआ है।

आचार्य भामह ने यमक का लक्षण इस प्रकार किया है-'समान उच्चारण वाले भिन्नार्थक वर्णों की जहाँ पुनरावृत्ति हो वहाँ यमक अलंकार होता है।'[२]

आचार्य दण्डी के अनुसार 'वर्णसंघात की आवृत्ति को यमक कहते हैं।' वर्णसंघात का अव्यवहित व्यवहित पुनः पुनः उच्चारण या आवृत्ति को यमक कहते हैं। ऐसा यमक पदों के आदि, मध्य, एवं अन्त में रहा करता है।'[३]

आचार्य मम्मट कृत यमक का लक्षण इस प्रकार है—'अर्थ के होने पर जहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्ण अथवा वर्णसमूह की पूर्वक्रमांनुसार आवृत्ति होती है वहाँ यमक अलंकार होता है।'[४] 'दशकुमारचरित' में निम्नांकित पंक्ति में यमक

---

१. आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता।
अलङ्कारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते॥
प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः।
सनाथैच हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रता॥
यथा ज्योत्स्ना शरच्चन्द्रं यथा लावण्यमंगनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्तुमिहक्षमः॥'

२. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥-भामह-काव्यालंकार, २.१७।

३. 'आवृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां कवयो विदुः'- दण्डी, काव्यादर्श, १.६१।
'अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः।'
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम्॥ दण्डी-काव्यादर्श, ३.१।

४. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्—काव्यप्रकाश, ९.८३।

अलंकार है जहाँ नवमालिका (कन्या) को अपने सौकुमार्य से नवमालिका (अभिनवा लता) को तिरस्कृत करना बताया गया है—

तस्यदुहिता...सौकुमार्यविडम्बितनवमालिका नवमालिका नाम कन्यका। 'भट्टिकाव्य' प्रभृति महाकाव्यों की भाँति यहाँ यमक के भेद-प्रभेदों का वर्णन नहीं है।

श्लेष

काव्य में रमणीयार्थ की अभिव्यक्ति व चमत्कार के लिए संस्कृत महाकवियों ने श्लेष का प्रचुर प्रयोग किया है। सुबन्धु, बाणभट्ट, दण्डी, त्रिविक्रम, श्री हर्ष आदि महाकवियों ने श्लेष के समुचित सन्निवेश में अपनी कवित्वशक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।

आचार्यों ने श्लेष के दो भेद किए हैं। १-शब्दगत और २-अर्थगत। जहाँ किसी शब्द विशेष से एक से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है तथा उस शब्द के स्थान पर दूसरा उसका पर्याय रखने से उस अर्थ की प्रतीति नहीं होती वह शब्दगत और उस शब्द विशेष के स्थान पर दूसरा शब्द (उसी का पर्यायवाची) रखने से अभेदार्थ की प्रतीति होती है वह अर्थगत श्लेष का विषय होता है। आचार्य दण्डी के अनुसार 'अनेकार्थक—एक ही साथ एक से अधिक अर्थ की प्रतीति कराने वाले तथा अर्थभेद होने पर भी अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य होने के कारण एक रूप वचन को श्लेष अलंकार से युक्त कहते हैं।'[१] श्लिष्ट पदों के सन्निवेश में कवियों को अनेकार्थ अभीष्ट होते हैं। कदाचित् इसीलिए आचार्य दण्डी ने अनेकार्थक श्लिष्टवचन का विशेषण 'इष्ट' पद रखा है।

आचार्य मम्मट के अनुसार 'श्लेष' वह अलंकार है जिसमें अर्थ-भेद होने से परस्पर भिन्न भी शब्द उच्चारणसारूप्य के कारण एक रूप प्रतीत होते हैं।'[२]

अनेकार्थ की प्रतीति कभी-कभी समस्त पद से हुआ करती है, कभी उसे तोड़-मरोड़ कर निकाला जाता है। इस प्रकार शब्द श्लेष के अभिन्न पद तथा

---

१. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः। दण्डी, काव्यादर्श २.३१०।

२. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्तिशब्दाः श्लेषोऽसौ... काव्यप्रकाश-९.८४।

भिन्न-पद रूप से दो भेद हो जाते हैं ।[१] इन्हीं दोनों को परवर्ती आचार्यों ने तीन भागों में विभक्त किया है—अभंग, सभंग एवं उभयात्म ।[२]

'दशकुमारचरित' में जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि श्लेषों की शृंखला से सुबन्धु तथा बाणभट्ट की गद्य कृतियों की तरह गद्य-रचना शृंखलाबद्ध नहीं हुई है । अधोलिखित पंक्तियाँ अत्यन्त सशक्त, प्रवाहपूर्ण तथा स्वाभाविक हैं जो श्लेष के स्वरूप का ज्वलन्त निदर्शन प्रस्तुत करती हैं—

'प्रियोरसि प्रावृडिव नभस्युपास्तीर्णगुरुपयोधरमण्डला...'(प्र० उ०, पृ० १३०) अपने प्रियतम राजवाहन का आलिंगन, चुम्बन करने की कामना से उत्कण्ठित-हृदया अवन्तिसुन्दरी के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'पयोधर-मण्डला' पद श्लिष्ट है । एक ओर तो 'वर्षा' के पक्ष में पयोधरमण्डल का 'मेघमण्डल', तथा दूसरी ओर अवन्तिसुन्दरी के पक्ष में 'स्तनमण्डल' या स्तन-युगल अर्थ है ।

पुनः पञ्चम उच्छ्वास में 'मित्रगुप्त ने, सरसा पुष्पसमन्विता नवमालिका का रसास्वादन करने वाले भ्रमर की तरह कोमलांगी, सुष्ठु मनवाली नवमालिका (कन्या) के तारुण्यरस का आस्वादन किया ।'

यहाँ 'आर्द्र', 'सुमनसम्' एवं 'नवमालिका' पद श्लिष्ट हैं । 'आर्द्र' पद का नवमालिका पुष्प के पक्ष में 'सरस' व मालिका कुमारी के पक्ष में 'कोमल' अर्थ निकलता है । 'सुमनसम्' पद का नवमालिका के पक्ष में 'पुष्पयुक्त' तथा नवमालिका कुमारी के पक्ष में 'सुन्दरमनवाली' अर्थ व्यक्त होता है । 'नवमालिका' पद एक ओर अभिनवा मालती का, दूसरी ओर राजा धर्मवर्धन की नवमालिका नाम की कन्या का वाचक है । पंक्ति इस प्रकार है—

'अन्वभवञ्च मधुकर इव नवमालिकामार्द्रसुमनसम् ।'(पं० उ०, पृ० ३८०)

प्रथम उच्छ्वास में महर्षि मरीचि के प्रति काममञ्जरी के चातुर्यपूर्ण कथन में भी श्लिष्ट पद का चमत्कार दर्शनीय है ।

'धर्मपूते च मनसि नभसीव न जातु रजोऽनुषज्यते' अर्थात् धर्म से पवित्र हुए मन में रजोगुण का समावेश उसी प्रकार नहीं होता जैसे आकाश में धूलि का ।

---

१. तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥-काव्यादर्श-२.३१० ।

२. पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥—सा० द० १०.१२ ।

यहाँ 'रजो' पद श्लिष्ट है जिसका अर्थ मन के पक्ष में 'रजोगुण' तथा आकाश के पक्ष में 'धूलि' स्पष्ट है ।

इसके अतिरिक 'तदनेननलिनाक्षस्यते रत्नशैलशिलातलस्थिरं रागतरले-नालंक्रियतां हृदयम्' में 'राग' शब्द श्लिष्ट है । रागेण रक्तप्रभया, पक्षे रागेण अनुरागेण ।

अर्थालङ्कार

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और व्यतिरेक आदि का 'दशकुमारचरित' में प्रयोग उपलब्ध होता है । विशेष रूप से उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का सर्वत्र इस ग्रन्थ में प्रचुर प्रयोग है ।

उपमा

दण्डी ने उपमा का लक्षण इस प्रकार किया है:—

'जहाँ किसी काव्य में यथाकथञ्चित् (गुणक्रिया आदि के द्वारा) स्फुट सादृश्य की प्रतीति होती है वहाँ उपमा अलंकार होता है, अर्थात् दो वस्तुओं का सादृश्य उपमालंकार है ।'[१]

कवि ने उपमा के प्राचीनाभिमत कई भेद प्रस्तुत किया है—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, समानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, प्रतिषेधोपमा, साधारणोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, अभूतोपमा, असंभावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा, हेतूपमा आदि कुल ३१ भेद किए हैं ।[२] और साथ ही कवि ने उपमा के वाचक इव, वत्, यथा, समान, निभ, सन्निभ आदि कुल ६७ शब्दों की सूची भी प्रस्तुत किया है ।[३] दण्डी का उपमा, रूपक आदि अलंकारों का इतना विशद विवेचन तथा वर्गीकरण प्राचीन आलंकारिकों के आधार पर ही प्रतीत होता है । उपमा के इन उपर्युक्त भेदों में से कतिपय भेदों की चर्चा अग्निपुराण में भी उपलब्ध होती है ।

---

१. यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते । उपमा नाम सा ...॥ - काव्यादर्श २.१४ ।

२. काव्यादर्श २.१५-५० ।

३. वही, २.५७-६५ ।

जैसे—धर्मोपमा और वस्तूपमा, मोहोपमा और निश्चयोपमा या निर्णयोपमा और विक्रियोपमा आदि का लक्षण वहाँ भी किया गया है ।[१]

इस प्रकार दण्डी का अलंकार-निरूपण बहुत कुछ अपने युग के आचार्यों तथा ग्रन्थों एवं उनकी अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं का प्रतिफल प्रतीत होता है । अलंकारों के इस प्रकार के भेद-प्रभेदों का दण्डी के परवर्ती आचार्यों के लिए अभिमत अलंकारों में लाघव की दृष्टि से या तो उनका अन्तर्भाव कर लिया गया है या नामान्तर प्रदान किया गया है ।

उदाहरण के लिए दण्डी द्वारा अभिमत विपर्यासोपमा, वस्तूपमा, अन्योन्योपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, बहूपमा आदि उपमा के पदों की नवीन आचार्यों ने क्रमशः प्रतीप, लुप्तोपमा, उपमेयोपमा, सन्देह, निश्चयान्त सन्देह और मालोपमा संज्ञा प्रदान की है ।

'दशकुमारचरित' में दण्डी के उपर्युक्त उपमा के वर्णीकरण के अनुसार श्लेषोपमा आदि के उदाहरण उपलब्ध होते हैं । उदाहरण के लिए 'अन्वभवं च मधुकर इव नवमालिकामार्द्रसुमनसम्'-पं० उ०, पृ० ३८० । तथा 'प्रियोरसि प्रावृडिव नभस्युपास्तीर्णगुरुपयोधरमण्डला'- प्र० उ०, पृ० १३० । 'धर्मपूते च मनसि नभसीव न जातु रजोऽनुषज्यते' इत्यादि ऐसी पंक्तियाँ श्लेषोपमा के उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं । प्रथम उदाहरण में 'नवमालिका', 'आर्द्र' तथा 'सुमनसम्' आदि पद श्लिष्ट हैं और श्लेषयुक्त यहाँ उपमालंकार है । दूसरे उदाहरण में भी 'पयोधरमण्डला' तथा तीसरे में 'रजो' पद श्लिष्ट है जिनका क्रमशः अर्थ स्पष्ट है—

पयोधरमण्डल = मेघ- मण्डल तथा स्तनयुगल

रजो = धूलि और रजोगुण ।

---

१. धर्मोपमा और वस्तूपमा—
'यत्र साधारणोधर्मः कथ्यते गम्यतेऽथवा ।
ते धर्मवस्तुप्राधान्याद्धर्मवस्तू मे उभे ॥'—अग्निपुराण-१५ ।
मोहोपमा—
प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तनम् ।
उपमेयस्य यन्मोहोपमासौ परिकीर्तिता ॥ —वही- २५ ।
विक्रियोपमा— उपमानविकारेण तुलनाविक्रियोपमा । —वही ।

प्रथम उदाहरण में उपमान 'मधुकर' उपमेय नवमालिका, साधारणधर्म आर्द्रसुमनसम् पद से कोमलता आदि एवं उपमा का वाचक 'इव' पद होने से यहाँ उपमालंकार स्फुट है ।

धर्मोपमा

आचार्य दण्डी के अनुसार 'जहाँ साधारण या तुल्यधर्म शब्दत: प्रकाशित होता है वहाँ धर्मोपमा नामक अलंकार होता है ।' जैसे इस उदाहरण में—

'हे मुग्धे, तुम्हारा करतल कमल के सदृश रक्तवर्ण है'[१] यहाँ आताम्रत्व रूप तुल्यधर्म शब्दत: उपात्त है अतएव यहाँ धर्मोपमा अलंकार है ।

परवर्ती आचार्य मम्मट ने उपमा[२] का लक्षण करते हुए सर्वप्रथम उसके दो भेद किये हैं— १-पूर्णोपमा, २-लुप्तोपमा ।

जहाँ उपमान, उपमेय, साधरणधर्म और उपमा प्रतिपादक (इवादि) शब्दों का उपादान होता है वहाँ पूर्णोपमा तथा जहाँ उनमें से एक दो अथवा तीन का लोप हो वहाँ लुप्तोपमा नामक अलंकार होता है ।

उपर्युक्त अंश में दण्डी द्वारा मान्य धर्मोपमा को ही आचार्य मम्मट ने पूर्णोपमा की संज्ञा प्रदान की है और उदाहरण में उपमान (अम्भोरुह), उपमेय (करतल), आताम्रत्वरूप साधारणधर्म तथा उपमा का प्रतिपादक 'इव' पद — (इस प्रकार) उपमा के चारों अंग स्पष्टतया निर्दिष्ट हैं । अतएव यह पूर्णोपमा का स्पष्ट उदाहरण माना जा सकता है । पुन: दण्डी द्वारा अभिमत वस्तूपमा मम्मट की दृष्टि में लुप्तोपमा हो सकती है । दण्डी ने वस्तूपमा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें उपमा के चार अंगों में से एक अंग 'साधारण धर्म' का शब्दत: उल्लेख नहीं हुआ है अपितु वह प्रतीयमान (शब्दत:) अनुपात्त होने पर भी गम्यमान है—

---

१. 'अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।
इति धर्मोपमा साक्षात्तुल्यधर्मप्रदर्शनात् ॥ दण्डी, काव्यादर्श २.१५ ।

२. साधर्म्यमुपमाभेदे पूर्णालुप्ता च साऽग्रिमा ।—काव्यप्रकाश १.८७ ।
उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादानेपूर्णा, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव।

इयं प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमेव सा। काव्यादर्श २.१६।

यहाँ उपमान (राजीव) उपमेय (वस्त्र) और उपमा का वाचक (इव पद) स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है किन्तु साधारण धर्म (मनोज्ञत्व) साक्षात् प्रदर्शित नहीं किया गया है, अतएव यह 'वस्तूपमा' का उदाहरण हो सकता है। मम्मटकृत लुप्तोपमा तथा दण्डीकृत वस्तूपमा दोनों में सादृश्य की प्रतीति होती है। मम्मट ने लुप्तोपमा का निम्नलिखित उदाहरण दिया है जिसमें उपमा के सभी अंगों में से एक (साधारण धर्म) अंग का स्पष्ट निर्देश नहीं है—

'करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।

विषकल्पं मनोवेत्सि यदि जीवसि तत्सखे॥'

काव्यप्रकाश, १०.६९९।

प्रस्तुत उदाहरण में उपमान 'करवाल' उपमेय 'आचार' तथा उपमा वाचक शब्द इव का सुस्पष्ट उल्लेख है किन्तु 'तैक्ष्ण्य' या उग्रता रूप साधारण धर्म अथवा वाणी और अमृत-गत 'माधुर्य' रूप साम्य शब्दतः उपात्त न होने से यह लुप्तोपमा नामक अलंकार का उदाहरण है।

'दशकुमारचरित' की निम्नलिखित पंक्तियाँ क्रमशः पूर्णोपमा और लुप्तोपमा अथवा दण्डी को अभीष्ट धर्मोपमा और वस्तूपमा के उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

सर्वप्रथम पञ्चम उच्छ्वास में कुमारी नवमालिका के वर्णन में उपमा का चमत्कार दर्शनीय है। ऐसे अंश अनुप्रासादि से युक्त होकर उपमा का वैशिष्ट्य और भी मनोज्ञ बनाने में सहायक हैं जहाँ शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य का अपूर्व संगम होता है—

'न तावदेषा देवयोषा, यतो मन्दमन्दमिन्दुकिरणैः संवाह्यमाना कमलिनीव संकुचति। भग्नवृन्तच्युतरसविन्दुशबलितं पाकपाण्डुचूतफलमिवोद्भिन्नस्वेदरेखं गण्डस्थलमालक्ष्यते।'

प्रस्तुत पंक्तियाँ पूर्णोपमा या धर्मोपमा के उदाहरण में समझी जा सकती है। 'एषा' पद से नवमालिका अंगना ग्राह्य है जो उपमेय है, 'कमलिनी' उपमान और 'संकोच' रूप साम्य तथा उपमा का वाचक 'इव' शब्द भी है। दूसरी पंक्ति

से यह भी स्पष्ट है कि उस अंगना का स्वेदविन्दुओं से युक्त कपोलप्रदेश, वृक्ष से गिरे हुए सरस, परिपक्व एवं पीतवर्ण के आम्रफल की तरह दृष्टिगत होता है । यहाँ भी स्वेदजलविन्दुओं से युक्त अंगना का कपोलप्रदेश 'उपमेय गुम्फ से च्युत हुआ' सरस आम्रफल 'उपमान, उसकी परिपक्वता एवं उसका' पाण्डुवर्ण रूप साधारण धर्म तथा उपमा का वाचक 'इव' पद होने से पूर्णोपमा अलंकार है ।

इसी प्रकार पूर्णोपमा के और भी स्थल निर्दिष्ट किये जा सकते हैं—'एष च को नु शीतरश्मिकिरणरज्जुदोलापरिभ्रष्टमूर्छित इवाप्सरोगणः स्वैरसुप्तः सुन्दरीजनः', पंचम उ०, पृ० ३५१

विद्रुमद्युतिरधरमणिः अनत्यापूर्णमारक्तमूलं चम्पककुड्मलदलमिव कठोरं कपोलतलम् प० उ० पृ० ३५३ ।

पुनः चतुर्थ उच्छ्वास में राजकुमारी मणिकर्णिका के वर्णन में उपमा का चमत्कार विशेषरूप से दर्शनीय है—

'तत्र (नारीजनमध्ये) काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना...निष्टप्तकनकपुत्रिकेवावदातकान्तिः कन्यका, चन्दनलतेव मलयमारुतेन, मद्दर्शनेनोदकम्पत । च० उ०, पृ० ३३७-३८ ।

तत्रकाचिदिन्दुकलेव...निह्नुवाना में कुछ लोग उत्प्रेक्षा भी मानते हैं ।

मधुकर इव निसर्गचपलो यत्र क्वचिदासज्जति भवादृशो नृशंसः' तृ० उ०, पृ० २९४ ।

'तवास्मि नवाम्बुवाहस्तनितगम्भीरेण स्वरेणानुगृहीतः' द्वि० उ०, पृ० २५१ ।

'अगाधे च रागसागरे मग्नो नावमिव मामुपलभ्यपरमहृष्यत ।' द्वि० उ०, पृ० २३१ ।

'तावदेवोदगादुदधेरुदयाचलेन्द्रपद्मरागशृङ्गकल्पं कल्पद्रुमहेमपल्लवापीडपाटलं पतङ्गमण्डलम् ।' द्वि० उ० १९८ ।

अवतरतुभवान् इति बहुश्रुते विश्रुते विकचराजीवसदृशं दृशं चिक्षेप देवो राजवाहनः ।

'दशकुमारचरित' में निम्नलिखित 'वस्तूपमा' अथवा 'लुप्तोपमा' के कुछ उदाहरण उपलब्ध होते हैं:-

१. रविकराभितप्तकुवलयदामतान्ताङ्गयष्टिः...स्नेहगद्गदं व्याहार्षीत् । प० उ० पृ० ३५७ ।

(सूर्य की किरणों द्वारा परितप्त कमलों की माला के सदृश क्लान्त और क्षीण शरीरवाली तारावली स्नेह से गद्‌गद वाणी बोली)

२. शारदशशाङ्कमण्डलामलदुकूलोत्तरच्छद्‌मधिशेते शयनतलम्- प० उ० पृ० ३५१

३. अमृतफेनपटलपाण्डुरशयनशायिनीम्...अन्तःसुप्तषटपदमम्बुजमिव जातनिद्रमामीलितलोचनेन्दीवरमाननं दधानाम्, ऐरावतमदावलेपलूनापविद्धामिव नन्दनवनकल्पवृक्षरत्नवल्लरीं कामपि तरुणीमालोकयम् । पृ० उ० पृ० ३४८-४९ ।

उपर्युक्त इन उदाहरणों में पहले उदाहरण में उपमा का वाचक शब्द न होने से, दूसरे में भी केवल उपमा का प्रतिपादक शब्द और साधारण धर्म के अनुक्त होने से लुप्तोपमा अलंकार है ।

इसी प्रकार 'शर्वगलश्यामशार्वरान्धकारपूराध्मातगभीरगह्वरायामस्यां महाटव्यामेककस्य मे प्रसुप्तस्य'... पञ्चम उ० पृ० ३४७ ।

हरगृहिणीवासुरविजयायावतीर्णा...कन्यका च० उ० ३३८ ।

'अनन्तरं च कश्चित् कर्णिकारगौरः, कुरुविन्दसवर्णकुन्तलः, कमलकोमल-पाणिपादः, कर्णचुम्बिदुग्धधवलस्निग्धनीललोचनः प्र० उ०, पृ० १५० ।

कमलमूढ़शशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव, प्र० उ० पृ० १२२ ।

'शरदभ्रपटलपाण्डुरं शयनम्,' प० उ० पृ० ३७० ।

तस्य दुहिता, प्रत्यादेश इव श्रियः, प्राणा इव कुसुमधन्वनः इत्यादि लुप्तोपमा या वस्तूमा के उदाहरण कहे जा सकते हैं ।

रूपक— आचार्य दण्डी ने रूपक का निम्नलिखित लक्षण किया है—

'यदि अतिशय सादृश्य बताने के लिए उपमान और उपमेय का भेद छिपा कर दोनों में अभेद प्रतीति कराई जाए वहाँ रूपक अलंकार होता है।'[१] साथ ही रूपक का उदाहरण भी दिया है—

'यथा बाहुलतापाणिपद्मं चरणपल्लवः।'-काव्यादर्श २.६६

आचार्य मम्मट की दृष्टि में भी रूपक का ऐसा ही लक्षण स्वीकार किया गया है—उपमान और उपमेय के अभेद, अभेदारोप अथवा काल्पनिक अभेद को ही रूपक अलंकार कहते हैं।[२]

'दशकुमारचरित' में रूपक के उदाहरण में अधोलिखित अंश उपलब्ध होते हैं—

'व्यस्तहस्तपल्लवाग्र...'पष्ठ उ०,पृ० ३८९ तथा

'अगाधे च रागसागरे मग्नो नावमिव मामुपलभ्य...'द्वि० उ० पृ० २३१।

'व्यतिषक्तकोमलाङ्गुलिदलने भुजलताद्वयेन कंधरां समावेष्ट्य' तृ० उ० पृ० २९४ में क्रमशः 'हस्त' उपमेय में पल्लव रूप उपमान का, 'राग' उपमेय में 'सागर' उपमान का तथा 'भुजा' 'रूप उपमेय में' लता 'उपमान का आरोप होने से रूपक अलंकार है।'

इस प्रकार के रूपक के और भी उदाहरण 'दशकुमारचरित' से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। हस्तकिसलय, अनंगभुजंग (तृ० उ० पृ० २८५) हस्तपल्लव (द्वि० उ०, पृ० २३९) 'भवद्भुजतरुच्छायाम्, (प० उ० पृ० ३७५)' 'ललाटरंगस्थलीनर्तकीं लीलालसं लालयन्ती', दन्तच्छदकिसलयलंघिना (स० उ० पृ० ४६३)

'रक्ताशोकस्कन्धपार्श्वव्यवहिताङ्गयष्टिः' (तृ० उ०पृ० २५१)

'अशुष्यच्च ज्योतिष्मतः प्रभामयं सरः। प्रासरच्च तिमिरमयः कर्दमः। तृ० उ० पृ० २७७

'कुसुमचन्द्रकसारेण मधुकरकुलव्याकुलेन केशकलापेन स्फुरदरुणकिरणकेसरकरालम्' प्र० उ० पृ० १३१।

१. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। दण्डी-काव्यादर्श-२.६६।
२. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।-काव्यप्रकाश-१०.९३।

उत्प्रेक्षा

महाकवि दण्डी की उत्प्रेक्षाओं की सुष्ठु योजना एक ओर अर्थ-सौन्दर्य की सृष्टि कर अभीष्ट अर्थ के प्रकाशन में पूर्णतया क्षम है तो दूसरी ओर वह उनकी भव्य वर्णनाशक्ति एवं विशद वैदुष्यवृत्ति की पूर्ण परिचायिका भी है—

'वर्णनीय चेतन अथवा अचेतन वस्तु की स्वाभाविक स्थिति को यदि अप्रस्तुत वस्तु के रूप में संभावित किया जाय तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।'[१]

'जहाँ प्रकृत (उपमेय) की अप्रकृत (उपमान) के साथ एकरूपता की संभावना की जाए वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।'[२]

सर्वप्रथम चतुर्थ उच्छ्‌वास में अर्थपाल के चरित में कुमारी मणिकर्णिका के लिए प्रयुक्त विशेषणों से युक्त पदावली में उत्प्रेक्षा की योजना दर्शनीय है—

'तत्र काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना विग्रहिणीव देवी विश्वम्भरा...पातालमागता गृहिणीव...कन्यका मद्दर्शनेनोदकम्पत।'

यहाँ प्रकृत (उपमेय) कन्या मणिकर्णिका के साथ अप्रकृत (उपमान) मूर्तिमती देवी विश्वम्भरा, हरगृहिणी (पार्वती), कुसुमधन्वा भगवान् कामदेव की गेहिनी (रति) और राजलक्ष्मी इत्यादि की एकरूपता की संभावना की गई है। अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

पुनः 'आदिवराहदंष्ट्रांशुजाललग्नाम् अंसस्रस्तदुग्धसागरदुकूलोत्तरीयाम् भयसाध्वसमूर्च्छितामिव धरणिम्, अरुणाधरकिरणबालकिसलयलास्यहेतुभिरान-नारविन्दपरिमलोद्वाहिभिर्निःश्वासमातरिश्वभिरीश्वरेक्षणदहनदग्धं स्फुलिङ्गशे-षमनङ्गमिव संधुक्षयन्तीम्...कामपि तरुणीमालोकयम्' इन पंक्तियों में जो कि नवमालिका के वर्णन में[३] आई हैं उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा विशेषरूप से हृदया-वर्जक है।

---

१. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्यवा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥ - दण्डी- काव्यादर्श २.२२१।

२. संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। मम्मट- काव्यप्रकाश १०.९२।

३. दशकुमारचरित- पञ्चम उच्छ्‌वास- पृ० ३४८-४९।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार की दिव्य झाँकी 'दशकुमारचरित' में कुमारी कन्दुकावती की कन्दुकक्रीडा के सन्दर्भ में तथा और भी वर्णनात्मक प्रसंगों में देखी जा सकती है—

'सानघसर्वगात्री...सविभ्रमं भगवतीमभिवन्द्य कन्दुकममन्दरागरूषिताक्षमनङ्गमिवालम्बत ।... प्रसृतकोमलाङ्गुलिना पाणिपल्लवेन समाहत्य हस्तपृष्ठेन चोन्नीय, चटुलदृष्टिलांच्छितं स्तबकमिव भ्रमरमालानुविद्धमवपतन्तमाकाश एवाग्रहीत् ।...श्वासानिलवेगान्दोलितैर्दन्तच्छदरश्मिजालैर्लीलापल्लवैरिव मुखकमलपरिमलग्रहणलोलानलिनस्ताडयन्ती, मण्डलभ्रमणेषु कन्दुकस्यातिशीघ्रप्रचारतया विशन्तीव मद्दर्शनलज्जया पुष्पमयं पञ्जरम्, पञ्चविन्दुप्रसृतेषु पञ्चापि पञ्चबाणान्युगपदिवाभिपततस्त्रासेनावघट्टयन्ती, गोमूत्रिकाप्रचारेषु घनदर्शितरागविभ्रमाविद्युल्लतामिव विडम्बयन्ती,...प्रियसखीभिः सह विहृत्य विहृतान्ते,...सापदेशमसकृदावर्त्यमानवदनचन्द्रमण्डलतया स्वहृदयमिव मत्समीपे प्रेरितं प्रतिनिवृत्तं न वेत्यालोकयन्ती सह सखीभिः कुमारी पुरमगमत् ।'—षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ३८९-९७ ।

'पश्चिमाम्बुधिपयः पातनिर्वापतपतङ्गाङ्गारधूमसंभार इव' तृ० उ० पृ० २७२-७३ ।

'शरदम्भोधरोत्सङ्गशायिनीमिव सौदामनीं राजकन्यामपश्यम्' द्वि० उ० पृ० २४१ ।

पुनः मरीचि मुनि के जीवन से सम्बन्धित उत्प्रेक्षाएँ सन्ध्यास्वरूप को उपस्थित करती हैं—'अथ तन्मनश्च्युततमः स्पर्शभियेवास्तं रविरगात् । ऋषिमुक्तश्च रागः संध्यात्वेनास्फुरत् । तत्कथादत्तवैराग्याणि इव कमलवनानि समकुचन् ।' द्वि० उ० पृ० १७७ ।

'शशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव रजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत् ।......येन च तत्सकलमेव कन्यान्तःपुरमग्निपरीतमिव, पिशाचोपहतमिव ......बभूव ।' प्र० उ० पृ० १३२-३३ ।

ये उत्प्रेक्षाएँ रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के साथ ही बाणभट्ट की उत्प्रेक्षाओं के समकक्ष पहुँचने में पूर्णरूप से समर्थ हैं ।

स्वभावोक्ति

'भिन्न भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के स्वरूप को साक्षात् प्रदर्शित करने वाली अलंकृति स्वभावोक्ति या जाति नाम से प्रथित है'।[१] अर्थात् पदार्थों का जहाँ ऐसा स्वाभाविक एवं सजीव वर्णन हो कि उनका प्रत्यक्ष सा दर्शन होने लगे वहाँ स्वभावोक्ति नामक अलंकार होता है।

आचार्य मम्मट की सम्मति में 'स्वभावोक्ति वह अलंकार है जिसे बालक आदि की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूप का वर्णन कहा जाता है।'[२]

आचार्य भामह के स्वभावोक्ति विषयक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में अपनी असम्मति प्रकट करते हैं—

'स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।'

कुन्तक के भी स्वभावोक्ति-विषयक मत से उनकी तद्विषयक असम्मति ही व्यक्त होती है—'अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः। अलंकार्यतयातेषां किमन्यदवशिष्यते॥

आचार्य दण्डी ने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की स्वभावोक्ति के भेद से चार उदाहरण प्रस्तुत किया है—

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः।

त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेतेमञ्जुगिरः शुकाः॥ २.९।

अर्थात् जिनकी चोंच लाल तथा टेढ़ी हैं, पंख हरे और कोमल हैं और कण्ठ में तीन वर्णों की —नील, रक्त और धूसर वर्णों की मञ्जुरेखाएँ शोभित हैं ऐसे ये शुक (तोते) मधुरवाणी बोलते हैं। इस उदाहरण में लाल चोंच आदि धर्म शुक जाति के हैं अतः यह जातिगत स्वभावोक्ति है।

'दशकुमारचरित' में स्वाभाविककथन अथवा स्वभावोक्ति के उदाहरण में अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं—षष्ठ उच्छ्वास में कुमारी गोमिनी का सर्वांगपूर्ण

---

१. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ दण्डी -काव्यादर्श २८।

२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्॥ काव्यप्रकाश १०.१११।

अथवा उसके अंग-प्रत्यंग का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन स्वभावोक्ति का समुज्ज्वल निदर्शन है—

'अस्या: खलु कन्यकाया: सर्वएवावयवा नातिस्थूला नातिकृशा नातिह्रस्वा नातिदीर्घा न विकटा मृजावन्तश्च रक्ततलाङ्गुली, यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेक-पुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसंधी मांसलावशिरालौ चाङ्घ्री, जङ्घे चानुपूर्ववृत्ते, पीवरोरुग्रस्ते इव दुरुपलक्ष्ये जानुनी...गम्भीरं नाभिमण्डलम्, वलित्रयेणचालङ्कृतमुदरम... सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम्। पृ० ४१७-२१।

प्रस्तुत उदाहरण में अनिन्द्य अवयव, स्वच्छ स्वरूप, अंगुलियों का लाल वर्ण का तल प्रदेश आदि स्त्री जाति के धर्म हैं, अत: यहाँ जातिगत स्वभावोक्ति है।

'दशकुमारचरित' के प्रथम उच्छ्वास में चण्डवर्माकर्तृक, राजपुत्र राजवाहन का अन्त:पुर से बलात् आकर्षण (खींचना) क्रिया के, उसके कोप आदि सभी वर्ण्यमान धर्म हैं अतएव यह दण्डी के अनुसार क्रियागत स्वभावोक्ति का उदाहरण हो सकता है—

'सोऽपि कोपादागत्य निर्दहन्निव दहनगर्भया दृशा निशाम्योत्पन्नप्रत्यभिज्ञ: 'कथं स एवैष मदनुजमरणनिमित्तभूताया: पापाया बालचन्द्रिकाया: पत्यु:...पुष्पोद्भवस्य मित्रं...निर्भर्त्सयन्भीषणभ्रुकुटिदूषितललाट:...राजपुत्रं सरभसमाचकर्ष।' पृ० १३४।

आचार्य दण्डी ने क्रियागत स्वभावोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

'कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणा:।
पारावत: परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बतिप्रियाम्॥'

—काव्यादर्श-२.१०।

क्रियागत-स्वभावोक्ति के और भी उदाहरण 'दशकुमारचरित' से प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

'रूढरागरूषितं चक्षुरुल्लासयन्ती...कुसुमचन्द्रकशारेण मधुकरकुलव्याकुलेन केशकलापेन स्फुरदरुणकिरणकेसरकरालं कदम्बमुकुलमिव कान्तस्याधरमणिमधीरमाचुचुम्ब।'—प्र० उ० पृ० १३१।

गुणगतस्वभावोक्ति तथा द्रव्यगत स्वभावोक्ति के भी उदाहरण इसी प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

'अथकदाचिदायासितजायारहितचेतसि, लालसालिलङ्घनग्लानघनकेसरे...शालीनकन्यकान्तःकरणसंक्रान्तरागलङ्घितलज्जे, दर्दुरगिरितटचन्दनाश्लेषशीतलानिलाचार्यदत्तनानालतानृत्यलीले, काले...सागरतीरकानने क्रीडारसजातासक्ति- रासीत् ।' पृ० ४६८

इस प्रकार किसी समय रमणीहीन पुरुषों के चित्त को क्लेशित करने वाला मधुलोलुप भ्रमरों द्वारा सघन पुनांग वृक्षों को क्लान्त करने वाला, शालीन कन्याओं के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर उन्हें लज्जा रहित करने वाला, दर्दुरगिरितटवर्ती चन्दन-वृक्षों से आश्लिष्ट होकर शीतलपवन रूपी आचार्य द्वारा नाना लताओं की नृत्यलीला सिखाने वाला वसन्त समय आ गया । ऐसे समय में कलिंगराज में सागरतीर कानन में आसक्ति हुई ।

यहाँ 'बसन्त' के रमणीहीन पुरुषों के चित्त को क्लेशित करने और शालीन कन्याओं के हृदय में राग आदि सन्निवेश तथा लताओं को नृत्यलीला का उपदेश आदि गुणों की स्वभावोक्ति है ।

षष्ठ उच्छ्वास में विविधगतियों से कन्दुकक्रीडा करती हुई कन्दुकावती की अवस्थाएँ द्रव्यगत स्वभावोक्ति के उदाहरण हैं। क्योंकि विविधगतियों से कन्दुकक्रीड़ा करती हुई कन्दुकावती की सभी अवस्थाएँ उसी एक व्यक्ति की हैं और इसलिए वे पंक्तियाँ (मण्डलभ्रमरेषु...विडम्बयन्ती इत्यादि) द्रव्यगतस्वभावोक्ति के उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं ।

भ्रान्तिमान्

आचार्य दण्डी की उपलब्ध शृंगार-सुची में भ्रान्तिमान्, संदेह आदि नाम का अलंकार नहीं है किन्तु उसका उदाहरण 'दशकुमारचरित' में प्राप्त होने के कारण उसका निर्देश आचार्य मम्मटकृत तत् तत् अलंकारों के लक्षण के आधार पर ही करना सम्यक् प्रतीत होता है—

'भ्रान्तिमान्' वह अलंकार है जिसमें प्राकरणिक के दर्शन में अप्राकरणिक के साथ उसके सादृश्य के कारण अप्राकरणिक की प्रतीति का निरूपण किया जाए ।'[१]

'दशकुमारचरित' के प्रथम उच्छ्वास में सोमरश्मिसंभवा सुरतमञ्जरी नाम की सुरसुन्दरी के कथन में—'एक समय आकाश में स्वेच्छया विचरण करते हुए मेरे मुख को कमल समझ कर उड़ते हुए एक कलहंस ने ढक लिया'[२] भ्रान्तिमान् अलंकार दृष्टिगत होता है । यहाँ प्रस्तुत सुरतमंजरी के मुख में कमल के सादृश्य की जो अनुभूति कलहंस को हुई वह उस (मुख) की नहीं अपितु अप्रस्तुत 'कमल' की हुई है । अतएव यहाँ सादृश्य ज्ञान से भ्रान्ति विवक्षा प्रतीत होती है जिसमें भ्रान्तिमान् अलंकार है ।

'भ्रान्तिमान' अलंकार केवल भ्रान्ति में नहीं अपितु सादृश्य-प्रयुक्त भ्रान्ति में है । सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति भी कवि-प्रतिभा जन्य होनी चाहिए । अलंकारसर्वस्वकार ने भी लिखा है कि—

> **'सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थकविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते ।'**

पुन: प्रथम उच्छ्वास में ही अवन्तिसुन्दरी के अन्त:पुर में राजवाहन की जो दशा हुई वहाँ भी 'भ्रान्तिमान्' अलंकार का प्रयोग हुआ है । 'उठ कर राजकुमार ने देखा कि कमल के भ्रम से चन्द्रमा की किरणों के समान चाँदी की शृंखला से उसके चरणयुगल बँधे हुए थे ।'[३]

यहाँ भी 'यह कमल है' इस भ्रम से चन्द्रमा की किरणों के समान चाँदी की शृंखला से बँधे हुए दोनों पैर राजवाहन को दिखाई पड़े । चन्द्र को राजवाहन 'चरणयुगल' में 'कमल' की भ्रान्ति[४] होने से यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है ।

---

१. भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥ मम्मट-काव्यप्रकाश, १०.१३२ ।

२. तस्या मे नभसि नलिनलुब्धमुग्धकलहंसानुबद्धवक्त्राया–पृ० १४३

३. अथ तस्य राजकुकारस्य कमलमूढशशिकिरणरज्जुदामनिगृहीतमिव रजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत् । पृ० १३२ ।

४. इदं कमलमिति भ्रान्त्या चन्द्रः स्वमयूखजालेन रज्ज्वा चरणयुगलं बन्धेतिभावः। चन्द्रपद्मयोः वैरं तु प्रसिद्धम् ।'—दशकुमारचरित, पृ० १३२ ताराचरण भट्टाचार्य कृत बालविबोधिनीटीका, चौ० सं० सी०, वाराणसी १९४८ ।

संदेह

जैसा कि ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि दण्डी ने अपने अलंकारों की संख्या में 'संदेह' अलंकार का भी परिगणन नहीं किया है। 'आक्षेप' आलंकार के भेदों में वर्णित 'संशयाक्षेप' नामक अलंकार 'संदेह' का ही रूप प्रतीत होता है। कवि ने उसका उदाहरण भी दिया है—

'क्या यह शरत्कालिक मेघ है, या मानस से लौट कर आने वाला हंससमूह है ? नूपुर के शब्द के सदृश शब्द सुनाई पड़ता है, अतएव यह मेघ नहीं है। यह संशयाक्षेप कहा जाता है क्योंकि मेघ जाति के साथ अदृष्ट और हंसजाति-सुलभ नूपुरशब्दसदृश शब्द से संशय का निवारण हो जाता है।'[१]

आचार्य मम्मट-कृत संदेह अलंकार का लक्षण दण्डी के संशयाक्षेप से मिलता जुलता है। उसके 'निश्चयगर्भ' तथा 'निश्चयान्त' दो भेद भी किये गए हैं।

'सन्देह अलंकार वह है जिसमें (उपमेय की उपमान के साथ एकरूपता में) एक (सादृश्यमूलक) संशय या सन्देह रहा करता है जो कि 'भेदोक्ति' (उपमेय और उपमान में किसी वैधर्म्य के स्पष्ट कथन) दोनों प्रकार से संभव है।'[२]

'भेदोक्ति' का निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः

कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशोनैषनियतम्।

कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं

समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः॥

काव्यप्रकाश १०.४१८।

---

१. किमयं शरदम्भोदः किं वा हंसकदम्बकम्।
रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तन्न तोयदः॥ १६३॥
इत्ययं संशयाक्षेपः संशयो यन्निवर्त्यते।
धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना॥ १६४॥ दण्डी, काव्यादर्श, द्वि० प०

२. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। मम्मट, काव्यप्रकाश १०.९२।

'दशकुमारचरित' में सन्देह अलंकार का सुन्दर-निदर्शन पंचम व षष्ठ उच्छ्वास में उपलब्ध होता है—

'मेरे मन में चिन्ता-हुई कि, क्या यह स्वप्न है ? या मैं प्रतारित किया गया, अथवा क्या यह कोई देवी या आसुरी (राक्षसी) माया है' ?[१]

'चन्द्रमा किरणरूपी रस्सियों द्वारा निर्भित हिंडोले (पालने) के ऊपर से गिरकर मूर्च्छित अप्सराओं के सदृश सुखपूर्वक शयन करती हुई ये सुन्दरियाँ कौन हैं ? क्या यह अरविन्दहस्ता लक्ष्मी के समान लक्ष्मी है ? अथवा कौन यह इस रीति से शरद्कालिक चन्द्रमण्डल के समान श्वेत वस्त्र की चादर ओढ़े हुए इस पलंग पर सोया हुआ है ?' यह अंगना देवस्त्री नहीं है क्योंकि शनैः शनैः चन्द्रकिरणों से संसेव्यमान कमलिनी के सदृश संकुचित होकर सोती हुई दिखाई दे रही है ।'[२]

इन उपर्युक्त उदाहरणों में उपमेय का उपमान के साथ सादृश्यमूलक संशय या सन्देह होने से सन्देह अलंकार है ।

इस प्रकार षष्ठ उच्छ्वास में भी राजकुमारी कन्दुकावती के अप्रतिम लावण्य से मुग्ध होने वाले मित्रगुप्त के द्वारा उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति में निश्चयान्त सन्देह अलंकार विशेष रूप से द्रष्टव्य है—

मित्रगुप्त साश्चर्य सोचने लगा,'क्या यह लक्ष्मी है ? नहीं, नहीं, उन लक्ष्मी जी के हाथों में तो कमल होते हैं, उसके तो हाथ ही कमल हैं । वे पूजनीय लक्ष्मी जी तथा मान्या राजलक्ष्मी यथाक्रम भगवान् विष्णु और पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा उपभुक्त हैं किन्तु यह राजकुमारी तो सर्वथा अनुपभुक्त है । अनिन्द्य इसके अवयव हैं और अभिनवा, अनुपभुक्त तरुणी है ?'[३]

---

१. अभूच्च में मनसि किमयं स्वप्नः, किं विप्रलम्भो वा, किमियमासुरी दैवी वा कापि माया । यद्भावि तद्भवतु । प० उ०, पृ० ३५७ ।

२. एष च को नु शीतरश्मिकिरणरज्जुदोलापरिभ्रष्टमूर्छित इवाप्सरोगणः स्वैरसुप्तः सुन्दरीजनः, का चेयं देवीवारविन्दहस्ता शारदशशाङ्कमण्डलामलदुकूलोत्तरच्छदमधिशेते-शयनतलम् ।' न तावदेषा देवयोषा, यतो मन्दमन्दमिन्दुकिरणैः संवाह्यमाना कमलिनीव सङ्कुचति । पं० उ०, पृ० ३५१ ।

३. किमियं लक्ष्मीः नहि नहि । तस्याः किल हस्ते विन्यस्तं कमलम्, अस्यास्तु हस्त एव कमलम् । अभुक्तपूर्वा चासौ पुरातनेन पुंसा पूर्वराजैःश्च, अस्याःपुनरनवद्यमयातयामं च यौवनम्' इति चिन्तयत्येव मयि...पृ० ३८९ ।

यहाँ उपमेय कन्दुकावती तथा उपमान लक्ष्मी में सादृश्यमूलक संशय होने से सन्देह अलंकार है तथा दोनों के वैधर्म्य का स्पष्ट कथन होने से यह निश्चयान्त सन्देह कहा जा सकता है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमान और उपमेय का सादृश्य इव आदि शब्दों के प्रयोग से शब्दतः कथित हो, अथवा तुल्यादि शब्दों का प्रयोग होने से लक्षणा द्वारा प्रतीत हो, या पूर्वापर पर्यालोचना से प्रतीत हो, वहाँ यदि भेद का प्रतिपादन किया जाए—किसी धर्मविशेष से उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष बताया जाए वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार होता है।[१]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ 'उपमान की अपेक्षा उपमेय का (किसी गुणविशेष के कारण) आधिक्य या उत्कर्ष बताया जाता है वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार होता है।'[२]

'दशकुमारचरित' में यत्र-तत्र व्यक्तिरेक अलंकार का भी उदाहरण मिल जाता है, यद्यपि अन्य अलंकारों की अपेक्षा इसका प्रचुर प्रयोग यहाँ नहीं है।

पंचम उच्छ्वास में कुमारी नवमालिका के वर्णन में 'व्यतिरेक' का प्रयोग हुआ है।

श्रावस्ती नाम की नगरी है। उसका स्वामी दूसरे धर्मपुत्र के सदृश, धर्मवर्धन नाम का राजा है। उसकी...अपने सौकुमार्य से अभिनवा लता को विडम्बित करने वाली नवमालिका नाम की कन्या है।

यहाँ उपमेय नवमालिका (कन्या) का अपने सौकुमार्य से उपमान नूतन लता की विडम्बना बतायी गयी है अर्थात् सौकुमार्य में कुमारी नवमालिका नवमालिका से बढ़कर है जिससे उसका उत्कर्ष सिद्ध होता है। अतएव यहाँ व्यतिरेक है। पुनः द्वितीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा के शब्दों में—

---

१. शब्दोत्पत्ति प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥—दण्डी, काव्यादर्श-२.१८०।

२. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।—काव्यप्रकाश १०.१०५।

'प्रात:काल जब दावानल के सदृश तथा कल्पवृक्ष के किसलयों को तिरस्कृत करने वाली अरुण किरण उदयाचल पर उदित हुई तब मैंने उनको प्रणाम किया और नगर की ओर चल पड़ा।'[१]

यहाँ भी उपमान 'कल्पद्रुम के किसलयों' की तुलना में उपमेय 'सूर्य की किरणों' का उत्कर्ष कवि को अभीष्ट होने से व्यतिरेक अलंकार हैं।

परिवृत्ति

जहाँ किसी एक समान वस्तु का दूसरी समान वस्तु से विनिमय अथवा किसी एक असमान वस्तु का दूसरी असमान वस्तु से विनिमय का वर्णन किया जाता है वहाँ परिवृत्ति नाम का अलंकार होता है।[२]

दशकुमारचरित में कई स्थलों पर परिवृत्ति अलंकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

द्वितीय उच्छ्वास में अपहारवर्मा ने उदारक की प्रिया तथा उसके आभूषणों को उसे प्रदान किया। प्रत्युत्तर में उदारक ने लज्जा हर्ष और संभ्रम के साथ कहा—' आर्य, तुम्हीं ने इस रात्रि के समय में मेरी प्रिया को मुझे दिया और मेरी वाणी को तू ने ले लिया।'[३]

यहाँ अपहारवर्मा द्वारा उदारक को उसकी प्रिया को प्रदान करने के बदले में उदारक की वाणी के अपहरण किये जाने का वर्णन होने से दोनों में विनिमय सुस्पष्ट है। अतएव यहाँ परिवृत्ति अलंकार स्फुट रूप से द्रष्टव्य है।

इसके अतिरिक्त षष्ठ उच्छ्वास में—

चन्द्रसेना आदि अपनी प्रिय सखियों के साथ कन्दुकक्रीड़ा समाप्त कर विहार के अन्त में देवी जी की आराधना करके मेरे हृदय के सहित एवं अपने

---

१. प्रत्युन्मिषत्युदयप्रस्थदावकल्पेकल्पद्रुमकिसलयावधीरिण्यरुणार्चिषितं नमस्कृत्य नगरायोदचलम्।

२. (अ) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः। मम्मट, काव्यप्रकाश १०.११३ (ब) परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ॥

३. उदारकस्तु तदादाय सलज्जं च सहर्षञ्च ससंभ्रमं च मामाभाषत—आर्य, त्वयैवेयमस्यां निशि प्रिया मे दत्ता। वाक्पुनर्ममापहृता। —दशकुमारचरित, पृ० १९४।

परिजनों से अनुगत कन्दुकावती, कामदेव के कुवलयशर की भाँति अपने कटाक्षों का विक्षेप करती हुई...अपने हृदय को मानों मेरे समीप भेजती हुई बार-बार मेरी ओर देखती हुई अपनी सखियों के साथ अन्तः पुर को चली गई। कुमार मित्रगुप्त भी कामदेव से पीड़ित होकर अपने घर जाकर...।[१]

यहाँ स्पष्ट है कि कुमार मित्रगुप्त ने अपने हृदय को कन्दुकावती को दिया उसके बदले में, घर की ओर जाती हुई राजकुमारी उस पर बार-बार मुड़ कर कटाक्षपात करती हुई अपने हृदय को भी उसके पास प्रेषित करती हुई सी अपने गृह को चली गई। यहाँ भी परस्पर हृदय के आदान-प्रदान से परिवृत्ति अलंकार है। अपना हृदय राजकुमारी को देकर मदनव्यथा की प्राप्ति करने से भी परिवृत्ति है।

आचार्य दण्डी ने परिवृत्ति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है— शस्त्रप्रहारं ददता भुजेनतव भूभुजाम्। चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम्॥ काव्यादर्श २.३५६

'हे राजन्, नृपों को शस्त्र प्रहार देकर आपके बाहु ने उनका चिरार्जित एवं कुमुद के समान निर्मल यश ले लिया। इस उदाहरण में शस्त्र-प्रहार प्रदान कर कीर्तिग्रहण करने से न्यून से अधिक ग्रहण रूप परिवृत्ति है।

काव्यलिङ्ग

काव्यलिंग वह अलंकार है जिसमें वाक्यार्थ रूप से तथा पदार्थरूप से हेतु का अर्थात् स्वतः अनुपपन्न प्रतीत होने वाले अर्थ के उपपादक का अभिधान या प्रतिपादन हुआ करता है।'[२] दशकुमारचरित के द्वितीय उच्छ्वास में काव्यलिंग अलंकार का उत्तम निदर्शन दृष्टिगत होता है—

---

१. 'चन्द्रसेनादिभिश्च प्रियसखीभिः सह विहृत्य विहृतान्ते चाभिवन्द्य देवीं मनसा मे सानुरागेणेव परिजनेनानुगम्यमान कुवलयशरमिव कुसुमशरस्य मय्यपाङ्गं समर्पयन्ती, सापदेशं...स्वहृदयमिव मत्समीपे प्रेरितं प्रतिनिवृतं न वा इत्यालोकयन्ती, सहसखीभिः कुमारीपुरमगमत्।'अहं चानङ्गविह्वलः स्ववेश्म गत्वा...।'—दशकुमारचरित, पृ० ३९७।

२. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता। मम्मट- काव्यप्रकाश, १०.११४।

'निश्चय ही तुम्हारा स्वभाव अद्‌भुत प्रतीत होता है। यह तो निश्चित ही है कि किसी चोर ने ऐसा (आचरण) कभी नहीं किया है, क्योंकि और चोरों के सदृश तुममें लोभ आदि दुर्गुण नहीं हैं।'[१]

यहाँ अपहारवर्मा का चोर सदृश आचरण न होने में चोर सुलभ लोभ आदि दुर्गुणों का अभाव हेतु है। अतएव यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। कुछ टीकाकारों की दृष्टि में भी यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।[२]

१. 'ननु ते स्वशीलमद्‌भुतवत्प्रतिभाति। नैवमन्येनापिकृतपूर्वमिति प्रतिनियतैव वस्तुशक्तिः। न हि त्वय्यन्यदीयालोभादयः।' दश०, द्वि० उ०, पृ० १९४

२. न हि इत्यादिना काव्यलिङ्‌गम्।—दण्डी, दशकुमारचरित, द्वि० उ० (रिवाइजुइ बाई आगशे, पृ० २१६, द्वि० संस्करण द्रष्टव्य नोट्स)

नवम अध्याय

भाषा और शैली

प्रायः सभी समस्याओं के समाधान में भाषा की उपादेयता सर्वात्मना स्वीकार की जाती है। भाषा मानव-हृदय की कुंजी है। किसी भी देश या राष्ट्र के संघटन के लिये, भाषा अत्यन्त सबल साधनों में एक है। विश्वमानवता की मानसिक एकता का आधार, हमारे मन का परिधान या लिबास भाषा ही है। मानवीय विचारों, आदर्शों, सत्य, मिथ्या के मापदण्डों तथा अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का एकमात्र माध्यम भाषा ही है। साहित्यसेवियों, कवियों एवं मनीषियों की कीर्ति-पताका का अनन्त विस्तार अद्यावधि भाषा स्वरूप विशाल स्तम्भ का आश्रय पाकर ही सुस्थिर हो सका है।

भाषा संस्कृति की ही भाँति कोई स्वभावज सत्य न होकर एक संघटित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त एवं परिष्कृत होती है। मानव समाज के विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिये, अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, संयुक्त एवं एकता के एक सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करने के लिये हमें एक भाषा के माध्यम का अवलम्ब अनिवार्य है। विदेशी शासन के प्रचण्ड झंझावात से सन्तप्त हमारी चेतना की विकीर्णता एवं पराजय अनुमान के भी परे है। फलतः कालव्यूह के प्रतिप्रक्रम एवं व्यवहृतिवृत्ति के प्रतिसोपान में हमारा सामाजिक उत्तरदायित्व इतना सुदूर एवं दृष्टि से ओझल-सा हो गया कि अपने स्वार्थ-परिधि के बाहर एक सबल, संतुलित एवं संघटित राष्ट्रीय-जीवन की उपादेयता की ओर हमारी प्रवृत्ति ही नहीं होती। भारतमाता की प्रिय संतान स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त दाय की सुरक्षा के लिये, नवीन परिस्थितियों के कारण अपने, प्राचीन-संस्कृतिपोषकों के राष्ट्रीय आदर्शों के गौरव की सुसम्पन्नता एवं सुस्थिरता के लिये जिस स्वाभिमान और अदम्य उत्साह के साथ निर्निमेष दृगों से स्वाती के बूँद के लिये आकुल चातक के सदृश भारतीय साहित्य का कोना-कोना

झाँका उस स्तर पर यदि यह कहें कि कोई भी साहित्य उसकी मनोवृत्तियों को, उसकी मूक वेदनाओं को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर सका तो यह विषय विचाराधीन हो जाता है ।

सच कहा जाय तो भारतीय संस्कृति सदैव धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित रही है । साथ ही इस धारणा का भी पोषक रही है,[१] काव्य; शास्त्रादि के विनोद से ही मेधाविजनों का समय व्यतीत होता है,[२] धर्म से विहीन प्राणी पशु के सदृश होता है, किन्तु साहित्य, संगीत और कला से विहीन मानव पुच्छविषाण से हीन साक्षात् पशु होता है । संस्कृत भाषा ही भारतीय संस्कृति का आधार है । विश्व की मानवीय सभ्यता का अनन्त स्रोत, भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुर, चिरन्तन साहित्य-साधना का संचित भण्डार, कलात्मक विनोद, शिष्ट आचार तथा धर्म का मधुमय कोष संस्कृत साहित्य है । दृष्टि एवं अनुभूति के सदृश संस्कृति एवं संस्कृत (भाषा) का साहचर्य सर्वदा अविच्छिन्न रहा है । संस्कृत भाषा अखिल ब्रह्माण्ड के नियामक तत्त्वों से ओत-प्रोत है । जीवन की प्राय: सर्वविध समस्याओं के अनुशीलन एवं निर्णय के लिये अत्यन्त गूढ, उपयोगी तत्त्वों का सन्निवेश संस्कृत में ही सुलभ है । इन्हीं गुणों के माहात्म्य के कारण आरम्भ से ही संस्कृत भाषा देववाणी, गीर्वाण वाणी, दैवी वाक् आदि नामों से अभिहित हुई है । इसी भाषा के तीर्थपथ का आश्रय पाकर ही भारतीय संस्कृति की भित्ति सुदृढ़ नींव पर सुस्थिर हो सकी है । किं बहुना, संस्कृत भाषा ही वह परमप्रकाशपुंज है जिसके दिव्यालोक में अज्ञानान्धकार की कणिका मात्र की प्रतीति अथवा अनुभूति नही होती, सुसंस्कृत विचारों, आदर्शों एवं जीवन की गतिविधियों का वह कल्पतरु है जिसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है, गूढ तत्त्वों के जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुजनों को सहारा देने वाली वही कल्पलता है जिसकी सुस्निग्धशीतल छाया में उदात्तवृत्तियाँ पलती हैं, जड़ता को स्पन्दन तथा निवृत्ति को प्रवृत्ति की राह मिलती है, श्रद्धा एवं विश्वास, ज्ञान और भक्ति, आज्ञापालन तथा अनुशासन सहयोग तथा आत्मसमर्पण की भव्य भावनाएँ अपना पूर्ण परिपोष पाती हैं ।

---

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्यादेव...॥ आचार्य विश्वनाथ-साहित्यदर्पण ।

२. काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

जीवन की संकटकालीन स्थिति में मुख्यरूप से संस्कृत साहित्य ही मानवीय वृत्तियों एवं मूकवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर उन्हें क्रियात्मक रूप देने में सफल सिद्ध हुआ है। लोकोत्तरवर्णनानिपुण संस्कृत महाकवियों की अमृतवाणी में उनकी आत्मा निवास करती है। प्रत्येक कलाकोविद् अथवा कवि के अन्तर्जगत् में दैवी प्रकृति की जो आनन्दमयी मूर्ति होती है वही उसकी कृति में प्रकट होती है। जब काव्य में उसी की भाषा, संगीत में उसी की ध्वनि तथा चित्र में उसी की छाया के दर्शन होने लगते हैं तभी दिव्यदृष्टि से लाभान्वित जनसमूह को स्नेह एवं सद्भाव से संवलित सत्पथ का दर्शन होता है जिसके आश्रय से उसे अपने परमप्रयोजन की सिद्धि होती है।

तभी तो 'संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः' इत्यादि सारगर्भित उक्तियाँ स्वच्छन्द रूप से साहित्यजगत् में कर्णगोचर हुईं। इस बात का हमें सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गुप्त सम्राटों के युग से पुनः संस्कृत भाषा का पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित रूप सामने आया। राज्य कार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति का नया अध्याय आरम्भ हुआ। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। नवीन राष्ट्रीयता और विद्याप्रेम का संचार हुआ। कला और साहित्य की चर्चा से अनुप्राणित भारतीय चिन्तास्रोत को एक नयी दिशा का उन्मीलन हुआ।

आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रिया-काण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है जो पुराण और स्मृतियाँ तथा शास्त्र आज प्रमाण माने जाते हैं वे अन्तिम तौर पर गुप्तकाल में रचित हुये थे वे आज भी भारतवर्ष का चित्तहरण किये हुए हैं, जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुये थे वे आज भी भारतीय चिन्ता-स्रोत को बहुत कुछ गति दे रहे हैं।[१]

अस्तु स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य उन प्रेरणाओं और उदात्त भावनाओं का मूल है जहाँ से एक नयी सभ्यता, एक नयी संस्कृति, एक नयी चेतना, नया जीवन और एक अभिनव दिव्यदृष्टि की सृष्टि हुई।

प्राचीन भारत बहुत व्यापक शब्द है। इसका साहित्य हजारों वर्षों में परिव्याप्त है। 'भारतवर्ष में एक ऐसा समय बीता है जब इस देश के निवासियों के

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोदः डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। पृ० ५।

प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य गर्व था और सुन्दर के रक्षापोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए थे, सन्धि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञान जगत् की सभ्यता का नियन्त्रण किया था और वाणिज्य तथा यात्राओं के द्वारा अपने को समस्त सभ्य जगत् का सिरमौर बना लिया था।...उस समय के काव्य, नाटक, आख्यान आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का भारतीय केवल विस्मयविमुग्ध होकर देखता रह जाता है। उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है राग है और रस है। उस युग में भारतीयों ने जीने की कला का आविष्कार की थी।'[१]

अधिकतर आचार्य और चिन्तक इस स्वर्णयुग का प्रारम्भ चतुर्थ शताब्दी ईसवी से और इसका पर्यवसान नवम शताब्दी में मानते हैं। इसी स्वर्णयुग के लगभग मध्याह्नकाल में महाकवि दण्डी का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से एक अद्भुत कल्पना-लोक की सृष्टि की जिसमें उनकी इन्द्रधनुषी प्रतिभा ने कल्पना के शत-शत अभिनव इन्द्रजाल बिछाये। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने एक नूतन चेतना का स्फुरण किया।

वस्तुतः हमारे भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग संस्कृत साहित्य से अनुप्राणित हुआ है जो न केवल अतीत के इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय है वरन् वह मुख्य रूप से धार्मिक जीवन की गतिविधि को नियंत्रित करने के लिए भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की भाँति अद्यावधि सुशोभित है।

'लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सब को अवगत करने का उपाय संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य परा' तथा अपरा विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्य-शोभनीया है।'[२]

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद: डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २.३।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास- डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० २, परि० सं० १९४८।

संस्कृत काव्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन भी यथार्थ प्रतीत होता है कि गंगाजल की भाँति उनमें पवित्रता और प्यास बुझाने तथा आरोग्य प्रदान करने का गुण एक साथ विद्यमान रहता है । सत्काव्य, माता के दूध की भाँति तुष्टि और पुष्टि दोनों का विधायक और प्रेम का प्रतीक होता है ।कवि के पास लोगों के हृदयद्वार को खोलने के लिये सौन्दर्य की ही कुंजी है । वह सौन्दर्य का ही आवेष्टन चढ़ाकर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य एवं हृद्य बना देता है कवि सौन्दर्य का उपासक होता है । सौन्दर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित होती है । सौन्दर्य के साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है सौन्दर्य जितना ही सत्याश्रित और मंगल रूप होता है उतना ही वह दिव्य होता है । सत्य, शिव और सुन्दर के इसी समन्वय के कारण काव्य, देवत्व से प्रतिष्ठित व अनुप्राणित होकर ब्रह्मानन्द सहोदर, रस का स्रष्टा और प्रसारक होता है ।

'इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत-साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है...जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक हुए जो अपने सरस, मसृण काव्य त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया, जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुर रस की वर्षा की, श्री हर्ष जैसे पण्डित कवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?[१]

संस्कृत के गद्य और पद्य काव्यों में समान रूप से काव्य की रचना हो सकती है । संस्कृत गद्य-काव्य से सहृदयों के हृदय में वास्तविक काव्यानन्द का संचार होता है । भाषा-सौष्ठव, वर्णननैपुण्य, कल्पना-वैचित्र्य, रसास्वाद, पदलालित्य, अलंकारवैभव, विषय-वैशद्य प्रभृति काव्यात्मक गुणों का एकत्र गुम्फन दशकुमारचरित में उपलब्ध होता है । सरल, विषयानुकूल, अलंकृत, उदात्त एवं परिष्कृत ग शैली का यह उत्तम निदर्शन प्रस्तुत करता है । सामान्य रूप से भावनात्मक स्थलों में सरल, प्रवाहपूर्ण एवं व्यावहारिक गद्य का उदाहरण होते हुए भी अलंकृत तथा

---

१. वही, पृ० ८ ।

समास-प्रधान शैली का दशकुमारचरित में अभाव नहीं है। वर्णनात्मक प्रसंगों में समासों एवं अलंकारों की प्रचुरता विशेष रूप से दर्शनीय है। यत्र-तत्र विषेषणों के समीचीन प्रयोग से इतिवृत्त और भी यथार्थ, रुचिकर एवं हृद्य हो गया है। सर्वप्रथम अष्टम उच्छ्वास में कुमारसेवक विहारभद्र के लिए प्रयुक्त विशेषण पदों की छटा दर्शनीय है—

'तां च वार्तां पार्थिवेन प्रसंगेनोदीरितामुपनिशम्य समीपोपविष्टश्चित्तानुवृत्तिकुशलः प्रसादवित्तो गीतनृत्यवाद्यादिष्वबाह्यो बाह्यनारीपरायणः पटुरयन्त्रितमुखो बहुभंगिविशारदः परमर्मान्वेषणपरः परिहासयिता परिवादरुचिः पैशुन्यपण्डितः सचिवमण्डलादप्युत्कोचहारी सकलदुर्नयोपाध्यायः कामतन्त्रकर्णधारः कुमारसेवको विहारभद्रो नाम स्मितपूर्वं व्यज्ञपयत्।'[१]

विशेषणों के प्रयोग में दण्डी की प्रतिभा परिश्रान्त होना नहीं जानती। भाषा सौष्ठव, वर्णननैपुण्य की दृष्टि से इन विशेषणपदों का चमत्कार दशकुमारचरित में देखने को मिलता है। कहीं भी क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों के प्रयोग से भाषा में शिथिलता तथा श्लेष का भरमार होने से सुबन्धु और बाणभट्ट के सदृश अर्थ की अस्पष्टता के दर्शन नहीं होते—

'सोऽश्रुगद्गदमगदत्—श्रूयतां महाभाग। विदर्भो नाम जनपदः तस्मिन्भोजवंश-भूषणम्, अंशावतार इव धर्मस्य, अतिसत्वः, सत्यवादी, वदान्यः, विनीतः, विनेता प्रजानाम्, रंजितभृत्यः कीर्तिमान, उदग्रः, बुद्धिमूर्तिभ्यामुत्थानशीलः शास्त्रप्रमाणकः शक्यभव्यकल्पारम्भी, सम्भावयिता बुधान्, प्रभावयिता सेवकान्, उद्भावयिता बन्धून्,न्यग्भावयिता शत्रून्, असंबद्धप्रलापेष्वदत्तकर्णः, कदाचिदप्यवितृष्णो गुणेषु, अतिनदीष्णः कलासु, नेदिष्ठो धर्मार्थसंहितासु, स्वल्पेऽपि सुकृते सुतरां प्रत्युपकर्ता, प्रत्यवेक्षिता कोशवाहनयोः, यत्नेन परीक्षिता सर्वाध्यक्षाणाम् उत्साहयिता कृतकर्मणामनुरूपैर्दानमानैः, सद्यः प्रतिकर्ता दैवमानुषीणामापदाम्, षाड्गुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य, पुण्यवर्मा नामासीत्।'[२]

राजा एवं सेवक दोनों के वर्णन में उपयुक्त, सार्थक एवं यथार्थ पदों का प्रयोग कितना ललित एवं मनोरम है कि पाठकों की रुचि कहीं स्खलित नहीं होती।

---

१. दशकुमारचरित-पृ० ७।

२. दशकुमारचरित - अष्टम उच्छ्वास, पृ० २-४।

इसके अतिरिक्त प्रथम उच्छ्वास में विशेषणपदों से अलंकृत, व्यावहारिक एवं स्वाभाविक गद्य का उत्कृष्ट निदर्शन विशेषरूप से हृदयावर्जक है। चण्डवर्मा की उक्ति है—

कथं स एवैष मदनुजमरणनिमित्तभूतायाः पापायाः बालचन्द्रिकायाः पत्युरत्यभिनिविष्टवित्तदर्पस्य वैदेशिकवणिक्पुत्रस्य पुष्पोद्भवस्य मित्रं रूपमत्तः, कलाभिमानी नैकविधविप्रलम्भोपायपाटवावर्जितमूढपौरजनमिथ्यारोपितवितथदेवतानुभावः कपटधर्मकंचुको निगूढपापशीलश्चपलो ब्राह्मणब्रुवः ।[1]

तृतीय उच्छ्वास में कल्पसुन्दरी द्वारा अपने पति की निन्दा में प्रयुक्त विशेषणपद अत्यन्त छोटे व सरल हैं—' अयं च निष्ठुरः पितृद्रोही नात्युपपन्नसंस्थानः कामोपचारेष्वलब्धवैचक्षण्यः कलासु काव्यनाटकादिषु मन्दाभिनिवेशः शौर्योन्मादी दुर्विकत्थनोऽनृतवादी चास्थानवर्षी । नातिरोचते मे एष भर्ता ।'[2]

अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त भी विशेषण पदों का यहाँ अभाव नहीं है—

'अनन्तरं च कश्चित्कर्णिकारगौरः कुरुविन्दसवर्णकुन्तलः कमलकोमलपाणिपादः कर्णचुम्बिदुग्धधवलस्निग्धनीललोचनः कटितटनिविष्टरत्नखः पट्टनिवसनः कृशाकृशोदरोरःस्थलः कृतहस्ततया रिपुकुलमिषुवर्षेणाभिवर्षन्पादांगुष्ठनिष्ठुरावघृष्टमूलेन प्रजविना गजेन संनिकृष्य पूर्वोपदेशप्रत्ययात्'[3]

'तत्र काचिदिन्दुकलेव स्वलावण्येन रसातलान्धकारं निह्नुवाना, विग्रहिणीव देवी विश्वम्भरा, हरगृहिणीवासुरविजयायावतीर्णा, पातालमागतागृहिणीव भगवतः कुसुमधन्वनः, राजलक्ष्मीरिवानेकदुर्नृपदर्शनपरिहाराय महीविवरं प्रविष्टा, निष्टप्तकनकपुत्रिकेवावदातकान्तिः कन्यका मद्दर्शनेनोदकम्पत ।'[4]

अलंकारबहुल पदावली से युक्त ऐसे उदाहरणों में उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की धूप-छाँह से अभिव्यक्ति में प्रभावोत्पादकता कितनी बढ़ गयी है, एक-एक पद कितना नपा-तुला है कि एक भी पद कहीं से निकाल लेने पर बहुत

१. वही, पृ० १३४-१३५ ।

२. वही, पृ० २६९ ।

३. दशकुमारचरित-पृ० १५०-१५१ (प्रथम उच्छ्वास)

४. वही, पृ० ३३७-३३८ ।

बड़े अभाव की प्रतीति होती है। एक-एक पद मशीन के एक-एक पुर्जे की भाँति जुड़े हुए हैं।

वर्णनात्मक स्थलों में पदलालित्य के साथ ही समासों एवं अलंकारों की प्रचुरता उपलब्ध होती है। विशेषण रूप में प्रयुक्त समस्त पदों में मिश्रित वाक्यांशों की दीर्घ शृंखलाओं से शृंखलित दीर्घ वाक्यों की भी छटा यत्र-तत्र परिलक्षित होती है— अन्तः पुर में निःशंक शयन करती हुई राजकुमारी अम्बालिका के वर्णन,[१] उपमा उत्प्रेक्षा संदेहादि अलंकारो से संवलित पंचम उच्छ्वास में नवमालिका के वर्णन,[२] विविध गतियों से कन्दुक क्रीडा करती हुई कन्दुकावती के उत्कृष्टवर्णन,[३] सप्तम उच्छ्वास में कनकलेखा के अत्यन्त सरसवर्णन,[४] वसन्त वर्णन,[५] सर्वांगसु-

---

१. तदुपदर्शित विभागं चावगाह्य कन्यान्तःपुरं प्रज्वलत्सु मणिप्रदीपेषु नैकक्रीडाखेदसुप्तस्य परिजनस्य मध्ये महितमहार्घरत्नप्रसुप्तसिंहाकारदन्तपादे हंसतूलगर्भ-शय्योपधानशालिनि कुसुमलवच्छुरितपर्यन्तेपर्यङ्कतले— ईषद्विवृतमधुरगुल्फसन्धि, परस्पराश्लिष्टजङ्घाकाण्डम्, आकुञ्चितकोमलोभयजानु, किंचिद्वेल्लितोरुदण्ड-युगलम्— शरदम्भोधरोत्सङ्गशायिनीमिवसौदामनीं राजकन्यामपश्यम्। —दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० २३७-२४१।

२. 'दक्षिणतोदत्तचक्षुरागलितस्तनांशुकाम्, अमृतफेनपटलपाण्डुरशयनशायिनीम्, आदि वराहदंष्ट्रांशुजाललग्नाम् अंसस्रस्तदुग्धसागरदुकूलोत्तरीयाम् भयसाध्वसमूर्छितामिव धरणिम्, अरुणाधरकिरणबालकिसलयलास्यहेतुभिराननारविन्दपरिमलोद्गाहिभि-र्निःश्वासमातरिश्वभिरीश्वरेक्षणदहनदग्धं स्फुलिङ्गशेषमनङ्गमिव संधुक्षयन्तीम्—कामपि तरुणीमालोकयम्।' —दशकुमारचरित-पञ्चम उच्छ्वास, पृ० ३४८-४९। न तावदेषा देवयोषा—सचकितमशयिष्ट—वही, पृ० ३५१-५६।

३. एवमनेककरणमधुरं विहरन्ती रङ्गगतस्य रक्तचेतसो जनस्य— प्रशंसावाचः प्रतिगृह्णती—मुखकमलपरिमलग्रहणलोलानलिनस्ताडयन्ती—पर्यक्रीडतराजकन्या।—वही, षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ३९१-३९६।

४. 'अथ तदाकर्ण्य कर्णशेखरनिलीननीलनीरजायितां धीरतरलतारकां दृशं तिर्यक्किंचिदञ्चितां सञ्चारयन्ती, सलिलचरकेतनशरासनानतां चिल्लिकालतां ललाटरङ्गस्थलीनर्तकीं लीलालसं लालयन्ती—चरणाग्रेणतिरश्चीननखार्चिश्चन्द्रिकेण धरणितलं साचीकृताननसरसिजं लिखन्ती—कलकण्ठीकलान्यसृजत्॥'—वही, स० उ०, पृ० ४६२-६४।

५. अथ कदाचिदायासितजायारहितचेतसि लालसालिलङ्घनग्लानघनकेसरे—नृत्यलीले काले—सप्तम उच्छ्वास, पृ० ४६८-७०।

न्दरी गोमिनी के नख-शिख वर्णन में[१] दण्डी की काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। इन स्थलों की रमणीय अभिव्यक्ति में काव्य-सौंदर्य एवं प्रभावोत्पादकता तथा औचित्य एवं सरसता के समवाय का एकत्र दर्शन होता है।

इनके अतिरिक्त भी यत्र-तत्र अलंकारप्रधान तथा कहीं-कहीं समासविशिष्ट पदों से युक्त अलंकृत स्थल उल्लेखनीय हैं।[२]

ऐसे समासविशिष्ट एवं अलंकारमण्डित विशेषणों की शृंखला प्रायः सीमा से बाहर नहीं होने पायी है। सुबन्धु तथा बाण के गद्य काव्यों की तुलना में दशकुमारचरित में समासनिष्ठ एवं अलंकृतगद्य के स्थल अपवाद स्वरूप ही हैं।

व्यावहारिक गद्य के स्थलों में यहाँ वाक्यों का विस्तार प्रायः लघु एवं मध्यम समास से संयुक्त अथवा कभी-कभी समास-रहित उपवाक्यों के समुदाय से होता है। अश्मक देश के विविध उपायों द्वारा नियुक्त गुप्तचरों के अनन्तवर्मा की सैन्य-शक्ति को विविध उपायों द्वारा किस प्रकार जर्जर बना दिया। इसी विषय के वर्णन में लगभग २० से भी अधिक वाक्यांशों के सहित एक वाक्य की रचना हुई है अत्यन्त दीर्घ होते हुए भी इसकी एकार्थता (यूनिटी) भंग नहीं होने पायी है सभी उपायों के वर्णन में प्रत्येक वाक्यांश भावगाम्भीर्य से ओत-प्रोत हैं। साथ ही अर्थ की प्रतीति में बाधक नहीं हैं। बहुवचनान्त तृतीयाविभक्ति से युक्त वाक्यांश समीकृत एवं संतुलित हैं।[३] दण्डी की वर्णन शक्ति अद्‌भुत है। विषय के

---

१. 'अस्याः खलुकन्यकायाः सर्व एवावयवा नातिस्थूला नातिकृशा नातिह्रस्वा नातिदीर्घा न विकटा मृजावन्तश्च रक्ततलाङ्गुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ...तनुतरमीषन्निम्नं गम्भीरं नाभिमण्डलम्, वलित्रयेण चालङ्कृतमुदरम् ...स्निग्धनीलो गन्धग्राही च मूर्धजकलापः।'—षष्ठ उ०, पृ० ४१७-४२१।

२. 'अथाहमाविर्भूय विवृतदीपभाजनः' भामिनि, ननुबह्वपराद्धं भवत्या चित्तजन्मनो यदमुष्य जीवितभूता रतिराकृत्या कदर्थिता...लीलाकर्णकिसलयं चरणतलप्रभाभिः। —पृ० २८२-२८४। अथाविर्भूय कापि रविकराभितप्तकुवलयदामतान्ताङ्गयष्टिः, ...स्नेहगद्गदं व्याहार्षीत्। —पृ० ३५७-३५९।

३. तदा च मृगयुवेषमृगबाहुल्यवर्णनेनाद्रिद्रोणीरनपसारमार्गाः शुष्कतृणवंशगुल्माः प्रवेश्य द्वारतोऽग्निविसर्गैः, व्याघ्रादिवधे प्रोत्साह्य तन्मुखपातनैः, इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूर-हारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः... वस्त्राभरणमाल्याङ्गरागादिषु रसविधान-कौशलैः, चिकित्सामुखेनामयोपबृंहणैरन्यैश्चाभ्युपायैरश्मकेन्द्रप्रयुक्तास्तीक्ष्णरसदादयः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन्। द० कु० च० पृ० ३०-३३।

भावप्रधान, मार्मिक अथवा गंभीर होने पर दण्डी की पदावली अत्यन्त प्रभावोत्पादक होती है । वाक्य छोटे और दीर्घसमासों से रहित होते हैं संवादात्मक स्थलों में प्रवाह एवं संक्षिप्तता लाने के लिये एक विशेष प्रकार का वाक्य-विन्यास अपनाया गया है । वस्तुत: कई वाक्यों के रहते हुए भी उनका ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि वे एक ही वाक्य के रूप में प्रतीत होते हैं । ऐसे विलक्षण विन्यास के प्राय: दो रूप प्रतीत होते हैं—एक में तो प्रत्यक्ष कथन के कथनीय क्रिया तथा कथित उक्ति दोनों भाग परस्पर मिले हुए होते हैं और दूसरे में क्त आदि कृदन्त पदों द्वारा निर्मित कर्मवाच्य का भाग जो वस्तुत: एक प्रधान वाक्य का ही अन्तर्वाक्य होता है और जिसका कर्तृपद वाक्य की मुख्य क्रिया से सम्बद्ध रहता है तथा 'क्त' आदि कृदन्तपद उसी कर्तृपद के विशेषणीभूत बन जाते हैं । कभी-कभी ये दोनों रूप एकत्र रहते हैं और कभी पृथक् । इस प्रकार के भी दो- एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।—

'अथ सा वारयुवतिस्तेनतापसेन भद्रे, ननु दु:खाकरोऽयं वनवास: । तस्य फलमपवर्ग: स्वर्गो वा । प्रथमस्तु तयो: प्रकृष्टज्ञानसाध्य: प्रायो दु:संभाव्यएव, द्वितीयस्तु सर्वस्यैव सुलभ: कुलधर्मानुष्ठियिन: । तदशक्यारम्भादुपरम्य मातुर्मते वर्तस्व' इति सानुकम्पमभिहिता 'यदीह भगवत्पादमूलमशरणम्, शरणमस्तु मम कृपणाया: हिरण्य रेता देव एव इत्युदमनायत ।'

यहाँ आदि से लेकर 'अभिहिता' अंश तक—'अथ सा वारयुवतिस्तेन तापसेन वाक्य की क्रिया' अभिहिता तक कथनीय क्रिया (रिपोर्टिंग वर्ब), तथा 'भद्रे...वर्तस्व कथित उक्ति (रिपोर्टेड स्पीच) है । यदि इनको पृथक् किंया जाय तो इसका रूप इस प्रकार हो सकता है—

'अथ सा वारयुवतिस्तेन तापसेन अभिहिता—' भद्रे, मातुर्मते वर्तस्व 'इति । इसी प्रकार कथित उक्ति (रिपोर्टेड स्पीच) को पहले रखकर' इति के बाद कथनीय क्रिया का वाक्य भी रखा जा सकता है ।

इसी प्रकार—

'सा मामञ्जलिकिसलयोत्तंसितेन मुखविलोलकुन्तलेन मूर्ध्ना प्रणम्य मया सह वनवटद्रुमस्य कस्यापि महत: प्रच्छायशीतले तले निषण्णा,' कासि वासु, कुतोऽस्यागता, कस्य हेतोरस्य में प्रसीदसि 'इति साभिलाषमाभाषिता मया वाङ्मयं मधुवर्षमवर्षत् ।'

यहाँ भी 'सा आभाषिता मया' (रिपोर्टिंग वर्ब) कथनीय क्रिया के द्योतक वाक्य के अन्तर्गत 'कासि वासु प्रसीदसि' कथित उक्ति का अंश प्रविष्ट है और 'सा आभाषिता मया' कर्म वाच्य में जो 'सा' प्रथमान्त कर्मपद है वही 'अवर्षत्' क्रिया का कर्तृपद भी है जिसका कथित उक्ति का अंश विशेषणीभूत बन गया है।

इस प्रकार का विशिष्ट विन्यास दशकुमारचरित में कई स्थलों में उपलब्ध होता है।

दण्डी की भाषा सर्वत्र भावों के अनुकूल है। पदलालित्य उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य गद्य काव्यों के सदृश ओजोगुण की सृष्टि करना दण्डी का यहाँ उद्देश्य नहीं रहा है। इस कारण प्रसाद गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होता है। शैली अत्यन्त सरस, स्निग्ध, धारावाहिनी, स्फुट और चित्ताकर्षक है। इसीलिए दीर्घ समासों और क्लिष्ट तथा श्लिष्ट पदावली का प्रयोग नहीं किया गया है। इनके पद सुप्रयुक्त और सौन्दर्य की सृष्टि करने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं। पदावली सारगर्भित और स्पृहणीय है।

'दण्डिनः पदलालित्यम्' की अनुश्रुति दण्डी के सम्बन्ध में पूर्णतः चरितार्थ होती है। दशकुमारचरित में, 'पदलालित्य' की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पदलालित्य के तत्त्वों में मुख्य रूप से श्रवणसुखद वर्णसाम्य अथवा मर्यादित अनुप्रास की छटा तथा सुप्रयुक्त, साकूत कोमल पदों के सन्निवेश को ही ध्यान में रखा गया है। इनके अतिरिक्त पदों का विशिष्ट विन्यास जिससे कभी-कभी एक प्रकार की लय की प्रतीति होती है, उसके लालित्य की सृष्टि होती है। सामान्य भी विषय के मधुर संकेत में लालित्य की झलक प्राप्त होती है—

'साभिलाषमाभाषिता मया वाङ्मयमधुवर्षमवर्षत्।'

'बाले बालेऽस्मिन् कीदृशस्ते भावः' इति 'औरस इवास्मिन् वत्से वत्सलता।'

अभवदीयं हि नैव किञ्चिन्मत्सम्बद्धम्।

प्रौढ़कन्दलीकुड्मलमिव रूढरागरुषितं चक्षुरूल्लासयन्ती...कान्तस्याधर-मणिमधीरमाचुचुम्ब।

'अयि मूढ, किमस्तिकन्यान्तःपुरदूषकेऽपिकश्चित्कृपावसरः।'

'देव, दीयतामनुग्रहार्द्रचित्तम् । अहमस्मि सोमरश्मिसंभवा सुरतमंजरी नाम सुरसुन्दरी ।'

'जातु हेमवते मन्दोदके मग्नोन्मग्नस्य महर्षेमार्कण्डेयस्य मस्तके मणिकिरणद्विगुणितपलितमपतत् ।'

न चेद्रहस्यमिंच्छामि श्रोतुं शोकहेतुम् ।

न चेद्गोप्यमिच्छामि श्रोतुं शोकहेतुम् ।

तामप्यचिरादयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति ।

'न च पाणिग्रहणादृते अन्यभोग्यं यौवनम्' इति ।

'त्वमेवोन्मत्ता यानुन्मत्त इत्युन्मत्तं मुक्तवती ।'

आर्या:, रूपेणेव सह परिवृत्तो मम स्वभावः ।

देव देवानुग्रहेण यदि कश्चिद्भाजनं भवति विभूतेः ।

गतं च तद्वर्षं वर्षसहस्रदीर्घम् ।

परिमलः पवनानुसारी...प्रावासीत् ।

पारग्रामिकान् प्रयोगान् प्रायः प्रायुंक्त ।

जनं चैनं सह नयानया कन्यया कन्यागृहं हरिणनयनया'इति ।

अस्य मे प्राणापहारिणीम् पिपासां प्रतिकर्तुमुदंचन्निह

कूपे कोऽपि निष्कलो ममैकशरणभूतः पतितः ।

प्राहसीच्च प्रीतिफुल्ललोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः ।

नालीकपरागधूसरं सरः समध्यगम् ।

सान्द्रादरः समागमन्नागरजनः । स्वैरसुप्तः सुन्दरी जनः । न तावदेषा देवयोषा ।

प्रमतिमेव पश्यन् प्रीतिस्मेरः प्रस्तूयतां तावदिदानीमात्मचरितम् ।

वैवर्ण्यमुपैतिवर्णकम्' । 'इदमाकर्ण्य वैवर्ण्याक्रान्तवक्रः ।'

जगति इह न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते ।

श्रेयांसि च सकलान्यनलसानां हस्ते नित्यसान्निध्यानि ।

न च निषेधनीया गरीयसां गिरः ।

तदिदानीं चन्द्रशेखरनरकशासनसरसिजासनादीनां त्रिदशेशानां स्थानान्यादररचितनृत्यगीताराधनानि क्रियन्ताम् ।

ह्रियतां च गृहादितः... ।

अत्रैव खलु फलितमलिकष्टं तपः । तिष्ठतु तावन्नर्म ।

हर्षप्रकर्षस्पृशोः प्रज्ञासत्वयोर्दृष्टमिह स्वरूपम् । इत्यभिधाय पुनः अवतरतु भवान् इति बहुश्रुते विश्रुते विकचराजीवसदृशं दृशं चिक्षेप देवो राजवाहनः ।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में वर्णसाम्य प्रस्तुत करने वाले एवं ललित शब्दों के प्रयोग से भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त रमणीय है तथा कृत्रिमता से परे अथवा स्वाभाविक है । अत्यन्त सरल, स्पष्ट, भावानुकूल एवं सारगर्भित सुष्ठु शब्दों का चयन दण्डी के शब्दशास्त्र-विषयक ज्ञान-गरिमा का परिचायक है । प्रत्येक शब्द के मर्म की दण्डी को वास्तविक पहचान थी । इस प्रकार का विलक्षण शब्द-विन्यास दण्डी के काव्य-कौशल का पूर्णतः द्योतक है । भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था । शब्द-योजना की दृष्टि से विचार करने पर अन्त में यही कहा जा सकता है कि दण्डी का शब्द-शास्त्र विषयक ज्ञान पूर्णता को प्राप्त कर चुका था जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रयोग-सौष्ठव का सर्वोत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया है ।

व्याकरण सम्मत प्रयोगों तक ही दण्डी की शब्दयोजना सीमित नहीं है किन्तु वे शब्दों की गहराई तक पहुँचने में समर्थ रहे हैं । शब्दों की ध्वनि के साथ उनकी एकरूपता स्थापित करने के लिए साहित्यशास्त्रसम्मत कोमल-पद-विन्यास की दृष्टि से तद्धित के क्लिष्ट एवं कठोर प्रतीत होने वाले प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों का यथासम्भव उन्होने परिहार किया है । यह उनके अक्षय्य ज्ञान-कोष की पूर्णता तथा शब्दभाण्डार की अभिवृद्धि का द्योतक है ।

इन उपर्युक्त पंक्तियों के अतिरिक्त मुहावरेदार अथवा नपे-तुले अभीष्ट अर्थ के द्योतक पदों में लालित्य की मनोरम सृष्टि हुई है—

'अस्याः पुनरनवद्यमया[१]तयामञ्च यौवनम्', 'लब्धलक्षकः[२] स्फुटोपजात सम्प्रत्ययः प्रावर्तत शपथाय, निन्ये चासावहन्यस्मिन्नुन्मिषत्येवोषोरागे इत्यादि

---

१. अयातयामं = अनुपभुक्त

२. लब्धलक्षक = लब्धावसर

वाक्यांशों में 'अयातयामम्' 'लब्धलक्षकः' इस प्रकार के व्यंजक एवं साकूत शब्दों के सुष्ठु प्रयोग स्थान-स्थान पर दशकुमारचरित में मिलते हैं ।'

शब्द-सौन्दर्य एवं अर्थ-सौन्दर्य का अपूर्व संगम अथवा भाषा और भाव का मञ्जुल समन्वय दशकुमारचरित में विशेष रूप से उन स्थलों में उपलब्ध होता है जहाँ स्वाभाविक एवं अनुप्रास के पोषक पद यथासम्भव उपमादि अर्थालंकारों से युक्त होते हैं । निम्न उदाहरण इस उपर्युक्त कथन की पुष्टि में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

प्रविष्य वेश्माभ्यन्तरमदभ्राभ्रनिर्घोषगम्भीरेणस्वरेण,

इन्दुगभस्तिसंभारभासुरम् हंसकदुकूलशयनम्, न तावदेषा देवयोषा----- ।

यतो मन्दमन्दमिन्दुकिरणैः संवाह्यमाना कमलिनीव संकुचति । कार्याकार्य-साक्षिण सहस्रार्चिषं सहस्राक्षदिगङ्गनाङ्गरागरागायितकिरणजालम्, काचेयं देवीवा-रविन्दहस्ता शारदशशाङ्कमण्डलामलदुकूलोत्तरच्छद्मधिशेते शयनतलम् । वर्णसाम्य के अतिरिक्त शब्द साम्य के रूप भी दशकुमारचरित में यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं किन्तु फिर भी उनमें कृत्रिमता का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है ।

काल इव काललोहदण्डकर्कशेन बाहुदण्डेन सिंह इवासह्यविक्रमः नगरदे-वतेव नगरमोषरोषिता, धर्मपुत्रो धर्मवर्धनो नाम सौकुमार्यविडम्बितनवमालिका इव नवमालिका नाम कन्यका, दिनाधिनाथे जनाधिनाथः, पुण्यश्लोकः पुण्यवर्मानाम, कृतान्तयोगात् कृतान्तमुखः, राजवाहनं राजकेसरकिशोरकमिव, बहुश्रुते विश्रुते विकचराजीवसदृशं दृशं चिक्षेप देवो राजवाहन शरमिव कुसुमशरस्य ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ वर्ण-साम्य तथा शब्द-साम्य वाले सभी स्थलों में भावों की मधुरिमा के साथ ही गूढार्थ की भी अभिव्यक्ति होती है । वर्ण-साम्य वाले उन विशेषण तथा क्रियाविशेषण पदों में भी यत्र-तत्र जहाँ दण्डी की शैली एकरूपता को प्राप्त हुई है वहाँ भी अर्थगम्भीर हैं और शब्द-लालित्य के पोषक हैं—

सा तु सव्रीडेव सविषादेव सगौरवेव चाब्रवीत् । पृ० १५७

सुभगमन्येन च मया स्वधनस्य, स्वगृहस्य स्वगणस्य स्वदेहस्य स्वजीवि-तस्य च सैवेश्वरी कृता । पृ० १८१

उदारकस्तु तदादाय सलज्जं च सहर्षं च ससंभ्रमं च मामाभाष... पृ० १९३

सा त्वागत्य स्वहस्तवर्तिनि चित्रपटे लिखितं मत्सदृशं कमपि पुंरूपं मां च पर्यायेण निर्वर्णयन्ती सविस्मयं सवितर्कं सहर्षं च क्षणमवातिष्ठत। पृ० ३६७।

इन उदाहरणों में उपर्युक्त बातें पूर्ण रूप से चरितार्थ होती हैं। वर्णसाम्य तथा शब्दसाम्य के अतिरिक्त उक्तिसाम्य के भी कतिपय उदाहरण दशकुमारचरित में उपलब्ध होते हैं। 'नगरदेवतेव नगरमोषरोषिता...' इस प्रकार की आलंकारिक उक्ति का प्रयोग दण्डी ने द्वितीय उच्छ्वास में दो स्थानों पर किया है। दोनों ही उक्तियाँ उपहारवर्मा की हैं—एक तो कुवेरदत्त की पुत्री कुलपालिका तथा दूसरी काममंजरी के लिये प्रयुक्त हुई—'इसके पश्चात् वह कुलपालिका नगर में चोरी होने से रुष्ट नगरदेवी के सदृश जनसंकटरहित समय में घर से निकल कर मेरे समीप आयी'[१]।

'इसके अनन्तर नगर में मेरे चोरी करने के कारण रोषिता नगरदेवी के सदृश उस सुन्दरी काममंजरी ने अपने नील-कमल के पत्रों के तुल्य आभा वाले विलासपूर्ण श्यामल कटाक्षों की शृंखला से मुझे बाँध लिया।'[२]

इनके अतिरिक्त 'यद्भावि तद्भवतु' जो होना हो सो हो, 'न चेद् गोप्यमिच्छामि श्रोतुं शोकहेतुम्' (पृ० ३०७) 'यदि कोई गोपनीय बात न हो तो मै शोक का कारण सुनना चाहता हूँ' जैसी उक्तियाँ एकाधिक बार यहाँ प्रयुक्त हुई हैं। 'यद्भावि तद्भवतु' का प्रयोग तो अनेक बार हुआ है।[३] 'न चेद्रहस्यमिच्छामिश्रोतुं शोकहेतुम्' यह वाक्य द्वितीय उच्छ्वास (पृ० १७९) में भी द्रष्टव्य है।

'मनोरथ की सिद्धि' के लिये दण्डी ने प्रायः समान ही शब्द का प्रयोग किया है—'धूर्त, सिद्धं ते समीहितम्' (तृ० उ० पृ० २९३)

'तदास्तामिदम्। अन्यथापि सिद्धं नः समीहितम्।' षष्ठ उ०, पृ० ३९९: 'भद्र सिद्धं नः समीहितम्।'—च० उ० पृ० ३२६।

---

१. अथासौ नगरदेवतेव नगरमोषरोषिता निःसंवाधवेलायां निःसृता संनिकृष्टा—दशकुमारचरित, पृ० १८९।

२. अथासौ नगरदेवतेव नगरमोषरोषिता लीलाकटाक्षमालाशृङ्खलाभिर्नीलोत्पलपलाशश्यामलाभिर्मामबध्नात्।—पृ० २०५।

३. दशकुमारचरित, पृ० ३५४, ३५७।

'युक्त' अथवा 'उचित' के लिये 'स्थाने' शब्द का प्रयोग भी कई बार हुआ है—

'तात ! स्थान एष हि यत्नः ।' (पृ० ४७८ स० उ०)

'स्थान एव गुरुभिरनुशिष्टम् ।' (अ० उ० पृ० ७)

'स्थान एवाहमार्येणास्मि पृष्टः' । (प० उ० पृ० ३७२)

'अतः स्थान एव त्वां दुनोति मीनकेतुः' (तृतीय उ० पृ० २८४)

'अद्य चिरं चरितार्था दीक्षा' तथा 'अद्य मे चरितार्था श्रोत्रवृत्तिः' आदि उक्तियाँ भी समान रूप से एकाधिक बार प्रयुक्त हुई हैं ।

सप्तम उच्छ्वास में पवर्ग के अक्षरों से रहित शब्दों का प्रयोग दण्डी के शब्दविषयक अधिकार का द्योतक है । असामान्य किन्तु साहित्यिक शब्दों के प्रयोग न केवल दण्डी की अपूर्व शब्द-योजना-शक्ति के परिचायक हैं अपि तु उनमें शब्दगत एवं अर्थगत सौन्दर्य की, एक लय की अनुपम सृष्टि होती है— 'मदन' के लिए प्रयुक्त 'सलिलचरकेतन'[1] वाम हस्त के लिये 'दक्षिणेतरेणकरेण' विष्णु के लिये 'नरकशासन' तथा ब्रह्मा के लिये सरसिजासन[2] अदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त खनित्र, नोक, तेल, काष्ठ की भस्म तथा मशाल के लिये प्रयुक्त क्रमशः 'खननसाधनम्', 'सलिलतरणसाधन', 'तिलस्नेह', 'दहनदग्धकाष्ठनिष्ठांगारज', 'तिलस्नेहसिक्तयष्ट्यग्रग्रथितवर्तिकाग्निशिखा' आदि पदों से सातवें उच्छ्वास में[3] शब्दों का विस्तार व्यक्त होता है । उसी प्रकार और भी गूढार्थक अथवा व्युत्पन्न शब्द जैसे 'शीतेतरदीधितिदेहज' (यम) 'शंकरनृत्यदेशजात', (श्मशान), तथा जनदहनस्थान आदि के स्थान में पवर्ग वर्णों से रहित गढ़े हुये प्रतीत होते हैं । यहाँ इन शब्दों के लिये और भी छोटे शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता

---

१. अथ तदाकार्ण्य-सलिलचरकेतनशरासनानतां चिल्लिकालतां ललाटरङ्गस्थलीनर्तकीं लीलालसं लालयन्ती-पृ० ४६२-६३ ।

२. तदिदानीं चन्द्रशेखरनरकशासनसरसिजासनादीनां चित्रदशेशानां- आराधनानि क्रियन्ताम् । पृ० ४९१-९२ ।

३. 'केनचित्खननसाधनेनाकार्षम् ।' पृ० ४७९ । 'सलिलतरणसाधनानीतेनानेकसंख्येनानीकेन-।' पृ० ४७१ 'दहनदग्धकाष्ठनिष्ठाङ्गाररजःकृताङ्गरागम् । ' पृ० ४५८ । 'तिलस्नेहसिक्तयष्ट्यग्रग्रथितवर्तिकाग्निशिखासहस्रग्रस्तनैशान्धकारराशिः ।' पृ० ४८६-८७ ।

था किन्तु दण्डी की प्रवृत्ति यहाँ शब्द-विस्तार की ओर ही प्रतीत होती है। किन्तु शब्दलाघव के लिए भी दण्डी का चिरस्मरणीय प्रयास स्तुत्य है। वाक्य योजना की दृष्टि से कारकों एवं समासों के सुष्ठु प्रयोग में दण्डी की सूक्ष्मदर्शिता का परिचय प्राप्त होता है। कारकों एवं समासों के सम्यक् प्रयोग से भावगाम्भीर्य में सहायता मिलती है।

कारकों के प्रयोग में कहीं-कहीं तो करणकारक का निदर्शन छोटे-छोटे वाक्यांशों से संवलित एक बृहत् वाक्य प्राप्त होता है, कहीं कई कारकों के सम्मिश्रण से पदलालित्य, भावगाम्भीर्य तथा विशिष्टविन्यास के एकत्र दर्शन होते हैं। साथ ही समासों के सन्निवेश से इन स्थलों में चारुता की और भी अभिवृद्धि हुई है। निम्नप्रदर्शित उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि होती है—

'अथासौ नगरदेवतेव नगरमोषरोषिता लीलाकटाक्षमालांश्रृंखलाभिर्नीलोत्पलपलाशश्यामलाभिर्मामबध्नात्। नृत्योत्थिता च सा सिद्धिलाभशोभिनी- किं विलासात्, किमभिलाषात्, किमकस्मादेव वा, न जाने, - असकृन्मां सखीभिरप्यनुपलक्षितेनापांगप्रेक्षितेन सविभ्रमारेचितभ्रूलतमभिवीक्ष्य सापदेशं च किंचिदाविष्कृतदशनचन्द्रिकं स्मित्वा लोकलोचनमानसानुयाता प्रातिष्ठत।'

प्रस्तुत उदाहरण के अतिरिक्त अन्य भी सुन्दरतम स्थल दशकुमारचरित से प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो उपर्युक्त कथन के पूर्णतः पोषक हैं। अश्मक देश के अधिपति द्वारा नियुक्त किये गये सेवकों ने किस प्रकार विविध उपायों द्वारा अनन्तवर्मा की सैन्यशक्ति को जर्जर कर दिया इस तथ्य के प्रतिपादन में विशेष रूप से करणकारक का उत्तम निदर्शन अष्टम उच्छ्वास में प्राप्त होता है—'तदा च मृगयुवेषमृगबाहुल्यवर्णनेनाद्रिद्रोणीरनपसारमार्गाः शुष्कतृणवंशगुल्माः प्रवेश्य द्वारतोऽग्निविसर्गैः, व्याघ्रादिवधे प्रोत्साह्य तन्मुखपातनैः, इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूरहारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः...मत्तगजाधिरोहणाय प्रेर्य प्रत्यवायनिर्वर्तनैः, व्यालहस्तिनं कोपयित्वा लक्ष्यीकृतमुख्यमण्डलेष्वपक्रमणैः, दायाद्यर्थे विवदमानानुपांशु हत्वा प्रतिपक्षेष्वयशः पातनैः...वस्त्राभरणमाल्याङ्गरागादिषु रसविधानकौशलैः चिकित्सामुखेनामयोपवृंहणैरन्यैश्चाभ्युपायैरश्मकेन्द्रप्रयुक्तास्तीक्ष्णरसदादयः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन्॥' (पृ० ३०-३३)

तृतीय, पंचम और सप्तम उच्छ्वास में भी कारकों का सम्यक् प्रयोग दण्डी के रचनाकौशल का द्योतक है—

उपहारवर्मा द्वारा कल्पसुन्दरी के नखशिख वर्णन में करणकारक का प्रयोग रमणीय तथा मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति में विशेष रूप से द्रष्टव्य है—

'अथाहमाविर्भूय विवृतदीपभाजनः' भामिनि, ननु बह्वपराद्धं भवत्या चित्त-जन्मनो यदमुष्यजीवितभूता रतिराकृत्या कदर्थिता, धनुर्यष्टिर्भूलताभ्याम्, भ्रमरमा-लामयी ज्या नीलालकद्युतिभिः, अस्त्राण्यपाङ्गवीक्षितवृष्टिभिः, महारजनध्वजपटांशुकं दन्तच्छदमयूखजालैः प्रथमसुहृन्मलयमारुतः परिमलपटी-यसा निः श्वासपवनेन, परभृतमतिमञ्जुलैः प्रलापै पुष्पमयी पताका भुजयष्टिभ्याम्... लीलाकर्णकिसलयं चरणतलप्रभाभिः ।'(तृतीय उच्छ्वास, पृ० २८२-२८४)

अधिकरण का भी प्रयोग यत्र-तत्र बड़ा ही उत्तम बन पड़ा है—

'तन्मूले च महति कोलाहले, क्रन्दत्सु परिजनेषु, रुदत्सु सखीजनेषु, शोचत्सु पौरजनेषु, किंकर्त्तव्यतामूढे सामात्ये पार्थिवे, त्वमास्थानीमेत्य मां स्थापयित्वा वक्ष्यसि'—(पञ्चम उच्छ्वास, पृ० ३७७)

'अथ कदाचिदायासितजायारहितचेतसि, लालसालिलङ्घनग्लानघनके-सरे, राजदरण्यस्थली ललाटलीलायिततिलके, ललितानङ्गराजाङ्गीकृतनिनिद्रक-र्णिकारकाञ्चनच्छत्रे...शालीनकन्यकान्तः करणसंक्रान्तरागलङ्घितलज्जे...किसल-यालीढसैकततटे, तरलतरङ्गशीकरासारसङ्गशीतले सागरतीरकानने क्रीडारस-जातासक्तिरासीत् ।'(सप्तमोच्छ्वास पृ० ४६८-७०)

'दिनादिस्नाननिर्णिक्तगात्रश्च नक्षत्रसंतानहारयष्ट्यग्रग्रथितरत्नम्, क्षणदा-न्धकारगन्धहस्तिदारणैककेसरिणम्, कनकशैलशृङ्गरङ्गलास्यलीलानटम्, गगन-सागरघनतरङ्गराजिलङ्घनैकनक्रम्, कार्याकार्यसाक्षिणम्, सहस्रार्चिषं सहस्राक्षदिगङ्गनाङ्गरागरागायितकिरणजालम्, रक्तनीरजाञ्जलिनाराध्य निजनिके-तनं न्यशिश्रियम्'—

इन पंक्तियों में दिवाकर के लिये प्रयुक्त द्वितीयान्तविशेषण पदों में कर्मकारक की छटा दर्शनीय है ।

इसी प्रकार और भी सभी कारकों के सुष्ठु प्रयोग से भाषा में प्रवाह एवं प्रभावोत्पादकता की मनोरम सृष्टि हुई है जो अक्षरशः दण्डी की सूक्ष्मदर्शिता के परिचायक हैं ।

समासों के समुचित सन्निवेश से भी दण्डी की भाषा अत्यन्त ललित भावानुगामिनी हो सकी है। दीर्घ समासों से निर्मित पद शृंखलाबद्ध रूप में प्राय: वर्णनात्मक स्थलों में उपलब्ध होते हैं तथा व्यावहारिक एवं भावात्मक प्रसंगों में लघु समस्तपद मिलते हैं। समासों के प्रयोग में दण्डी इतने सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं कि औचित्य की सीमा का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हुआ है। समास-निष्पन्न उपयुक्त शब्दों की योजना रमणीयार्थ की अभिव्यक्ति तथा प्रभावोत्पादकता में सफल सिद्ध हुई है। ऐसे उपयुक्त लघुकाय समस्त पद शब्दविस्तार के निरोध तथा प्रसंगानुकूल अर्थ की प्रतीति कराने में उत्तरदायी हैं। समासनिष्पन्न कुछ विशेषणपद उदाहरण के लिये यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

विस्मयविकसिताक्षी (पृ० १२९), अश्रुविन्दुतारकितपयोधरा, (पृ० १५६), स्फुटोपजातसम्प्रत्यय: (पृ० २९६), विवृतगुह्य: (पृ० ३२९), विभ्रान्तविशालदृष्टि: (पृ० २९५), नगरमोषरोषिता (पृ० २०५), उन्मिषदभूषणा (पृ० १८९), अनिषिद्ध-दर्शना (पृ० ३८८)।

इसी प्रकार न्यस्तभार:, प्रवृद्ध-वाष्प:, स्वभावधीर:, सर्वपौरुषातिभूभि:, सहिष्णुतैकप्रतिक्रियां, निद्रालीढ़लोचना, स्तम्भिपिशुनजिह्व:, वैवर्ण्यविक्रान्तवक्त्र:, सान्द्रत्रासा:, आरूढमन्मथा, अपनीताध्वक्लम:, कृतयथादिष्टक्रिय:, विरलभूषणा, स्निग्धदृष्टि:, गलितगात्रकान्ति:, उपोढमत्सरा, संधुक्षितमन्मथाग्नि:, दिदृक्षाक्रान्तहृदय:, कण्टकितरक्तगण्डलेखा, तरङ्गितदशनचन्द्रिकाणि, अनग्निसंशोधिता, परमर्मान्वेषणपर: आदि लघुकाय समस्तपद दशकुमारचरित में सर्वत्र सुलभ हैं।

यथावसर समासों के सुष्ठुप्रयोग लम्बे वाक्य में भी मिलते हैं। अनन्त वर्मा के सेवक विहारभद्र के लिये प्रयुक्त विशेषण पदों में समास का मनोरम चित्र दृष्टिगत होता है—'समीपोपविष्ट:, चित्तानुवृत्तिकुशल:, प्रसादवित्त:, गीतनृत्यवाद्यादिष्ववाह्य:, वाह्यनारीपरायण: पटुरयन्त्रितमुखो बहुभङ्गिविशारद:, परमर्मान्वेषणपर:, परिवादरुचि:, पैशुन्यपण्डित:, सकलदुर्नयोपाध्याय:, कामतन्त्रकर्णधार:...ये पद आकार में जितने ही संघटित हैं अर्थ में उतने ही गम्भीर और मार्मिक हैं। यत्र-तत्र 'दशकुमारचरित' में इससे भी बड़े विशेषण पद हैं जिन्हें पृथक् करने पर एक वाक्य की रचना हो सकती है—'

'सुहृद्वाक्यशतातिवर्ती' (पृ० ४३१)

'तदनुभावनिरुद्धनिग्रहेच्छा:' (पृ० १३४)

'तत्क्षणोपसंहृतालिङ्गनव्यतिकर:' (पृ० १४९)

'दर्वीकरस्तु तमपि चाण्डालं दृष्ट्वा रूढत्रासद्रुतलोकदत्तमार्ग:' प्राद्रवत्। (पृ० ३३१)

दैवज्ञ के वेष में विचरण करते हुए शक्तिकुमार के द्वारा सर्वाङ्गसुन्दरी गोमिनी के शरीरावयवों के आमूलचूड रोमांचकारी वर्णन में दण्डी की शब्दयोजना उनकी सूक्ष्मनिरीक्षणशक्ति की पूर्ण परिचायिका है। शुभलक्षणों से युक्त अनिन्द्य अवयवों वाली किसी कुमारी के सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन में क्रियारहित उपयुक्त गद्य[1] का उत्तम निदर्शन जो यहाँ—दशकुमारचरित में मिलता है वह निश्चितरूप से प्रशंसनीय है। लाक्षणिक तथा मुहावरेदार शब्दों से निष्पन्न अर्थगाम्भीर्य से दण्डी की भाषा परिपूर्ण हुई है। दूसरे शब्दों में मुहावरेदार तथा लाक्षणिक अभिव्यक्ति की मनोरम धूप-छाँह दशकुमारचरित में सर्वत्र सहृदयों के हृदय का विश्राम-स्थल है। संज्ञा शब्दों, विशेषणपदों, क्रियाओं तथा वाक्यांशों आदि में स्थान-स्थान पर मुहावरों तथा लाक्षणिक प्रयोगों की भव्य झाँकी द्रष्टव्य है। क्रियाओं के लाक्षणिक प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'अतिष्ठच्च तन्मते स दुर्मति:।' (पृ० २९१, तृ० उ०)

'कार्पण्यमिव वर्षति क्षीणतरं चक्षु:।' (पृ० ३०७, च० उ०)

'रहस्यं च न स्रवति' (पृ० २३५, द्वि० उ०)

'इयता कालेन तवेमां वयोवस्थामस्प्रक्ष्येताम्' (पृ० २५७, तृ० उ०)

'पुत्रवृत्तान्तेन श्रोत्रमस्य देव्या: प्रियंवदायाश्चादहाव' (पृ० २५६)

इसी प्रकार 'हस्ते राज्यमिदं पतिष्यति, सा नो कमपि द्वीपं आश्लिष्टवती (पृ० ४०६) पातितश्च कोपितेन कोऽपि तेन मयि शाप: मनोरथं निहन्यात् आदि में क्रियाओं के लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं।

इसी प्रकार, 'कामाघ्रातया अनया कन्यया, पृ० २६३ (मदन द्वारा सूँघी हुई अर्थात् कामभाव को प्राप्त) पृच्छा तावत् भवतु (तो पूछिए) अन्यथापि सिद्धं न:

---

१. अस्या: खलु कन्यकाया: सर्व एवावयवा नातिस्थूला नातिकृशा, नातिह्रस्वा, नातिदीर्घा न विकट मृजावन्तश्चरक्तलाङ्गुली_मूर्धजकलाप:। सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम्।'—दशकुमारचरित, पृ० ४१७-४२१।

समीहितम्, करतलगतं स्यात्, उच्चाक्यप्रलापा: प्रस्तुता:, कियत्ववज्ञासोढव्या, न मां स्निग्धं पश्यति, आयद्वाराणि विशीर्यन्त, तदीयं च सर्वस्वं स्वयमेवाग्रस्त, अये, मदेन अस्पृश्ये, कतिपयैरेवाहोभिर्विरोपितव्रण: प्रकृतिस्थोऽहमासम्', कृशकुटुम्बेषु लोभ: पदमधत् उदतिष्ठंश्च तत्रगतानां हर्षगर्भा: प्रशंसालापा:, मातुर्मते वर्तस्व, आर्यदिष्ट्यावर्धसे, फलिता तव सुनीति:, तस्याश्च मया सुलक्षिता भाववृत्ति:, देव दीयतामनुग्रहार्द्रचित्तम्, तिष्ठतु तावन्नर्म...इत्यादि ये उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक तीखी तथा मुहावरेदार हैं ।

बीच-बीच में यत्र-तत्र व्यंग्य का भी पुट दशकुमारचरित में चित्ताकर्षक है—

'तं चाहं.... जातव्रीडमब्रवम्, तात किं दृष्टानि कृतान्तविलसितानि ? (कहिए, अब तो आपको आटा-दाल का भाव मालुम हो गया अर्थात् अब तो आपने अपने कर्मों का फल प्राप्त कर लिया ?) षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ४०५ ।'

मरीचिमुनि के प्रति काममंजरी की उक्ति कितनी व्यंग्यपूर्ण है—

'भगवन् ! अयमञ्जलि:, चिरमनुगृहीतोऽयं दासजन:, स्वार्थइदानीमनुष्ठेय:' इति । द्वि० उ०, पृ० १७५ ।

दशकुमारचरित में अमंगलवाचकशब्दों के प्रयोग को यथाशक्ति अवसर नहीं प्रदान किया गया है । 'मृ' धातु से निष्पन्न क्रिया तथा संज्ञा शब्दों से बचने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है—

'जननी अस्या: संस्थिता' = मरणं प्राप्ता: पृ० ३७३

'संतिष्ठेत' = म्रियेत पृ० ४७२

'गच्छामिगन्तव्यां गतिम्' = मरणमित्यर्थ: (पृ० ३१०)

'अवसितोऽभूत' = समाप्ति गत: (पृ० ४५३)

'संस्थास्यते = मरिष्यति, प्राप्य पुरुषायुषम्, पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु' (स्वर्गवासी हो गया) अष्टम उ०, पृ० ४ ।

दण्डी की भाषा यत्र-तत्र अनुरणनात्मक नादसौन्दर्य से पूर्णतया ओत-प्रोत है—

'ततश्च तटस्खलितजलस्थगितजलजषण्डचलितदण्डकण्टकाग्रदलितदेहराजहंसत्रासजर्जररसितसंदत्तकर्णस्य जनस्य क्षणादाकर्णनीयं जनिष्यते जलसङ्घातस्य किञ्चिदाररटितम् ।' स० उ०, पृ० ४८३

'भीषणभ्रुकुटिदूषितललाटः काल इव काललोहदण्डकर्कशेन बाहुदण्डेनावलम्ब्य हस्ताम्बुजे रेखाम्बुजरथाङ्गलाञ्छने राजपुत्रं सरभसमाचकर्ष ।'—प्रथम उ०, पृ० १३५ ।

इन प्रस्तुत पंक्तियों के अध्ययन से विदित होता है कि इनमें एक विशेष प्रकार की लय है, अथवा ऐसी ये कर्णप्रिय ध्वनि है जिसकी अमिट छाप पाठकों पर पड़ती है ।

दशकुमारचरित पञ्चतंत्रादि की स्वाभाविक गद्यशैली तथा अत्यन्त अलंकृत कृत्रिम गद्यशैली का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है ।

आश्चर्यबोधक ध्वनियों और सम्बोधनों का शिष्ट तथा सुष्ठु प्रयोग संस्कृत गद्य के आख्यान ग्रंथों की परम्परा के अनुकूल ही प्रतीत होता है । अहो, अये, भोः, हा धिक्, हंत, मातावत्, एवमस्तु, भवतु, सखे, वयस्य, आर्ये, भद्रे, वासु, तात, आर्य, देव, भगवन्, राजाधिराजनन्दन, भद्र, सौम्य, महाभाग, भर्तृदारकः, भद्रमुखाः, भद्रकाः, एहि साध्वि, आदि सम्बोधनों का प्रयोग दशकुमारचरित में उपलब्ध होता है । क्रोध की मुद्रा में पाप, शठ, दुर्मते जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

संवादात्मक स्थलों में अत्यन्त गूढ, मार्मिक तथा सुकोमल शब्दों से सम्बन्धित छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है । ऐसे प्रसंगों में वाक्य लधुकाय अवश्य है किन्तु अर्थ उनका बहुत गम्भीर होता है । एक प्रेमी और प्रेमिका के संवाद में प्रयुक्त गद्यांश का प्रभावशाली नमूना यहाँ उपस्थित किया गया है—

'अश्रुमुखी तु सा यदि प्रयासि नाथ प्रयातमेव मे जीवितं गणय । नय मामपि न चेदसौ दासजनो निष्प्रयोजनः' इत्यञ्जलिमवतंसतामनैषीत् ।

अवादिषं च ताम्- अयि मुग्धे, कः सचेतनः स्त्रियमभिकामयमानां नाभिनन्दति । यदि मदनुग्रहनिश्चलस्तवाभिसन्धिराचराविचारं मदुपदिष्टम् । अदर्शय रहसि राज्ञे... ।

इन पंक्तियों मे प्रथमतः तो किसी प्रेयसी के हृदय-सिन्धु की भावाकुलता है, सहृदयता के संस्कार हैं जो नारी के लिये उतने ही सजातीय हैं जितने वे इस

लोक के लिए विजातीय। यहाँ 'अश्रुमुखी' 'अञ्जलिमवतंसतामनैषीत्' आदि पद कितने सारगर्भित व गूढार्थक हैं। सहृदय इसका अनुमान स्वत: कर सकते हैं। उस प्रेमी हृदय के भावों का स्फुरण जब अश्रुपात रूप में हुआ, जब अस्फुट अव्यक्त स्वर में भावों को उड़ेल दिया गया और तदनुकूल तब नायक की भी भावाभिव्यक्ति तथा सहसा प्रणयस्वीकृति में कान्तासम्मित शैली के आदर्श परिपालन का कुछ भी अंश अवशिष्ट नहीं प्रतीत होता।

यद्यपि चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी तथापि इतना कथन अनुचित न होगा कि दण्डी पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है और अशिष्ट एवं अमर्यादित स्थलों के संकेत का निदर्शन प्रस्तुत कर उनके विषय में काव्यगत गुणों के अतिक्रमण का संदेह प्रकट किया जाता है। यदि वास्तव में दण्डी अश्लील हैं तो उस दृष्टि से संस्कृत साहित्य ही अश्लील कहा जा सकता है।

सच तो यह है कि दण्डी की दृष्टि यथार्थोन्मुख होने के कारण आज आलोचना का विषय अवश्य बन गयी है किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। यह चर्चा विस्तार रूप में यहाँ अप्रासंगिक प्रतीत होती है।

उपर्युक्त गद्यांश के विषय में गम्भीरता से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि दण्डी ने इस प्रकार के स्थलों का मधुर संकेत प्रस्तुत कर काव्य में कान्तासम्मित शैली का पूर्ण निर्वाह किया है। नायिका की भावभंगिमाएँ, उसकी बाँकी चितवन, अस्फुट स्वरों में उसका मधुभाषण आदि नारीसुलभ धर्म हैं जिनके तन्तुओं से निर्मित एक जाल से वह गुरुमित्र आदि के अधीन भी अपने प्रियतम को अनुपम रीति से आत्माभिमुख करने में सर्वात्मना सफल होती है।

किसी सहृदय ने उचित ही कहा है कि 'आँसू अन्तर की द्रवित भाषा है इसकी तरलता में अपराध गलते हैं, पलते नहीं। आँसू अन्तर्जनित संवेदन का संविधान है। संविधानहीन देश में अराजकता पलती है और संवेदन हीन अन्तर में अपराध। अन्तर भावहीन होता है। जब हृदय जड़ हो जाता है संवेदन सो जाता है, तरलता सूख जाती है तो उत्पात जागते हैं, अपराध पलते हैं और सभ्यता विनाश की राह लेती है। तब देवसृष्टि का अमर-जीवन भी जल-प्लावन के थपेड़ों से ध्वस्त हो जाता है और शाश्वत करुणा सुख-सुप्त जड़ हृदय पर आघात करते हुए संवेदन को जागरित करती है। असहायावस्था के ऐसे ही क्षणों में निवृत्ति को प्रवृत्ति की राह बताने के लिए, जड़ता को गतिमान बनाने के लिए आँसू से भीगे अंचल पर

मन का सबकूछ रखकर कोई नारी अपने सोने से सपनों का दान करती है और यही दान ध्वस्त सभ्यता के लिए वरदान की राह बन जाता है...युग की निर्ममता पर हृदय सदैव रोया है। इस रुदन जल से सभ्यता और संस्कृति की मलिनता उज्ज्वल हुई है। जिस सभ्यता तथा संस्कृति ने नयनों की गंगा से नि:सृत इस पावन जल में स्वयं को नहीं पखारा वह सभ्यता, वह संस्कृति बर्बर, हृदयहीन और भावना-शून्य हो जाती है।'

अत: अभीष्ट यह है कि दशकुमारचरित में यत्र-तत्र किसी नायिका के नयनों की गंगा का प्रवाह जहाँ अबाध रूपेण प्रकट हुआ है वहाँ दूसरे पक्ष से उदारता और त्याग के निर्मल सोते भी फूट पड़े हैं इसमें तनिक भी संदेह नहीं। सप्तम उच्छ्वास में कन्या कनकलेखा और मन्त्रगुप्त चरित आदि इस तथ्य की पुष्टि के उत्तम निदर्शन हैं।[१]

'वात्सल्य' के सफल चित्रण में पदों की सार्थकता तथा लालित्य, गम्भीर भावों से ओत-प्रोत है— चतुर्थ उच्छ्वास में अर्थपाल की माता कान्तिमती की दीन दशा के वर्णन में कितने उपयुक्त एवं ललित पदों का सन्निवेश हुआ है कि भाषा में सजीवता प्रभावोत्पादकता का सहज स्वरूप भी दृष्टि का अविषय नहीं है—

'अथ मदम्बा मरणमण्डनमनुष्ठाय सकरुणं सखीरामन्त्र्य मुहुरभिप्रणम्य भवनदेवता यत्ननिवारितपरिजनाक्रन्दिता...निर्विषीकृतं भर्तारमैक्षत। हृष्टतमा पत्यु: पादयो: पर्यश्रुमुखी प्रणिपत्य मां च मुहुर्मुहु: प्रस्नुतस्तनी परिष्वज्य सहर्षवाष्पगद्गदमगदत्—पुत्र...अजनिष्ट ॥' पृ० ३३३

यहाँ मरणमण्डन, पर्यश्रुमुखी तथा प्रस्नुतस्तनी आदि शब्द आकार, लालित्य और अर्थौचित्य इत्यादि सभी दृष्टियों से उपयुक्त हैं।

पुन: द्वितीय उच्छ्वास में भी यत्र-तत्र संवादात्मक स्थलों में व्यावहारिक गद्य के सुन्दरतम उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

उक्तं च धनमित्रेण—'भद्र ! कस्तवार्थो यत्परस्य हेतोर्मामाक्रोशसि। न स्मरामि स्वल्पमपि तवापकारं मत्कृतम्' इति। स भूयोपि तर्जयन्निवाब्रवीत्— 'स

---

१. ततश्चैनां त्रासेनालघीयसास्रजर्जरेण च कण्ठेन रणरणिकागृहीतेन च हृदयेन 'हा, तात ! हा जननि ! इति क्रन्दन्तीं...न्यदधाम्। सखे सैषा सज्जनाचरिता सरणि:...हरिणनयनया।'—स० उ०, पृ० ४५९-४६६।

एष धनगर्वोनाम,यत्परस्य भार्यां शुल्कक्रीतां पुनस्तत्पितरौ द्रव्येण विलोभ्य स्वीचिकीर्षसि । ब्रवीषि च— कस्तवापकारो मत्कृत:' इति... । पृष्ठ २१०-२११ ।

'दण्डी जनता के कवि हैं और इसलिए उनके गद्यकाव्य में जनता के हर्ष-विषाद् सुख-दुख, आनन्द-वेदना का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है ।'[१]

दण्डी लुङ् लकार के सुष्ठु प्रयोग के लिए विशेष रूप से अनुकरणीय हैं । अरोदीत्, अप्राक्षीत्, अकार्षीत्, अभूत आदि भूतकाल की याथार्थ्य की द्योतक क्रियाओं के सम्यक् प्रयोग में दण्डी की कलात्मक अभिरूचि का परिचय प्राप्त होता है ।

संक्षेप में दण्डी का पदविन्यास, उक्तिवैचित्र्य और अलंकारविधान पूर्णरूप सें स्वांभाविक, अकृत्रिम और अयत्नसाधित है जिससे भाषा अत्यन्त सजीव और चुस्त होती गयी है । दण्डी के पदों में विद्यमान प्रकाशपुंज बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है वह म्युज़ियम की चीज़ नहीं है वह जीवित प्राणवान् वस्तु है । दण्डी की सच्ची महिमा का परिज्ञान तो किसी गहराई तक गोता लगाने वाले को ही हो सकता है । उनके विचारों में यदि एक ओर दार्शनिकता एवं नवीनता की अमिट छाप है तो दूसरी ओर उनकी भाषा में जीवन की वास्तविक वस्तुस्थिति एवं यथार्थता को व्यक्त करने की अद्‌भुत शक्ति है, समाज के जीते-जागते चित्र को अभिनव रूप प्रदान कर उसे अनुपम ढंग से प्रस्तुत करने की निपुणता भी है । न तो यहाँ बाणभट्ट के गद्यारण्य का अत्यन्त भीषण रूप है जहाँ क्लिष्ट और दुरूह शब्दों के झाड़ खड़े हैं, न सूक्ष्म पौराणिक संकेतों की कन्दराएँ हैं तथा विपुलकाय विकट समासों के रूप में विचरण करने वाले व्याध्र हैं और न ही सुबन्धु की प्रत्यक्षर श्लेषमयी पदावली की विकट अटवी है जिसमें उलझ कर पाठकों की चित्तवृत्ति परिश्रान्त होकर उससे सर्वदा के लिए पराङ्मुख होने की आकांक्षा करे । यहाँ तो दण्डी की विलक्षण एवं अलोकसामान्य कवित्वशक्ति के फलस्वरूप एक ऐसा सरल एवं सरस मार्ग रूपी मणिमय मुकुर है जिसमें सभी विषयों का स्वरूप अनायास आदर्शगत होता चलता है । सहृदय पाठकों की रुचि स्खलित न होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती ही जाती है अद्‌भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण और रुचि होने के कारण दण्डी की बहुमुखी प्रतिभा ने विविधरंगरंजित एक ऐसे चित्रलोक की सर्जना की है जहाँ सहृदय मानव यह अनुभव करता है कि यह जीवन और

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ।

जगत् अनन्तरहस्यों का भण्डार है, परन्तु कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनका परिचय प्राप्त करने और समझने में असमर्थ रह जाता है। उसे उस जादूगृह के रहस्यों की जिज्ञासा सदैव बनी रहती है। दण्डी की यह वर्तमान कृति उसकी दोनों इच्छाओं की पूर्ति करती है—उसके दैनिक जीवन में गति या स्पन्द-न की अवतारणा करके न केवल जीवन की गुत्थियों को सुलझाने की प्रेरणा प्रदान करती है वरन् औत्सुक्य अथवा कौतूहलवृत्ति को भी तृप्त करती है। दण्डी 'जीवितं हि नाम जन्मवतांचतु: पंचाप्यहानि' आदि इन सारगर्भित पंक्तियों के द्वारा जीवन की व्याख्या करते हैं और उसका मार्मिक चित्र भी उपस्थित करते हैं।

शैली

शैली अंग्रेज़ी के 'स्टाइल' का अनुवाद है और यह शब्द अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में व्यवहृत होता है। प्राचीन साहित्यशास्त्र में शैली से मिलते-जुलते अर्थ का द्योतक 'रीति' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'काव्यालंकारसूत्र' के लेखक आचार्य वामन ने 'रीति' को 'विशिष्टपदरचना' कह कर परिभाषित किया है। इस परिभाषा में प्रयुक्त 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ 'गुण-युक्त' किया जाता है। वामन के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है और वैदर्भी रीति में वामन के अनुसार ओज, प्रसाद आदि समस्त गुण विद्यमान होते हैं, गौडी में ओज और कान्ति तथा पांचाली में मधुरता और सुकुमारता नामक गुण होते है। वामन के मतानुसार वैदर्भी रीति ही सर्वथा ग्राह्य है।

'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रस्तुत किये गये शैली विषयक मत का सारांश इस प्रकार है—

'प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है कि' जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है। फ्रांसीसी उप-न्यासकार स्तान्थाल ने भी शैली को अच्छी रचना का गुण मानते हुए उसका विवेचन किया है। उसके विचार में शैली का अस्तित्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचार के साथ उन सभी परिस्थितियों को जोड़ दिया जाय जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हैं। बर्नार्ट शा का विचार है कि 'प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ और इति है।'

'शैली' अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। इस दृष्टि से देखने

पर जान पड़ेगा कि शैली न तो केवल अनुभूत विषयवस्तु का धर्म है और न कहने के तरीके का ही । शैली की आत्मा मुख्यत: वे सम्बन्ध हैं, जिसके ढांचे में अनुभूत विषयवस्तु को समाहित या व्यवस्थित किया जाता है । विषय वस्तु में उक्त संबंध की स्थापना रस की निष्पत्ति के लिए की जाती है । काव्य साहित्य की रसात्मकता को उसके प्रभाव से अलग नहीं किया जा सकता । जिस विभावात्मक विषयवस्तु को साहित्यकार संजोकर पाठकों के सामने रखता है उसमें प्रभाव या रस के निष्पादन की क्षमता निहित रहती है । किन्तु यह क्षमता सम्बद्ध विषयवस्तु का ही धर्म है । साहित्यकार अनुभूत विषयवस्तु को नये सम्बन्धों में ग्रथित करके उसमें नये प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता स्थापित कर देता है । इस प्रकार की क्षमता उत्पन्न करने के उत्पादन ही शैली के मूल तत्त्व होते हैं ।'

विभिन्न रचनाएँ जिन प्रभावों को उत्पन्न करती हैं वे भिन्न-भिन्न कोटियों के होते हैं फलत: शैलियाँ भी भिन्न होती हैं । एक प्रकार की शैली हमारे मन पर कोमल स्नेह अथवा नाजुक सौन्दर्य की छाप छोड़ती है तो दूसरी उदात्त गरिमा की । कभी-कभी शैलीकार का उद्देश्य केवल चित्र खड़े करना होता है जिनके अनुचिन्तन में कोई तीखा या गहरा आलोडन न रहते हुए भी बुद्धि चमत्कृत हो जाती है ।'[१]

इस प्रकार के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शैली का अभिप्राय उन गुणों या विशेषताओं से है जिनसे अनुप्राणित होने पर कवि अथवा लेखक की शाश्वत सारस्वतसाधना के प्रतीक रूप में उसकी कृति सहृदयों को रसानुभूति या भावानुभूति कराने में पूर्णतया समर्थ हो सके । एक सफल काव्य प्रणेता अथवा साहित्यकार की हृद्य एवं अनवद्य शैली की सफलता अनौचित्यविवर्जित, काव्यात्म रूप में स्वीकृत और सहृदयश्लाघ्य अर्थ के द्योतक विशुद्ध भावों की मनोरम अभिव्यक्ति के उत्तरदायी ललितपदविन्यास के सुष्ठु प्रयोग में तथा रसापकर्षक क्लिष्ट पदशय्या एवं दुरूह वाग्जाल के पूर्ण परिहार में निहित होती है ।

वस्तुत: शैली शब्द 'शील' से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है स्वभाव ।[२] शीले भवा काचिद् विशेषता शैली—शील (स्वभाव) में ही उत्पन्न होने वाली कोई अनिर्वचनीय विशेषता है जिसे हम शैली कहते हैं । अंग्रेज़ी में भी इसी भाव की

---

१. हिन्दी साहित्य कोश: संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा: प्रथम संस्करण, पृ० ७७३ ।

२. शीलं स्वभावे सद्वृत्ते इति कोशः ।

द्योतक एक सूक्ति मिलती है— द स्टाइल इज़ द मैन हिमसेल्फ, 'अर्थात् शैली स्वयं कवि का मूर्त रूप ही है। कवि या कलाकार का जो भी अपना स्वभाव होता है वही उसकी शैली है। कालिदास की शैली, सुबन्धु की शैली, बाणभट्ट की शैली, दण्डी की शैली आदि इस प्रकार का कथन सुना जाता है। सभी कवियों या मानवमात्र का स्वभाव भिन्न होने के कारण उसकी शैली भी अभिन्न नहीं होती। प्रत्येक कवि की अपनी स्वभावगत निजी विशेषता होती है, अपने स्वाभाविक गुण होते हैं जिनसे उसकी कृति ओत-प्रोत होती है।'

पदलालित्यरसिक दण्डी के दशकुमारचरित में संस्कृतगद्य-काव्य-शैली का चारुतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। शैली की नवीनता ही उनके गद्य का प्राण है। दण्डी की मौलिक उद्भावनाओं की दिव्य झाँकी पदे-पदे परिलक्षित होती है।

बाणभट्ट ने गद्यशैली के मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुये हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है कि—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेशोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥

मौलिक कल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा सुदृढ़पदावली इन समस्त गुणों का एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गुणों की स्निग्ध छाया में ही दण्डी की कृति पल्लवित पुष्पित और विकसित हुई। अभिनव अर्थ की उद्भावनाओं तथा परकीय भावों के यथार्थ चित्रण में दण्डी अद्वितीय हैं। दण्डी ने एक ऐसे विशिष्ट एवं अद्भुत कल्पनालोक की सृष्टि की है जिसमें उनकी इन्द्रधनुषी प्रतिभा ने अपने प्रकाशपुंज को विकीर्ण कर उस लोक के मर्म को आलोकित किया है जो सभी सहृदयों के लिए हृदयंगम करने का विषय है।

दण्डी सुभग एवं मनोरम वैदर्भी गद्यशैली के सिद्धहस्त लेखक हैं। रचना-कौशल उनका विलक्षण है। नैसर्गिक और प्रवाहपूर्ण, सरल और प्रासादिक वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से दशकुमारचरित संस्कृत गद्य साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले व्यावहारिक गद्य का सुन्दरतम रूप दशकुमारचरित में दृष्टिगत होता है।

दण्डी अपने विचारों तथा पदों के सुष्ठु प्रयोग में कालिदास से प्रभावित रहे हैं। दण्डी ने वैदर्भी रीति की उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है[१]।

काव्यादर्श में दण्डी ने भी वैदर्भ एवं गौड दो भागों की चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों ने रीति की संज्ञा प्रदान कर उसके और भी भेद-प्रभेद प्रदर्शित किये। भोजराज ने छः रीतियाँ स्वीकार की हैं और वैदर्भी का निम्नलिखित लक्षण दिया है—

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णरचना ललितात्मिका।

अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

माधुर्य की व्यंजना करने वाले वर्णों से सम्पन्न, ललित रचना ही वैदर्भी है, इसमें या तो थोड़े समास होते हैं और या फिर समास बिलकुल ही नहीं होते।

वैदर्भी रीति की उक्त विशेषताओं की दृष्टि से दण्डी का दशकुमारचरित ललित पदविन्यास के माधुर्य और काव्य-सौन्दर्य से युक्त है। सामान्य लोक-कथाओं को अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित कर एक स्वाभाविक, सरल, सुबोध तथा सरस गद्यकाव्य का भव्य रूप प्रस्तुत करने में दण्डी पूर्ण-रूपेण सफल हुए हैं। ललित पद- विन्यास तथा उचित भावों का निर्वाह, अनूठी कल्पना की ऊँची उड़ान तथा प्रकृति का सजीव चित्रण आदि दण्डी की लोकप्रियता के हेतु हैं। गूढ़ एवं गंभीर विषयों की मनोरम अभिव्यक्ति में दण्डी की शैली बाणभट्ट एवं सुबन्धु के सविस्तर विवेचन के प्रभाव से रहित है। दण्डी की शैली वर्णनात्मक प्रसंगों में भी—अन्तःपुर में शयनकरती हुई अम्बालिका का विशद वर्णन, वसन्तवर्णन, सन्ध्या एवं प्रभातवर्णन, राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी और राजवाहन का सम्मिलन, कन्दुक-क्रीडा, पर्वत, सरोवर, भूमिगृह आदि का सजीव वर्णन शब्द विस्तार और दुरूहता के कुप्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र है। इस महाकवि की अलोक सामान्य प्रतिभा ने एक लोकोद्भूत कल्पनालोक की ऐसी मनोरम सृष्टि की है जहाँ शब्द और अर्थ, भाषा एवं भाव, रस और अलंकार का मंजुल समन्वय सहृदयों से हृदय को सदैव आह्लादित करता रहता है। दण्डी की शैली में यदि एक ओर उनके भाव-पक्ष एवं कलापक्ष दोनों की अमिट छाप है तो दूसरी ओर वह नितान्त परिष्कृत, उदात्त तथा

---

१. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥ —संस्कृत साहित्य की रूपरेखा।

निर्दोष है । 'लेखकों का प्रयास यह रहा है कि समस्त प्रतिभा का व्यय कलापक्ष के प्रसाधन में कर दिया जाय । फलतः भाव पक्ष स्वयं गुणीभूत हो गया । दण्डी का 'दशकुमारचरित' अलंकृत गद्यभाषा का उत्कृष्ट निदर्शन है । यह बात स्मरणीय है कि दण्डी की गद्य भाषा औचित्य की सीमा का उल्लंधन नहीं करती है और विश्रुत चरित में तो वह विशेषतः शास्त्रीय गद्य की प्रांजलता से होड़ लेती हुई प्रतीत होती है ।'[१] दण्डी की शैली वाग्जाल के अतिविस्तर के घातक प्रभाव से मुक्त है । मुख्य रूप से वह युक्तिपूर्ण, यथार्थ, सरल, सुस्पष्ट तथा ललित है । यद्यपि यथावसर दीर्घ समस्त पदों के प्रयोग से यत्र-तत्र वाक्य लम्बे भी हो गये हैं तथापि अनुप्रास, उपमा और रूपक आदि अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग से प्रतिपाद्य विषय की प्रभावोत्पादकता तथा सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है । दण्डी के पौराणिक कथा-संकेत प्रचलित व सुस्पष्ट हैं । 'दण्डी के रूपक, उपमा आदि अलंकार मुख्य रूप से प्रभावोत्पादक एवं सुन्दर हैं । उनकी शैली, दुरूह या अस्पष्ट पौराणिक कथा- संकेत, श्लेष की जटिल ग्रन्थि, परस्पर उलझे हुए वाग्जाल एवं अतिशयोक्तिपूर्ण कथन जो कि सुबन्धु और बाणभट्ट की कृतियों को क्लिष्ट और दुर्बोध बना देते हैं, से प्रायः स्वतन्त्र है तथापि दण्डी यथार्थ शैली के अधिपति हैं ।'[२] कीथ की इन पंक्तियों से मिलती जुलती डा० एस० के० डे की पंक्तियाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—'न केवल दण्डी का विषय निरूपण वरन् उनकी वाक्सरणि (शब्दचयन) तथा शैली भावों की अनुरूपता तथा वाक्संयम के द्वारा अतिरंजना के घातक कुप्रभाव से सर्वथा मुक्त है । दण्डी किसी भी प्रकार से सरल रचना के लेखक नहीं कहे जा सकते किन्तु इनकी शैली में सहृदयों को परिश्रान्त करने वाली ग्रन्थियाँ नहीं हैं यह अत्यन्त स्फूर्तिपूर्ण है, मृदुतापूर्ण तथा सुव्यक्त है । दण्डी की शैली में अज्ञात, अप्रसिद्ध लम्बे समासों तथा कई वाक्यांशों से निर्मित वाक्यों के प्रति उनका अतिशय व्यासंग नहीं है और न ही दूराकृष्ट पौराणिक कथा-संकेतों, क्लिष्ट श्लेषों तथा निरर्थक ध्वनियों की झन-झनाहट के प्रति अमर्यादित अनुराग ही है । बोझिलवाक्यरचना तथा थका देने वाले अलंकरण से मुक्त शैली की उपादेयता छल, कपट, धूर्त, पाखण्डी और कामुक आदि परम्परामुक्त पात्रों के मार्मिक चित्रण के लिये सुस्पष्ट है । वस्तुतः कभी- कभी दण्डी, जैसा कि अन्तःपुर में शयन करती हुई अम्बालिका तथा

---

१. संस्कृत गद्यालोक की भूमिका

२. क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर - कीथ - अध्याय ६, पृ० (चौथा संस्करण ।)

कन्दुकक्रीडा करती हुई कन्दुकावती के चित्रण में हम देखते है कि अलंकृतिपूर्ण वर्णन में उलझ जाते हैं तथा इन स्थलों में भी वे एक-आध थोड़े ही लम्बे वाक्यों की योजना या एक पृष्ठ तक ही सीमित रह जाते हैं..अलंकारो का प्रयोग प्रभावोत्पादक, सीमित और सुन्दर है, न कि अत्यन्त गूढ़, अस्पष्ट, अविच्छिन्न तथा थका देने वाला है। ओजस्वी और ललित संस्कृत गद्य पर अधिकार रखने वाले दण्डी सर्वाधिक प्रशंसनीय हैं और कलात्मक तथा सामाजिक चुनौतियों के रूप में उनकी कृति निश्चित रूप से अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अद्वितीय उपलब्धि है जिसकी विशेषताएँ सामान्य आदर्श के अनुरूप न होने के कारण ही आधुनिक रुचि के द्वारा उदासीनतापूर्वक स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।'[१]

सच तो यह है कि दण्डी की शैली भाराहत या भारनत नहीं है। कहीं वह कवि के हास्यपूर्ण व्यक्तित्व से ओतप्रोत है तो कहीं वाग्वैदग्ध्य, शिष्ट हास्य तथा तीखे एवं युक्तिसंगत भावों की व्यंजना की अद्भुत शक्ति से परिपूर्ण है। वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक तथा सजीव हैं। व्यावहारिक शैली के अनुरूप ही शब्द चयन भी अत्यन्त व्यावहारिक हैं।

'इन व्यवहार में आने वाले वस्तुओं के परिचायक शब्दों का अर्थ-संकेत संस्कृतकोशों में बहुशः किया गया है अवश्य, परन्तु उन्हें प्रयोग में लाने की प्रेरणा दण्डी ने प्रदान की है। दण्डी ने इन्हें व्यवहारयोग्य बनाया। इन शब्दों का आज राष्ट्रभाषा में व्यवहार उसे सक्षम तथा सामर्थ्यशाली बनायेगा। पान के डब्बे के लिए 'उपहस्तिका' शब्द, लंगोटी के लिए 'मलमल', एक जोड़ी धोती के लिये 'उद्गमनीय', पानी निकालने के लिये पात्र या डोल के निमित्त 'उदंचन', भूसी के लिये 'किशारु' तथा तक्र के लिये 'कालशेय', युद्धपोत के लिये 'मद्गु', जनपदीय सभा के लिये 'पंचवीरगोष्ठ' इन शब्दों का अर्थतः संकेत होने पर भी प्रयोगतः प्रथम व्यवहार दण्डी का वैशिष्ट्य है।'[२]

दण्डी की शैली का सुन्दरतम रूप दशकुमारचरित के सप्तम उच्छ्वास में सुव्यक्त हुआ है। लेखक ने यहाँ ओष्ठ्य वर्णों (पवर्ग) से रहित अपनी गद्य-रचनाशैली में एक अभिनव चेतना फूँक दी है। सरसता की एक मधुमय धारा प्रवाहित कर दी है। कथा को सुनाने वाले मन्त्रगुप्त का ओष्ठ अपनी ललित वल्लभा

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर - प्रथम भागः डा० एस० के० डे, पृ०

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास- बलदेव उपाध्याय,पृ० (१९६०)।

द्वारा औत्सुक्यवश इस प्रकार काट दिया गया है कि वह अपने कर कमलों से उसे आच्छादित कर लेता है । उसकी व्यथा से पीड़ित होकर चंचल अधरबिम्ब वाले मन्त्रगुप्त ने ओष्ठ्य वर्णरहित वर्णों में अपनी आपबीती सुनाया ।[१]

दण्डी के रचनाकौशल यद्वा उनकी भाषा शैली की प्रशंसा करते हुये डा० मोतीचन्द्र ने भी लिखा है—'दण्डिन् का संस्कृत गद्य पर पूरा अधिकार है, उसकी भाषा सीधी-सादी और आडम्बररहित है । पर कहीं-कहीं वर्णनों में उसने भाषा पर अपना अधिकार बतलाया है । ठीक-ठीक भाव प्रदर्शन उसके गद्य की जान है । उसकी शब्द-योजना ऐसी है जिससे रस स्वयं छलक पड़ता है । उसके वर्णन कभी दुहराये नहीं जाते । सुन्दर राजकन्याओं के नख-शिख वर्णन अद्वितीय हैं । एक जगह प्रभात की शोभा का काफी सुन्दर शाब्दिक चित्रण है । एक भयंकर अकाल का वर्णन करते हुए उसने कथा-साहित्य में सादृश्यवाद का सुन्दर रूप उपस्थित किया है ।'[२]

अनावृष्टि के कारण भयंकर अकाल लघुकाय, सशक्त पदावली में स्वाभाविक एवं वास्तविक वर्णन निश्चित रूप में प्रभावोत्पादक है ।[३]

संक्षेप में, दण्डी की भाषा कृत्रिमता से रहित है । आदि से अन्त तक वह प्राञ्जल और परिष्कृत है, सुबोघ, सरस एवं प्रवाहमय है । दशकुमारचरित का हृदय है— अथ से इति तक सरल भाषा में रसपेशल वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र

---

१. 'स किल करकमलेन किञ्चित्संवृताननो ललितवल्लभारभसदत्तदन्तक्षतव्यसनविह्वलाधरमणिर्निरोष्ठ्यवर्णमात्मचरितमाचचक्ष ।'—दशकुमारचरित - षष्ठ उच्छ्वास का अंत । पृ० ४५५

२. द्रष्टव्य - दशकुमारचरित का हिन्दी रूपान्तर - निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार, आमुख लेखक - डा० मोतीचन्द्र ।

३. अस्ति त्रिगर्तो नाम जनपदः। तत्रासन्गृहिणस्त्रयः स्फीतसारधनाः सोदर्या धनक धान्यकधन्यकाख्याः। तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः, क्षीणसारं शस्यम्, ओषध्यो वन्ध्याः, न फलवन्तोवनस्पतयः, क्लीवा मेघाः, क्षीणस्रोतसः स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्लवानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम्, अवहीनाः कथाः गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन्प्रजाः, पर्यलुठन्नितस्ततो बलाकापाण्डुराणि नरशिरः कपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूताननिगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि ।

विद्यमान है प्राचीन सामाजिक जीवन का अनुपम चित्र। समस्त दशकुमारचरित में रसों एवं भाव की कोमल कलकलवादिनी निर्मल मन्दाकिनी अजस्रगति से प्रवाहित होती रहती है। भावों का यथार्थ चित्रण और भाषा की सरलता यही दण्डी की गद्य शैली की विशेषता है। इस दृष्टि से दण्डी का दशकुमारचरित अपने युग की अनूठी एवं अनोखी कृति है। मधुर, कोमल, कमनीय पदावली में पुरुषार्थचतुष्टय का यथार्थ वर्णन,[१] यत्र-तत्र ऐतिहासिक एवं पौराणिक सूक्ष्म संकेत राजनीति, अर्थनीति, गृहस्थ-जीवन, द्यूत क्रीडा, मृगया, मद्यपान, कुक्कुट युद्ध आदि का भव्य वर्णन तथा प्राकृतिक वर्णन दण्डी की शैली की रमणीयता में वृद्धि करते हैं। संस्कृत गद्य साहित्य में दण्डी का अपना निजी मार्ग है। दण्डी, शैली की स्वाभाविकता तथा सरलता की दृष्टि से गद्य साहित्य में अभिनव शैली के उद्भावक हैं। दशकुमार-चरित सरल एवं सरस काव्य की एक कमनीय कृति है। शृंगारप्रधान विषयों का वर्णन भी यहाँ मूल कथा के प्रवाह का अवरोधक नहीं है। न यहाँ सुबन्धु एवं बाणभट्ट की दीर्घ समास-परम्परा के दर्शन होते हैं और न ही अप्रचलित शब्दों की सघन घन घटा ही उमड़ती हुई दिखलायी पड़ती है और न ही श्लेष और यमक आदि अलंकारों की हृदयोद्वेजक झंकार ही सुनायी पड़ती है और न ही राजकीय जीवन की विलासिता की छाप है। उन कवियों ने, ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन और जगत् के विविध मार्मिक तत्त्वों को शास्त्र के दर्पण लगा कर देखा था। फलत: स्वानुभूति तथा सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति आनुषंगिक हो गयी। पाठकों के मस्तिष्क पक्ष को तो पर्याप्त सामग्री मिली किन्तु हृदय पक्ष को बिलकुल परितोष नहीं मिला। दण्डी की शैली में हृदयपक्ष एवं बुद्धिपक्ष दोनों का रमणीय समन्वय है। वह अत्यन्त संतुलित तथा सुघटित है। जब तक संस्कृत के अध्ययन तथा अध्यापन करने वालों में सहृदयता बनी रहेगी तब तक 'दशकुमारचरित' की गद्य शैली के सौरभ से उनका हृदय आप्यायित होता रहेगा।

---

१. द्वितीय उच्छ्वास में काममंजरी व महर्षि मरीचि की वार्ता के प्रसंग में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की चर्चा हुई है।

दशम अध्याय

दशकुमारचरित में लोकजीवन की झाँकी

'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' अरस्तु (यूनानी दार्शनिक) के इस कथन में वैमत्य का लेश भी नहीं है। मानवीय मनोवृत्तियों तथा उसकी हृदयगत प्रवृत्तियों के गंभीर अध्ययन से यह स्वयं सिद्ध होता है कि समाज से पृथक् मानव-जीवन तथा उसके विकास की आशा निर्मूल है। आदि काल में मनुष्य जब सभ्यता अथवा संस्कृति के प्रथम सोपान पर था, अन्य पशुओं की तरह था, उसकी आवश्यकताओं का स्तर हिंसक पशुओं तथा ऋतुओं की विषमताओं से आत्मरक्षा तक ही सीमित था। कालान्तर में उसकी आवश्यकताएँ बढ़ीं, उसके क्रिया-कलापों का चक्र परिवर्तित हुआ, धीरे-धीरे उसने आत्म-रक्षा एवं विकास के लिये सहयोग से काम करने का प्रथम पाठ सीखा और उसकी जन्म-जात मूल प्रवृत्तियाँ विकासोन्मुख हुईं। सामाजिकता की भावना प्रबल होती गयी। आपत्तियों से आत्म-रक्षा के लिए प्रथमतः गूढ़चिन्तन तत्पश्चात् सामूहिक प्रयत्न आवश्यक हो गया। जीवन में सुख और शान्ति के लिए शिक्षा, मनोरंजन के लिए खेल-कूद, संगीत (गायन, वादन) साहित्य और कला आदि के महत्त्व को मनुष्य ने समझा। समाज के विविध अंगों का विविध रूपों में शनैः शनैः विकास होता गया। सभ्यता तथा संस्कृति का यह विकास-क्रम निरन्तर चलता रहेगा। समाज में सभी मनुष्यों की भावनाओं, उनके स्वभाव तथा क्रिया-विधि की विषमता के कारण एकरूपता का अभाव होता है। मानव-जीवन की निर्बलताओं ने अनेक अनैतिक कार्यों को भी जन्म दिया है जिसका यथार्थ चित्रण काव्यों एवं नाटकों में समय-समय पर कवियों की लेखनी का अविषय नहीं हुआ है। चौर्य एवं पिशुनता, वेश्यागामित्व और मद्यपान, कपटवेश और असत्य-भाषण, प्रवंचना और परस्त्रीगमन, द्यूत-क्रीड़ा एवं नारीहरण प्रभृति निन्द्य विषयों के अशोभन एवं अग्राह्य होते हुए भी लोक में इनकी सत्ता है, इसके विपरीत उद्यान यात्रा एवं उत्सव, मृगया- विनोद और इन्द्रजाल, मल्लविद्या और

प्रकृति प्रेम, नृत्य और संगीत, उपवन-विहार एवं क्रीडा, ताण्डव और लास्य प्रभृति विषयों का भी साहित्य में उद्दाम वर्णन हुआ है। महाकवि कालिदास और शूद्रक, बाणभट्ट और दण्डी आदि कवियों की कमनीय कान्त पदावली में लोकजीवनपरक इन विषयों का अद्भुत चमत्कार दर्शनीय है।

कवि इसी लोक का प्राणी होता है किन्तु उसकी कृति उसकी लोकोत्तर प्रतिभा का आकर होती है जिसकी निर्विघ्न समाप्ति एवं लोकप्रियता की भावना से अनुप्राणित होते हुए भी वह (कवि) तब तक अपने यत्न को सफल एवं साधु नहीं समझता जब तक कि वह विद्वानों द्वारा सामादृत होकर उनके परितोष का विषय न बन जाए। कवि के अपने इस प्रकार के कर्त्तव्य-निर्वाह के उत्तरदायित्व की पूर्णता में लोकवृत्त एवं लौकिक परिस्थितियों का भी विशेष महत्त्व होता है। शक्ति और अभ्यास के साथ लोकशास्त्रकाव्यादि के पर्यवेक्षण से उत्पन्न निपुणता ही तो काव्य का हेतु है। अतएव काव्य में लोकवृत्त की उपादेयता स्वयंसिद्ध है। कवि अपनी कृति में चारुता की अभिवृद्धि के लिए लोकवृत्त की उपेक्षा नहीं कर सकता। लोकवृत्त-जन्य अनुभव ही काव्यगत लोक-जीवन की रमणीयता का आधार है। 'लोक-जीवन ही रोचक काव्य की प्रधान कसौटी है'[१] भरत का नाट्यशास्त्र इस तथ्य का साक्षी है कि वास्तविक प्रेरणाभूमि लोक-जीवन है और वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त है। सच तो यह है कि लोकरंजन में ही नाट्य एवं काव्य की सफलता निहित होती है। भरत ने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश करते हुए कहा है कि मैं सब कुछ कह चुका पर दुनियाँ यहीं नहीं समाप्त हो जाती। 'इस स्थावर, जंगम, चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। सैकड़ों प्रकार की भाव-चेष्टाओं का उल्लेख करना असंभव कार्य है। लोक में न जाने कितने प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, इसलिए नाट्य-प्रयोग के लिए लोक ही प्रमाण है, क्योंकि साधारण जनता के आचरण में ही नाटक की प्रतिष्ठा है।'[२] वस्तुतः जो भी शास्त्र और धर्म, शिल्प और क्रिया (आचार) या लोक-धर्म प्रवृत्त है वही नाट्य है—

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८४।

२. 'न च शक्यं हि लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।
शास्त्रेण नियमं कर्तुं नानाचेष्टाविधिं प्रति॥
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि ज्ञेयं नाट्यं प्रयोक्तृभिः॥'—भरतः नाट्यशास्त्र, २५.१२८, १२९।

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः ।

लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥

—भरत- नाट्यशास्त्र, अ० २५.१२७ ।

नाट्यशास्त्रकार के अनुसार सिद्धि दो प्रकार की होती है—मानुषी और दैवी । 'दैवी बहुत कुछ भाग्याश्रित होती है, किन्तु मानुषी सिद्धि अभिनय की कुशलता से प्राप्त होती है ।जब जनता हँसाने के अभिनय के समय रोमांचगद्गद हो पड़े तो समझना चाहिए कि नाटक सफल है । नाट्यशास्त्र दर्शक के मुँह से 'अहो', 'साधु साधु', 'हा कष्टम्' आदि निकलवा लेना चाहता है । वह सिर हिलवा देने में, आँसू निकलवा लेने में, लम्बी साँस खिंचवा लेने में नाटक की सिद्धि मानता है । वह लोक-जीवन को कभी नहीं भुलाता और न ऊपर के देवताओं की ही अवहेलना करता है ।'[१]

कवि अपने कल्पनालोक में मौलिक एवं स्वतन्त्र होते हुए भी वह अतीत का अनादर नहीं करता । वर्तमान समाज की परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए भी कवि अतीत के जिस इतिवृत्त को अपनी कृति में स्थान प्रदान करता है उसका भी भव्य रूप सहृदयों के चित्तानुरंजन में सफल होता है । वस्तुतः अतीत एवं अनागत दोनों का यथार्थ समन्वय लेकर वर्तमान की तूलिका द्वारा एक सफल कलाकार या चित्रकार के सदृश पूर्ण मनोयोग से अपनी काव्य-सम्पत्ति को संवारकर रमणीय रूप प्रदान करने की निपुणता में ही कवि का कवित्व (उत्तरदायित्व) निहित होता है ।

महाकवि दण्डी अपने इस प्रकार के उत्तरदायित्व के निर्वाह में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं । प्राचीन भारतीय समाज का जो यथार्थ रूप दण्डी ने अपनी ललितपदावली में प्रस्तुत किया है वह यत्र-तत्र नैतिकता की दृष्टि से निम्न होते हुए भी अत्यन्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक है । लोक-जीवन का इस प्रकार का सजीव चित्रण संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है । वैशिक जीवन का जो रम्य और सहृदयहृदयावर्जक वर्णन संस्कृत के कतिपय भाणों एवं अन्य रूपकों (मृच्छकटिक) आदि में दृष्टिगत होता है वह विषयानुकूल निम्न होते हुए भी

१. 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में उद्धृत भरत मत- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८५ ।

प्रशंसनीय है । उनमें साहित्य है, और शालीनता भी, छन्द है और राग भी, कलात्मक सौन्दर्य है और काव्यात्म रूप रस भी । चतुर्भाणी (पंचम शती) के संबंध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि 'यद्यपि इन भाणों का विषय गुप्तकालीन वेश या शृंगारहाट का आँखों देखा वर्णन है जिसका नैतिक धरातल विषयानुकूल होने पर भी अवर है । पर, वेश-संस्कृति का जो सर्वाङ्गपूर्ण चित्र इनमें प्रस्तुत किया गया है और भाषा का जैसा अद्‌भुत नमूना इनमें है इनकी दृष्टि से ये संस्कृत साहित्य के लिए अनमोल उपलब्धियाँ हैं । गुप्तयुग की स्वर्ण संस्कृति का एक अतीव उज्ज्वल पक्ष कला-साहित्य-धर्म के रूप में था । पर उस समय भी हाड़ चाम के मानव इस लोक में थे जिनके जीवन की निर्बलताओं ने 'मृच्छकटिक' और 'दशकुमारचरित' जैसे ग्रन्थों को ऊपर उछाला । 'चतुर्भाणी' को उसी विट-संस्कृति के मन्थन की दहेंड़ी कहना चाहिए[१] ।'

संस्कृत साहित्य में प्राचीन नाटक भाषा के सौष्ठव, चरित्र-चित्रण तथा उदात्त शृंगारिक भावों की रमणीयता के लिए प्रसिद्ध हैं किन्तु जन-जीवन के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से उनमें उपलब्ध सामग्री सीमित ही समझी जाती है । अधिकतर नाटक राजाओं की प्रेम-कहानियों पर आश्रित हैं और उनके भाव, वर्णन-शैली और पात्र रूढ़िगत होते हैं । विट्, विदूषक, चेट इत्यादि के चरित्र-चित्रण में तत्कालीन लोक-जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता था पर संस्कृत नाटकों में उनका चित्रण भी प्रायः रूढ़िगत हो गया । शूद्रक का मृच्छकटिक ही ऐसा नाटक है जिसमें हम तत्कालीन लोक-जीवन की कुछ झलक पा सकते हैं...ढोंग के सबसे बड़े शत्रु परिहास, आवाजकशी और तर्क हैं । तर्क में कारण देकर बँहस की आवश्यकता पड़ती है पर परिहास तो बुद्धि के तीखेपन की ही देन है । तर्क की मार का तो जवाब हो सकता है पर हंसी की मार तो सीधी बैठती है... इसमें संदेह नहीं कि ईसा की प्राथमिक सदियों में अथवा उसके पहले भी ऐसे लेखक रहे होंगे जिन्होंने अपने समय के समाज का चित्र खींचते हुए सामाजिक कुरीतियों और ढोंगों की हंसी उड़ाई होगी पर कालान्तर में ऐसा साहित्य हलकेपन के दोष से बच न सका । फिर भी संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे ग्रन्थ बच गये हैं जिनसे समाज की दूषित अवस्था पर फब्तियाँ कसने वालों का पता चलता है ।' 'दशकुमारचरित' के लेखक दण्डी तो इसमें सिद्ध हस्त थे । देवता, लालची, मुर्गे लड़ाने वाले ब्राह्मण, ढोंगी साधु, बने

१. 'चतुर्भाणी'-प्राक्कथन, पृ० ६ ।

हुए दिगम्बर और बौद्धभिक्षु, चोर, वेश्याएँ, जुआरी इत्यादि कोई भी दण्डी की पैनी आँखों से नहीं बच पाया है ।[१]

विट, चेट, जुआरी, चोर, वारवनिता, तत्कालीन न्यायालय इत्यादि का जो सजीव चित्र हमें मृच्छकटिक में उपलब्ध होता है वैसे ही जीते-जागते चित्र का दर्शन हमें दशकुमारचरित में भी होता है । तत्कालीन भूगोल, उत्सव, नगरव्यवस्था, वेश, धर्म, संगीत एवं सामाजिक अवस्था आदि से गुप्तकालीन संस्कृति की सूचना प्राप्त होती है, वहाँ भी महाकवि दण्डी ने अपनी मौलिक प्रतिभा का अवगुण्ठन प्रदान कर विषय को और भी रोचक बना दिया है । लोक-जीवन का ऐसा सरल एवं सरस चित्र अभिनव शैली के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण दण्डी इतने अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं । दण्डी के दशकुमारचरित में उपलब्ध लोक-जीवन का स्वरूप प्राचीन भारतीय संस्कृति के उस पक्ष का प्रतीक है जहाँ त्रिवर्ग में 'काम' की प्रधानता है किन्तु अर्थ एवं धर्म की पूर्ण उपेक्षा नहीं, जहाँ मानव स्वभाव की कठोरता (निष्ठुरता) एवं निर्बलता है किन्तु कोमलता, मृदुता एवं पुरुषार्थ का अभाव नहीं, परिहास और फब्तियाँ हैं किन्तु सर्वत्र अमर्यादित नहीं, वैशिक जीवन की झाँकी, छल, कपट, चौर्य एवं अनाचार हैं किन्तु पराक्रम और त्याग, करुणा एवं परोपकार का लोप नहीं, प्रवंचना एवं हृदयहीनता है किन्तु अतिथि प्रेम और उदारता का भी अनवकाश नहीं, कामुकता और लोलुपता है किन्तु प्रायः सर्वत्र अगूढ नहीं ।

प्राचीन भारत का नागरिक 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श' आदि सभी इन्द्रियार्थों के भोगने में सुरुचि का परिचय देता था और विलासिता में आकण्ठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्म से एकदम उदासीन नहीं रहता था । उस युग के साहित्य में भोग के साथ ही साथ त्याग का, विलासिता के साथ शौर्य का और सौंदर्य-प्रेम के साथ आत्मदान का आदर्श सर्वत्र सुप्रतिष्ठित था। सब समय आदर्श के अनुकूल आचरण नहीं हुआ करता था, परन्तु फिर भी आदर्श का महत्त्व भुलाया नहीं जाता था ।[२]

प्रत्येक देश की संस्कृति के यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान करने के लिए वहाँ की भावधारा की विशिष्टता एवं सामाजिक अवस्था का पूर्ण परिज्ञान अनिवार्य है । सामाजिक अवस्था के अध्ययन करने की अनेक रीतियाँ हैं । लोकोत्सव का

---

१. 'चतुर्भाणी' की भूमिका - डा० मोतीचन्द्र, पृ० १ ।

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३४ ।

अध्ययन भी एक प्रणाली है। इन लोकमान्य उत्सवों का ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है।

जिस प्रकार सूर्य की तुलना स्वर्ग राज्य की खिड़की से की गई है उसी प्रकार 'उत्सव और मेलों को यदि समाज की खिड़की के समान माना जाय जो असंगत न होगा, क्योंकि इनके द्वारा किसी भी जाति का रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, चाल-ढाल तथा रीति-रस्म का काम चलाने वाली झाँकी मिल जाती है।...यह प्राचीन भारत की पिछड़ी हुई जनता के दलित हृदय का नग्नचित्र है, जब वह सहम और संकोच को ताक पर रख छोड़ आनन्द मनाने में मग्न हो जाती थी। इन्हीं उत्सवों के द्वारा वह अपने हृदय के सहज और सरल भावों को प्रकट करती थी।'[१]

मेले और उत्सव प्राचीन भारतीय समाज के जीते-जागते प्रतीक थे। सामाजिक प्राणी होने के नाते चित्त की प्रसन्नता और सुख का अनुभव करने की कामना से प्रतिदिन की जीवन-यात्रा में थोड़ी-सी विचित्रता और आनन्द की अनुभूति के लिये क्या धनी क्या दरिद्र, क्या विद्वान्, क्या मूर्ख, क्या भले क्या बुरे, सभी प्रकार के मनुष्य इसमें भाग लेते थे।

'यह बात सच है कि कुछ इने गिने लोग निवृत्ति मार्ग को अपना कर चिरन्तन सत्य की खोज में लगे रहते थे। इसके विपरीत रहे प्राचीन भारत में अनगिनत जन-जनार्दन, जो थोड़ी देर के लिए दु:ख-संकट और आधि-व्याधि से घिरी हुई जीवन यात्रा को मधुमय, आनन्दमय बनाने के लिए सदा उत्सुक रहा करते थे। अत: उत्सवों के अन्त: स्तल में धड़कता था जागृत गण-देवता के प्राणों का सुस्पष्ट स्पन्दन जिन्होंने संघबद्ध कर जाति को संजीवित रखा।'[२]

जैनियों के प्राकृत भाषा में लिखित शास्त्र ग्रन्थों में देहाती क्षेत्र में प्रचलित नाना प्रकार के धार्मिक उत्सवों की श्री मन्मथ राय ने एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है,[३] जिन्हें जीवन की विविध समस्याओं में रत होते हुए भी दु:ख-दरिद्रता को भूलकर अपने जीवन को सार्थक बनाने की भावना से सभी वर्ग के लोग मनाया करते थे,

१. हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव - की भूमिका — मनमथराय, पृ० २, पृ० सं० १९५
२. वही, पृ० १४४।
३. वही, पृ० १४०।

नृत्य, गीत, कवितापाठ आदि को देख और सुन कर उनका हृदय क्षणभर के लिए आह्लादित होता था।

इन्द्रमह = इन्द्र भगवान् के सम्मान में उत्सव

स्कंदमह = कार्तिकेय के सम्मान में उत्सव

रुद्रमह = शिव जी के सम्मान में उत्सव

मुकुन्दमह = कृष्ण भगवान् के सम्मान में उत्सव

भूतमह = प्रेतों के सम्मान में उत्सव

यक्षमह = यक्षों के सम्मान में उत्सव

नागमह = नागों के सम्मान में उत्सव

इसी प्रकार स्तूपमह, चैत्य मह, रूक्ख मह, गिरि मह, दरि मह, अगड़ मह (कुएँ के सम्मान में उत्सव), तडाग मह, दइ मह, (तलैये के सम्मान में उत्सव), नदी मह, सर मह, सागर मह और आगर मह (खान-खदान के सम्मान में उत्सव)[1] आदि।

इस प्रकार के लौकिक एवं धार्मिक उत्सवों का संकेत और उनका सम्यक् विवेचन वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है जिनका अध्ययन कर एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है जिसका चिन्तन किसी देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के गूढ़ तत्त्वों के समझने में अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

वस्तुतः प्राचीन काव्यों, नाटकों, कथा और आख्यायिकाओं, इतिहास एवं पुराणों में इन उत्सवों की चारु-चर्चा भी कवियों की लेखनी का अविषय नहीं है।

प्रथम अधिकरण के चौथे अध्याय में नागरकवृत्तप्रकरण में वात्स्यायन ने कामसूत्र में क्रीडाओं का वर्णन करते समय समस्या क्रीडाओं का परिचय प्रस्तुत किया है:—

समस्याः क्रीडा आहः—

यक्षरात्रिः। कौमुदीजागरः। सुवसन्तकः ॥२७॥

---

१. हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव - मन्मथराय, पृ० १४० पर उद्धृत– भगवती सूत्र, ९.३३, अन्तगड, पृ० ३७, अचारंग, २.१, २.३ इत्यादि।

वात्स्यायन के अनुसार स्पष्ट है कि 'यक्षरात्रि, कौमुदी जागर और सुवसन्तक उत्सवों में समस्या क्रीडाएँ रचायी जाती थीं।'

कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने 'सुवसन्तक' का अर्थ मदनोत्सव दिया है[१]। सरस्वतीकण्ठाभरण से ज्ञात होता है कि सुवसन्तक के दिन विलासिनियाँ कण्ठ में कुवलय की माला और कानों में दुष्प्राप्य नव आम्रमंजरी खोंस कर गाँव को जगमग कर देती थीं।[२] यह भी स्पष्ट किया गया है कि मात्स्यसूक्त के अनुसार सुवसन्तक के दिन ही वसन्त ऋतु का अवतरण होता है। इसी दिन मदन की पहली पूजा होती है। भास विरचित चारुदत्त नाटक में उसी पर्व का नाम 'कामदेवानुयान' मिलता है। कामदेव का चित्र लेकर विविध प्रकार के बाजे-गाजे के साथ नागरिकों का विशाल समूह निकलता था।[३] गरुड पुराण के अनुसार मदन त्रयोदशी (अगहन) को आरम्भ कर इस उत्सव को कार्तिक की मदन त्रयोदशी को समाप्त किया जाय। प्रतिमास शिव की विभिन्न मूर्तियों का पूजन किया जाए। नृत्यगीत द्वारा रात्रि-जागरण किया जाय। यह एक व्रत है जिसे उत्सव का रूप दिया गया है।

दशकुमारचरित में 'कामोत्सव' 'कन्दुकोत्सव' और वसन्तोत्सव 'नाम से तीन उत्सवों का उल्लेख हुआ है। महर्षि मरीचि और काममंजरी का वृत्त दशकुमारचरित में अत्यन्त रोचक, प्रभावपूर्ण तथा परिहासप्रिय भी है। कामोत्सव के अवसर पर राजवीथियाँ सजायी जाती थीं। राज दरबार में उत्सव को मनाने की घोषणा हुआ करती थी। युवक और युवतियाँ उपवन में एकत्र होते थे। तैयारियाँ होती थीं। विशेषतः ऐसे अवसरों पर ही स्त्रियों और पुरुषों को अपने को विधिवत् अलंकृत कर पूर्ण सज-धज से एक स्थान पर उपस्थित होने का समय मिलता था। इस प्रकार के उत्सव का प्रयोजन विशेष रूप से मनोविनोद होता था। काममंजरी की विलासपूर्ण भावभंगिमाओं से, उसकी वाक्पटुता से समाकृष्ट हुये ऋषि मरीचि के मुख्यातिथ्य में सोल्लास सम्पन्न हुये उत्सव का उल्लेख 'कामोत्सव' के नाम से हुआ है जिसका मूल काममंजरी और उससे प्रतिस्पर्धा करने वाली एक वेश्या के बीच तय हुई एक शर्त है, कि यदि काममंजरी मरीचि को मोहित कर लेती है तो दूसरी उसकी दासी होकर रहेगी। अपने इस परम प्रयोजन की सिद्धि की कामना

---

१. सुवसन्तक इति- सुवसन्तो मदनोत्सवः तत्रनृत्यगीतवाद्यप्रायाः क्रीडाः।

२. कामसूत्र की हिन्दी टीका-देवदत्त शास्त्री- पृ० १४३ पर उद्धृत।

३. भास विरचित 'चारुदत्त'- अंक १।

से प्रेरित होकर काममंजरी ने यावच्छक्य अपने वाक् कौशल से मरीचि को अपनी ओर आकृष्ट कर 'उन मूढात्मा को रथ पर चढ़ा कर उत्कृष्ट सौन्दर्य सम्पंन्न राजवीथी से चल कर अपने भवन में ले गयी। उसी दिन राज दरबार में घोषणा हुई कि 'कल मदनोत्सव मनाया जायगा'। दूसरे दिन महर्षि मरीचि ने स्नान करके सुगन्धित तेल लगाया। सुन्दर माला धारण की और कामी जनों की तरह वेष बनाया। उस समय वे अपने पूर्ववृत्त को पूर्णरूप से भूल गये। काममंजरी का क्षण भर का भी वियोग उनके लिए असह्य हो उठा। इस समय काममंजरी समृद्धि सम्पन्न राजमार्ग से होती हुई उन्हें सैकड़ों युवतियों से घिरे हुए राजा के समक्ष उपवन के समीप उत्सवसमाज में ले गयी। काममंजरी को देखते ही राजा मुस्करा उठे और कहा, 'भद्रे! भगवान् मरीचि के साथ बैठो।' आदेश मिलते ही उस समय एक उत्तमांगना ने उठकर 'देव, इसने मुझे जीत लिया आज मैं इसकी दासी हो गयी' ऐसा कह कर प्रणाम किया। राज दरबार में विस्मय और हर्षमूलक कोलाहल होने लगा। राजा ने प्रसन्न होकर पर्याप्त मात्रा में रत्न आदि प्रदान कर काममंजरी को विदा किया। सब ने उसकी प्रशंसा की, काममंजरी ने मरीचि से हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए कहा-'यह दास आपका अत्यन्त अनुगृहीत है, अब आप जाइए और अपना काम कीजिए।'[१]

कन्दुकोत्सव की चर्चा इस प्रकार है—मित्रगुप्त ने राजवाहन से कहा—देव, सभी मित्रों के सदृश मैं भी पृथ्वी पर भ्रमण करता हुआ सुह्म प्रान्त के अन्तर्गत दामलिप्त नाम के नगर के वाह्य उद्यान में पहुँचा। वहाँ मैंने एक महान् उत्सव समाज को देखा। वहाँ, उस उत्सवगोष्ठी से विरक्त एकान्तस्थल में स्थित माधवीलतामण्डप में आत्म-विनोद के लिए वीणा बजाते हुए एक उत्कण्ठित युवक को मैंने देख कर पूछा—'भद्र, इस उत्सव का क्या नाम है? किस प्रयोजन के लिए यह आरम्भ किया गया है...।'

---

१. 'सा सूदूरं मूढात्मानं च तं प्रवहणेन नीत्वा पुरमुदारशोभया राजवीथ्या स्वभवनमनैषीत्। अभूच्च घोषणा 'श्वः कामोत्सवः' इति। उत्तरेद्युः स्नातानुलिप्तमारचितमञ्जुमालमारब्धकामिजनवृत्तं निवृत्तस्ववृत्ताभिलाषं क्षणमात्रे गतेऽपि तया विना दूयमानं तमृद्धिमता राजमार्गेणोत्सवसमाजं नीत्वा क्वचिदुपवनोद्देशे युवतिजनशतपरिवृतस्य राज्ञः सन्निधौ समासदत् स्मितमुखेन तेन 'भद्रे, भगवता सह निषीद' इत्यादिष्टा सविभ्रमं कृतप्रणामा सस्मितं...स्वार्थइदानीमनुष्ठेयः 'इति।' —दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास, पृ० १७३-१७५।

उस युवक ने उत्तर दिया—'सौम्य, सुह्म प्रांत के अधिपति तुंगधन्वा सन्तान हीन थे। इस मन्दिर में निवास करने वाली देवी विन्ध्यवासिनी की आराधना के फलस्वरूप उन्होंने एक कन्या और एक पुत्र प्राप्त किया। देवी का यह वरदान था कि जो पुत्र होगा वह तुम्हारी पुत्री के पति का अनुजीवी होगा। वह पुत्री अपनी अवस्था के सातवें वर्ष से लेकर विवाहपर्यन्त प्रत्येक कृत्तिका नक्षत्र में कन्दुकनृत्य से सुयोग्य और गुणवान् पति की प्राप्ति के लिए मेरी आराधना करेगी। वह पुत्री जिस युवक की कामना करे उसी से उसका विवाह कर देना और वह उत्सव 'कन्दुकोत्सव' नाम से प्रसिद्ध होगा।'[१]

इसके अनन्तर उस युवक ने बताया कि आज उन्हीं राजा तुंगधन्वा की रानी से उत्पन्न राजकुमारी कन्दुकावती अपनी कन्दुक क्रीडा से देवी की आराधना करेंगी: यही इस उत्सव का संक्षिप्त परिचय है।

इसके अनन्तर देवी कन्दुकावती का आगमन होता है। उसके अनूप लावण्य के प्रथम दर्शन में ही मित्रगुप्त का चित्त उसकी ओर आकर्षित हो गया और विविध गतियों के साथ क्रीड़ा करती हुई कन्दुकावती की कन्दुकक्रीड़ा का आदि से अन्त तक उसने आसक्तभाव से अवलोकन किया।

कन्दुक के साथ क्रीडा करती हुई प्रियंगुष्टिका की आंगिक चेष्टाओं का भव्य एवं वैदुष्यपूर्ण वर्णन 'चतुर्भाणी' में संकलित 'पद्मप्राभृतक' भाण में भी प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कन्दुकावती की कन्दुक-क्रीड़ा के सविस्तर एवं सरस चित्रण में, विविधगतियों के अनुसरण में उसके अंग-प्रत्यंग के स्वाभाविक कथन से कवि की सहृदयता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

'वसन्तोत्सव' की सूचना कालिदास के 'ऋसुसंहार' से भी प्राप्त होती है—वसन्त ऋतु का अवतरण होते ही विलासिनियाँ शीतकाल के वस्त्रों के भार से

---

१. सोऽप्याचचक्षे- देव, सोऽहमपि सुहृत्साधारणभ्रमणकारणः सुह्मेषु दामलिप्ताह्वयस्य नगरस्य वाह्योद्याने महान्तमुत्सवसमाजमालोकयम्। तत्र क्वचिदतिमुक्तक लतामण्डपे कमपि वीणावादेनात्मानं विनोदयन्तमुत्कण्ठितं युवानमद्राक्षम्। अप्राक्षं च— 'भद्र, को नामायमुत्सवः, किमर्थं वा समारब्धः, केन वा निमित्तेनोत्सवमनादृत्यैकान्ते भवानुत्कण्ठित इव परिवादिनीद्वितीयस्तिष्ठति' इति। सोऽभ्यधत्त सौम्य सुह्मपतिः तुङ्गधन्वनामानपत्यः प्रार्थितवानमुष्मिन्नायतने विन्ध्यवासिन्याः पादमूलादपत्यद्वयम्_समुत्पत्स्यते तवैकः पुत्रः, जनिष्यते चैका दुहिता_। स तु मां समाराधयतु। यं चाभिलषेत्सा_।

मुक्त हो जाया करती थीं। लाक्षा रंग या कुंकुम से रंजित तथा सुरभित कालागुरु से सुवासित हल्की लाल साड़ियाँ धारण करती थीं। कोई कुसुम्भी रंग से रंगे हुए दुकूल धारण करती थीं और कुछ कानों में नवीन कर्णिकार के पुष्प, नील अलकों में रक्ताशोक के फूल और वक्षस्थल पर उत्फुल्ल नवमालिका की माला धारण करती थीं।'[१]

दशकुमारचरित (तृतीय उच्छ्वास:) में भी पुष्करिका और कल्पसुन्दरी की बातचीत के संदर्भ में 'वसन्तोत्सव' का उल्लेख किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि वसन्त का आगमन होते ही रूपवती ललनाएँ पूर्ण सज-धज के साथ अपनी सखियों के साथ नगर के रम्योद्यान में स्वच्छन्द विहार किया करती थीं।[२]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत वर्ष में ऋतु सम्बन्धी उत्सव भली भाँति मनाये जाते थे। इन उत्सवों में 'वसन्तोत्सव' और कौमुदी महोत्सव' अत्यन्त प्रसिद्ध है जिनमें पहला वसन्त ऋतु का और दूसरा शरद् ऋतु का उत्सव माना जाता है।

वसन्त के कई उत्सव हैं। इनमें सुवसन्तक और मदनोत्सव का वर्णन अधिक मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यशोधर पण्डित ने 'कामसूत्र' की टीका में सुवसन्तक से मदनोत्सव का अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त कामसूत्र में 'होलिका' नामक एक अन्य उत्सव का भी उल्लेख है। मदनोत्सव फाल्गुन से लेकर चैत्र के महीने तक मनाया जाता था जिसका एक रूप सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा अन्तःपुर की सुन्दरियों के परस्पर विनोद और कामदेव के पूजन का होता था। इनमें से प्रथम रूप का वर्णन हर्ष की रत्नावली में विशेष रूप से दर्शनीय है। इस प्रकार सुवसन्तक और मदनोत्सव दोनों एक ही उत्सव नहीं हो सकते ।

---

१. गुरूणि वासांसि विहाय दूरं तनूनिलाक्षारसरंजितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्तेऽगना काममदालसांगी ॥ १५ ॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बर्बिबानि विलासिनीनाम्।
रक्तांशुकैः कुंकुमरागगौरैरक्तंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ १४ ॥
कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयाति कान्तिं प्रमदाजनस्य ॥ १६ ॥
—कालिदास-ऋतुसंहार

२. 'अमुष्य वसन्तोत्सवे सहसखीभिर्नगरोपवनविहारिणी रतिरिव विग्रहिणी यदृच्छया दर्शनपथं गतासि।'—दशकुमारचरित- पृ० २६७।

उत्सवों के अतिरिक्त प्राचीन समय के अन्य भी विनोद के कतिपय साधनों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। 'कामसूत्र' का नागरकवृत्तप्रकरण इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

उद्यान यात्राएँ होती थीं। रथयात्रा का भी सम्मान था। पद-यात्रा का भी प्रचलन था। द्यूत-क्रीड़ा, मद्यपान, रहस्य-प्रणय, दूतीप्रेषण, रमणी-हरण, मृगयाविनोद, नृत्य एवं संगीत, मल्लयुद्ध, कुक्कुट आदि पक्षियों के भी युद्ध मनोविनोद के साधन होते थे। उद्यानयात्राओं में प्राय: हिन्दोललीला, समस्यापूर्ति, आख्यायिका, भेड़ों की लड़ाइयाँ आदि का प्रयोग होता था।

दशकुमारचरित में कलिंगराज के अपने सम्पूर्ण परिवार और नगर के नर-नारियों के साथ वसन्त-समय में उद्यान-यात्रा करने का वर्णन हुआ है।' इस प्रकार कुछ समय के पश्चात् रमणीहीन पुरुषों के चित्त को क्लेशित करने वाले...मलयपर्वत से आने वाले अग्नि के सहायक पवन वेग द्वारा उत्पादित आम की कलियों पर शोभित भ्रमरों से युक्त...वसन्त समय का अवतरण होते ही कलिंगराज अपनी अंगनाओं, पुत्री तथा नगरनिवासियों के साथ समुद्रतीरकानन में विहार करने की इच्छा से गये। वह कानन भी सघन वृक्षों की छाया से इतना परिपूर्ण था कि सूर्य की किरणों के प्रकाश से सुरक्षित था, वहाँ की बालुकामयी भूमि लताओं के पल्लवों से आच्छादित थीं, लताएँ भी गुंजायमान भ्रमरों से झुकी हुई थीं, पवन के झोंकों से चंचल हीरों की छोटी-छोटी बूँदों से अत्यन्त शीतल भी थीं। इस प्रकार के अत्यन्त रमणीय सागरतीर कानन में निरन्तर संगीत और नृत्य होने लगा। सहस्रों रमणियों की शृंगारिक चेष्टाओं से अप्रतिहत अनङ्गसंघर्ष से हर्षित मन वाले कलिंगराज अत्यंत आसक्त हो गए[१]।

अन्तःपुर

अन्तःपुर भारतीयों के मनोविनोद का मुख्य केन्द्र था। वह जीवन की विविधताओं से परिश्रान्त चित्त की शान्ति का सुकुमार एवं सर्वोत्तम स्थल था जहाँ की सुषमा विक्षोभ की विकराल लपटों की आँच से आक्रान्त नहीं होती थी, जहाँ की शालीनता और यथार्थता असामाजिक एवं अशोभन तत्त्वों के निविडतम से

१. अथ कदाचिदायासितजायारहितचेतसि...सागरतीर कानने क्रीडारसजातासक्तिरासीत्। अथ संततगीतसङ्गीत—रागतृष्णैकतन्त्रः दशकुमारचरित स० उ० पृ० ४६९-४७१।

अनावृत थी। अन्तःपुर की शालीनता और उसके सौन्दर्य की सुरक्षा तथा उसके सम्मान के सामर्थ्य में ही राजाओं एवं अपर पुरुषों के पौरुष का परिचय प्राप्त होता था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रजा का हित कभी भुलाया जाता था। लोकजीवन के सुख का आधार या उसका सर्वस्वभूत विवेक और संयम, भोग एवं त्याग के सामर्थ्य से सर्वथा रक्षित अन्तःपुर था जिसके भव्य वर्णन का चारुतम स्वरूप प्रायः सभी संस्कृत महाकवियों की कमनीय कृतियों में प्रस्फुटित हुआ है। वस्तुतः अंगनाओं से अन्तः पुर की और अन्तःपुर से अंगनाओं की सुकुमारता और भव्यता लोक-चित्तरंजक होकर सुप्रतिष्ठित हो सकी है। इसीलिए भारतवर्ष की सुकुमार साधना का सर्वोत्तम यद्वा उसका मूलश्रोत अन्तःपुर माना जाता है, जो समस्त मधुरिमा और मृदुता को उद्‌भासित करने वाले भव्य-स्थल के रूप में अद्यावधि सम्मान्य है। इस प्रकार के अन्तःपुर के सुरुचिपूर्ण जीवन के वर्णन को भव्य और चारुतम रूप देने में संस्कृत महाकवियों की अलौकिक प्रतिभा परिस्फुरित हुई है।

कामसूत्र के नागरवृत्तप्रकरण में भवन-विन्यास का सांगोपांग वर्णन हुआ है जो वस्तुतः अन्तःपुर के सुरुचिपूर्ण एवं परिष्कृत जीवन का पूर्णपरिचायक है। जल के समीप वृक्ष-वाटिका सहित गृहनिर्माण तथा दो वासगृह होने का उल्लेख हुआ है—एक बहिः प्रकोष्ठ, दूसरा अन्तः प्रकोष्ठ।[१] 'मालतीमाधव' के प्रथम अंक में कामन्दकी द्वारा कथित श्लोक में मालती द्वारा माधव को रथ-मार्ग पर देखने का वर्णन हुआ है:—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्या पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभी तुंगवातायनस्था।

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालिनीमाधवं तत्

गाढोत्कण्ठा लुलितललितैरंककैस्ताम्यतीति॥

अन्तः पुर से लगी हुई कभी अन्तःपुर के भीतर वृक्षवाटिकाएँ होती थीं। इसके बीचोबीच एक दीर्घिका या सरोवर तथा क्रीडा पर्वत भी होते थे। यहाँ अन्तःपुर की रमणियाँ विविध लीलाओं से मनोविनोद किया करती थीं।

---

१. कामसूत्र - वात्स्यायन, १.४ ३,४॥

अलकापुरी में मेघदूत की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक वाटिका का वर्णन है जिसमें यक्ष-प्रिया ने एक छोटे से मन्दारवृक्ष को जिसके पुष्पस्तबक हाथ-पहुँच के भीतर थे— पुत्रवत् पाला था[१] इस उद्यान में मरकतमणियों की सीढ़ी-वाली एक वापी थी जिसमें वैदूर्यमणि के नालों पर स्वर्णकमल खिले हुये थे और वहाँ हंस विचरण करते थे। इस वापी के तट पर नीलमणि-निर्मित कनक-कदली से वेष्टित क्रीड़ा पर्वत था।

'क्रीडापर्वत वर्षाकाल के लिये निर्मित होते होंगे। अग्निवेश वर्षाकाल में कुटज और अर्जुन की माला धारण करके और कादंब- रज का प्रसाधन करके कृत्रिमक्रीडापर्वतों पर विहार किया करता था। उन दिनों क्रीडापर्वत पर रहने वाले पालित मयूर मेघ-दर्शन से प्रमत्त होकर नाच उठते थे[२]।

अंसलंबिकुटजार्जुनस्रजस्तस्तनीपरजसांगरागिणः।
प्रावृषि प्रमदवार्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः॥

—रघुवंशः कालिदास (१९-३७)।

इसके अतिरिक्त नदी के तटवर्ती महल जालीदार गवाक्षों से युक्त होते थे जिनसे वहाँ की वधुएँ नदी की चंचल तरंगों की शोभा का अवलोकन करती थीं सुनन्दा द्वारा कहे जाने पर इन्दुमती के माहिष्मती के किले के नीचे करधनी की भाँति लिपटी हुई, जलवेणि-सी रमणीय तरंगोंवाली रेवा की भव्य झाँकी देखी थी। जिस राजा के प्रासाद गवाक्षों से इस रमणीय सौन्दर्य का देखना संभव था उसकी अंकलक्ष्मी होना सौभाग्य का विषय था—

'अस्यांकलक्ष्मीर्भवदीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकांचीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥'

—रघुवंश- कालिदास ६-४३।

---

१. तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन। यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे हस्तप्राप्यस्तबकनमितोबालमन्दारवृक्षः॥ कालिदास, मेघदूत, उ० १४। वाणीचास्मिन्मरशिलाबद्धसोपानमार्ग हेमेश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः। यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपिप्रत्यहंसाः॥ वही, उत्तरमेघ, १६।

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ४३ पर उद्धृत।

अश्वघोष के बुद्धचरित में खिड़की के सहारे लेटी हुई धनुषाकार झुकी हुई नारी की तोरण-शालभंजिका[१] से उपमा दी गई है—

अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या

शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।

विरराज विलंबिचारुहारा

रचितातोरणशालभंजिकेव ।।

सामान्यतः तोरण -द्वार कुसुंभी रंग से पुता होता था। प्रत्येक गृह पर सौभाग्य-पताकाएँ भी फहराती रहती थीं ।[२]

स्कन्दपुराण के अवन्तिका खण्ड में अवन्ती नगर का वर्णन करते समय इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि 'उस नगर में बड़े-बड़े हाट-बाजार थे, विशाल चौराहे थे, सड़क के दोनों ओर सुन्दर-सुन्दर स्फटिक महल हुआ करते थे जिनकी फर्श वैदूर्य मणि की थी। वे सुवर्णजटित प्रवालस्तम्भों पर टिके हुए थे। उनमें लालपत्थरों की देहलियाँ बनी हुई थीं, बाहर मोती की झालर टँगी हुई थी। प्रत्येक भवन में सुवर्ण के स्तम्भों पर सौभाग्यपताकाएँ लहरा रही थीं। मणिजटित सुवर्ण-कलश प्रत्येक भवन की शोभा में अभिवृद्धि कर रहे थे।'

हर्ष की 'रत्नावली' (तृतीय अंक) से यह भी स्पष्ट है कि वृक्षवाटिका की पुष्पिता लताएँ कुमारियों के लिये मनोविनोद के काम में आती थीं, घर सजाये जाते थे, जल सुगन्धित किया जाता था। नववधुओं का वासक-वेश तैयार होता था और सबसे बढ़कर देव-पूजन का कार्य सम्पन्न होता था। नवदम्पति के प्रणय-कलह में शर्त बनती थी। निराश प्रेमिकाओं के गले में फाँसी के काम में भी आती थी।

---

१. 'मृच्छकटिक' में भी (चतुर्थ अंक) में तोरण की चर्चा आई है। तोरण के कोनों में हाथी की मूर्तियाँ बनी होती थीं जो अपने दाँतों पर या सूंड़ पर भारवहन करती हुई जान पड़ती थीं। ईसवी पूर्व दूसरी शती का एक तोरण ब्रेकेट साँची में प्राप्त हुआ है जिसमें हाथी के सामने अत्यन्त सुकुमार भंगी में एक स्त्री-मूर्ति वृक्ष शाखा पकड़कर खड़ी है। इस प्रकार की नारी-मूर्तियों को तोरणशालभंजिका कहते थे। 'शालभंजिका' 'पुतली' या 'मूर्ति' को भी कहते हैं और वेश्या को भी। प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ३६-३७।

२. द्रष्टव्य—'मृच्छकटिक - चतुर्थ अंक।'

प्रेम में वशीभूत नागरक और उसकी प्रियतमा के बीच में पुष्पों का प्रथम विकास (प्रस्फुटन) शर्त का विषय होता था, नाना कौशलों से मन्त्र और मणि के प्रयोग से, प्रिया के दर्शन, वीक्षण, पदाघात आदि से विविध प्रकार की वृक्षलताओं में अकाल पुष्पोद्भव होता था। प्रेमी के पराजय पर उन्हें प्रिया के शृंगार करने का दण्ड मिलता था, प्रेयसी की पराजय से तो सौत की तरह फूली हुई अनुरागभरी लता का बार-बार अवलोकन करने वाले प्रियतम को देखकर उनका मुँह लाल हो उठता था—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

—रत्नावली - हर्ष - द्वितीय अंकः ।

स्कन्दपुराण में अवन्ती खण्ड में उद्यानपरम्परा का भी मनोरम चित्रण हुआ है जो अन्तः पुर की शोभा की अभिवृद्धि का प्रधान साधन कहा जा सकता है । रम्य उद्यानों की लोभनीय शोभा से पुराणकार के चित्त में भावों का प्रकम्पन हुआ और उनके यथार्थ चित्रण में पुराणकार की कवि-प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठी है—

फूली हुई लताओं से आच्छादित तरुसमूह, प्रियाओं से आलिंगित सुभग-जनों की भाँति शोभित हो रहे थे, पवनान्दोलित मंजरियों से रमणीय रसाल और तिलक के तरु, सुजनों की भाँति प्रेमालाप से करते प्रतीत हो रहे थे, पुष्प और फल के भार से समृद्ध वृक्ष समूह उन सज्जनों की भाँति प्रतीत हो रहे थे जो अपना सर्वस्व दूसरों को दे देने में प्रसन्न रहते हैं, पवनान्दोलित लताओं पर नृत्य करने वाले अमृतवल्लरियों पर आसीन भ्रमर प्रियतमा के साहचर्य में मदमत्त प्रेमीजन की भाँति जान पड़ते थे ।

कालिदास के रघुवंश (६-३५) में भी उद्यान-परम्परा का वैदुष्यपूर्ण चित्रण सहृदयों की प्रीति का विषय बन जाता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तःपुर के सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत और मर्यादित जीवन में उसके यथार्थ, जीवन्त और रसमय वर्णन में कवियों की स्वाभाविक रागात्मिका वृत्ति पूर्णरूप से रमी हुई थी ।

श्रीहर्ष विरचित 'नैषधीयचरित' में कुण्डिनपुर का दमयन्ती का अन्तःपुर - वर्णन[१] उत्तम बन पड़ा है । दमयन्ती का अन्तः पुर नल के विविध भावों का आलम्बन है । उसका सुरुचिपूर्ण वर्णन कवि की ज्ञान-गरिमा तथा विशद वैदुष्यवृत्ति का ज्वलन्त निदर्शन है ।

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का भी अन्तःपुर वर्णन तुलनात्मक रूप से सरल, एवं सजीव है । यद्यपि यह वर्णन किन्नरलोक का होने के कारण कल्पनातीत ही कहा जा सकता है किन्तु यह वर्णन उन वित्तेशों के अन्तःपुर की भव्य झाँकी प्रस्तुत करता है जिनके विषय में कालिदास कह गये हैं कि वहाँ अगर किसी की आँखों में आँसू आते हैं तो वे आनन्दजन्य ही, और किसी कारण से नहीं, प्रेमबाण की पीड़ाओं के सिवा वहाँ और कोई पीड़ा नहीं होती और यह पीड़ा होती भी है तो इसका फल अभीष्ट व्यक्ति की प्राप्ति की होती है, वहाँ प्रेमियों के प्रणय-कलह के क्षण स्थायी काल के अतिरिक्त और वियोग कभी नहीं होता और यौवन के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था उन्हें ज्ञात ही नहीं है—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां नखलु च वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

—मेघदूत - कालिदास २.३ ।

इस कोटि का अन्तःपुर निश्चय ही वर्णनातीत हो सकता है और सामान्य पाठक अथवा हम दरिद्रलेखनीधारियों की समझ से परे है । उस अन्तःपुर में कोई लवलिका केतकी के पुष्प-धूलि से लवली के आलवालों को अलंकृत कर रही थी, कोई गन्धजल की वापियों में रत्नबालुकानिक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियों के यन्त्रचक्रवाकों के ऊपर कुंकुमरेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कर्पूर-पल्लव के रस से गन्ध-पात्रों को सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल-वीथिका के अंधकार के मणियों के प्रदीप सजा रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिये दाडिम फलों को मुक्त जाल से अवरुद्ध कर रही थी, कोई

१. नैषधीयचरित - श्री हर्ष ६.५, ६.२८, २९, ३०, ३४, ३७, ४०, ५१, ६०, ६७, ६९, ७१ ।

उत्पलिका कदलीगृह की मरकत वेदिकाओं को सोने की सम्मर्जनी (झाडू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका बकुल कुसुम के मालागृहों को मदिरा रस से सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवायतन की हाथी दाँत की बनी बलविका (मण्डप) को सिन्दूर-रेणु से पाटलित कर रही थी।

संस्कृत साहित्य में पक्षियों की भी चर्चा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य साहित्य में कदाचित् ही पक्षियों की इतनी अधिक उपादेयता वर्णित हो। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त प्रतीत होता है कि जिन दिनों संस्कृत के काव्य नाटकों का निर्माण अपने पूर्ण प्रकर्ष पर था, केलिगृह और अन्तःपुर के प्रासाद प्रांगण से लेकर युद्ध-क्षेत्र और वानप्रस्थों के आश्रम तक कोई न कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोद का साथी था, रहस्यालाप का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, वियोग का सहारा था, संयोग का योजक था, युद्ध का संदेशवाहक था, जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में वह मानव का साथी अवश्य था।

इन पक्षियों को निकाल देने पर संस्कृत साहित्य निर्जीव सा प्रतीत होगा जिसने अद्यावधि इस साहित्य को सजीव कर रखा है।

द्विवेदी जी ने लिखा है कि यह पक्षी 'कभी भवन-वलभी में सोये हुए पारावत के रूप में, कभी मानिनी को हँसा देने वाले शुक के रूप में, कभी अज्ञात प्रणयिनी के विरहोच्छ्वास को खोल देने वाली सारिका के रूप में, कभी नागरिकों की गोष्ठी को उत्तेजित कर देने वाले योद्धा कुक्कुट के रूप में, कभी भवन-दीर्धिका में मृणालतन्तुभक्षी कलहंस के रूप में, कभी अज्ञात प्रिय के संदेशवाहक राजहंस के रूप में, कभी चूतकषाय-कण्ठ से विरहिणी के दिल में हूक पैदा कर देने वाले कोकिल के रूप में, कभी-कभी नूपुर की झंकार से क्रेंकारध्वनिकारी सारस के रूप में, कभी चंद्रिकापान में मदविह्वल होकर मुग्धा के मन में अपरिचित हल-चल पैदा कर देने वाले चकोर के रूप में, कभी कंकण की रुनझुन से नाच पड़ने वाले मयूर के रूप, में वह प्रायः इस साहित्य में पाठक की नजरों से टकरा जाता है।'[१] संस्कृत साहित्य पर आधरित उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव-जीवन के साथ पक्षियों का अटूट सम्बन्ध रहा है। महाभारत[२] से यह पता चलता है कि मानव और पक्षी

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७।

२. भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वांछन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो बधबंधा दृते क्षमः॥ —म० भा० - शांतिपर्व, १३९-६०।

के बीच केवल दो ही तरह का संबंध था—भक्षण का सम्बन्ध और क्रीड़ा का सम्बन्ध। मनुष्य या तो उन्हें खाता था या उन्हें फँसा कर मनोविनोद किया करता था। इसके अतिरिक्त और कोई तीसरा संबंध नहीं था। एक बध का संबंध और दूसरा बन्ध का।

किन्तु संस्कृत साहित्य और महाभारत स्वयं इस बात का साक्षी है कि तीसरा संबंध भी मानव और पक्षी के बीच था। यदि ऐसा न होता तो कमल-पत्र पर शोभित बक-पंक्ति जो मरकतमणि के पात्र में रखी हुई शंखशुक्ति के समान दीख रही है अकारण मानव-हृदय में आनन्दोद्रेक न कर सकती—

पश्य निश्चलनिष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव॥

—मम्मट, काव्यप्रकाश, द्वि० उल्लास, ८ वां उदाहरण।

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएँ सहृदय के लिये नितान्त आवश्यक वस्तु थीं जिसका उदाहरण संस्कृत साहित्य में विरल नहीं है 'वीणा असमुद्रोत्पन्न रत्न है, वह उत्कंठिता की संगिनी है उकताये हुये का विनोद है, विरही का ढाढ़स और प्रेमी का रागवर्धक प्रमोद है।'[१]

सहृदय नागरिक अपनी प्राणप्रिया के सदृश यदि किसी वस्तु को अपनी अंकलक्ष्मी बना सकता था तो वह उसकी वीणा ही थी। अग्निवेश के वर्णन के प्रसंग में कालिदास की पंक्तियाँ भुलाई नहीं जा सकतीं। दो वस्तुएँ उसके अंक को बारी-बारी से अशून्य बनाये रखती थीं— एक हृदयंगमध्वनिवाली वीणा या प्रियभाषण करने वाली प्रिया।[२]

---

१. उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरोविनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥ —मृच्छकटिक, ३-४।

२. अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्यनिन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ - रधुवंश - १९.१३।

पर्यटन

'पर्यटन' दशकुमारचरित के इतिवृत्त की सफलता के अभिसूचक तत्त्वों में से अन्यतम प्रतीत होता है । सभी कुमारों की यात्रा-विलास का रोमहर्षण चित्र दण्डी ने उपस्थित कर पाठकों की हृदय-कली को विकसित कर देने वाली एक नई चेतना फूँक दी है । पर्यटनकाल में राजवाहन की खोज में तत्पर प्राय: सभी कुमारों का देश-देशान्तर में परिभ्रमण होता है । दैववशात् कहीं किसी रूपवती अंगना का दर्शन होते ही उसकी प्राप्ति के लिए अहर्निशगूढ-चिन्तन और प्रयत्न में तत्पर इन कुमारों की दशा कभी तो अत्यन्त शोचनीय, कभी अतीव अद्भुत और कभी निराशाजनक हो जाती है । शत्रुओं को परास्त करके अन्त में छल, कपट या कूटनीति आदि साधनों के प्रयोग से प्राय: अंगनाओं की प्राप्ति ही कुमारों का लक्ष्य प्रतीत होता है ।

प्रथम उच्छ्वास में सभी कुमारों के परस्पर एक स्थान पर मिलन के पश्चात् दूसरे उच्छ्वास के आरम्भ में अपहारवर्मा ने अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया—देव, ब्राह्मण का उपकार करने के लिए असुरविवर में आपके अवतीर्ण होने पर तथा आपकी खोज में अन्य मित्रों के इधर-उधर फैल जाने पर मैं भी अंगदेश की पृथ्वी पर पर्यटन करता हुआ चम्पानगरी के बाहर गंगातट पर, तप के प्रभाव से उत्पन्न दिव्यचक्षु वाले मरीचि नाम के महर्षि के स्थान पर पहुँचा ।[१]

तृतीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा द्वारा कहे गये राजवाहन के प्रति ये वचन हैं—'एक बार मैं पर्यटन करते हुए विदेह पुरी में गया । विदेह पुरी में प्रवेश करके उस पुरी के वाह्यभाग में विश्राम करने की इच्छा से एक मठ में रुक गया... ।'[२]

इसी प्रकार अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, और विश्रुत सभी कुमारों के पर्यटन की कथा ही दशकुमारचरित का विषय है । अर्थपाल ने कहा—'हे देव । अन्य मित्रों की तरह आपके अन्वेषणार्थ मैं भी भूमण्डल में पर्यटन करता हुआ एक दिन काशी प्रदेश की वाराणसी नगरी में पहुँचा ।[३]

---

१. देव त्वयि तदावतीर्णे द्विजोपकारायासुरविवरं त्वदन्वेषणप्रसृते च मित्रगणे अहमपि महीमटन्नँगेषु गङ्गातटवहिश्चम्पायाः कश्चिदस्ति_महर्षिरिति—दशकुमारचरित द्वि० उ०, पृ० १५५ ।

२. एषोस्मि पर्यटन्नेकदा गतो विदेहेषु ।—दशकुमारचरित, पृ० २५२ ।

३. 'देव सोऽहमप्येभिरेव सुहृद्भिरेककर्मोर्मिमालिनेमि भूमिवलयं परिभ्रमन्नुपासरं कदाचित्काशीपुरीं वाराणसीम् ।'—वही, पृ० ३०६ ।

इसी प्रकार - 'उसने (प्रमति ने) भी प्रणाम करके कहा—' देव आपके अन्वेषणार्थ चारों ओर भ्रमण करता हुआ मैं गगनस्पर्शी विन्ध्य पर्वत के समीप एक अपुष्प वृक्ष के नीचे पहुँच गया। उस समय[१]...इत्यादि।

मित्रगुप्त ने भी कहा– देव, सभी मित्रों के सदृश मैं भी पृथिवी पर पर्यटन करता हुआ सुह्म प्रान्त के अन्तर्गत दामलिप्त नामके नगर के वाह्योद्यान में पहुँचकर महान् उत्सव समाज को देखा।[२]

मन्त्रगुप्त ने भी कहा—'राजाधिराजनन्दन, आपके पर्वत की गुफा में प्रवेश करने के अनन्तर आपकी खोज में कलिंग देश में पर्यटन करता हुआ पहुँचा।'[३]

विश्रुत ने भी कहा — 'देव, मैं भी विन्ध्याटवी में इधर-उधर भ्रमण करता हुआ सहसा एक कुएँ के समीप पहुँचकर भूख-प्यास से व्याकुल आठ वर्ष के एक बालक को देखा।'[४]

इन राजकुमारों के पर्यटन की कथा अथ से इति तक न केवल व्यंग्य और विनोद के पुट से ओत-प्रोत है, अपितु सभी कुमारों के स्वभाव की विचित्रता, उनके अनुभव तथा अद्‌भुत् क्रियाकलाप, उनके साहस और पराक्रम के हृद्य वर्णन से अनुप्राणित भी हैं। छठें उच्छ्वास में धन्यक के पर्यटन की कथा कितनी मार्मिक है कि वह सहृदयों के ही अनुभव का विषय है। दुर्भिक्ष के कुप्रभाव से समस्त परिवार तथा सम्पत्ति के विनष्ट हो जाने पर अपनी 'धूमिनी' के प्राणों की रक्षा के लिए रात्रि में ही गृह का परित्याग करके उसे अपने कंधे पर ढोने वाले मार्ग-श्रम से क्लान्त धूमिनी की, अपनी मांस तथा रक्त आदि के द्वारा भूख और प्यास मिटाने वाले धन्यक की तत्परता एवं उसके सर्वस्व त्याग में पत्नी के प्रति अनुराग का अनूप

---

१. सोऽपि प्रणम्य विज्ञापयामास - 'देव, देवस्यान्वेषणाय दिक्षु भ्रमन्नभ्रंकषस्यापि विन्ध्यपार्श्वरूढस्य वनस्पतेरधः, परिणतपतङ्गबालपल्लवावतंसिते... पश्चिमदिगङ्गनामुखे...उपास्य संध्याम्...—वही, पृ० ३४६।

२. सोऽप्याचचक्षे - देव सोऽहमपि सुहृत्साधारणभ्रमणकारणः सुह्मेषु दामलिप्ताह्वयस्य नगरस्य वाह्योद्याने महान्तमुत्सवसमाजमालोकयम्। वही पृ० ३८२।

३. राजाधिराजनन्दन, नगरन्ध्रगतस्य ते गतिं ज्ञास्यन्नहं च गतः - कदाचित्कलिङ्गान्।—वही, पृ० ४५६।

४. 'अथसोप्याचचक्षे - देव मयाऽपिपरिभ्रमता विन्ध्याटव्यां कोऽपिकुमारः...दृष्टः।' —वही, पृ० ४९७।

निदर्शन उपलब्ध होता है । पर्यटन की बेला में धन्यक का भी चरित निःस्वार्थ सेवा एवं उदारता की उदात्त भूमिका प्रस्तुत करता है—पत्नी को कंधे पर लाद कर चलने वाले धन्यक को मार्ग में एक पंगु एवं सर्वथा विपन्न अपरिचित पुरुष का दर्शन होता है । देखते ही उसकी दीन दशा से अभिभूत धन्यक ने उसे भी अपने कन्धे पर लाद लिया । कुछ दूर चलने के पश्चात् किसी स्थान पर एक पर्णशाला का निर्माण कर उसी में रहते हुए उसने उस पंगु पुरुष के घावों को इंगुदी के तेल आदि से अच्छा किया । जंगल में, पंगु पुरुष को कुछ खिलाने के लिए कुछ फल -मूल आदि की खोज में धन्यक के चले जाने पर पंगु को ही उसके न चाहने पर भी धूमिनी अपना प्रिय बना लेती है । धूमिनी के द्वारा निःस्वार्थ सेवी धन्यक का तिरस्कार होता है । अब धन्यक के पर्यटन की कथा थोड़े समय के लिए विश्राम ले लेती है और अपने कंधे पर पंगु पुरुष को लादकर चलने वाली, पतिभक्ति का आदर्श प्रदर्शित करने वाली पतिवंचक क्रूरहृदया धूमिनी के पर्यटन की लीला आरम्भ हो जाती है । उस हीनांग पुरुष को कंधे से वहन करती हुई देश-देशान्तर में पर्यटन करने वाली धूमिनी उज्जैन के राजा की कृपापात्र बन जाती है और उसी के आश्रय में निवास करती है । इसके पश्चात् कभी इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए और भिक्षा मांगते हुए धन्यक भी उज्जैन में राजा के यहाँ पहुँचा । धूमिनी के यह कहने पर कि 'जिसने मेरे पति को पंगु बनाया, वह दुरात्मा यही है, पूर्व वृत्त से अपरिचित राजा ने सेवकों को उसके वध की आज्ञा दे दी । पंगु के द्वारा वास्तविकता प्रकट होने पर धन्यक बच जाता है और क्रूरहृदया धूमिनी कुत्तों की पाचिका बना दी जाती है । इसी प्रकार पर्यटन की अत्यन्त रोचक कथाओं की प्रचुरता दशकुमारचरित में उपलब्ध होती है ।'

गोमिनी वृत्तान्त में, गुणवती दारा की प्राप्ति के लिए लक्षणज्ञ के रूप में विचरण करने वाले श्रेष्ठीपुत्र शक्तिकुमार की कथा, बलभद्र और निम्बवती के पर्यटन की कथा अत्यन्त रुचिकर है ।

द्यूतक्रीडा

द्यूतक्रीडा का इतिहास अति प्राचीन है । प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि मनोविनोद में द्यूत का भी स्थान था । द्यूतक्रीडा का सुस्पष्ट संकेत ऋग्वेद (१० वें मण्डल में ३४ में सूक्त) से भी प्राप्त होता है । आचार्य मनु ने अक्षक्रीडा को काम से उत्पन्न होने वाले दश व्यसनों में से एक माना है । दश व्यसन काम से और आठ

क्रोध से उत्पन्न होते हैं, जिनका अन्त बड़ा ही दुःखदायी होता है । इसलिए यत्नपूर्वक इसका परित्याग करना चाहिए, अक्षक्रीडा (जुआ खेलना), दिन में शयन करना, दूसरों के दोष का कथन, स्त्रियों का सहवास, मद्यपान, नाचना, गाना, बजाना और निरर्थक घूमना ये काम से उत्पन्न होने वाले १० व्यसन हैं । काम से उत्पन्न होने वाले व्यसनों में मद्यपान, द्यूत, स्त्री सेवन और आखेट ये चार व्यसन यथाक्रम बड़े ही दुःखदायी होते हैं ।[१]

दशकुमारचरित के द्वितीय और अष्टम उच्छ्वास में द्यूत का वर्णन मिलता है । चौर्यशास्त्र के प्रवर्तक कर्णीसुत द्वारा प्रवर्तित पद्य का अनुसरण करने का संकल्प करने वाले अपहारवर्मा ने सर्वप्रथम द्यूत सभा में प्रवेश किया । कुशल जुआरियों से उसने मैत्री कर लिया और उन धूर्तों की पचीसों प्रकार की सभी द्यूतकला की कुशलता, गोटियों को रखने का स्थान अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हाथ की सफाई, कपट व्यवहार और उससे युक्त गर्व और आक्षेप भरे वाक्य जीवन की चिन्ता न करते हुए साहसपूर्ण कार्यों का करना सभिक (जुआ खेलने वाले) को जानते हुए न्यायालय में पहुँचकर जीतने तथा प्रभावसम्पन्न स्वार्थ-सिद्धि के उपायों का ज्ञान, बलवानों को सान्त्वना देना, दुर्बलों को तिरस्कृत करना, ऊँची-नीची बातों से अपने पक्ष को प्रबल करना, प्रलोभन देना, दाँव के विभिन्न भेदों का उपदेश करना, जुए में सुलभ द्रव्य का बटवारा करना, बीच-बीच में गालियों और कोलाहल आदि विभिन्न प्रकार की बातों का अनुभव करता हुआ अपहारवर्मा तृप्त नहीं हुआ । एक बार एक धूर्त के प्रभाववश गोटी दे देने पर अपहारवर्मा हँस पड़ा । हँसते ही उसका प्रतिपक्षी उस पर क्रुद्ध हो गया और कहने लगा— अरे (मूर्ख) ! 'हँसी के बहाने मुझे जुआ खेलने की शिक्षा देते हो ? अच्छा यह अशिक्षित खिलाड़ी समझता है तो मैं तुम्हारे ही साथ खेलूँगा ।' द्यूताध्यक्ष की अनुमति मिल जाने पर वह अपहारवर्मा के साथ खेलने लगा । अपहारवर्मा ने षोडशसहस्र अशर्फियाँ जीत लिया । उनमें से आधी

---

१. दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥—मनुस्मृति ७.४५ ॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥—वही, ७.४७ ॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ —वही, ७.५० ॥

द्यूताध्यक्ष को तथा आधी सभ्यों को प्रदान कर शेष स्वयं लेकर वहाँ से चल दिया। उसके हटते ही चारों ओर से उसकी प्रशंसा होने लगी।'

द्यूतक्रीडा की यह परम्परा जैसा कि कहा जा चुका है बहुत ही प्राचीन है। महाभारत (सभा पर्व) में दुर्योधन द्वारा युधिष्ठिर को द्यूतक्रीडा में भाग लेने के लिए निमंत्रण भेजने, द्यूत के लिए सभा का निर्माण करने, उसके अनौचित्य के सम्बन्ध में युधिष्ठिर और शकुनि के संवाद एवं जुए के दुष्परिणाम का बड़ा ही मार्मिक एवं सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक धर्मानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि द्यूत राज-धर्म के रूप में था। उसका तिरस्कार क्षत्रिय धर्म के रूप में था। तिरस्कार क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध समझा जाता था। महाराज युधिष्ठिर धर्मराज थे। उनका समझना, उनका कहना और करना धर्म-सार के रूप में सुप्रतिष्ठित था। इसी राजधर्म परिपालन के लिए धर्मराज युधिष्ठिर को भी जुआ खेलना पड़ा। धर्मराज युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी एवं उनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष से म्लान हुई कान्ति वाले दुर्योधन प्रतिदिन शरीर से पीले होने लगे, दुर्बल हो गये और उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। उसके मनोभावों को समझना कठिन था। अन्त में शकुनि (दुर्योधन के मामा) ने उसके दुःख को दूर करने का उपाय सोचा और 'राजन्! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को द्यूतक्रीडा बहुत प्रिय है किन्तु वे उसे खेलना नहीं जानते, यदि द्यूतक्रीडा में आमंत्रित किया जाय तो वे धर्मराज होने के कारण इससे मुख नहीं मोड़ेंगे'[१] इस प्रकार की मन्त्रणा देकर धृतराष्ट्र को भी पाण्डवों का सर्वस्व अपहरण करने की इच्छा से यही उपाय बताया - 'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को जुआ खेलना बहुत प्रिय है किन्तु वे उसे खेलना नहीं जानते। द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्य से आमंत्रित किये जाने पर वे अवश्य आयेंगे।'[२]

चतुर्भाणी के अन्तर्गत ईश्वरदत्तप्रणीत 'धूर्तविटसंवाद' में भी द्यूत का संकेत उपलब्ध होता है। वर्षाकाल के रमणीय दृश्य और हृदययोद्वेजक वैभव से उत्कण्ठित चित्त वाला विट किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और विचार करता है कि—'तो फिर मै कहाँ यह उत्सुकतापूर्ण मन बहलाऊँ ? द्यूतसभा में या वेश में।

१. द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम्॥ - महाभारत, सभापर्व में 'द्यूतपर्व' ४८.१९।

२. द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम्।
आहूतश्चेष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि॥- महाभारत, सभापर्व, ४९.३९॥

(सोच करके) द्यूतसभा को नमस्कार। एक धोती के अतिरिक्त और कोई वस्त्र मेरे पास नहीं है। पाँसे नीच कुल में जन्म लेने वाले रईसों की तरह सदैव सीधे मुख (अनुकूल) नहीं रहते। तो फिर मैं वेश में ही चलूँ। वहाँ तो'[१]..... ।

इस प्रकार द्यूत के दुष्परिणाम और उसकी निःसारता को ध्यान में रखते हुए विट ने द्यूत का तिरस्कार किया। याज्ञवल्क्य संहिता के व्यवहाराध्याय में द्यूत समाह्वय नाम का प्रकरण है जिसका विषय है द्यूत और समाह्वय। निर्जीव पाशादि से खेले जाने वाली क्रीड़ा को द्यूत और मेष, महिष, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बद कर जो क्रीडा हुआ करती थी उसे समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा जाता था (याज्ञवल्क्य, २, १९९-२००)[२] दो मल्लों या पहलवानों की लड़ाई को भी समाह्वय कहा जाता था। आचार्य मनु ने भी जड़ वस्तु जैसे पांसे आदि से खेले जाने वाले जुए को द्यूत और भेड़, तीतर, वटेर आदि प्राणियों की बाजी लगाकर खेलने को समाह्वय बताया है—

'अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।

प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ मनु० ९.२२३।'

तथा —

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।

राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥- वही, ९.२२१।

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयो।...वही, ९.२२२।

मनु ने द्यूत और प्राणि समाह्वय दोनों ही को राजा के द्वारा निषिद्ध करने का उल्लेख किया है क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष चोरी के कार्य हैं। मेष, तित्तर, कुक्कुट आदि इन प्राणियों की लड़ाई शर्त के साथ होती थी। उसे देखने के लिए अधिक संख्या में लोग एकत्र होते थे। इस प्रकार सिद्ध होता है कि द्यूत और समाह्वय ये दोनों ही भारतीयों के मनोविनोद के साधन थे।

---

१. तत्क्व नु खलु इदमोत्सुकां विनोदयेयम्। किं नु द्यूतसभायामाहोस्वित् वेशवाटे। (विचार्य) नमोस्तु द्यूताय। एकशाटिकामात्रावशिष्टो हि नः प्रच्छदपटः। अक्षाश्च नामानभिजातेश्वरा इव न सर्वकालसुमुखा भवन्ति। ततो वेशमेव यास्यामः। तत्र हि,— पृ० ६८।

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० १४० पर उद्धृत।

महाकवि दण्डी ने भी कुक्कुट युद्ध का वर्णन किया है । पञ्चम उच्छ्वास :पृ० ३६५: से स्पष्ट है श्रावस्ती नगरी में वणिकों की विशाल बस्ती थी । प्रमति ने वहाँ पहुँचकर देखा कि कोलाहल हो रहा था, कुक्कुटों का युद्ध चल रहा था । उसे देखकर कुमार प्रमति भी बहुत प्रसन्न हुआ और जिस पक्ष की विजय हुई उसी के साथ प्रमति ने मैत्री भी कर लिया और उसकी सहायता से अन्त में अपने कार्यों में सफलता भी प्राप्त किया ।

मृगया, द्यूत, वेश्यागमन, कटुवचन, कठोरदण्ड, अर्थदूषण और मदिरापान इत्यादि सभी वस्तुएँ राजाओं के लिए निन्दनीय बताई गई हैं । कालिदास ने भी रघुवंश के नवम सर्ग में राजा दशरथ में इन दुर्व्यसनों का अभाव बतलाकर इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है ।[१] किन्तु चन्द्रपालित ने अपने वाक्-कौशल से अनन्तवर्मा को इन व्यसनों के गुणों की चर्चा से प्रभावित किया । फलतः राजा के दुर्गुणों के प्रभाव से प्रजा भी वंचित न रही । राजा की मानसिक स्थिति एवं उसके क्रिया-कलापों से कर्मचारी भी दुर्व्यसनों के पुजारी हो गए । समाज का पूरा चित्र ही एक नये साँचे में ढल गया । चारों ओर से आय के मार्ग बन्द हो गए । खर्च बढ़ने लगा । मदिरापान की गोष्ठियों में राज्य कर्मचारियों की स्त्रियाँ भी भाग लेने लगीं । रानियों एवं अन्तःपुरिकाओं के चरित्र नष्ट होने लगे । नगर की स्त्रियाँ भी व्यभिचारिणी हो गईं । समाज में अशान्ति और उपद्रव होने लगे । आज्ञापालन, अनुशासन और नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं का लोप हो गया । पापाचरण, चौर्य और कपट की वृत्तियों को अपनाने में संकोच का अभाव हो गया । राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति विनष्ट हो गई । पाप के सभी द्वार खुल गए । प्रजा के सभी बन्धुवर्ग मार डाले गए। उनका धन चोरों के द्वारा चुरा लिया गया। राजा के उच्छृंखल अधिकारियों द्वारा कितने ही प्रजाजन पकड़कर मार डाले गये, कितने बन्दी बना दिये गये । इस प्रकार पूरा राज्य ही स्वच्छंद होकर नष्ट हो गया । सारी प्रजा आँसू बहाती हुई रोने लगी ।

अपराधियों को यथोचित दण्ड न मिलने के कारण प्रजा में भय, क्रोध आदि का संचार हो गया । धनहीन परिवारों में लोलुपता प्रधान हो गई । राजनीति दूषित हो गई । फलतः समस्त सैन्यशक्ति राजा की जर्जर हो गई । सर्वस्व नष्ट हो गया ।

---

१. न मृगयाभिरतिर्नदुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ —रघुवंश,९.७ ।

इस प्रकार, राजा के दुर्व्यसनों में आसक्त हो जाने और अपने राज-धर्म और नीतिसम्मत पथ का परित्याग करने के फलस्वरूप प्रजा भी किस प्रकार मतिहीन हो जाती है, प्रजा के मतिहीन हो जाने पर राज्य में किस प्रकार बंधुजनों का सर्वथा अभाव हो जाता है, बंधुजनों के न होने से नीति किस प्रकार गुणवती न होकर दूषित हो जाती है और नीति के विपन्न होने पर समस्त प्रजा अवश होकर किस प्रकार नानाविध कष्टों का शिकार बनती है और अन्त में विनाश की राह लेती है किं बहुना राजलक्ष्मी किस प्रकार खिन्न होकर राजमहल के बहिर्द्वार से विना पदध्वनि किये चुपचाप सर्वदा के लिए अदृश्य हो जाती है — इन सबका महाकवि दण्डी ने यथार्थ एवं हृदयविदारी चित्र प्रस्तुतकर अपनी अतुल वैदुष्यवृत्ति का परिचय दिया है ।

चौर्य

दण्डी ने चौर्य-कर्म का भी हृदयग्राही चित्र खींचा है । अपहारवर्मा सिद्धहस्त चोर है । वह चोरों का राजा है । कर्णीसुत मूलदेव-कृत चौर्यशास्त्र के अनुसार चोरी करता है किन्तु उसके चोरी करने का उद्देश्य सामान्य चोरों की तरह केवल अपना मंतव्य गाँठना नहीं है, विना अपराध किसी के धन को लूट कर अपने आपको मालामाल करना नही है वरन् उसके चोरी करने का उद्देश्य एक ठगे हुए भले मानस की सहायता करना और नगर के कृपण सेठ एवं धनिकों को निर्धन कर देना है । अपहारवर्मा स्वभाव से ही चोर नहीं है । उसकी कुण्ठित शक्ति को जगाने और उभारने के लिए, उसे चौर्य की वास्तविक प्रेरणा देने के लिए काममंजरी द्वारा ठगे हुए महर्षि मरीचि और वसुपालित (विरूपक) की दीन दशा ही पर्याप्त है जिसका श्रवण करते ही अपहारवर्मा ने काममंजरी द्वारा भेंट में किए गये समस्त धन को वापस दिलाने और उसे अपनी चातुरी का यथेष्ट फल देने की प्रतिज्ञा की । अन्त में उसने बुद्धि-वैभव से धन की नश्वरता का उपदेश देते हुए और नानाविध अद्भुत उपायों से काममंजरी के अभिमान को चूर-चूर कर दिया, नगर के धनिकों को रंक बना करके ही विश्राम लिया ।

सर्वप्रथम द्यूतसभा जिसमें स्पष्ट रूप से चौर्यवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है उसमें सफल होकर तथा अपने द्वितीय हृदय द्यूताध्यक्ष के माध्यम से ही अपने पौरुष, कार्य-कुशलता और शील से समस्त नगरवासियों को उसने विश्वस्त कर लिया । उसके अनन्तर घोर अन्धकार होने पर नीले रंग का अर्धोरुक (लबादा) धारण किया । कमर में अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार बाँध लिया । सेंध लगाने वाली

शबरी, कैंची, संड़सी, काष्ठनिर्मित पुरुष की खोपड़ी, योगवर्तिका (जिसके प्रकाश में सर्प दिखाई पड़ते हैं:), नापने का फीता, रस्सी, दीपपात्र, भ्रमरकरण्डक (दीपक बुझाने वाले भंवरों से भी पेटी) आदि विविध प्रकार की सामग्रियों के सहित एक लोभी के घर में सेंध लगायी। सेंध से ही घर की स्थिति का भली भाँति अवलोकन करके निःसंकोच उसमें प्रविष्ट होकर एक बहुमूल्य करधनी चुराकर बाहर निकल आया। मार्ग में वह नागरिकों के एक झुण्ड द्वारा पकड़ लिया गया और अन्त में सर्प से कटे हुए का बहाना लेकर अपने को मृत-तुल्य दिखाकर अपनी रक्षा की। अपहारवर्मा की कहानी आदि से अन्त तक अद्भुत और हास से परिपूर्ण है।

वेश्यागामित्व

दण्डी ने एक ऐसे समाज के स्वरूप को चित्रित किया है जिसमें वेश्याओं का भी एक अपना स्थान था। वेश्याओं के जीवन की जैसी झाँकी हमें कामसूत्र में मिलती है उसी से मिलता जुलता वर्णन दशकुमारचरित में उपलब्ध होता है। काममंजरी और रागमंजरी जैसी वेश्याओं के क्रिया कलाप तथा उनके हावभाव का रोमांचकारी वर्णन हुआ है। रागमंजरी के नृत्य और उसके अनूप रूप पर मुग्ध होने वाले अपहारवर्मा की वास्तविक मानसिक स्थिति का स्वाभाविक वर्णन सहृदयों को आह्लादित करने में पूर्णतया सफल है। मरीचि के आश्रम में उनके सामने काममंजरी की माता वेश्याओं के लालन-पालन और जीवन का विशद वर्णन करती है। वेश्याओं के कर्तव्य तथा वेश्यामाता के अधिकारों का भी सविस्तर वर्णन (विवेचन) करते हुए अपनी पुत्री काममंजरी को उन्हीं कर्त्तव्यों की सीमा में ही अपने घर में रहकर तदनुकूल आचरण करने की प्रेरणा देती है। अन्त में उसके मनोभावों को समझकर तथा आश्रम से घर लौट कर न जाने की उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा के फलस्वरूप उसकी माता सपरिवार निराश होकर घर लौट जाती है। आश्रम में रहती हुई प्रवंचना की साक्षात् मूर्ति काममंजरी अपनी पटुता और नाना प्रकार की सेवा-विधियों से मरीचि के मन पर विजय प्राप्त कर लेती है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के स्वरूप, परिवार और फल की उन्हें विशद् व्याख्या समझाती है। चतुर्वर्गफल-प्राप्ति के उपदेश से प्रभावित होकर मरीचि जैसे ऋषि का भी वेश्या में अनुरक्त की अद्भुत लेखनी द्वारा प्रसूत इस प्रकार की ऋषि की मार्मिक दशा पाठकों के मन पर एक अमिट छाप छोड़ देती है।

प्रवञ्चना या अतिसंधान

आदि से अन्त तक 'दशकुमारचरित' प्रवञ्चनात्मक प्रसंगों से भरा हुआ है जिसका मूल है छल और कपट । कपट वेष में अभिलषित प्रियतमा अवन्तिसुन्दरी की प्राप्ति के लिए उसके अन्त:पुर में प्रवेश करने वाले दर्पसार, तथा अपने वास्तविक रूप को छिपाकर धनमित्र के नाम से गुप्तरीति से अपने प्रयोजन-सिद्धि में तत्पर अपहारवर्मा (प्रथम उच्छ्वास) मरीचि और विदूषक को ठगने वाली काममंजरी, चोर के रूप में नगर को अकिंचन कर देने वाले अपहारवर्मा (द्वि० उच्छ्वास:) आदि की रोचक कथाएँ यहाँ दृष्टिगत होती हैं। तृतीय उच्छ्वास में विकटवर्मा का उपहारवर्मा द्वारा वध छल और कपट का परिणाम है । अपनी वृद्धा माता द्वारा अपनी बाल्यावस्था की दयनीय दशा का श्रवण करने के अनन्तर पराक्रम और शौर्य से प्रयोजन सिद्धि की असफलता देखकर उपहारवर्मा छल और कपट से ही विकट वर्मा की प्रियतमा कल्पसुन्दरी की प्राप्ति और उसके वध करने का निश्चय करता है— कवि के शब्दों में — 'उपहारवर्मा ने विचार किया, विना कपट किये कार्य सिद्ध न होगा । छल और कपट का मूल स्थान स्त्रियाँ होती हैं, अतएव इस वृद्धा द्वारा अन्त:पुर का वृत्त जानकर कोई जाल रचूँगा'[१] ।

उपहारवर्मा ने आदि से अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल ही कार्य किया । विकटवर्मा और कल्पसुन्दरी में पुष्करिका द्वारा भेद उत्पन्न कर अपना चित्र उसके पास भेज कर अपनी ओर आकृष्ट कर तथा राजा (विकट वर्मा) के रूप परिवर्तन का कपटमय उपाय का विधान करके, उसके रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करके उसने उसका वध कर दिया और कल्पसुन्दरी को अपनी प्रियतमा के रूप में स्वीकार किया ।

इस प्रकार के कपटमय व्यवहारों से सम्पूर्ण दशकुमारचरित भरा पड़ा है । चतुर्थ उच्छ्वास में अर्थपाल की कथा भी अत्यन्त अद्भुत है । छल और कपटपूर्ण व्यवहारों से ही उसने अपने माता-पिता के प्राणों की रक्षा किया । सुरंग का निर्माण कर राजा सिंहघोष को बन्दी बनाया और उसकी मणिकर्णिका नाम की कन्या से विवाह भी किया ।

---

१. अचिन्तयञ्च — 'विनोपधिनायमर्थो न साध्यः। स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम् । अतो अन्त:पुरवृत्तान्तमस्या अवगम्य तद्द्वारेण किञ्चिज्जालमाचरेयम्' इति॥ —दशकुमारचरित, तृ० उ०, पृ० २६० ।

पंचम उच्छ्वास में प्रमति द्वारा कपटवेश में ही अपने मित्र की सहायता से नव मालिका की प्राप्ति भी विस्मयजनक है। यह धूर्त मित्र उसका वही है जिससे कुक्कुट युद्ध के समय प्रमति की मैत्री हुई थी। इसे संन्यासी रूप धारण कराकर अपने आपको उसकी पुत्री बताकर नारीवेश में राजकुमारी नवमालिका के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ था। उसका मित्र भी धूर्तविटों का अग्रणी था जो एकाधिक बार ऐसे प्रपंचयुक्त कार्यों को छल और कपट से सम्पन्न कर चुका था। इस प्रकार के जाल करने में अभ्यस्त पांचालशर्मा नाम के उस विट ने प्रमति से भी बढ़कर अधिक छल और कपट-पूर्ण व्यवहारों से उसके कार्य में सहयोग दिया।[१] फलतः अपने और पांचालशर्मा के कपटपूर्ण उपायों से प्रमृति ने नवमालिका तथा राज्य की प्राप्ति भी कर लिया।

छठें उच्छ्वास में अपने पति को ठगने वाली धूमिनी का वृत्तान्त कितना मार्मिक और आश्चर्यपूर्ण है कि उस संबंध में आचार्य बलदेव उपाध्याय की एक पंक्ति की ओर चित्त आकर्षित होता है—'धूमिनी' स्त्री-हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो गोमिनी पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। 'धूमिनी' जैसी क्रूर - हृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक समाज दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।'[२]

छल एवं कपट-प्रपंच के जितने स्थल अथवा जिन-जिन घटनाओं का चित्र दण्डी ने उपस्थित किया है उनमें सर्वत्र विद्यमान है यथार्थता का पुट। और इन घटनाओं की यथार्थता ही दशकुमारचरित की सजीवता और लोकप्रियता की आधारशिला है जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति में दण्डी की मौलिक प्रतिभा चरितार्थ होती है।

इसी प्रकार मन्त्रगुप्त और विश्रुत चरित में भी प्रवंचनात्मक अद्भुत प्रसंगों की झाँकी मिलती है।

राजकुमारी कनकलेखा की प्राप्ति के लिए किये गये सभी प्रयत्नों के मूल में छल और कपट की ही स्थिति है। मन्त्रगुप्त यह वृत्तान्त सुनते ही कि कलिंग

---

१. सोऽपि पटुर्विटानामग्रणीरसकृदभ्यस्तकपटप्रपञ्चः पाञ्चालशर्मा यथोक्तमभ्यधिकञ्च निपुणमुपक्रान्तवान्। आसीच्च मम समीहितानामहीनकालसिद्धिः।—दशकुमारचरित, पृ० ३८०।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास- पं० बलदेव उपाध्याय, पृ०।

अपनी पुत्री कनकलेखा के ऊपर रहने वाले यक्ष के निवारण के लिए मन्त्रों की सहायता से अनेक उपाय कर रहा है, मन्त्रगुप्त कपटवेश धारण कर कुछ आत्मीय जनों के साथ आन्ध्रेश के समीप विद्यमान एक तालाब के किनारे कुटी का निर्माण करके रहने लगा । निवासकाल में उसने अपने पाण्डित्य और सर्वज्ञता का मिथ्या प्रचार किया । अन्त में उसके गुणों की प्रशंसा सुनकर राजा जयसिंह जो कनकलेखा में आसक्त थे उसकी प्राप्ति का उपाय पूछने के लिए कपट वेशधारी मन्त्रगुप्त के समीप पहुँचे । अन्त में अपने कपटपूर्ण व्यवहारों से ही मन्त्रगुप्त ने आन्ध्रेश जयसिंह को, उसी तालाब में प्रवेश कराकर उनका प्राणान्त कर दिया और स्वत: कलिंगराज की कन्या कनकलेखा से विवाह करके कलिंग तथा आन्ध्र का राज्य भी प्राप्त कर लिया । आठवें उच्छ्वास में भी अश्मकदेशाधिपति वसन्तभानु द्वारा नियुक्त चरों द्वारा अनन्तवर्मा की सैन्यशक्ति को विनष्ट करने के मूल में भी छल और कपट का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है ।

दूत कर्म

नायिका और नायक के सहायक दूत हुआ करते थे । पूर्व संकेत के अनुकूल नायक नायिका का संगम न होने पर दूती प्रेषण अथवा स्वयं गमन करने का उल्लेख मिलता है । पूर्व संकेतित काल का अतिक्रमण होने पर दोनों ओर से दूत या दूती को भेजने की प्रथा आरम्भ से ही थी—

दूतीनां प्रेषणम्, स्वयं वा गमनम् १.४.११ ।

—वात्स्यायन, कामसूत्र ।

विलम्ब होने पर दूती को बुलाने के लिए भेजा जाय या तो स्वयं (नायक) उसे बुलाने जाय । इस प्रकार की चर्चा वात्स्यायन ने 'नागरकवृत्तप्रकरण' में की है । आई हुई नायिकाओं का समादर करने, उनके साथ मधुर वार्तालाप करने और रसमय व्यवहारों से उन्हें प्रसन्न करने का भी उल्लेख हुआ है—

'आगतानां च मनोहरैरालापैरुपचारैश्च ससहायस्योपक्रमाः' ॥ १.४.१२ ।

—वात्स्यायन, कामसूत्र ।

दूत-कर्म में निपुण एकाधिक दूतियों की कार्यकुशलता का दण्डी ने सरस वर्णन किया है। काममंजरी की, बौद्ध सन्यासिनी धर्मरक्षिता नाम की प्रधान दूती को वस्त्रखण्ड, अन्नदानादि द्वारा अपने वश में करके उसी की सहायता से काममंजरी की छोटी बहन रागमंजरी का पाणिग्रहण किया।[१] स्वभाव से ही पटु पुष्करिका नाम की दूती के माध्यम से सुरभित माला और चित्रपट आदि भेज कर तथा विकटवर्मा और कल्पसुन्दरी में फूट डालकर, उसकी अवहेलना कराकर अपनी ओर आकर्षित करके उपहारवर्मा ने कल्पसुन्दरी के रूप में विकटवर्मा का वध किया था और उसके पश्चात् कल्पसुन्दरी को प्राप्त किया था। छठें उच्छ्वास में बलभद्र और रत्नवती के प्रणय की सफलता में बौद्धसन्यासिनी का दूतकर्म सर्वथा स्तुत्य है। इससे भी बढ़कर कलहकण्टक और नितम्बवती की सहायभूता बौद्ध-सन्यासिनी का दूत कर्म और भी सराहनीय है जिसने अपनी अनिर्वचनीय कार्य-कुशलता का परिचय देते हुए अपने कर्तव्य को पूरा किया। कलहकण्टक द्वारा पुनः नितम्बवती के समीप प्रेषित किये जाने पर उसके ये वचन कितने धार्मिक चतुरतापूर्ण और उसकी निपुणता के द्योतक हैं—सांसारिक असारता के कारण मुक्ति की इच्छा से निरन्तर समाधि लगाने वाली सन्यासिनियाँ कुलांगनाओं के सच्चरित्र को कभी नहीं नष्ट कर सकतीं। ऐसा करने से हमें लाभ ही क्या होगा। मैंने तो तुम्हारे कल्याण की भावना से तुम्हारी परीक्षा की थी। तुम्हारी युवावस्था है, तुम्हारा ऐश्वर्य अलौकिक है, अंगनाजन-सुलभ सफलता भी तुम में नहीं है। अतएव मैं अब तुम्हें सन्तानवती देखना चाहती हूँ। तुम्हारे पति किसी रोग से ग्रस्त हैं, उसे दूर करने के लिए किसी मन्त्रज्ञ से तुम्हें मिलाकर उपाय करने की इच्छा थी।[२]

इस प्रकार की पटुता से उस सन्यासिनी ने नितम्बवती को अपनी ओर आकृष्ट कर और उसे अपने साथ लेकर एकान्त वृक्षवाटिका में मन्त्रज्ञ-वेशधारी

---

१. ततश्च कांचित् काममञ्जर्याः प्रधानदूतीं धर्मरक्षितां नाम शाक्यभिक्षुकीं चीवरपिण्डदानादिनोपसंगृह्य तन्मुखेन तया बन्धक्या पणबन्धमकरवम्... मद्गुणोन्मादिताया रागमञ्जर्याः करकिसलयमग्रहीषम्। —दशकुमारचरित, द्वि० उ०, पृ० २०९-१०।

२. संसारदोषदर्शनात्समाधिमास्थाय मुमुक्षमाणो मादृशो जनः कुलवधूनां, शीलपातने घटते इति क्व घटते।...इत्यादि। —वही, षष्ठ उच्छ्वास, पृ० ४४४।

कलहकण्टक से उसका साक्षात्कार कराया। अन्त में कलहकण्ठक ने उसे अपनी प्रज्ञा से अपने वश में कर लिया।

'वस्त्राभूषण'

महाकवि दण्डी ने दशकुमारचरित में यत्रतत्र तत्कालीन वेश-भूषा और प्रसाधन का भी उल्लेख किया है। चीनांशुक को धारण करने की प्रवृत्ति थी। कोरे कपड़े भी पहने जाते थे। राजा परिवर्हा नामक बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। कौपीन के लिए मलमल्लक शब्द का प्रयोग हुआ है। स्त्रियाँ नीली, मलमल की बनी हुई चोली पहनती थीं। आभूषणों में कटक, ताटंक, हार, मणिनूपुर, कुण्डल, रत्नकर्णिका और कर्णावतंस आदि के उल्लेख हुए हैं। कर्पूर आदि से सुवासित ताम्बूल का उपयोग किया जाता था।

लोकगार्हस्थ्यजीवन

दशकुमारचरित में लोकगार्हस्थ्यजीवन के अनेक पहलुओं का चित्रण हुआ है। अतिथि और देवपूजा, पाकक्रिया, भोजन एवं भोजनोत्तर मनोविनोद आदि के वर्णन से सामान्य जनजीवन के आदर्श का ज्ञान प्राप्त होता है। सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति पतिप्राणा गोमिनी की परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी उसका पूर्ण संयम और निष्ठा के साथ दाम्पत्यव्रत का निर्वाह और अतिथि-सेवा गुणवती नारी के चरित्र के आदर्श का प्रतीक है। शक्तिकुमार के मुट्ठी भर धान से उस निर्धन बालिका (गोमिनी) के पाकक्रिया-कौशल में, और अंगनाजनोचित सदाचार के नियमों के अनुकूल उसे सर्वात्मना सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य में गृहस्थनारीगत परोपकारादि गुणों का बीज निहित है ऐसी गुणवती नारियों का ही उदात्त चरित अनुकरणीय होता है।

अपने घर में आए हुए अतिथि शक्तिकुमार को गोमिनी की धात्री ने देहली के समीप जल छिड़क कर उसे बैठने का स्थान दिया उसके मुट्ठी भर धान्य को लेकर गोमिनी ने ओखली में कूट डाला। कूट कर उसे धूप में सुखाया। पुन: चावल के दानों और भूसी को अलग-अलग करके भूसी को हेमकार के हाथ बेचकर प्राप्त हुए द्रव्य से ईंधन और मिट्टी के पात्र मँगाया। इस प्रकार धान से चावल अलग कर लेने तथा उसे तैयार करने के लिए पात्र एवं ईंधन आदि की व्यवस्था कर लेने

के अनन्तर गोमिनी की पाकक्रिया का जो अद्‌भुत और सूक्ष्म विवेचन कवि ने प्रस्तुत किया है वह उसकी तीव्र निरीक्षण शक्ति का पूर्ण परिचायक है।

सर्वप्रथम गोमिनी ने चावल को जल से धोया और चावल के पँचगुने तप्त जल में चूल्हे की पूजा करके चावल छोड़ दिया। जब चावल पकने में थोड़ा समय शेष रह गया तभी उसने चावल के पात्र को ढक्कन से ढँककर उसका माड़ निकाल दिया। करछुल द्वारा उन चावलों को नीचे ऊपर करके उस हंडिया को अधोमुखी करके रख दिया। जलती हुई लकड़ियों को बुझाने से निकले हुये कोयले को बुझाकर ग्राहकों के हाथ बेंच दिया और उससे प्राप्त हुए द्रव्य को धात्री को देकर उससे शाक, धृत, दही, तेल, आंवला, इमली आदि वस्तुएँ मँगाया। इसके पश्चात् शाक भी तैयार कर लेने पर चावल के माड़ को पंखे की मन्द वायु से शीतल किया। उसमें नमक आदि मिलाकर हींग, जीरा आदि से बघार दिया। आँवले आदि को पीस कर कमल के सौरभ से उसे सुरभित किया। सारी सामग्री विधिवत ठीक कर लेने के पश्चात् आए हुए अतिथि को कन्या ने धात्री द्वारा तेल आदि स्नान के लिए भेजा। स्नान करने के पश्चात् भीतर प्रवेश करते ही उसे बैठने के लिए काष्ठासन दिया। आँगन में से केले के पत्ते लाकर उन्हें जल से शुद्ध करके गोमिनी सर्वप्रथम हाथ से स्पर्श करते हुए चावल का मांड़ ही अतिथि को पीने के लिये दिया जिससे उसका मार्ग-श्रम दूर हो गया। शरीर के सभी अवयव रोमाञ्चक हो गए, चित्त प्रसन्न हो गया। इसके पश्चात् उस अतिथि को दो करछुल चावल, घी, दाल, शाकादि भी खाने के लिए दिया। त्रिकटु अथवा त्रिजात की सुगन्ध से सुरभित पदार्थ, दही, सुरभित और शीतल मट्ठा इत्यादि भी अतिथि को भोजन करने के लिए दिया। पूर्ण रूप से तृप्त हो जाने पर शक्तिकुमार ने जल पीने के लिए माँगा। अगुरु और पाटल कुसुमों से सुवासित शीतल जल नये घड़े से निकाल कर उसे पीने के लिऐ दिया। जल के शीतल स्पर्श सुख के अनुभव से रोमांचित होकर उसके कपोल प्रदेश कर्कश हो गए। नासिका के छेद भी सुवासित पदार्थ से प्रमुदित हो उठे। शीतल जल के माधुर्य से जिह्वा तृप्त हो गई। इस प्रकार उस शीतल जल का अतिथि ने आकण्ठ पान किया। जल पीने के पश्चात् उस कन्या ने दूसरे जल पात्र से उसे हाथ धोने के लिए जल दिया। उसकी धात्री ने उसके जूठन को हटाकर अपने उत्तरीय को बिछा कर विश्राम किया। कन्या की अतिथि सेवा तथा उसके गुणों से मुग्ध हो शक्तिकुमार ने उसके साथ यथाशास्त्र विवाह करके उसे अपने घर ले आया। घर ले आने के पश्चात् शक्ति कुमार उसकी उपेक्षा करके एक वेश्या में

अनुरक्त हो गया और उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने पर गोमिनी अपनी प्रिय सखी की तरह उसके साथ सद्व्यहार करती रही। पति को इतना बड़ा अपराधी होने पर भी गोमिनी पूर्ण सद्भाव से पति की सेवा में तत्पर रहा करती थी। घर का समस्त कार्य-भार यावच्छक्य स्वयं संभालती थी।

अन्त में उसके गुणों से मुग्ध होकर उसके पति ने घर का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर छोड़ दिया और सभी परिजन वशीभूत हो गए। स्वयं शक्तिकुमार भी उसी के अधीन होकर, धर्म, अर्थ और काम सुखों का अनुभव करने लगा।

पतिपरायणा, सुस्निग्धहृदया गोमिनी के उपर्युक्त लक्षणों —अतिथि सत्कार और परोपकार की उदात्त भावनाएँ, पाकक्रिया-कौशल, सदाचार तथा अन्य सभी पारिवारिक उत्तरदायित्व से ओत-प्रोत उसका व्यक्तित्व किसी सद्गृहस्थ की गृहलक्ष्मी का समुज्ज्वल प्रतीक है, पथभ्रष्ट एवं अधर्मरत पति को सत्पथ का अनुगामी बनाने वाला अभूत पूर्व अंकुश है, जीवन की हर गति को शक्ति-प्रदान करने वाली प्रेरणा है, किं बहुना, करुणा, कोमलता, सुकुमारता और दान, सेवा और त्याग के सामर्थ्य से परिपूर्ण उसका व्यक्तित्व त्रिवर्ग-प्राप्ति का उत्तम साधन है।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त दशकुमारचरित में देवपूजा, व्यापार, नृत्य एवं संगीत, असत्य भाषण, पिशुनता, निर्धनता और स्मरकेलियों आदि का भी चित्रण हुआ है।

एकादश अध्याय

दण्डी का महाकवित्व—व्युत्पत्ति और प्रतिभा

'प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्चकवि : कविरित्युच्यते'[१]

दण्डी संस्कृत साहित्याकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। उनकी धवल कान्ति से संस्कृत-गद्य-काव्यगगन चमत्कृत हुआ है। अनन्त के वक्षस्थल पर विहार करने वाले कलाधर की ज्योत्स्ना के सदृश कवि संकीर्णता से विमुक्त हुआ करते हैं। उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर विश्वभाव को ही प्रधान रूप से व्यक्त करती है। कवि अपनी व्युत्पत्ति एवं प्रतिभा के उत्कर्ष से नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा तथा नवरसों से अनुप्राणित कर जिस रुचिरा काव्य-सृष्टि का निर्माण करता है उसके मूल में हम वेदना और अनुताप अथवा शोकभाव का ही प्राधान्य पाते हैं। आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में जिस स्वर्गीय भाव का उद्रेक हुआ वह 'शोक' भाव ही था। कवि तत्त्वदर्शी होता है उसका दर्शन नित्य, स्वच्छ तथा मौलिक होता है। कोई भी व्यक्ति लोक में कवि की उपाधि से तभी भूषित होता है जब वह अपने दर्शन को वर्णन का रूप प्रदान करता है। 'यही वर्णन काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित होता है। क्रौंच-द्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न आदि कवि का हृदयगत शोकभाव श्लोक रूप में परिणत हो गया[२]' कवि का हृदय क्रौञ्च का वध देख कर क्रौंची के करुण क्रन्दन से शोकान्वित हो गया और अनायास स्वच्छन्दभाव से वह भाव सद्य: श्लोक (वर्णन) के रूप में अभिव्यक्त हो गया। कवि के हृदयगत भावों की मौलिकता ही कविता का स्रोत है। तत्त्वदर्शन और उसके निर्णय का उत्तरदायित्व वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं कवियों पर होता है।

---

१. राजशेखर - काव्य मीमांसा, ५ वाँ अध्याय।

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा। क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक। १.५।

वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का ही अवलम्ब लेकर तत्त्वनिर्णय में प्रयत्नशील होते हैं। किन्तु कवि को इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती। उसका तत्त्वदर्शन प्रतिभाजन्य होता है। अपनी अपरोक्षानुभूति से जो कुछ भी वह देखता है उसी को प्रकट करता है, वाक्यों के द्वारा उसी का वर्णन करता है, वह तत्त्वदर्शी महान् ऋषि होता.है। इस सन्दर्भ में भट्टतौत की पंक्तियाँ भी विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं[1] विश्व की वेदना से द्रवीभूत चित्त वाले महाकवि ने उसके साथ सहानुभूति रखकर चरम सौन्दर्य की सृष्टि की जिसमें न केवल धर्म की विजय और पाप के पराजय की ही रोचक कथा है, दुःख की विजय और त्याग का उत्कर्ष भी वर्णित है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला दृष्टिगोचर हो रही है, हास्य में भी करुण क्रन्दन की जो ध्वनि गूँज रही है, क्षणिक संयोग के अनन्तर अनन्त वियोग की जो दारुण निशा की सनसनाहट है उसी से द्रवीभूत कवि के उदात्त सुकोमल हृदय से विश्ववेदना का उद्गार प्रस्फुटित होता है जिसके स्वर से व्यथित भी हृदय परम शान्ति का अनुभव करता है।

'कवि' इसी लोक का प्राणी होता है किन्तु उसकी शक्ति अलौकिक होती है जो इस लोक में सुदुर्लभ है। 'परमेश्वर की स्तुति में श्रुति उन्हें दर्शनिक कहती है और न ही तार्किक। वह उन्हें 'कवि' ही कहती है।[2] इसी रूप में कवि ईश्वर का प्रतिरूप माना जाता है। 'कवि' शब्द बहुत व्यापक है। वेदों में कवि शब्द का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने 'कवि और काव्य' नामक एक निबन्ध में इन दोनों शब्दों (कवि और काव्य) का अर्थ प्रशस्त रीति से समझाने का सफल प्रयास किया है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद संहिता प्रथम मण्डल में ३१ वें सूक्त में 'अग्नि' को तथा उसी मण्डल के १४९ वें सूक्त के तीसरे मन्त्र में 'मन्यु' देवता को, चतुर्थ मण्डल

---

१. स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितो कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चैव रूढ़ा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्ये ऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥ भट्टतौत कृत 'काव्यकौतुक'

२. स्तोतुं कविरीश्वरं हि, न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा। ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा परा सा कविता ततो नः। श्री नीलकण्ठ दीक्षित, पं० बलदेव उपाध्याय कृत भा० सा० शा० प्रथम भाग, पृ० ४८९ पर उद्धृत।

के २४ वें सूक्त के दूसरे मन्त्र में 'आदित्य' को कवि की संज्ञा प्रदान की गयी है। माधवाचार्य प्रभृति भाष्यकारों ने उपर्युक्त मन्त्रगत 'कवि' शब्द का अर्थ 'क्रान्तदर्शी' या 'मेधावी किया है। वेद के भाष्यकार उव्वट ने क्रान्तदर्शन का अर्थ बताते हुए लिखा है कि जिसे अतीत और अनागत का एक साथ एक ही समय में ज्ञान होता है वह 'क्रान्तदर्शी' कहा जाता है।

यो अध्वराय परिणीयते कविः। ऋ० सं० ३.२१७।

अग्निर्होता कविक्रतुः - ऋ० १.१.५।

इन मन्त्रों में आये हुये 'कवि' शब्द का अर्थ भाष्यकारों ने 'क्रान्तः' व्याप्तः और (क्रान्तकर्मा) किया है।[१]

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में कवि शब्द का प्रयोग उन देवताओं के लिये भी हुआ है जो यज्ञादि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मनुष्य योनि से देव-योनि को प्राप्त हुए हैं तथा 'ऋभु' नाम से देवजगत् में प्रसिद्ध हैं। यहाँ भी 'कवि' शब्द का अर्थ भाष्यकारों द्वारा 'क्रान्तदर्शी' तथा मेधावी ही किया गया है। साक्षात् ईश्वर के लिये भी 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२]

ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में[३] 'कवि' शब्द का प्रयोग मनुष्यों के लिए ही किया गया है। इसी प्रकार—

ब्रह्मादेवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणं महिषोमृगाणाम्।

—ऋ० ९.९६.६

प्रस्तुत मंत्र में भी 'पदवीः कवीनां' का अर्थ माधवाचार्य द्वारा किया गया है। 'बिखरे हुये पद ज़ोड़ने में जो प्रवीण हों वे ही कवियों में मान्य होते हैं।'[४]

---

१. द्रष्टव्य—साहित्यिक निबन्ध - म० म० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी का 'कवि और काव्य' नामक लेख – पृ० ३२।

२. यजुर्वेदसंहिता - ४० वां अध्याय :- 'कविर्मनीषीपरिभूः'

३. तत्त इन्द्रिय परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्। —ऋ० १.१०३.१
धीरासः पदं कवयो नयन्ति नानाहृदा रक्षमाणा अजुर्यम्। —ऋ० १.१४६.४
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानुपश्चात् कवयो यन्ति रेभाः। —ऋ० १.१६३.१२।
वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून वितलिने कवय ओतवा उ। —ऋ० १.१६४.५।

४. 'साहित्यिक निबन्ध'— पृ० ३४।

इस तरह निष्कर्ष निकलता है कि प्रायः 'कवि' शब्द का प्रयोग पदयोजना में निपुण विद्वानों के लिए किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों में भी 'कवि' शब्द का प्रयोग, आदित्य, पितर, मेधावी, विद्वानों, ब्रह्मा आदि के लिये किया गया है।[१]

पुराणों तथा श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा तथा मेधावी विद्वान् के लिये कवि शब्द का प्रयोग हुआ है।[२]

व्याकरण तथा कोष की दृष्टि में भी 'कवि' शब्द मेधावी के लिये ही प्रयुक्त होता है। निरुक्त (वेद व्याकरण) में 'कवते इति कविः' 'कवि क्रान्तदर्शनो भवति' भी 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति इसी तरह बताई गई है। प्रथमरीति में 'कवते' में गत्यर्थक धातु माना गया है और दूसरी रीति में 'क्रान्त' व्यापक ज्ञान है जिसका इस अर्थ में 'क्रम वि' शब्द से 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति मानी गयी है। 'निघण्टु कोष' में कथित मेधावी वाचक 'कवि' शब्द से कोई विरोध नहीं है।'[३]

अमरकोशकार ने भी 'कवि' शब्द को विद्वान् का पर्याय माना है।[४]

अन्त में निष्कर्ष के रूप में चतुर्वेदी जी ने बताया है कि कालान्तर में 'कवि' शब्द विशिष्ट विद्वानों का वाचक रह गया। धीरे-धीरे और संकुचित होकर पदयोजना-निपुण विद्वानों के ही लिये सीमित हो गया। नैपुण्यातिशय के कारण मानवों के लिये कवि शब्द का व्यवहार हुआ।

---

१. 'असांवा आदित्यः कविः—शतपथ ब्राह्मण, ६.७.२.४।'
ये वे तेन ऋणयः पूर्वे प्रेतास्ते वै कवयः—ऐतरेय ब्रा० ६.२०
ये वै विद्वांसस्ते कवयः, 'एतेवे कवयो यदृषयः' ७.१.४.४, १.४.४ तैत्ति० ३.२.२३,
'सुश्रुवांसो वै कवयः' - क्रमशः शतपथ ब्रा०

२. तेने ब्रह्महदा य आदि कवये— क्रमाद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।
भागवत तथा गीता किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः॥

३. साहित्यिक निबन्ध - म० म० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, पृ० ३७।

४. विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः॥ – अमरकोश

एक अभिनव लेखक के० के० शर्मा ने 'कवि' शब्द की परिभाषा देते हुये लिखा है कि 'कवि उस मनुष्य को कहते हैं जिसका मानव-प्रकृति या स्वभाव विषयक ज्ञान सामान्य जनों की अपेक्षा उच्चतम होता है।[१]

भट्टतौत ने अपने ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' में प्रतिभा की परिभाषा करते समय प्रसंगतः कवि की परिभाषा दी हैं — 'प्रज्ञा से अनुप्राणित लोकोत्तरवर्णनानिपुण जीती जगती कविता करने वाला 'कवि' होता है। उसके कर्म को 'काव्य' रूप में स्मरण किया जाता है।'[२]

समस्त वाग्वैदग्ध्य सत्कवित्व के विना निःसार अथवा निरर्थक होता है। जिस तरह से विनय के बिना श्री शशि के बिना निशा व्यर्थ होती है उसी तरह सत्कवित्व वाग्वैदग्ध्य के अभाव में निष्फल ही होता है। ऐसा भामह का मत है। इतना ही नहीं इस प्रकार का सत्कवित्व किसी प्रतिभासम्पन्न ही मानव में हुआ करता है।[३]

यदि कवित्वशक्ति नहीं है तो कोई अधर्म या दण्ड का पात्र नहीं हो सकता। किन्तु कुकवित्व पुनः मनीषियों द्वारा साक्षात् मृत्यु ही बताया गया है। यदि कवि हुआ, अथवा सामान्य भी मानव क्यों न हो किन्तु एक भी सदोष शब्द का उच्चारण सर्वथा त्याज्य है। सदोष अथवा कुकाव्य के द्वारा मनुष्य कुपुत्र के सदृश निन्दित होता है।[४]

काल की महिमा बड़ी विचित्र है। जिस देश में यह 'कवि' शब्द सर्वथा सर्वनियन्ता जगदीश्वर का बोधक हुआ और देवताओं तथा महर्षियों के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, वह आगे उदरपूर्ति की प्रक्रिया में पड़कर धनिकों के समीप रहने

---

१. गाइड टू वड्र्सवर्थ - के० के० शर्मा - पृ०

२. तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्। भट्टतौत-काव्यकौतुक

३. विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥—भामह - काव्यालंकार,१.४
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥ — भामह - काव्यालंकार,१.५।

४. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ — भामह - काव्यालंकार,१.१२
सर्वथापदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥ — भामह - काव्यालंकार,१.११।

वाले चारण, भाटों के लिए व्यवहृत होने लगा। ईश्वर तथा देवताओं के सामर्थ्य का बोधक 'काव्य' शब्द भी चूरन-चटनी की तुकबन्दियों में आने लगा। यही कारण है कि इस देश के गंभीर विद्वान् मध्यकाल में उच्चस्वर से चिल्ला पड़े कि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' अर्थात् काव्यों में परस्पर आलाप आदि निषिद्ध है क्योंकि चापलूसों की चाटूक्तियों से देश-हित का स्वप्न देखना असंभव था, अत: उनका निषेघ अभीष्ट था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य' और 'कवि' दोनों शब्दों की क्रमश: व्यवहारसंकीर्णता होती रही है। काल - क्रम से आज पुन: 'कवि' शब्द को अपना प्राचीन गौरव कुछ-कुछ प्राप्त होने लगा है।

एक सामान्य मनुष्य और कवि में वही भेद होता है जो कि एक सामान्य मक्षिका और मधुमक्षिका में होता है। सामान्य मक्षिका प्राय: कलुषित एवं मलिन वस्तुओं से ही अनुराग रखती है और उन्हीं में तल्लीन रहती है किन्तु एक मधुमक्षिका जो निरंतर प्रकृति के प्रशस्त प्रांगण में विचरण करती हुई वायु मण्डल एवं सुविकसित सौरभसम्पन्न सुमनोहर सुमनसमूहों के मकरन्द कणों को अपने पाचनयन्त्र द्वारा पचा करके जिस अभिनव तत्त्व को लोक में प्रस्तुत करती है वही 'मधु' नाम से अभिहित होकर सर्वजनश्लाघ्य होता हुआ अन्त में परम औषधि के रूप में लोक-कल्याण के लिए सिद्ध होता है।

अस्तु, स्पष्ट है कि कवि सामान्य जनों की तरह निरन्तर विषय वासनाओं में ही लिप्त न रह कर तथा एक अत्यन्त संकुचित एवं निम्नकोटि के अलौकिक विचारों की दुनियाँ में ही रमण न करता हुआ, नीच आशयों एवं कुत्सित विचारों से कलुषित हृदय न धारण करता हुआ उस अलौकिक विचारों की दुनिया में रमण किया करता है जहाँ प्रकृति का अनुपम सौंदर्य और लोकोत्तर विषयों के गूढ़ चिन्तन के फलस्वरूप आध्यात्मिक तथा सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्य उसकी कृति के विषय बनते हैं जो कि न केवल उस मननशील तथा प्रज्ञावान मानव (कवि) की कीर्ति की वृद्धि करते हैं अपितु उनमें लोक-कल्याण एवं व्यावहारिक जीवन के लिए अत्यन्त उपादेय तत्त्वरत्न भी निहित होते हैं, वहीं अच्छी बातों के सच्चे आनन्द का उद्गम होता है, वहीं मनोहर एवं सुन्दर उक्ति वाले सदाचार-सुसम्पन्न महात्माओं तथा बड़े-बड़े वीरों की कर्मठता की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है जिनसे मानवजाति के हृदय में सात्विकता की उमंगे उठती हैं, वहीं फूल-पत्तियों एवं झरनों के कलकल निनाद में सुमधुर संगीत श्रोत्र-वृत्ति को

सफल करते हैं । इतना ही नहीं वहीं अनन्त सागर तरंगों में गम्भीर रहस्य का आभास होता है, सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द, सच्ची प्रीती का सुख और कोमल हृदय की शान्ति एवं भावात्मक तथा रागात्मक वृत्ति के नद में तैरने वाले अमरता के पुतले अनुरणनात्मक प्रवाह की शीतलता से कृतकृत्य होकर कवि-कर्म को सफलता की वेदी पर समासीन करने में समर्थ होते हैं, किं बहुना—सहृदय मनःप्रीति का अक्षुण्ण भण्डार उसी से सम्पन्न होता है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऐसे प्रतिभासम्पन्न महामानव (कवि) की कृति न केवल नीति एवं सद्वृत्ति की ही जड़ को सुदृढ़ बनाती है अपितु बुद्धि को भी अमरता की ओर उन्मुख करती है, ऐसी कृति धी-सम्पन्न मानवसामान्य के लिये सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायेगी, चतुर्वर्ग फलप्राप्ति में उपादेय सिद्ध होगी, इसके विपरीत यदि कवि की कृत्ति लोकप्रिय न हो सकी तो वह पैर में बँधी हुई उस चक्की के समान होगी जो उसे तथा समाज की चेतना को अवनति के गड्ढे में गिराती जायेगी[१] ।

अब देखना यह है कि मूलत: वे कौन-कौन से गुण या विशेषताएँ हैं जिनसे युक्त होकर 'कवि' महाकवि कहलाने का अधिकारी बन सकता है ।

साहित्य-दर्पण में उद्धृत एक अत्यन्त प्राचीन कवि की उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार में सर्वप्रथम नरत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है तो विद्या की प्राप्ति तो सुदुर्लभ है तथा कवित्व के साथ ही शक्ति (प्रतिभा) की प्राप्ति तो और भी सुदुर्लभ है ।[२] यह पहले कहा जा चुका है कि कवि की महत्ता उसकी कृतियों की परीक्षा का प्रतिफल होती है । अर्थात् कवि के ग्रन्थों की परीक्षा के पश्चात् ही यह निर्णय किया जा सकता है कि कवि सच्चे अर्थों में महाकवि कहलाने का अधिकारी है अथवा नहीं ?

भगवती सरस्वती देवी के महाप्रसाद के फलस्वरूप ही प्राणी में उस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसके कारण सूक्ष्म मति वाले कवि करवदरसदृश अखिल भुवनतल को देखने में समर्थ होते हैं । कवि अपार काव्य संसार का प्रजापति कहा गया है । इसके निर्माण में वह बिलकुल स्वतंत्र होता है । उसकी सहृदयता एवं

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिःसुखादल्पधियामपि । काव्यादेव...।—साहित्यदर्पण,प्रथमपरिच्छेद ।

२. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥—अग्निपुराण

सरसता समस्त विश्व की रसमयता का आधार है। उसी के वीतराग हो जाने पर सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि में नीरसता की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं।[१] कवि को शृंगारी[२] होना अर्थात शृंगारप्रिय होना भी उसकी उत्कृष्टता का लक्षण कहा गया है। शृंगारी होना उसे यथोचितपरिवर्तन के अर्थ में कहा गया है न कि स्त्रीव्यसन के अर्थ में।

कवित्व शक्ति जिसे प्रतिभा की संज्ञा दी जाती है उससे सुसम्पन्न व्यक्ति को ही आचार्यों ने महाकवि की उपाधि प्रदान किया है।

कविराज राजशेखर ने कवि के आधारभूत तत्त्वों का उसकी मौलिक मान्यताओं का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप में किया है—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासोभक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिर्दार्ढ्यमानिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

इससे सुस्पष्ट है कि उपर्युक्त आठ तत्वों को कवि ने कवित्वशक्ति की जननी स्वीकार किया। इस प्रकार के 'कवित्व' के हेतुभूत मौलिक तत्त्वों का विवेचन संस्कृत साहित्य में प्राय: सभी आचार्यों ने किया है।

आचार्य मम्मट-कृत काव्यप्रकाश में काव्यहेतु का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार शक्ति (प्रतिभा) लोकशास्त्र एवं काव्यादिकों के निरन्तर अनुशीलन व पर्यवेक्षण से प्राप्त निपुणता तथा अभ्यास—ये तीन काव्य-हेतु हैं। यहाँ 'शक्ति' को कवित्व का बीज रूप संस्कार विशेष कहा गया है जिसके बिना काव्योत्पत्ति हो ही नहीं सकती। होगी तो उपहसनीय होगी अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि जिसके बिना कवि की कृति नि:सार होकर उपहास का विषय बन सकती है।[३]

---

१. अपारेकाव्य संसारे कविरेवप्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥
शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् सर्वं नीरसमेवतत्॥—काव्यप्रकाश, वामन की टीका, पृ० २।

२. यथारुचिपरिवर्तनमाह शृङ्गारीति। शृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूप प्रतीतिमयः शृङ्गाररसानुगुणकाव्यनिर्माणकुशलो न तु स्त्रीव्यसनीतिमन्तव्यम्। काव्यप्रकाश। फुटनोट में, पृ० २।

३. शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यशिक्षयाभ्यासइतिहेतुस्तदुद्भवे॥—काव्यप्रकाश, पृ० ११।

ध्वन्यालोककार के मत में प्रतिभा के कारण ही कवि को महाकवि की उपाधि प्राप्त होती है। रसादिरूप अर्थ का निष्यन्दन कराने वाली वाग्देवी सरस्वती 'महाकवियों' में परिस्फुरित होने वाली अलोकसामान्य प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है। प्रतिभा का अर्थ है अपूर्व या अभिनव वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा। उस प्रतिभा का 'विशेष' अर्थात् रसावेश के कारण विशद और सुन्दर अथवा वैशद्य एवं सौन्दर्य सम्पन्न काव्य प्रणयन की क्षमता।[१] काव्य में उल्लसित अपनी इसी प्रतिभा विशेष के अभिव्यक्त होने के कारण ही वह 'कवि' 'महाकवि' रूप में गिना जाता है[२] इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत की चौथी कारिका तथा उसकी टीका में अभिनव द्वारा 'महाकवि' का व्यपदेश किया गया है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

ध्वन्यालोक। एतदमिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीतिभावः— अभिनवलोचन।

अर्थात् इस ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य विषय है इस प्रतीयमान से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा से युक्त होने पर ही महाकवि पद मिलता है। पूर्वोक्त छठीं कारिका की वृत्ति में — 'तत् वस्तुतत्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तम् अभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पंचषा वा महाकवय इति गण्यन्ते। यहाँ वृत्ति में निर्दिष्ट 'कालिदास प्रभृतयो' आदि पदों में प्रभृतयः शब्द से जिन कवियों का ग्रहण हो सकता है उनमें गद्य-काव्य के गौरव से सम्पन्न 'दण्डी' का भी ग्रहण असमीचीन नहीं होगा और यदि हम उन्हें उपर्युक्त गुणों के आधार पर 'महाकवि' की संज्ञा प्रदान करें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

शक्तिः कवित्वबीजरुपः संस्कारविशेषः। यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।

१. सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तुनिः ष्यन्दमाना महतां कवीनाम्। अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥६॥ ध्वन्यालोकः प्रथमोद्योतः। 'प्रतिभा'- अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या' विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य- काव्यनिर्माणक्षमत्वम्।

२. अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्।—लोचनटीका प्र० उ०, श्लोक ६ की टीका में।

राजशेखर[१] शक्ति को व पंडितराज जगन्नाथ[२] कविगत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं । राजशेखर निपुणता और अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक मानते हैं । अभिनव के अनुसार 'शक्ति' का अर्थ है प्रतिभान और यह उपचार से उसमें विद्यमान रहती है ।[३]

महिमभट्ट का मत है कि रस, गुण एवं शब्दार्थ चिन्तनादि के द्वारा विशदीभूत चेतना से सम्पन्न कवि की प्रज्ञा ही प्रतिभा है, वही भगवान् शिव का तृतीय नेत्र कही जाती है जिसके द्वारा कवि लोकत्रितय के भावों का साक्षात्कार करता है ।[४]

भट्टतौत ने प्रतिभा का अन्य बौद्धिक शक्तियों से भेद भी स्पष्ट किया है । व्यतीत विषयों का ज्ञान कराने वाली शक्ति को स्मृति के नाम से कहा जाता है । भविष्यद्वस्तु को उद्‌भासित करने वाली शक्ति को मति कहा जाता है । तात्कालिक (वर्तमान) विषय का ज्ञान कराने वाली शक्ति बुद्धि तथा त्रैकालिक विषयों का पूर्ण ज्ञान कराने वाली शक्ति प्रज्ञा है जिससे अनुप्राणित होकर कवि अपनी कविताकामिनी के अपूर्व एवं पूर्ण विकसित रूप को प्रदान करने में सक्षम होता है और उसके कर्म को काव्य के रूप में स्मरण किया जाता है[५] ।

---

१. सा केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः। प्रतिभेव च कवीनां काव्यकरणकारणम् व्युत्पत्यभ्यासो तस्याएव संस्कारको न तु काव्यहेतुः। या शब्द ग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयंप्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिमस्यपदार्थसार्थःपरोक्षःइव प्रतिभावतःपुनरपश्यतोऽपिप्रत्यक्ष इव । यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते ॥—राजशेखर - काव्यमीमांसा, अध्याय ४ ।

२. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा । —रसगङ्गाधर, पृ० ८ ।

३. 'शक्तिः' प्रतिभानम्, वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालीत्वम्, शक्तिशब्दश्चायम्-उपचरितप्रतिमाने वर्तते—अभिनव ।

४. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः । क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥ सा हि चक्षुर्भगवतः तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥ —महिमभट्टकृत - 'व्यक्तिविवेक'

५. 'स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा ।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ॥
प्रज्ञ्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता ।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः ।तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ॥'

हेमचन्द्र के अनुसार, 'अभ्यास से परिष्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत की कामधेनु है।'[१] यह प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा संस्कृत होनी चाहिये। लोक, शास्त्र और काव्यों में निपुणता ही व्युत्पत्ति है।[२]

रुद्रट के अनुसार शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों काव्य के निर्माण में अनिवार्य हैं।[३]

आचार्य दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमन्द या शाश्वत अभियोग को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है।[४] यहाँ रुद्रट और दण्डी दोनों ही आचार्यों के मत में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। रुद्रट के 'प्रतिभेत्यपरैरुदिता' कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी शक्ति व प्रतिभा दोनों समानार्थक ही है।[५] इसी प्रकार दण्डी के 'शास्त्र ज्ञान' और 'शाश्वत अभियोग' एवं 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' में कोई मूल भेद नहीं है। आचार्य दण्डी ने प्रतिभा की अपेक्षा 'शास्त्रज्ञान' एवं अमन्द अभियोग 'को विशेष महत्त्व प्रदान किया है—' पूर्व संस्कार से युक्त प्रतिभा के न होने पर भी शास्त्रों के अनुशीलन एवं सतत प्रयत्न से सरस्वती कोई महान् अनुग्रह करती ही है।[६]

---

१. अभ्याससंस्कृता ही प्रतिभा काव्यामृतकामधेनुर्भवति —हेमचन्द्रः काव्यानुशासन, पृ० ८।

२. सा च द्वयम् द्विधापि प्रतिभाव्युत्पत्तिअभ्यासाभ्यां संस्कार्या। लोकशास्त्रकाव्येषुनिपुणता व्युत्पत्तिः। लोके - स्थावरजंगमात्मके लोकवृत्तेच शास्त्रेषु शब्द-छन्दोनुशासनाभिधानकोशश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमतर्कनाट्यार्थकामयोगादिग्रन्थेषु काव्येषु महाकविप्रणीतेषु निपुणत्वं तत्ववेदित्वं व्युत्पत्तिः लोकादिनिपुणता। संस्कृता प्रतिभा हि तदनतिक्रमेण काव्यमुपनिबध्नाति। — हेमचन्द्रः काव्यानुशासन - पृ० ५।

३. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः — रुद्रटः काव्यालङ्कार १.१४।

४. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं वस्तुसम्पदः॥ —दण्डी :काव्यादर्श १.१०३।

५. प्रतिभेत्यपरेरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधाभवति।
पुंसा सहजातत्वादनयोस्तुज्यायसी प्रतिभा॥—रुद्रट :काव्यालङ्कार १.१६

६. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमुत्तमम्।
श्रुतेन यत्नेनचवागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ —दण्डी, काव्यादर्श, १.१०४।

उपर्युक्त प्रामाणिक विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दण्डी के ग्रन्थों की परीक्षा की जाय तो अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा जिसे 'प्रतिभा' कहा जाता है और जो प्राय: सर्वमान्य काव्यहेतु भी है, उससे समवेत ही उनका व्यक्तित्व दृष्टिगत होता है जो उनकी लोकप्रियता तथा महाकवित्व का परिचायक भी है। जैसा कि कहा जा चुका है कि महाकवि दण्डी के पूर्व गद्य का स्वरूप अत्यन्त क्लिष्ट होने से सहृदयों के चित्तानुरंजन में अपर्याप्त था, सुकोमल एवं ललित पदावली का भाव साहित्य जगत् को निराशा के झंझावात् में घसीट कर उसे संतप्त कर रहा था। ऐसे समय में एक अपूर्व एवं अभिनव दिशा का उन्मीलन कराने का श्रेय दण्डी को मिलना था जिनका योगदान संस्कृत साहित्य में उपादेय सिद्ध हुआ। विविध शास्त्रों —चौर्य, काम, राजनीति, धर्म, समाज, काव्य और साहित्य के सिद्धान्तों के बहुल संकेतों से ओतप्रोत कथा का मधुमय कोष मन: प्रीति एवं परम संतोष का विषय बना, मानवीय चेतना के गूढ़ रहस्यों का तात्त्विक स्वरूप अभिनव गद्य-शैली की आभा से प्रकाशित हुआ। फलत: संस्कृत गद्य की अभिनव सरस शैली से आह्लादित सहृदयों ने वाल्मीकि और व्यास के पश्चात् होने वाले कवि पद पर दण्डी को ही प्रतिष्ठित किया—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।

कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशय:', 'दण्डिन: पदलालित्यम्' आदि उक्तियाँ कवि की लोकप्रियता की द्योतक हैं। कारण भी स्पष्ट था। भक्ति-विहीन नर और लवणविहीन बहुव्यञ्जन के सदृश, ललित एवं सुकोमल विनोदपूर्ण तथा सरस पदावली के अभाव में संस्कृत गद्य अपनी अपूर्णावस्था के कारण जनसामान्य की अभिरुचि का अविषय हो रहा था। मिल गया उसे उसका सर्वस्व प्रदान करने वाला महाकवि दण्डी का वरद् हस्त जिसकी दानशीलता से कृतकृत्य होकर संस्कृत गद्य अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ। यह था दण्डी का महाकवित्व और ऐसी विलक्षण थी उनकी प्रतिभा और व्युत्पत्ति।

'व्युत्पत्ति' शब्द बहुत व्यापक है। विश्व का समस्त ज्ञान- कोश इसमें अन्तर्भूत है। वैदिक वाङ्मय भारतीय ज्ञानपरम्परा का न केवल मूलस्रोत है वरन् संपूर्ण भारतीय वाङ्मय का मूर्धन्य भी है। भारतीय चिन्तन की धारा इस तथ्य में विश्वास रखती है कि वैदिक वाङ्मय के मूल तत्त्वों के ज्ञान के अभाव में अपनी

संस्कृति तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को समझ ही नहीं सकते । एम० विंटरनित्स के अनुसार 'लुड्विश' के शब्दों में हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ऋग्वेद में किसी भी प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय का कोई उल्लेख नही मिलता, जबकि दूसरी ओर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय जीवन वेद की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित है ।[१] आचार्यों ने यथावसर सभी विद्याओं एवं शास्त्रों का उल्लेख किया है और साथ ही 'व्युत्पत्ति' की यथार्थ व्याख्या भी की है ।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार लोक, शास्त्र और काव्यों में निपुणता ही व्युत्पत्ति है । वृत्ति में 'शास्त्रेषु' के अन्तर्गत शब्द, छन्द, अनुशासन, अभिधान, कोश, श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, तर्क, नाट्य, अर्थ, काम और योग आदि शास्त्रों (ग्रन्थों) का परिगणन किया गया है ।[२] राजशेखर ने काव्यार्थयोनि के संदर्भ में श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण, विद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकविरचना, प्रकीर्णक आदि सोलह विद्याओं का उल्लेख किया है ।[३] क्षेमेन्द्र के अनुसार तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्म-ज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-तुंरग, पुरुष लक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल प्रभृति विविध विषयों का ज्ञान कविसाम्राज्य का द्योतक है । इसी प्रकार काव्यप्रकाशकार तथा वागभट्ट ने भी व्युत्पत्ति के प्रसंग में इन विषयों का उल्लेख किया है । दण्डी का 'दशकुमारचरित' वैदिक वाङ्मय के विविध विषयों के गूढ रहस्यों के सूक्ष्म संकेतों एवं अन्य भी अनेक शास्त्रसम्मत सिद्धांतों से अनुप्राणित होकर इन पूर्वोक्त शास्त्रों की उदात्त भूमिका प्रस्तुत करने में अद्वितीय है ।

दशकुमारचरित के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने इन उपर्युक्त प्रायः सभी शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया था । वैदिक वाङ्मय एवं अन्य सभी शास्त्रों के शाश्वत अनुशीलन से प्राप्त ज्ञान राशि के द्योतक गूढ़ स्थलों के संकेत से यदि एक ओर दण्डी का निर्मल शास्त्र-ज्ञान प्रमाणित होता है तो दूसरी ओर विविध विषयों के विशद विवेचन से उनकी मौलिक प्रतिभा एवं अभिनव दृष्टि का पूर्ण परिचय भी प्राप्त होता है ।

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य - पृ० ४७ । प्रथम भाग, प्रथम खण्ड (हिन्दी अनुवाद) दिल्ली, वाराणसी, पटना १९६१ ।

२. काव्यानुशासन : पृ० ५ ।

३. काव्यमीमांसा : अध्याय ८ ।

ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की छाया दशकुमारचरित में दृष्टि गोचर होती है । अथर्ववेद के मंत्रतंत्रात्मक सूक्तों का भी दण्डी ने पर्याप्तरूपेण उपयोग किया है ।

कवित्व की दृष्टि से ऋग्वेद के इन सूक्तों का मूल्य कुछ भी हो, भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास को जानने के लिए तथा इण्डो-यूरोपियन जातियों के गाथाविज्ञान को समझने के लिए विश्व भर के प्रागेतिहासिक मन को हृद्गत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़ कर और कोई प्रमाणग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं है ।[१]

ऋग्वेद में कवित्वमयता की भी दिव्य झाँकी मिलती है । इसकी कवित्व-मयता में सचमुच काव्य के कतिपय अनमोल रत्न भी सञ्चित है । सूर्य, पर्जन्य, मरुत:, उषा के गीतों में प्रकृति की सम्पूर्ण सुषमा पुष्पित हो उठी है, उदित हो उठी है, प्रवहमान हो चुकी है । विशेषत: उषा के गीतों में तो कवि के ओठों पर सरस्वती नाचती प्रतीत होती है । उषा की सौम्य सुषमा सर्वथा मृदुवर्णों में अङ्कित हुई है । उषा की आँखों में उन्मेष है, यौवन का वह प्रथमोन्मेष जब जवानी अपने को कुछ जानने लगती है और माँ उसे साज सँवार कर घर के बहार 'आँगन' में ले आती है ! बाहर प्रकृति रंगस्थली बन जाती है और उषा का नृत्य आरम्भ होता है उसके वे झीने वस्त्र आप से आप खिसकने लगते हैं और मर्त्य-कुमारी के उस प्रथम वक्षोदय को देख कर दंग रह जाता है । प्राचीन के मंच पर कुमारी का यह नृत्य उजियाली के कपड़ों में से जैसे बाहर निकलता सा हम प्रतिदिन देखते हैं— जैसे स्वर्ग के दरवाज़ों को खोल कर रोशनी और जवानी एकरूप होकर बाहर निकल आये और बाला के मूक भाव, में हमारे लिए भी, कुछ आमन्त्रण हो ।[२]

संभव है संस्कृत के कवियों को अपनी रचनाओं में प्रकृति की रम्य सुषमा को अंकित करने की प्रेरणा ऋग्वेद से प्राप्त हुई हो और दण्डी का प्रकृति-वर्णन भी दशकुमारचरित में अत्यन्त उत्कृष्ट एवं हृदयोद्रेजक भी है । प्रभात, संध्या, पर्वत, सरोवर, वन, उपवन, वसन्त और भूमिगृह आदि के मनोरम चित्रण में कवि की प्रतिभा परिस्फुरित हुई है ।

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य-एम० विंटरनित्स, पृ० ५६ ।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य - पृ० ६९-७० ।

दशकुमारचरित में ब्राह्मणों[१], तपस्वियों एवं ऋषियों[२] पर फब्तियाँ भी कसी गयी हैं, उनकी हँसी उड़ायी गयी है जो किसी भी सहृदय की दृष्टि से ओझल नहीं है। ऋग्वेद में 'मण्डूक-सूक्त' है (७.१०३) जिसमें ब्राह्मणों की उपमा मेढकों से दी गई है।

व्लूमफील्ड के मत को प्रस्तुत करते हुए विन्टरनिट्स ने लिखा है कि—'सचमुच बड़ा उपहासास्पद-सा प्रतीत होता है, और चिरकालतक विद्वान् लोग समझते भी यही रहे कि मण्डूक सूक्त ब्राह्मणों पर एक फबती है बस।'[३]

इन विषयों के अतिरिक्त ऋग्वेद (९.११२) तथा (१०.२४) और (१०.११७) में लौकिक विषयों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद नवें मण्डल में ११२ वाँ सूक्त मनुष्यों के क्रिया-कलापों पर एक खुला मजाक है। १० वें मण्डल का ३४ वाँ सूक्त द्यूत परक है जिसमें जुआरी की दुर्दशा, उसके करुणामयक्रन्दन का रोमांचकारी वर्णन है। जुआरी अपनी आदतों का दास बन गया है, वह पश्चाताप करता है कि जुए की ममता ने उसके जीवन के सुख वैभव को छीन लिया है, पत्नी पराङ्मुखी हो चुकी है, सास भी द्वेष और घृणा करती है, सम्पूर्ण परिवार उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, दूसरे परिवार वालों के सुख और शान्ति को देख वह दुःखी होता है।

उपर्युक्त वैदिक सूक्तों की कथावस्तु का प्रभाव यत्र-तत्र दशकुमारचरित में दृष्टिगत होता है। वेद के उपर्युक्त सूक्त में जहाँ एक ओर द्यूत के दुष्परिणाम और उसके अशोभन पक्ष का वर्णन है वहाँ दशकुमारचरित में उसकी उपादेयता की ओर संकेत है। षष्ठ उच्छ्वास में गोमिनी-वृत्तान्त के प्रकरण में उसके द्वारा किया गया आतिथ्य-सत्कार तथा उसकी पाक-क्रिया-विधि में भी पूर्वोक्त (ऋग्वेद

---

१. 'ब्रह्मकल्पा इमे ब्राह्मणाः। कृतमेभिः स्वस्त्ययनं कल्याणतरं भवति। ते चामी कष्टदारिद्र्या बह्वपत्या यज्वानो वीर्यवन्तश्चाद्याप्यप्राप्तप्रतिग्रहाः। दत्तं चैभ्यः स्वर्गमायुष्यमरिष्टनाशनं च भवति' इति बहु बहु दापयित्वा तन्मुखेन — भक्षयन्ति —दशकुमारचरित,८ वाँ उच्छ्वास,पृ० १५।

२. 'एकदा च रहसि रक्तं तमुपलक्ष्य मूढः खलु लोको यत्सहधर्मेणार्थकामावपि गणयति इति किंचिदस्मयत।'—दशकुमारचरित,द्वि० उच्छ्वास,पृ० १६८।

३. प्राचीन भारतीय साहित्य,पृ० ८५।

- १०.११७) 'दानशीलता' परक सूक्त की छाया प्रतीत होती है । गृहस्थ जीवन के सौख्यों का यथाविधि वर्णन बिलकुल मिलता-जुलता सा प्रतीत होता है ।

इस प्रकार के विवेचन का उद्देश्य दण्डी के शास्त्रज्ञान को पुष्ट करना ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद के द्वारा उपदिष्ट मन्त्र, तन्त्र और अनुष्ठानादि की ओर दण्डी ने संकेत किया है ।

दशकुमारचरित (तृतीय उच्छ्वास) में अपनी प्रियतमा कल्पसुन्दरी के प्रति उपहारवर्मा द्वारा कहे गये शब्द उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं — 'पुनरस्यामेव प्रमदवनवाटीशृंगाटिकायामाथर्वणिकेन विधिना संज्ञपितपशुनाभिहुत्य मुक्ते हिरण्यरेतसि तद्धूमशमनेन संप्रविष्टेन मयास्मिन्नेव लतामण्डपे स्थातव्यम् ।'[१]

पुनः उसी उच्छ्वास में — 'राजा किल विकटवर्मा देवीमन्त्रबलेन देवयोग्यं वपुरासादयिष्यति...यद्येवं भावि नान्यदतः परमस्ति किंचिदद्भुतम् । अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रोषधीनां प्रभावः ।'[२]

क्षीराज्यदधितिलगौरसर्षपवसामांसरुधिराहुतीनां च परिमलः पवनानुसारी दिशि दिशि प्रावासीत्,[३] मन्त्रों और औषधियों के प्रभाव की द्योतक ऐसी पंक्तियाँ भी हैं ।

रूपपरिवर्तन के संबंध में भी दशकुमारचरित में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं जिनसे अथर्ववेद तथा जर्मनगाथाओं का संकेत प्राप्त होता है—

'सोऽस्ति तादृशो मन्त्रो त्वमुपोषिता पर्वणि विविक्तायां भूमौ पुरोहितैर्हुतमुक्ते सप्तार्चिषि नक्तमेकाकिनि शतं चन्दनसमिधः, शतमगुरुसमिधः, कर्पूरमुष्टीः, पट्टवस्त्राणि च प्रभूतानि हुत्वा भविष्यस्येवमाकृतिः ।'[४]

'भारतीय अप्सराओं और गन्धर्वों की तरह जर्मनी की जलपरियाँ तथा अन्य भी क्षुद्रात्म (अर्थ-पशु) नृत्य और गान द्वारा मर्त्यों की ज़िन्दगी को दुर्भर बना देते हैं । जर्मन गाथाओं में भी गन्धर्वों में यह शक्ति होती है कि वे जब चाहें अपना रूप बदल सकते हैं ।...करीब साठ वर्ष हुए दोनों देशों के जादू टोनों की तुलना करके

---

१. दशकुमारचरित, पृ० २८९-९० ।

२. वही, पृ० २९१-९२ ।

३. वही ।

४. दशकुमारचरित, तृतीय उ०, पृ० २८८ ।

एडाल्बर्टकु' इस परिणाम पर पहुँचा था कि इन्द्रजालीय वाङ्मय के कुछ अंश ही नहीं, पूर्णगीत, पूर्ण मन्त्र, जर्मनी और भारत में इण्डो-यूरोपियन के अवशेष रूप में आज भी, तथावत्, चले आते हैं जिनके द्वारा प्रागैतिहासिक इण्डोयूरोपियन कविता का पर्याप्त परिचय हमें मिल सकता है।[१]

दशकुमारचरित में प्राय: मंत्रों और औषधियों के द्वारा कुमारों को अपने कार्य सिद्धि में सफलता की प्राप्ति होती है। चतुर्थ उच्छ्वास में अर्थपालचरित वर्णित है जिसने मन्त्रों और औषधियों के द्वारा साँप को अपने वश में किया है[२] और स्वत: उसके विष के प्रभाव से सुरक्षित है। उसी सर्प के द्वारा वह अपने पिता को दंशित करा कर अन्त में मन्त्रों के प्रभाव से उसके प्राणों की रक्षा भी कर लेता है।

अथर्ववेद के मुख्य अंगों में एक 'भैषज्यानि' अर्थात् बीमारियों का इलाज करने के मन्त्र-तन्त्र हैं। अथर्ववेद में 'पौष्टिक' सूक्तों का भी उल्लेख हुआ है— किसान, गडरिये और व्यापारी विना देवी देवता की पूजा के जीवन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, किसी मकान का शिलान्यास, जमीन पर प्रथम बार हल चलाने, बीज बोने, फसल काटने, खेती की अग्नि या अतिवृष्टि से रक्षा करने, अपने प्राणों को साँप के प्रभाव से बचाने में, पशुधन की जंगली जानवरों, डाकुओं आदि से सुरक्षा का भाव जहाँ इष्ट हो प्रार्थना अपना प्रसंग ढूंढ लेती है।

इनके अतिरिक्त विवाह और प्रेम संबंधी अभिचार मन्त्र अथर्ववेद का एक स्वतन्त्र विभाग ही है। अथर्ववेद का १४ वाँ अध्याय ऐसे मन्त्रों से परिपूर्ण है जिसमें ऋग्वेद के भी विवाह संबंधी मन्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कौशिक सूत्र' से विवाह और प्रेम संबंधी मन्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कौशिक सूत्र' में विवाह और प्रेम संबंधी मन्त्रों के वर्तमान होने का उल्लेख मिलता है।[३] जो दो प्रकार के बताये गए हैं— एक तो वे जिनकी उपयोगिता वैवाहिक जीवन में

१. प्राचीन भारतीय साहित्य - एम० विंटरनित्स - पृ० १०७.१०८।

२. 'अनवसितवचन एव मयि महानाशीविषः प्राकाररन्ध्रेणादैरयच्छिरः। तमहं मन्त्रौषधबलेनाभिगृह्यपूर्णभद्रमब्रवम् — भद्र, सिद्धं नः समीहितम्। अनेन तातमलक्ष्यमाणः सङ्कुले यदृच्छयाप॥तितेन नाम दंशयित्वा तथा विषं स्तम्भयेयं यथा मृत इत्युदास्येत। —दशकुमारचरित - पृ० ३२६।'

३. प्राचीन भारतीय साहित्य,विन्टरनित्स,पृ० ११०।

पुत्रोत्पत्ति द्वारा शान्ति इष्ट हो और दूसरे वे - जिनकी धार्मिकता कुमारी कन्याओं द्वारा वर ढूंढने में स्वयंसिद्ध हो जाती है, नवविवाहितों के प्रति आशीर्वाद, अथवा गर्भिणी के गर्भ की रक्षा, अजात एवं नवजात की सुरक्षा की दृष्टि से इन सूक्तों की उपयोगिता सिद्ध है ।

संक्षेप में ऐसा कहना सुष्ठु प्रतीत होता है कि दण्डी ने अथर्ववेद का भली भाँति अध्ययन किया था और उन सिद्धान्तों तथा मन्त्रों का यावच्छक्य उन्होंने उपयोग भी किया । नायक और नायिकाओं के प्रणयचित्रण में, मन्त्रों और औषधियों के प्रभाव से कुमारों की कार्यसिद्धि में, प्राय: देवी देवताओं की उपासना और प्रात: एवं सायं सन्ध्याओं के यथोचित निर्वाह में लोकजीवन के यथार्थचित्रण में वैदिक विधियों के उल्लेख दण्डी की व्युत्पति की व्यापकता का परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

यद्यपि कुमारों के अपने कार्य की सिद्धि में छल, कपट, धोखा, चौर्य तथा अन्य भी साधनों का उपयोग औचित्य की दृष्टि से सर्वत्र शास्त्रानुकूल तथा यथार्थ नहीं कहा जा सकता तथापि विविध शास्त्रों के कतिपय वृत्तान्तों के उल्लेख से यह अनुमान होता है कि उन शास्त्रों का जितना ही दण्डी को ज्ञान था उनका अनुभव और उनकी निपुणता भी उससे कम नहीं थी जिसके योग से दिन प्रतिदिन के लौकिक विषय भी क्या तुच्छ क्या महान्, अत्यन्त रुचिकर सिद्ध हुए हैं । समाज के अशोभन पक्ष का भी यथार्थ चित्रण शास्त्रों की निर्मल आभा से भासित होकर हृद्य और प्राय: अनवद्य सिद्ध हुआ है । इसी दायित्व के पूर्ण निर्वाह में दण्डी की प्रतिभा उद्भासित हुई है ।

वस्तुत: मानव-जीवन में सर्वत्र प्रकाश ही नहीं है अंधकार भी होता है जिसमें शक्ति और दौर्बल्य उत्थान और पतन, दु:ख और सुख, पाप एवं पुण्य, ग्राह्य एवं अग्राह्य विषयों की बीभत्स लीलाओं का दर्शन और उनका वर्णन कवि अथवा कलाकार की दृष्टि और लेखनी के अविषय नहीं हो सकते । केवल एक पक्ष के अवलोकन तथा उसके वर्णन से वस्तुस्थिति का यथार्थ अंकन अधूरा और अपूर्ण ही रहेगा । अतएव जीवन की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए हम अपूर्णावस्था की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते । मनुष्य की सामर्थ्य यही है कि वह पतितावस्था से उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है और उसका दौर्बल्य यह है कि वह उच्चतम अवस्था को प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो जाता है । दुराचारियों की जिन बीभत्स कृतियों से, जिन हेय क्रियाकलापों से, उनके जीवन की जिन गतिविधियों से शिष्ट समाज

की चेतना उद्विग्न हो उठती है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अध:पतन की पराकाष्ठा जितनी सच्ची है उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। इसीलिए कालिदास प्रभृति जिन विश्वकवियों ने जीवन की उच्चतम अवस्था का भव्य रूप प्रदर्शित किया है उन्होंने उसकी निम्नतम और अशोभन अवस्था की उपेक्षा भी नहीं की है, श्रेष्ठ और उदात्त चरित्रों में भी मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को अपनी कमनीय कृतियों में व्यक्त करने मे कोई संकोच नहीं किया है। दण्डी का दशकुमारचरित इस दृष्टि से समन्वय की उदात्त भूमिका का एक उत्कृष्टतम उदाहरण है जिसमें यदि एक ओर मानव-जीवन के शिष्ट और पूर्णावस्था के द्योतक अंश का वैदुष्यपूर्ण वर्णन है तो दूसरी ओर उसके विपरीत अध: पतन और निम्नतम अवस्था की उपेक्षा भी नहीं की गयी है। उसे सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में दण्डी की वृत्ति स्खलित नहीं हुई है।

गोमिनी जैसी सती, साध्वी और पतिपरायणा आदर्श नारी के सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन में यदि दण्डी ने अपनी लेखनी तोड़ दी है तो धूमिनी जैसी क्रूरहृदया तथा व्यभिचारिणी नारी के यथार्थचित्रण में वह उदासीन भी नहीं हुई है। जीवन की विविध अवस्थाओं के इतरजनपार्थक्येन यथार्थ चित्रण में ही दण्डी का दण्डीत्व है, उनकी प्रतिभा का चरम उत्कर्ष है।

वेदाङ्गों में विशेष रूप से व्याकरण तथा ज्योतिष का दण्डी को पूर्ण ज्ञान था। सर्वत्र क्रियाओं के समीचीन प्रयोग (विशेष रूप से आठवें उच्छ्वास में) तथा (षष्ठ उच्छ्वास में) लक्षणज्ञ के रूप में विचरण करने वाले शक्तिकुमार द्वारा गोमिनी के नख-शिख वर्णन से[१] उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

शास्त्रों में विशेष रूप से काम, राजनीति, चौर्य, काव्य और साहित्य प्रभृति शास्त्रों का दण्डी ने पर्याप्त परिशीलन किया था। पुराण, इतिहास और दर्शन का भी उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया था।

कामशास्त्र विषयक संकेतों की उपलब्धि तो दशकुमारचरित में प्राय: सर्वत्र होती है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का प्रभाव बहुत अधिक है। इन विषयों की चर्चा, 'दण्डी के पूर्ववर्ती कवियों का उन पर प्रभाव' वाले अध्याय में संक्षेप में की गई है। राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी, उपहारवर्मा और कल्पसुन्दरी इत्यादि के

१. अस्याः खलु_येयमाकृतिर्नव्यभिचरति शीलम्।

प्रणय चित्रण में वेश्या माता के अधिकार और वेश्या के कर्तव्य के विशद वर्णन में कामसूत्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से दर्शनीय है।

आठवें उच्छ्वास में दण्डनीति के महत्त्वप्रतिपादन में 'आचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता' लिख कर दण्डी ने आचार्य चाणक्य से अर्थशास्त्र तथा द्वितीय उच्छ्वास में अपहारवर्मा की उक्ति 'नगरमाविशन्नेव चोपलभ्य लोकवादाल्लुब्धसमृद्धपूर्ण पुरमित्यर्थानां नश्वरत्वं च प्रदर्श्य प्रकृतिस्थानमून्विधास्यन्कर्णीसुतप्रहिते पथि मतिमकरवम्' से चौर्यशास्त्र, पुनः आठवें उच्छ्वास में राजा पुण्यवर्मा की दिनचर्या के वर्णन में वृद्ध पुरुष की उक्ति, 'षाडगुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेणप्रणेता चातुर्वर्णस्य' से मनुस्मृति तथा विहारभद्र द्वारा अनन्तवर्मा को दिये गये परिहासपूर्ण उपदेश में शुक्र, आंगिरस, विशालाक्ष, बाहुदन्तिपुत्र, पराशर प्रभृति नीतिशास्त्रकारों के नामोल्लेख आदि से दण्डी के व्यापक शास्त्रज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। दण्डी ने उपर्युक्त प्रायः सभी शास्त्रों का न केवल नामोल्लोख के द्वारा उन-उन शास्त्रों की ओर संकेत मात्र ही किया है वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि उन शास्त्रों के निर्मल ज्ञान से विशदीभूत उनका अन्तःकरण उन (शास्त्रों) के मर्म से ओतप्रोत था। नीति धर्म और कामशास्त्र विषयक ज्ञान के द्योतक तत्त्वों तथा सामाजिक मर्यादा के परिपालन में अनिवार्य यथावसर वैदुष्यपूर्ण उल्लेखों से दण्डी की व्युत्पत्ति की प्रतिपत्ति में किसी विप्रतिपत्ति की प्रतीति नहीं होती।

महाकवि दण्डी ने दशकुमारचरित में राजनीति के अनेक सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है। विश्रुत की सफलता नीति रूपी वृक्ष का ही उत्तम फल है जिसका संकेत उसकी सुदृढ़ प्रतिज्ञा में ही हृदयगत हो जाता है।[१]

यदि दो प्रबल राज्यों की सीमा पर कोई दुर्बल भी राज्य होता है तो उन पर कोई बलवान आक्रमण नहीं करता।[२] विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह अपने और शत्रु के बीच शक्ति, देश, काल, युद्ध काल, सेना की उन्नति का समय, पश्चा-

१. 'अहं तु तं नयावलिप्तमश्मकनयेनैवोन्मूल्य बालमेनं पित्र्ये पदेप्रतिष्ठापयेयम् इति प्रतिज्ञाय 'कथमस्यैनां क्षुधं क्षपयेयम् 'इत्यचिन्तयम्।' दशकुमारचरित, अ० उ०, पृ० ३९।'

२. अन्येनापि क्षीणेन दुर्बलेनोभयोःसीमायां विद्यमानेनापि स्वाम्यमात्यादीनां सप्ताङ्गानामपि बलिष्ठेभ्योभयानकायां भूमौ पराभवो न प्राप्यते। नैषधीयचरित ७८१ नारायण की टीका।

त्कोप, क्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति आदि बलाबल के संबंध में सम्यक् दृष्टि रखते हुए शत्रु पर आक्रमण करे।[१] नीति के इस सिद्धान्त का दर्शन उपहारवर्मा द्वारा अपने कनिष्ठ भ्राता विशाल वर्मा से कहे गये शब्दों में होता है—

'हे वत्स ! वर्तमान समय में पुण्ड्र देश सम्पन्न एवं धान्यादि से परिपूर्ण नहीं है। क्योंकि वे (पुण्ड्रदेशवासी) इस समय भोजन आदि के अभाव से दुःखी और मोह से परिव्याप्त हैं। अतएव ऐसी स्थिति में अपने जीवन की आशा का परित्याग करके क्या वे हम समृद्ध जनों को (आक्रमण द्वारा) पीड़ित नहीं करेंगे अर्थात् करेंगे ही इसलिए पुण्ड्रदेश के सम्पन्न होने पर ही उन पर आक्रमण करना उचित होगा, अभी नहीं।'[२]

नीति के अनुसार गुप्तचर ही राजाओं के नेत्र हैं।[३] गुप्तचरों के द्वारा उसे स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृत्तान्त को अवगत करना चाहिए।[४]

विश्रुत ने अपने नीतिबल से गुप्तचरों की यथोचित रीति से नियुक्ति की और उनके माध्यम से राज्य-कार्य में सफलता प्राप्त की। 'उस (मंत्री) की सहायता से मैंने विविधवेशधारी गुप्तचरों की व्यवस्था किया। उन चरों के द्वारा, प्रजा के मध्य में रहने वाले लोभी अभिमानी, किसी के वश में न रहने वालों में अपनी अलुब्धवृत्ति का प्रचार करते हुए, धार्मिकता की भावना को जागृत करते हुए, नास्तिक जनों को तिरस्कृत करते हुए राज्य कार्य के संचालन में बाधक शत्रु-कण्टकों को विनष्ट करते हुए, शत्रुओं की कूटनीति और छल-कपट को निष्फल करते हुए...राज्य को शक्ति आदि नानाविध उपायों से समृद्ध करने में तत्पर हो गया।'[५]

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र-प्रकरण १३५-१३६ अध्याय १- शक्तिदेशकालबलाबलज्ञानं-यात्राकालाश्च।'

२. भ्रातरं च विशालवर्माणमाहूयोक्तवान् - वत्स ! न सुभिक्षाः साम्प्रतं पुण्ड्राः ते दुःखमोहोपहतास्त्यक्तात्मानो राष्ट्रं नौ न समृद्धमभिद्रवेयुः। अतो मुष्टिवधः,शस्यवधो वा पदोत्पद्यते तदाभियास्यसि,नाद्य यात्रा युक्ता इति। —दशकुमारचरित - तृ० उ०,पृ० ३०१।

३. गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणवेदचक्षुषा।
चारैःपश्चन्ति राजानश्चक्षुभ्यामितरे जनाः।

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र - राजर्षिवृत्तम्,प्रकरण ३,अध्याय ६।

५. तत्सखश्च सत्यशौचयुक्तानमात्यान्विविधव्यञ्जनाञ्श्च गूढपुरुषानुदपादयम्। तेभ्यश्चोपलभ्य लुब्धसमृद्धमत्युत्सिक्तमविधेयप्रायं च प्रकृतिमण्डलमलुब्धताम-भिख्यापयन्, धार्मिकत्वमुद्भावयन् नास्तिकान्कदर्थयन्, कण्टकान्विशोधयन्,

दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास से प्रतीत होता है कि राजा की दिनचर्या, अमात्यों एवं गूढ़ पुरुषों की नियुक्ति, विरोधी राजाओं को कूटनीति के बल से पराजित करने, अन्य राजाओं में परस्पर फूट डाल कर उनको विनष्ट करने, मन्त्र, उत्साह और प्रभावादि शक्तियों से विजिगीषु राजा के कुमारों की प्रयोजन-सिद्धि आदि विषयों में कौटिलीय अर्थशास्त्र के नीति-सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है।

अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि 'जो लोग राजा से सन्तुष्ट हों उन्हें धन और मान द्वारा और भी सन्तुष्ट करना चाहिए। जो किसी कारणवश अप्रसन्न हैं उन्हें भी प्रसन्न करने या अनुकूल करने के लिए धन आदि प्रदान करना चाहिए, सान्त्वना भी देनी चाहिए, न हो तो इन असंतुष्ट जनों में पारस्परिक कलह करा दिया जाय, सामंत आटविक एवं उनके संबंधियों से भी इनमें फूट डाल देना चाहिए। इन उपायों के अतिरिक्त भी यदि वे अप्रसन्न ही रहें तो राजा को चाहिए कि वह उपायों से संपूर्ण राष्ट्र के साथ उनका विरोध और द्वेष करा दे। जब सभी उसके विरोधी या द्वेषी हो जाँय तो या चुपचाप उनका वध करा लिया जाय अथवा असंतुष्ट जनपद से ही उनका दमन करा दिया जाय।'[१]

दशकुमारचरित में अश्मकेन्द्र (वसन्तभानु) की नीति में उपुर्यक्त नीति की झलक देखी जा सकती है—

'अश्मकाधिपति ने कुन्तलपति अवन्ति देव को एकान्त में ले जाकर कहा, आइए, हम दोनों मिल कर मुरलेश वीर सेन, ऋचीक देश के अधिपति एक वीर, कोंकण देश के स्वामी कुमारगुप्त और सासिक्य देश के अधिपति नागपाल को फोड़ कर अनन्त वर्मा से अलग कर दें। उसकी अविनम्रता से रुष्ट हुए वे सभी हम लोगों के अनुकूल ही व्यवहार करेंगे। वनप्रदेशाधिपति (भानुवर्मा) मेरा प्रिय मित्र है। इसको आगे भेज कर दुर्विनीत अनन्तवर्मा को रोक दें और पीछे से हम लोग आक्रमण करके उसे मार डालें। उसके कोष और वाहन को आपस में बाँट लें। बीस उत्तम वस्त्र और पच्चीस सुनहले तथा कुंकुम की सुगन्धि से सुगन्धित कम्बल

अमित्रोपधीरपध्नन् चातुर्वर्ण्यं च स्वधर्मकर्मसु स्थापयन्...योगानन्वतिष्ठम्॥'
—दशकुमारचरित, अ० उ०, पृ० ५५-५६

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र - प्रकरण ८, अध्याय १२ स्वविषयेकृत्याकृत्यपक्षरक्षणम्

देकर उसके विश्वस्त मन्त्रियों को अपनी ओर मिला लिये। दूसरे दिन उन सामन्तों और वनप्रदेश के अधिपति के कौशल से अनन्तवर्मा मार डाला गया। उसके राज्य की सम्पत्ति को उन राजाओं ने आपस में बाँट लिया।'[१]

नीति के विविध प्रयोगों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र के भी विद्वानों से दशकुमारचरित ओत-प्रोत है।

धर्मशास्त्रों में स्त्रीस्वभाव का कथन किया गया है। 'स्त्री स्वभावतः काम, क्रोध, मनार्जव, द्रोह आदि दुर्वृत्तियों का आधार मानी गयी है। पुरुषों को दूषित करना नारियों का स्वभाव है। इसलिए ज्ञानीपुरुष युवती स्त्रियों के सम्बन्ध में कभी असावधान नहीं होते।'[२]

'छल, कपट आदि का उद्‌भवस्थान स्त्रियाँ हैं',[३] स्त्री-हृदय ही (संसार में) सबसे अधिक क्रूर होता है,[४] स्त्रियाँ स्वभाव से ही चंचल अथवा विह्वल होती है,[५] आदि वाक्यांशों से स्त्रीस्वभाव का संकेत यहाँ भी किया गया है।

धर्मशास्त्रों में युवती स्त्रियों का सहवास वर्जित है। मनु का कहना है कि माता, पिता, बहिन तथा पुत्री के समीप भी एकान्त में एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। यह इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् होता है और विद्वानों को भी अपनी ओर खींच लेता है।[६]

---

१. 'अश्मकेन्द्रस्तु कुन्तलपतिमेकान्ते समभ्यधत्त–तदावां संभूय मुरलेशं वीरसेनमृचीकेशमेकवीरं कोङ्कणपतिं कुमारगुप्तं सासिक्यनाथं च नागपालमुपजपाव। ते चावश्यमस्याविनयमसहमाना अस्मन्मतेनैवोपावर्तेरन्। अयं च वानवास्यः प्रियं मे मित्रम्। अमुनैनं दुर्विनीतमग्रतो व्यतिषक्तं पृष्ठतः प्राहरेम। कोशवाहनं च विभज्य गृह्णीमः' इति हृष्टेन चामुनाभ्युपेते विंशतिं वरांशुकानाम्–अनन्तवर्मराज्य-मात्मसादकरोत्। —दशकुमारचरित, अ० उ०, पृ० ३५-३६।

२. स्वभाव एष नारीणां नराणामिहदूषणम्। अलोऽथोनन प्रमादयन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥ मनुस्मृति - अ० २.२१३।

३. 'स्त्रियश्चोपधीनामुद्‌भवक्षेत्रम्। — दशकुमारचरित - तृ० उ०, पृ० २६०।'

४. 'किं क्रूरं? 'स्त्रीहृदयम्।'—वही, ष० उ०, पृ० ४०८।

५. 'स्त्रीस्वभावादीषद्विह्वलां–समाश्वास्य–।' वही, तृ० उ०, पृ० २९९।

६. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वाँसमपि कर्षति॥—मनु०, अ० २.२१५।

तारावली के द्वारा प्रमति के प्रति कहे गये शब्द यहाँ ध्यान देने योग्य हैं—'त्र्यम्बक महादेव जी के विशाल मन्दिर में महोत्सव को देखने की कामना से जाती हुई तारावली ने समीप में ही शयन करते हुए प्रमति को देख कर हर्षातिरेक से विह्वल हो गयी और शरणार्थी समझ कर उसे अकेले छोड़कर आगे बढ़ना भी अयुक्त ही था किंतु उसने पुनः 'भगवान् त्र्यम्बक के मन्दिर के समीप पहुँचकर विचार किया कि—मैं इन युवक के साथ कैसे (अकेले) उस गोष्ठी में जाऊँगी' ऐसा सोचते हुए उसे नवमालिका के पास निद्रित अवस्था में ही छोड़कर चली गयी।'[१]

शास्त्रों में प्रतिपादित नियमों के अनुसार परस्त्रीगमन निषिद्ध है। मनु आदि आचार्यों ने इन नियमों की पूर्ण व्याख्या की है किन्तु अर्थ काम की प्राप्ति में गुरुजन और माता-पिता को कारागार से मुक्त करने में धर्मनाश निषिद्ध नहीं है ऐसा अपने मन में विचार कर उपहारवर्मा ने कल्पसुन्दरी को स्वीकार किया और निश्चय किया कि परस्त्रीगमन रूपी यह पाप मेरे द्वारा किये गये माता-पिता के उद्धार रूपी पुण्य से धुल जायगा।[२]

उपर्युक्त व्यवहार की पुष्टि इन्ही तर्कों के आधार पर राजवाहन ने भी अन्त में किया है—

'यह (उपहारवर्मा का) वृत्त् सुनकर देव राजवाहन ने हंसकर कहा— देखो, परस्त्रीहरण छलपूर्ण है परन्तु मातापिता आदि गुरुजनों को कारागार आदि के क्लेश से मुक्त करना, दुष्ट शत्रु को योग्य उपाय से मारना तथा राज्य की प्राप्ति आदि में धर्म और अर्थ की आराधना हुई है। अथवा ऐसी कौन सी कृति है जो बुद्धिमानों द्वारा पूर्ण होने पर शोभित न होती हो ?'[३]

---

१. अतीतायां तु यामिन्यां देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य प्रत्यासन्ने च तस्मिन्देवगृहे पुनरचिन्तयम्· –कथमिह तरुणेनानेन सह समाजं गमिष्यामि' इति।

२. 'किन्तु परकलत्रलङ्घनाद्धर्मपीडा भवेत्, साप्यर्थकामयोर्द्वयोरुपलम्भे शास्त्रकारैनुमतैवेति गुरुजनबन्धमोक्षोपायसंधिना मया चैष व्यतिक्रमः कृतः तदपि पापं निर्हत्य कियत्यापि धर्मकलया मां समग्रयेदिति।'—दशकुमारचरित, तृतीय उच्छ्वास पृष्ठ २७४।

३. 'श्रुत्वैतद्देवो राजवाहनः सस्मितमवादीत् - पश्यत, पारतल्पिकमुपधियुक्तमपि गुरुजनबन्धव्यसनमुक्तिहेतुतया दुष्टामित्रप्रमापणाभ्युपायतया राज्योपलब्धिमूलतया च पुष्कलावर्थधर्मावप्यरीरधत्। किं हि बुद्धिमत्प्रयुक्तं नाभ्युपैति शोभाम्' इति —दशकुमारचरित, तृ० उ०, पृ० ३०४।

एक उत्तमांगना अपने प्रियतम के सम्पर्क में आकर उसके द्वारा अपने मुख से सुनाये गये भुवन-वृत्तांतों को सुनकर अपने कर्णकुहरों की सफलता को चरितार्थ समझती है ।[१] उसके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने की उसकी तत्परता पति और पत्नी के बीच होने वाले अद्वितीय प्रेम का सुन्दर निदर्शन है ।

कवि की कल्पनाशक्ति जितनी ही उदात्त एवं गाम्भीर्यगर्भित होती है उतनी ही सार्थकता व रोचकता के साथ वह काव्य अथवा नाटक या कहानी के इतिवृत्त को सफल बनाने में, सुविशाल प्रासाद के लिये सुदृढ़ नींव की भाँति प्रशस्त होती है, अर्थ गौरव तथा भाव-व्यंजनायें पलती हैं, चमत्कार तथा विषयवैशद्य निरवद्यंतया प्रकृष्ट होकर परिपोष पाते हैं, इतिवृत्त नूतन एवं अभिनव दिशा के अवलोकन के फलस्वरूप करवटें लेता है, पाठक की मनोवृत्तियाँ चरम विकास पाती हैं, किं बहुना, अनेकता के भीतर विद्यमान एकता की सर्वव्यापी सत्ता के सदृश कवि का सुविस्तृत ज्ञान कल्पना शक्ति का सम्बल पाकर विविध विषयों के प्रतिपादन को सफल बनाता हुआ प्रतिपाद्य विषय की मनोरम अभिव्यक्ति करता चलता है— अर्थात् अवान्तर विषयों के प्रतिपादन के साथ ही साथ वर्ण्य विषय कहीं भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं होने पाता जो कि उसके काव्य अथवा कृति की सफलता के लिये भूषण ही है दूषण नहीं ।

महाकवि दण्डी की दृष्टि एकमात्र कल्पना के अखिल साम्राज्य में अवतीर्ण होती हुई व्यावहारिक जगत् की समस्याओं से , जनता की अनुभूतियों से सुदूर कदापि नहीं है । वह यथासंभव उसके अत्यन्त निकट है जबकि सुबन्धु तथा बाण-भट्ट इत्यादि एकमात्र पाण्डित्यप्रदर्शन में पड़कर शब्दों के आडम्बर मात्र को उपन्यस्त करने में प्रयत्नशील से प्रतीत होते हैं, वर्ण्य विषय जगह-जगह विस्मृत-सा हो जाता है ।

अवन्तिसुन्दरी व राजवाहन के प्रणयचित्रण में हंसागमन, उसकी चेष्टायें, शाप की कल्पना, लोहनिर्मितशृंखला की कल्पना, ऐन्द्रजालिक विद्या, जादूगरी, पुष्ट पटुता कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति के परिचायक हैं जो इतिवृत्त में चार चाँद लगा देते हैं ।

---

१. दयित, त्वत्प्रसादादद्य मे चरितार्था श्रोत्रवृत्तिः। अथ मे मनसि तमोपहस्त्वया दत्तो ज्ञानप्रदीपः। —दशकुमारचरित,प्रथम उच्छ्वास,पृ० १२९ ।

एक कथा की पूर्णता व सार्थकता के हेतु अन्य कतिपय आख्यानों का गुम्फन उसकी रोचकता में वृद्धि करने में समर्थ होता है। इस सम्बन्ध में एम० विंटरनित्स का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है—' सभी कथायें शाखाओं की भाँति एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, चरित्र आश्चर्यपूर्ण हैं, असामान्य हैं। जहाँ तहाँ पाठकों को कहानियों की उलझी हुई गुत्थियों से निकलना असंभव सा हो जाता है। सभी कहानियों में जादू का चमत्कार इतना हो गया है कि संशय के साथ उसका साभिप्राय विरोध होता है। सब घटनाएँ वैसी ही घटित होती हैं जैसे कि उन्हें घटित होना चाहिए। उदाहरण के लिए सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ पूर्वनिर्दिष्ट सी हैं। किन्तु उनका आधार कोई आभ्यन्तर व अनिवार्य शक्ति न हो कर किसी शाप, स्वप्न अथवा भविष्यवाणी (प्रोफेसी) का ही परिणाम है। नारीसौन्दर्य, प्रणयचित्रण की कला आदि विषय कवि के न केवल कामशास्त्र के पूर्ण ज्ञान के ही परिचायक हैं अपितु सच्ची काव्यगरिमा (रियल पोयट्री) के भी परिचायक है। पञ्चम उच्छ्वास के आदि से भावात्मक एवं कलात्मक सौन्दर्य से परिपूर्ण वर्णन जहाँ, प्रमति अरण्य के मध्य में अपनी सुसुप्तावस्था की चर्चा आरम्भ करता है और आपाततः जागने पर अपने को अनुपम सौन्दर्य-सुसम्पन्न रमणियों के बीच में पाता है और उन सब में सबसे सुन्दर नवमालिका के सान्निध्य में है।'[१]

इस महाकवि की सरसता तथा विनोदप्रियता का परिचय ऋषि मरीचि तथा काममंजरी जैसी वेश्या की कहानी से प्राप्त होता है।[२]

दण्डी का व्यक्तित्व दशकुमारचरित में 'ओजः समासभूयस्त्वं एतद्गद्यस्य-जीवितम्' आदि पंक्तियों को सार्थक बनाने में सफल है। दयित, त्वत्प्रसादात् अद्य चरितार्था में श्रोत्रवृत्तिः, भवदनुचरे मयि तिष्ठति किमपि तव असाध्यं नास्ति, अभवदीयं हि नास्ति किंचिन्मत्सम्बद्धम्, इत्यादि पंक्तियाँ निश्चय ही ओज व माधुर्य से भरपूर हैं। ऐसे और भी अनेक ललित वाक्य-विन्यास उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कवि जहाँ चाहता है वहाँ समस्त पदावली प्रस्तुत करने में हिचकिचाता नहीं। उच्चकोटि के भावों को कितने मार्दव एवं ओजस्विता के साथ प्रकट करता है। यत्र-तत्र हृदय को द्रवीभूत करने वाले छोटे-छोटे वाक्य,

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, तृतीय भाग, एम० विंटरनित्स के अंग्रेज़ी अंश का अनुवाद।

२. वही।

सुकोमल तथा अत्यन्त सुरभित सुमनों की माला में पूर्ण मनोयोग के साथ जैसे कोई एक बड़ा एवं अत्याकर्षक पुष्प डाल दिया गया हो और उसी की आभा से पूरे की आभा चन्द्रतारकों की भाँति सार्थक होती हो, उसी प्रकार अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं।

कवि का हृदय अत्यन्त व्यापक है, अत्यन्त मृदुल है। नारीमण्डल के चरित्र-चित्रण के निरूपण में कवि इतना पारंगत है कि उसका तत्संबन्धी ज्ञान विशेषज्ञ प्रसाधक तक को लज्जित कर सकता है। उसकी प्रत्येक रचना के उचित प्रसंग में सर्वत्र सदा प्रसाधन के सोते फूट पड़ते हैं और कवि उनको सूक्ष्मदर्शी कलावन्त की भाँति निवाह लेता है उसके ज्ञान की विविधता कितनी व्यापक है कि उसे बताने के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी।

दण्डी की सुरुचि से वञ्चित जड़ भी संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। शृंगार के वर्णन में सुरुचि और मर्यादा से नीचे कभी नहीं उतरता। कतिपय स्थलों पर उसके कल्पना की दिव्य झाँकी देखने को मिलती है जिसका सम्बल पाकर इतिवृत्त अथवा प्रतिपाद्य की मर्यादा कहीं लड़खड़ाने नहीं पाई है। कभी पैने आलोचक की बुद्धि में भी यह नहीं आ सकता कि कवि को यह बात नहीं कहनी चाहिए थी। दण्डी अनिर्वचनीय कभी नहीं कहते वचनीय कभी छोड़ते भी नहीं। दोनों का संयोग कर उन्होंने अद्भुत, सुरुचिपूर्ण काव्य का प्रणयन कर दिया है। उक्ति-वैचित्र्य उनमें पग-पग पर है किन्तु भाषा कहीं भी भारी या बोझिल नहीं हो पाती। भाव जहाँ वजनी होते हैं भाषा वहाँ अपने आप अनुकूल ध्वनि धारण कर लेती है और इसका, कवि अनुपम स्रष्टा है जिसके आधार पर वह महाकवि सिद्ध हो सका है। अतः सहृदय पाठक यह भली भाँति समझ सकते हैं कि उसका हृदय कितना मानवीय था, उसकी प्रतिभा कितनी सम्पन्न थी, उसका विलास कितना मर्यादापरिमित था। जनता से उसका इतना घनिष्ट सम्पर्क था कि उसकी भाव-भंगिमा, उसका दुःख-सुख, रीति-रस्म आहार, पान, भूषण सभी कुछ उसकी रचना में आ गये हैं।

यहाँ आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है -'महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदय-काली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने ही मान्य हैं उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप का चित्रण करने के कारण

भी आदरणीय हैं । संस्कृत कवि को राजा महाराजा के दरबार की हवा खाने वाली चापलूस जीव की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे परन्तु संस्कृत भाषा का कवि संकीर्ण विचारों का कवि नहीं था जो अपनी परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था । वह समाज के विशुद्ध वाताव्ररण में विचरण करता था । समाज के दुःख-सुख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी, वह दीन दुखियों की दीनता पर चार आँसू बहाता था, सुखी जीवों के सुख पर रीझता था । वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था वह अपने काव्य में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था । भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है ।'[१]

जिसे संसार दुःख कहता है वहाँ कवि के लिए सुख है । धन और ऐश्वर्य, रूप और बल, विद्या और बुद्धि ये विभूतियाँ संसार को कितना ही मोहित क्यों न कर लें, कवि के लिए जरा भी आकर्षण नहीं । उसके मोद एवं आकर्षण की वस्तु तो बुझी हुई आशाएँ और मिटी हुई स्मृतियाँ तथा टूटे हुए हृदय के आँसू हैं । कवि की प्रकृति या उसका स्वभाव लोकोत्तरवर्णनानिपुण होता है तभी उसकी कृति सहृदयों के लिए रसानुभूति और अमन्द आनन्दानुभूति कराने में सफल होती है । 'कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसा ही उसका काव्य होता है । कहा भी गया है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है ।[२]

इस दृष्टि से महाकवि दण्डी के आचार्यत्व को लेकर लोगों ने (आगाशे, हर्टेल आदि ने) आक्षेप किया है कि जो व्यक्ति दशकुमारचरित जैसे अश्लील ग्रन्थ का प्रणयन करता है उससे सर्वथा विपरीत आचार्यत्व है । जिन तथ्यों और सिद्धान्तों का एक ओर उपदेश किया जाता है ठीक उसके विपरीत दशकुमारचरित में उनका पालन किया जाता है । किन्तु इस ढंग के आक्षेप सारहीन सिद्ध हुये हैं । डा० भोलाशंकर व्यास, आचार्य बलदेव उपाध्याय इत्यादि विद्वानों ने उस प्रकार के

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहासः डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५ ।

२. स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम् । यादृशाकारश्चित्रकारः तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः । काव्यमीमांसा – राजशेखर, पृ० १२२ ।

आक्षेप के विरुद्ध अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि श्री हर्ष और जयदेव प्रभृति अश्लील नहीं माने जाते तो दण्डी अश्लील क्यों हैं ? दण्डी का 'मोटो' अश्लीलता के लिए नहीं है ।' यदि देखा जाये तो दण्डी का वर्णन भले अश्लील हो, पर प्रतिपाद्य अश्लील नहीं है। डा० भोलाशंकर व्यास का मत है कि- 'संस्कृत साहित्य की जो यथार्थवादी शैली हमें दशकुमारचरित में मिलती है वह छठीं सातवीं शती के भारतीय समाज का चित्र रखने में पूर्णत: समर्थ है ठीक वैसे ही जैसे बालज़ाक, मोपासाँ या जोला के फ्रेञ्च उपन्यास या कहानियाँ उन्नीसवीं सदी के फ्रांस का यथार्थ चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। दण्डी की लेखनी बड़ी निर्ममता के साथ समाज के दोषो को अनावृत करती है और इस दृष्टि से यदि किसी हद तक दशकुमारचरित का लक्ष्य 'नीति' का उपदेश मान लिया जाय तो अनुचित नहीं पर उसे हर्टेल की सीमा तक बढ़ाना अत्युक्ति होगा[१] ।

दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्यवर्ग के यथार्थपूर्ण जीवन में है, जिसमें जादूगर, चंचल तपस्वी, जैन, क्षपणक राजकुमारियाँ, राज्यभ्रष्ट राजा, वेश्याएँ और कुट्टिनियाँ, नर्म व्यापार के दूती कर्म करने में निपुण भिक्षुणियाँ, मृच्छकटिक के शर्विलक जैसे सिद्धहस्त चोर, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों के विविध चरित्रों का जमघट पाया जाता है । अच्छे पात्रों, देवताओं, तपस्वियों को दण्डी ने चित्रित किया है पर उनको वह सामान्य धरातल से ऊपर रहने वालों के प्रति मोह नहीं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी आचारात्मक भित्ति के विरोधी हैं । दण्डी का आदर्श सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है ।

काव्य, जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है । सच्चा कवि जीवन के सुख-दु:खों में रमता है । वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय भाषा में अभिव्यक्त करता है । उसकी रमणीय कृति में जन-हृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपनी पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यंजना पाती है । महाकवि दण्डी केवल जीवन के सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता नहीं मानते उन्होंने यथार्थ रूप से जीवन के अन्तस्तल को स्पर्श किया है, उसका निरीक्षण किया है और फलत: ऐसा सच्चा वर्णन प्रस्तुत किया है कि

---

१. संस्कृत कवि दर्शनः डा० भोलाशंकर व्यास ।

उसकी तीव्रनिरीक्षण शक्ति और यथार्थवादी विन्यास 'वासवदत्ता' के लोकप्रिय न होने का कारण बन जाता है।

कवि का हृदय मृदु भावनाओं और सुकोमल पदावली का असाधारण संगम है। इतना संवेदनशील हृदय कालिदास को छोड़कर मानव इतिहास में शायद किसी को नहीं मिला क्योंकि संवेदनहीन हृदय भावहीन होता है।

'न केवल मानव ही इस महामना की लेखनी का अधिकारी है वरन् जीव मात्र वनस्पति तक उसमें अपना भाग पातें हैं। सारा चराचर जैसे दण्डी के आर्द्र एवं यथार्थ अभिसिञ्चन की परिधि में आ गया है। उसके हृदय का स्पन्दन समूचे निसर्ग का स्पन्दन बन गया है। कवि, हृदय और बुद्धि का अद्भुत एकस्थविभूति है। उसकी विविधता इतनी व्यापक है कि नहीं कहा जा सकता कि उसका पाण्डित्य श्रेष्ठ है अथवा चिन्तन। निश्चय ही उसके पाण्डित्य की सीमा का अन्त नहीं ॥[१]'

---

१. संस्कृत कवि दर्शन।:डा० भोलाशंकर व्यास।

द्वादश अध्याय

प्रदान

संस्कृत-गद्यसाहित्य में दशकुमारचरित का स्थान

किसी भी काव्यग्रन्थ की रचना के मूल में काव्यप्रणेता का कोई न कोई महान् उद्देश्य कारण रूप में अनिवार्य रूप से सन्निविष्ट रहता है जिसकी प्रेरणा के परिणामस्वरूप वह काव्यविशेष का प्रणयन करता है। कवि का यही चरम लक्ष्य उसका सर्वस्व होता है। प्रकृत ग्रन्थ की रचना में महाकवि दण्डी का उद्देश्य केवल सहृदय-चित्तानुरञ्जन न होकर एक अभिनव एवं रमणीय काव्यसरणिद्वारा जीवन की सर्वांगीण झाँकी प्रस्तुत कर उसके विविध रूपों का परिज्ञान भी कराना था। वस्तुत: कविता-कामिनी की विविधरंगरंजित चित्रशाला में समाहित चित्त होकर सरस और सुकोमल पदावली के द्वारा उन्होंने उक्त उद्देश्य की पूर्ति भी की है।

दण्डी की शास्त्रीय एवं काव्यात्मक चिन्तनप्रणाली के स्वर्ण-सुरभि संयोग ने दशकुमारचरित को संस्कृत गद्य-कवियों की कृतियों की तुलना में अप्रतिम स्थान प्रदान किया। दशकुमारचरित को कथाकृति का रूप देकर उक्त रीत्या उभयात्मक प्रकृति का समावेश कर दण्डी ने संस्कृत गद्य साहित्य में एक नवीन परंपरा का सूत्रपात किया जिसका पश्चात् कालीन प्रभाव संस्कृत साहित्य में अद्यावधि दर्शनीय है। प्रकृत ग्रन्थगत, प्राचीन संस्कृत कृतियों में चित्रित लोक-लीवन का यथार्थ स्वरूप, हास-परिहास, वाग्वैदग्ध्य और व्यंग्य-निरूपण-कौशल कवि की सहृदयता और उसकी व्यापक अनुभूति के पूर्ण परिचायक हैं।

प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिन्तन एक अविच्छिन्न विकास परम्परा का और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिविम्ब हुआ करता है जिसकी शाश्वत गतिशीलता में भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैयक्तिक कारण अपना विशेषयोगदान देते हैं। भारतीय संस्कृति

के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और उस ज्ञान-प्राप्ति की विधि क्या हो यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। किसी जाति की संस्कृति किस कोटि के साहित्य में समग्र अभिव्यक्ति पाती है? विद्वानों का एक पक्ष भारतीय संस्कृति के मर्म का मूल दार्शनिक साहित्य को ही स्वीकार करता है क्योंकि दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। किन्तु भारतीय धर्म और दर्शन ही संस्कृति का पूर्ण प्रतिफलन नहीं करते ऐसी भी विद्वज्जनों की मान्यता रही है। हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम को शेष सभी आश्रमों का आधार माना गया है जिसके सम्बन्ध में दर्शन तथा अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थ मौन हैं। इसीलिये किसी जाति की संस्कृति को समझने के लिये उसके दर्शन तथा धर्म ग्रन्थ ही पर्याप्त नहीं हैं। उसके मर्म को समझने के लिए उसका काव्य-साहित्य अनिवार्य होता है। भारतीय साहित्य की विशालता का प्रश्न भी महान् है। केवल वैदिक साहित्य के अनुशीलन के लिए एक पूरा जीवन चाहिए तो दर्शन साहित्य उसकी तुलना में कम नहीं प्रतीत होता। काव्य-साहित्य में भी संस्कृत साहित्य की विशालता कहीं छिपी नहीं है, आधुनिक भाषाओं का तो कहना ही क्या। 'किसी जाति की संस्कृति को समझने का सबसे बढ़ियाँ आधार एवं उपकरण वहाँ का काव्य-साहित्य ही ठहरता है। बात यह है कि जाति विशेष के काव्य-साहित्य में उसके दूसरे मूल्यों के साथ आध्यात्मिक मूल्य भी प्रतिफलित हो ही जाते हैं।'[१]

मानव जाति का महत्त्वपूर्ण इतिहास उसकी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास है। समय-समय पर दूसरी सभ्य जातियाँ भारतीय साहित्य से सदैव प्रभावित हुई हैं। भारतीय केवल संस्कृत कथा साहित्य तथा नाट्य-साहित्य अपनी समृद्धि के लिए लोक-प्रिय सिद्ध हो चुका है सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय की बात ही क्या? अभिज्ञानशाकुन्तल आदि की ख्याति व प्रभाव केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं। दशकुमारचरित अपनी कथावस्तु की नवीनता, घटनाचक्र की गत्यात्मकता, पदलालित्य और कल्पनाप्रचुरता, रसपरिपाक तथा मानवमनोविकारों के मार्मिक विश्लेषण की विशद अभिव्यक्ति के लिये प्राय: सभी समालोचकों की सम्मति में संस्कृत-गद्य-साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उपलब्ध जातीय वाङ्मय में विभिन्न संस्थाओं के प्राय: उन्हीं रूपों का उल्लेख होता है जो जातीय जीवन में लम्बे परीक्षण और प्रयोग द्वारा सुप्रतिष्ठित

---

१. भारतीय संस्कृति – डा० देवराज।

हो सके थे। जीवन की जिन अभिव्यक्तियों को सुन्दर व शुभ रूप में मान्यता दी जाती है वे अभिव्यक्तियाँ बहुत कुछ सामाजिक जीवन में अनुस्यूत होती हैं। कुलीन एवं पतिपरायणा नारियों के लिए पति के गृह में सपत्नी जन के साथ प्रिय सखी का व्यवहार करते हुए दासी रूप में भी रहना समीचीन ही होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल तथा दशकुमारचरित के रचयिताओं ने इस जीवन-रूप की सार्थकता तथा महत्ता का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया है। शार्ङ्गरव ने शकुन्तला को दुष्यन्त के भूल जाने पर शकुन्तला से कहा था कि 'यदि राजा की बात सत्य है तो पति के गृह में दासी रूप में भी तुम्हारा रहना ठीक ही है।'[१]

दशकुमारचरित से स्पष्ट है कि शक्तिकुमार ने गोमिनी के साथ विवाह करने के पश्चात् एक गणिका को भी पत्नी रूप में स्वीकार करके उसे भी घर में रख लिया। तथापि गोमिनी पूर्ववत् निरालस होकर पति की सेवा करती और उस गणिका के साथ प्रिय सखी के सदृश सद्व्यवहार किया करती थी।[२] यही बात विविध मौलिक सत्यों के प्रतिपादन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

मानव प्रकृति के विविध रूपों के साथ दण्डी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रेम, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष, गुण है तो सम्मान, अनाचार है तो क्रोध, उपकार है तो कृतज्ञता आदि दण्डी के हृदय में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।

'दशकुमारचरित' संस्कृत-गद्य-साहित्य की एक श्लाघनीय रचना है जिसमें कहीं विन्ध्याटवी की विकट अटवी का मार्मिक चित्रण है तो कहीं काम की साक्षात् मूर्ति भौतिकता के परम अवतार मुनि मरीचि तथा उनके आश्रम का अद्‌भुत वर्णन है, कहीं राजप्रासाद-सौख्यों का अनुभव करने वाली अवन्तिसुन्दरी तथा अम्बालिका, कल्पसुन्दरी तथा नवमालिका की शत-शतभंगिमाओं के साथ विविध चेष्टाओं का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं रसातलवर्तिनी अंगनाजनों के अंक में विहार करने वाली मलयसमीर से प्रकम्पित चन्दनलता के सदृश तन्वङ्गी मणिकर्णिका का पुण्य दर्शन मिलता है। कहीं विरहविधुरा, कमनीयकलेवरा

१. यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया। अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम्॥ —कालिदास, अभिज्ञान०, ५.२७।

२. नीत्वैतदनपेक्षः कामपि गणिकामवरोधमकरोत्। तामप्यसौ प्रियसखीमिवोपाचरत्। पतिं च दैवतमिव मुक्ततन्द्रा पर्यचरत्।—दशकुमारचरित, पष्ठ उच्छ्‌वास, पृ० ४२९।

कनकलेखा की मार्मिक कथा है तो कहीं अनुच्छिष्ट यौवना अनिषिद्धदर्शना कुमारी कन्दुकावती की कन्दुकक्रीड़ा दर्शकों के चित्त-चचंरीक को आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना सहृदयहृदयोद्वेजक है। कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में, भाषा तथा भाव के मनोरम सम्पर्क में, रसों और अलंकारों के समुचित सन्निवेश में दशकुमारचरित संस्कृत-गद्य-साहित्य में अद्वि-तीय है।

दशकुमारचरित सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक गौरवमय तथा सुप्रसिद्ध रचना है जिसका प्रभाव किसी न किसी रूप में दामोदर गुप्त (७७९-८१३) और क्षेमेन्द्र (११ वीं शताब्दी) की कृतियों में देखा जा सकता हैं।

'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त कश्मीर के राजा जयापीड के आश्रित कवि और प्रधानमंत्री थे। दामोदर गुप्त के समय की सूचना कल्हणकृत राजतरंगिणी से प्राप्त होती है—

स दामोदरगुप्ताख्यं कुट्टनीमतकारिणम्।
कविं कविं बलिरिव धुर्यं धी सचिवं व्यधात्॥ ४९६

'कल्हण के अनुसार जयापीड का राज्यकाल ७५१ ई० से ७८२ तक ठहरता है किन्तु उसका राज्यकाल ७७९-८१३ ई० सन् था जैसा कि स्टेन महाशय ने राजतरंगिणी की भूमिका में बताया है। श्री दामोदर गुप्त के इस समय में विद्यमान होने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए।'[१] आर्याछन्द में लिखित इस काव्य का आरम्भ भगवान् कामदेव की जयकामना से हुआ है। आरम्भ से अन्त तक इस काव्य में वैशिक जीवन के विविध उपादानों का मौलिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। कुट्टनी, के गृह में स्थित जनसमुदाय, कामुक और उसका वैभवविलास उसके आवर्जन के विभिन्न उपाय, चोर, मातृकलह, वक्रोक्तिप्रयोग, कामुकों के विविधचरित्र, वेश्याओं की परस्पर वार्ता और उनका ईर्ष्याभाव और कलह आदि इस काव्य के विनोदपूर्ण प्रसंग हैं।

वैशिकजीवन का मौलिक वैविध्य इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। यह आकाशदीप की भाँति संस्कृत-साहित्य के स्फीत आकाश में उसकी विभिन्न मोहक

---

१. कुट्टनीमतम् की भूमिका — जगन्नाथ पाठक, पृ० २३।

रंगीनियों को लिए जगमगाता हुआ एक ओर सहृदय को अपने कान्तिभार से आकृष्ट भी करता है दूसरी ओर उसे सतर्क भी बना देता है — 'इस काव्य को काव्यार्थ का सम्यक् पालन करते हुए जो श्रवण करेगा वह विट, वेश्या, धूर्त और कुट्टनी से कभी वंचित नहीं होगा—'

काव्यमिदं यः श्रृणुते सम्यक् काव्यार्थपालनेनासौ ।
नो वञ्च्यते कदाचित् विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥

—कुट्टनीमतम् - १०५८ ।

आचार्य क्षेमेन्द्र विरचित कतिपय कृतियों में भी इन वैनोदिक प्रसंगों की छटा दर्शनीय है । 'समयमातृका' में वेश्याओं और वेश का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है । वेश्याओं में आसक्त कामुकों की अच्छी हँसी उड़ाई गई है ।

'दर्पदलन' में कुल, धन, मान, विद्या, रूप, शौर्य, दान और तप के ढोंगों तथा देवताओं तक की हंसी उड़ाई गई है ।

'कला-विलास' में दंभी, लालची, वणिक्, वेश्याओं, ज्योतिषियों इत्यादि की खबर ली गई है । कलाविलास की कथा आदि से अन्त तक परिहासपूर्ण है ।

'देशोपदेश' में कंजूस, विट कुट्टनी और गुरु इत्यादि के क्रियाकलापों की हँसी हुई है। सभी प्रसंग कवि की परिहासप्रियता और विनोदप्रियता के पूर्ण परिचायक हैं। इस कोटि का परवर्ती साहित्य बहुत कुछ दण्डी की कृति के कथाप्रसंगों से मिलता जुलता है ।

परिशिष्ट

दशकुमारचरित में उपलब्ध कुछ सूक्तियाँ

१. कोऽतिवर्तते दैवम् (पृ० १९३)

दैव का अतिक्रमण भला कौन कर सकता है ? या विधि के विधान को कौन मिटा सकता है ।

२. कः सचेतनः स्त्रियमभिकामयमानां नाभिनन्दति (पृ० २८७)

कौन ऐसा सचेतन पुरुष होगा जो अपने ऊपर अनुराग करने वाली रमणी का अभिनन्दन नहीं करेगा ।

३. न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषोनियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम् (पृ० २१९)

अत्यन्त निपुण पुरुष भी विधाता की लिखी हुई रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सकता ।

४. जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि (अ० उ०, पृ० १८)

यह जीवन चार दिन की चाँदनी है ।

५. अपत्योत्पादनेनोभयलोकश्रेयस्करत्वमिति (पृ० २६)

सन्तानोत्पत्ति से इहलोक और परलोक दोनों ही श्रेयस्कर होते हैं ।

६. न चान्यदस्ति पापिष्ठं तत्र दौर्बल्यात् (पृ० ५६)

दुर्बलता से बढ़कर और कोई पाप नहीं होता ।

७. न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय (पृ० ५)

अपमानित हुए राजा की आज्ञा का, प्रजा के कल्याण के लिए कोई मूल्य नहीं होता ।

८. आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा (पृ० ६)

शास्त्ररूपी दीपक के प्रकाश में देखकर निर्धारित किया हुआ मार्ग लोकयात्रा के लिए कल्याणकर होता है ।

९. सखे, सैषा सज्जनाचरिता सरणिः, यदणीयसि कारणेनणीयानादरः संदृश्यते (पृ० ४६२)

हे मित्र ! सज्जनों के द्वारा आचरित यही मार्ग है कि अणुमात्र उपकार को भी सज्जनवृन्द महान् (उपकार) मानते हैं ।

१०. न च निषेधनीया गरीयसां गिरः (पृ० ४८८)

गुरुजनों की वाणी का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।

११. न तस्य शक्यं शक्तेरियत्ताज्ञानम् (पृ० ४७६)

उसकी शक्ति की इयत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता ।

१२. न चास्याहंकारकणिका (पृ० ४९६)

इसमें अहंकार का लेश भी नहीं है ।

१३. तात ! स्थान एष हि यत्नः (पृ० ४७८)

हे तात, आपका यह यत्न उपयुक्त ही है ।

१४. इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते (पृ० ४८१)

इस जगत् में अनुपयोगी पुरुष को लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती ।

१५. श्रेयांसि च सकलान्यनलसानां हस्ते नित्यसान्निध्यानि (पृ० ४८२)

मंगलमय समस्त कार्य नित्य उद्योगी पुरुषों के ही समीप होते हैं ।

१६. नास्त्यदाराणामननुगुणदाराणां वा सुखं नाम (पृ० ४१६)

विना स्त्री के भी सुख नहीं होता तथा विना गुणवती स्त्री के भी सुख नही होता ।

१७. दौर्भाग्यं नाम जीवन्मरणमेवांगनानाम्, विशेषतश्च कुलवधूनाम् (पृ० ४३२)

अंगनाओं का दुर्भाग्य से जीवित रहना जीते ही मरने के तुल्य है ।

१८. पतिरेकदैवतं वनितानां, विशेषत: कुलजानाम् (पृ० ४३४)

स्त्रियों के लिए केवल पति ही परमेश्वर है विशेषरूप से कुलीनस्त्रियों के लिए।

१९. अविमृश्यकारिणां हि नियतमनेका: पतन्ति अनुशयपरम्परा: (पृ० ४२१)

अविवेकियों को पीछे निश्चय ही अनेक पश्चात्ताप करने पड़ते हैं।

२०. एष खलु क्षात्रधर्मो यद्बन्धुरबन्धुर्वा दुष्ट :स निरपेक्षं निग्राह्य इति (पृ० ३२७)

क्षत्रियों का यह धर्म है कि बन्धु हो अथवा अबन्धु, दुष्कर्म के लिए उसे दण्ड अवश्य देना चाहिए।

२१. स्त्रीधर्मश्चैष यददुष्टस्य वा भर्तुर्गतिर्गन्तव्येति (पृ० ३३७)

पति योग्य हो अथवा अयोग्य, उसकी मृत्यु के पश्चात् उसी की गति का अनुसरण करना चाहिए। यही महिलाओं का धर्म है।

२२. न चेद्गोप्यमिच्छामि श्रोतुं शोकहेतुम् (पृ० ३०७)

यदि कोई गोपनीय बात न हो तो (मैं आपके) शोक का कारण सुनना चाहता हूँ।

२३. 'किं हि बुद्धिमत्प्रयुक्तं नाभ्युपैति शोभाम्' इति। (पृ० ३०५)

ऐसा कौन सा कार्य है जो बुद्धिमानों के द्वारा सम्पन्न होने पर शोभा को न प्राप्त करे।

२४. 'शत्रुवधो मित्ररक्षा चोभयमपि करणीयमेव'। (पृ० ३०४)

शत्रु का वध और मित्र की रक्षा करनी ही चाहिए।

२५. न ह्यस्ति पितृवधात्परं पातकम्। (पृ० ३०१)

पिता के वध से बढ़कर संसार में कोई पाप नहीं है।

२६. अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव: (पृ० २९२)

मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव सदैव अचिन्त्य होता है।

२७. स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम् (पृ० २६०)

छल का मूल स्थान स्त्रियाँ ही होती हैं।

छल का मूल स्थान स्त्रियाँ ही होती हैं।

२८. आकल्पसारो ही रूपाजीवाजन: (पृ० २२३)

रूप से जीवन का निर्वाह करने वाली वेश्याओं का अलंकार ही मुख्य होता है।

२९. न च पाणिग्रहणादृतेऽन्यभोग्यं यौवनम्।

पाणिग्रहण के बिना किसी अन्य के द्वारा यौवन का उपभोग उचित नहीं।

३०. नान्यत्पापिष्ठतममात्मत्यागात्। (पृ० २००)

आत्मधात से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।

३१. आत्मानमात्मनानवसाद्यैवोद्धरन्ति सन्त:। (पृ० २०१)

सन्त लोग अपनी आत्मा को बिना कष्ट दिए ही अपना उद्धार कर लेते हैं।

३२. स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणनाविदग्धस्य पुरुषस्य (पृ० १९६)

स्वदेश और विदेश में विदग्धपुरुष कोई भेद नहीं मानते हैं।

३३. धर्मपूते च मनसि नभसीव न जातु रजोऽनुषज्यते। (पृ० १७०)

धर्म से पुनीत मन में रजोगुण का समावेश उसी प्रकार नही होता जैसे आकाश में धूल का।

३४. अभवदीयं हि नैव किञ्चिन्मत्सम्बद्धम्।

मेरे समीप ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपकी न हो।

३५. अविश्वास्यता हि जन्मभूमिरलक्ष्म्या:। (अ० उ०, पृ० १६)

अविश्वास ही दरिद्रता की जन्मभूमि है।

३६. स्थानाभिनिवेशिनोश्च वामयत्नसाध्य: समागम:। (पृ० २०७)

युक्ताभिलाषियों का समागम अनायास साध्य होता है।

दशकुमारचरित के पात्र तथा स्थानादि की संक्षिप्त सूची

अंशुमाली
अगस्त्यपत्नी
अंग
अंगपुरी
अंगराज
अत्रि
अनन्तकीर्ति
अनन्तवर्मा
अनन्तसीर
अनिल
अन्धकमथन
अन्ध्रनाथ
अपहारवर्मा
अम्बालिका
अर्थदास
अर्थपति
अर्थपाल
अर्यदासी
अवन्तिनगरी
अवन्तिपुरी
अवन्तिदेव
अवन्तिसुन्दरी
अविमुक्तेश्वर
अश्मक
अश्मकेन्द्र
अहल्या
आंगिरस
आर्यकेतु
इन्द्रपालित
इन्द्रसेना
उज्जयिनी
उतथ्य
उदारक
ऋद्धिमती
ऋषीकेश्वर
एकपिंग
एकपिंगाचल
एकवीर
एणजंघ
कनकलेखा
कनकवती
कन्दुकावती
कर्दन
कलहकण्टक

कलिंग	कोशदास
कलिंगराज	कोसल
कलिन्दवर्मा	कोसलेन्द्र
कल्पसुन्दरी	खनति
कांची	खटकपुर
कान्तक	गंगा
कान्तिमती	गृहगुप्
कामपाल	गोमिनी
काममंजरी	चण्डघोष
कामरूप	चण्डवर्मा
कामरूपेश्वर	चण्डसिंह
कावेरीतीरपत्तन	चन्द्रपालित
काशी	चन्द्रसेना
काशीपति	चम्पा
काशीपुरी	चम्पेश्वर
कीर्तिसार	चाणक्य
कुन्तलपति	जयसिंह
कुबेर	तारावली
कुबेरदत्त	तिलोत्तमा
केसरी	तुंगधन्वा
कुमारगुप्त	त्रिगर्त
कुलपालिका	त्र्यम्बक दर्पसार
कुसुमधन्वा	दामलिप्त
कुसुमपुर	दामलिप्तेश्वर
कोंकणपति	धनक

धनमित्र
धन्यक
धर्मपाल
धर्मरक्षिता
धर्मवर्धन
धान्यक
धूमिनी
नन्दिनी
नरवाहनदत्त
नवमालिका
नागपाल
नालीजंघ
नासिक्याथ
नितम्बवती
निधिपतिद्‌त्त
निधिपालित
निम्बवती
पद्मनाभ
पराशर
पांचालशर्मा
पांचालिक
पाटलिपुत्र
पराशर
पितामह
पुण्ड्

पुण्यवर्मा
पुष्करिका
पुष्पपुर
पुष्पोद्भव
पूर्णभद्र
प्रचण्डवर्मा
प्रजापति
प्रमति
प्रहारवर्मा
प्रियंवदा
बन्धुमति
बलभद्र
बालचन्द्रिका
बाहुदन्ती
बृहस्पति
भवानीपति
भागीरथी
भानुवर्मा
भास्करवर्मा
भीमधन्वा
मगधराज
मंजुवादिनी
मणिकर्णिका
मणिभद्र
मथुरा

विन्ध्य
विन्ध्यवासिनी
विमर्दक
विशालवर्मा
विशालाक्ष
विश्रुत
विष्णुगुप्त
विहारभद्र
वीरशेखर
वीरसेन
वेगवान
वेदवती
वेशदास
वेश्रवण
शक्तिकुमार
शंकरगिरि
शचीपति
शतहलि
शशांक
शशांकसेना
शिवि
शिवनाग
शुक्र
शूद्रक
शूरसेना
शृगालिका
शौनक
श्रावस्ती
श्रावस्तीश्वर
संहारवर्मा
सागरदत्ता
सिंहघोष
सिंहवर्मा
सिन्धुदत्ता
सुन्दरक
सुमित्र
सुरतमञ्जरी
सुलक्षणा
सुलोचना
सुश्रुत
सुह्म
सुह्मपति
सोमदत्त
सोमदेवी
सोमापीडा
सोराष्ट्र
हंसावली

ग्रन्थ सूची

अलंकारसर्वस्व - निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३९

अग्निपुराण - कलकत्ता

अमरकोष-रामाश्रयीसहित - निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

अवन्तिसुन्दरीकथा - दण्डी विरचित - त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़

अभिज्ञानशाकुन्तल -

अलंकारशेखर - केशवमिश्र विरचित - काशी संस्कृत सिरीज़

औचित्यविचारचर्चा - क्षेमेन्द्र विरचित - काव्यमाला

काव्यकौतुक - भट्टतौत कृत -

काव्यालंकार - रूद्रट विरचित - काव्यमाला १९२८

काव्यालंकार - भामह विरचित, शंकरराम (शास्त्री द्वारा संपादित, मद्रास तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित)

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति - वामन विरचित - निर्णयसागर प्रेस, चतुर्थ संस्करण १९५३

काव्यालंकारसारसंग्रह - उद्भट विरचित -

काव्यादर्श - दण्डी विरचित - चौखंबा संस्कृत सिरीज़

काव्यमीमांसा - राजशेखर विरचित - १. गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज़ १९३४ २. बिहार रा० भा परिषद् १९५४

काव्यानुशासन - हेमचन्द्र विरचित - महावीर जैन विद्यालय, १९३८

काव्यानुशासन - वाग्भट विरचित - काव्यमाला १९१५

कालिदासग्रन्थावली - अखिल भारतीय विक्रमपरिषद् - काशी। द्वितीय संस्करण

काव्यप्रकाश - मम्मट विरचित - बालबोधिनीसहित - भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९५०।

कादम्बरी - बाणभट्ट विरचित - कादम्बरी का एक सांस्कृतिक अध्ययन - डा० वासुदेवशरण अग्रवाल।

काव्यतत्त्वसमीक्षा - नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधरी - मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली १९५९

कामसूत्र - वात्स्यायन विरचित - काशी सं० सि०

कुवलयानन्द - अप्पयदीक्षित प्रणीत - चौखम्बा विद्याभवन

कुमारसंभव -

कौटिलीय अर्थशास्त्र - कौटिल्यप्रणीत

कुट्टनीमतम् - दामोदरगुप्त प्रणीत - मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थमाला, माया प्रेस, इलाहाबाद ।

चतुर्भाणी - हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५९

चित्रमीमांसा - अप्पयदीक्षित विरचित - वाणीविहार संसार-प्रेस, वाराणसी १९६५

तर्कभाषा - केशवमित्र विरचित - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़

दशकुमारचरित - दण्डी विरचित (ताराचरणभट्टाचार्यकृत 'बालविबोधिनी' टीका, चौ० सं० सिरीज़, वाराणसी १९४८) सभी उद्धरण इसी से दिये गये हैं।

दशकुमारचरित - दण्डी विरचित - पदचन्द्रिका, पददीपिका, भूषणा और लघुदीपिका टीकाओंसहित - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९१०

दशकुमारचरित - निरंजनदेवकृत हिन्दी अनुवाद - भूमिका - डा० मोतीचन्द्र

दशकुमारचरित - दण्डी विरचिति - पिटर, पिटर्शन, द्वि० भाग, बम्बई

दशरूपक - धनंजय प्रणीत - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़

ध्वन्यालोक - लोचन सहित - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़

ध्वन्यालोक - दीधितिसहित - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़

ध्वन्यालोक - सलोचन प्र० द्वि० उद्योत - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी व्याख्याकार - रामसागर शास्त्री

ध्वन्यालोक - प्रथम उद्योत, इलाहाबाद (आशालता)

नैषधपरिशीलन - डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

नाट्यशास्त्र - भरत प्रणीत - गायकवाड़ ओरि० सिरीज़ ३८, बड़ोदा १९३४

नलचम्पू -

नैषधीयचरित -

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५२

प्राचीन भारतीय साहित्य - विंटरनित्ज़ विरचित - मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली - वाराणसी - पटना

प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - डा० रामजी उपाध्याय

बुद्धचरित - अश्वघोषविरचित

बृहत्संहिता - बराहमिहिर विरचित

डा० जी० टी० देशपाण्डे कृत - मोतीलाल बनारसीदास

भारतीय साहित्य शास्त्र - बलदेव उपाध्याय विरचित - प्रथम और द्वितीय भाग भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार - डा० भोलाशंकर व्यास कृत, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी १९६५

भामिनी विलास - पण्डितराज जगन्नाथ कृत

भट्टिकाव्य - महाकवि भट्टि प्रणीत

महाभाष्य -

मृच्छकटिक - शूद्रक प्रणीत

मेघदूत -

मनुस्मृति -

महाभारत - चित्रशाला प्रेस, पूना

मालविकाग्निमित्र - कालिदास विरचित

मत्तविलास प्रहसन - महेन्द्र विक्रम कृत

रसगंगाधर - काव्यमाला

रससिद्धान्त - डा० नगेन्द्र प्रणीत

रत्नावली - श्रीहर्ष विरचित

रसमञ्जरी - भानुदत्त विरचित

रघुवंश - कालिदास विरचित

रामायण -

ऋतुसंहार -

ऋग्वेद -

वक्रोक्ति जीवितम् - कुन्तक विरचित

हिन्दी वक्रोक्तिजीवित - व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली

व्यक्ति विवेक - महिमभट्ट विरचित - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़

वाङ्मयविमर्श - विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस

वासवदत्ता - सुबन्धुप्रणीत

विक्रमोर्वशीय - कालिदासप्रणीत

शारङ्धर पद्धति - शारंगधरकृत - पिटर्स पिटर्सन कृत संस्करण, बम्बई १८८८

शिशुपालवध - (माघ प्रणीत)

शृंगारप्रकाश - डा० वी० राघवन कृत - द्वि० संस्करण १९६३ ।

श्रीकण्ठचरित - मंखकप्रणीत

शिवराज विजय - अम्बिकादत्त व्यास

शृंगारहाट - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५९

संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं० बलदेव उपाध्याय

संस्कृत आलोचना - पं० बलदेव उपाध्याय

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - चन्दशेखर पाण्डेय

संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला

सरस्वतीकण्ठाभरण - भोज विरचित - काव्यमाला, १९३४

साहित्य दर्पण - विश्वनाथ विरचित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

सांख्यतत्त्व कौमुदी - चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी

साहित्य की समस्याएँ - डा० दीवान सिंह

साहित्यिक निबंध - चन्द्रधर शर्मा चतुर्वेदी

साहित्यदर्पण की भूमिका - डा० पी० वी० काणे

साहित्यदर्पण की भूमिका - महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, चतुर्थ संस्करण १९२२

हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव - मन्मथराय विरचित - प्रथम संस्करण, साहित्य भवन, प्रयाग १९५३

हिन्दी साहित्य की भूमिका - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५०

हिन्दी साहित्य कोश - डा० धीरेन्द्र वर्मा

हर्षचरित - बाणभट्ट विरचित

हर्षचरित का एक सांस्कृतिक अध्ययन - डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

गाइड टू वर्ड्सवर्थ - के० के० शर्मा

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स - एस० के० डे १९२३

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर - एम० विंटरनित्ज़, भाग-३, पार्ट वन १९६३

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स - पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास तृ० संस्करण १९६१

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर - वेबर

हिस्ट्री आप संस्कृत लिटरेचर - ए० वी० कीथ

हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर - ए० बी० कीथ - चतुर्थ संस्करण

संस्कृत ड्रामा - ए० वी० कीथ

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर - एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे, प्रथम भाग, द्वि० संस्करण

हिस्ट्री आफ् क्लेसिकल संस्कृत लिटरेचर - कृष्णमाचार्या

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर - सी कुन्ननराजा, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण १९६२

नम्बर आफ रसाज़ - डा० बी० राघवन

ऐस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर - एस० के० डे

दशकुमारचरित आफ दण्डिन - इन्ट्रोडक्शन - आगाशे, बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज़ १९१९

फिलासफी आफ पोयट्री - नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली

भोजराज़ शृङ्गारप्रकाश - डा० वी० राधवन, द्वि० सं० १९६३

सम ऐस्पेक्ट्स आफ क्रिटिसिज्म इन संस्कृत - ए० शंकरम

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी - वी० एस० आप्टे - रिवाइज्ड एण्ड इन्लार्ज्ड एडीशन १९५७

एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरिण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना - वाल्यूम १६, १९४५

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, इलाहाबाद

इण्डियन कल्चर -

इण्डियन एण्टीक्वेरी -

जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी -

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली - कलकत्ता

ALL MAHAPURANAS

Text with Shloka Index & Introduction

Agni Mahapurana
664 pp 450.00
Bhagavata Mahapurana-
4vols 2304 pp Set 1500.00
Bhavishya Mahapurana
3vols 1400 pp Set 1200.00
Brahma Mahapurana
728 pp 450.00
Devi Bhagavata Mahapurana
1154 pp 800.00
Ganesha Purana
832 pp 1993 450.00
Garuda Mahapurana
668 pp 400.00
Harivansha Purana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
1802 pp 2vols set 900.00
Kurma Mahapuran
298 pp 300.00
Linga Mahapurana
774 pp 400.00
Markandeya Mahapurana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
828 pp 450.00
Narada Mahapurana
932 pp 600.00
Padma Mahapurana
2381pp 4vols set 1600.00
Shiva Mahapurana
1504 pp 2vols set 900.00
Shiva Mahapurana (Small Type)
412 pp 400.00
Skanda Mahapurana
5600 pp 8 vols set 4000.00
Skanda Mahapurana (small type)
1452 pp 3vols set 1500.00
Vamana Mahapurana
472 pp 400.00
Vayu Mahapurana
540 pp 400.00
Vishnudharmottara Mahapurana
1246 pp 900.00

Vishnu Mahapurana-with two commentaries
680 pp 500.00
विष्णुमहापुराण
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
—डा० श्रद्धा शुक्ला
2 vols Press
Maha Bhagavat Devipurana
Press
Ekamara Purana
490 pp 150.00
Kalki Purana
316pp 120.00
Kuber Purana (Text With Study) Press
Narasimha Purana
380 pp 100.00
Saura Purana
290 pp 100.00
Srimadbhargavopapuranam
—Brijesh Kumar Shukla
pp 348 Rs. 124.00
Vasuki Purana
260 pp 100.00
Ashtadasha Purana Darpana Contents of 18 Puranas
432 pp 180.00

PURANAS WITH TEXT, TRANS & NOTES IN ENGLISH VERSWISE

Vishnu Purana—*H.H. Wilson*
1065 pp 2 vols Set 500.00
Matsya Purana—*N.S. Singh*
1252 pp 2 vols 500.00
Narasimha Purana —*Dr.S.Jena*
750 pp 400.00
Kalika Purana
Prof. Biswanarayan Shastri
1770 pp 3vols set 900.00